

प्रथमावृत्ति श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, भारोठ द्वारा १०००

द्वितीयावृत्ति श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल, चम्बई द्वारा १५००

तृतीयावृत्ति श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा २२००

चतुर्थावृत्ति श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा १५००

इस ग्रन्थ के फार्म ८२ में साइज २० × ३० = १५.५ Kg. सेपलियो कागज के १३० रीम लगे हैं ।]



तृतीयावृत्ति
१५००



कार्तिक शुक्ला १५ वी० ति० सं० २४६८



मूल्य
७)५०



मुद्रकः—

नेमीचन्द वाकलीवाल

कमल प्रिन्टर्स

भदतगंज-किशनगढ़ (राजस्थान)



पू० श्री कानजी स्वामी : समयसार का स्वाध्याय करते हुए
[जयपुर : २४६७ जेठ सुदी २]

अर्पण

जिन्होंने इस पामर पर अपार उपकार किया है, जिनकी
प्रेरणासे समयसारका यह अनुवाद तैयार हुआ है,
जो द्रव्य और भावसे समयसारकी महा
प्रभावना कर रहे हैं, समयसारमें प्ररूपित
निश्चय-व्यवहारकी संधिपूर्वक जिनका
जीवन है, उन परमपूज्य परम-
उपकारी सद्गुरुदेव (श्री कानजी-
स्वामी) को यह अनुवाद-पुष्प
अत्यन्त भक्तिभावसे
अर्पण करता

है ।

—हिम्मतलाल जे० शाह



जिनजीकी वाणी

सीमंधर मुखसे फुलवा खिरें।

जीकी कुन्दकुन्द गूथे माल रे,

जिनजीकी वाणी भली रे।

वाणी प्रभू मन लागे भली,

जिसमें सार-समय शिरताज रे,

जिनजीकी वाणी भली रे।सीमंधर०

गूथा पाहुड़ अरु गूथा पंचास्ति,

गूथा जो प्रवचनसार रे,

जिनजीकी वाणी भली रे,

गूथा नियमसार, गूथा रयणसार,

गूथा समयका सार रे,

जिनजीकी वाणी भली रे।सीमंधर०

स्याद्वादरूपी सुगंधी भरा जो,

जिनजीका ओंकारनाद रे,

जिनजीकी वाणी भली रे।

वंदूं जिनेश्वर, वंदूं मैं कुन्दकुन्द,

वंदूं यह ओंकारनाद रे,

जिनजीकी वाणी भली रे।सीमंधर०

हृदय रहो मेरे भावों रहो,

मेरे ध्यान रहो जिनवाण रे,

जिनजीकी वाणी भली रे।

जिनेश्वरदेवकी वाणीकी गूज,

मेरे गुंजती रहो दिन रात रे,

जिनजीकी वाणी भली रे।सीमंधर०

प्रथमावृत्ति के प्रकाशकीय निवेदन (में)



x

x

x

x

x

हम सब मुमुक्षुओंका महा भाग्य है जो ऐसा महान ग्रन्थराज आज हमको प्राप्त हो रहा है अतः उन महान् महान् उपकारी श्री कुन्दकुन्दाचार्यका हमारे ऊपर बड़ा भारी उपकार है। श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य का भी परम उपकार है जो उन्होंने गाथा में भरे हुवे मूल भावोंका दोहन करके उनके भावोंको टीकारूप स्पष्ट प्रकाशित कर दिया है और उनपर कलश काव्यरूप रचना भी की है। वर्तमानमें तो उनसे भी महान उपकार हमारे ऊपर तो पू० कानजी स्वामी का है कि जिनने अगर पूज्य अमृतचन्द्राचार्यकी टीकाको इतना विस्तृत और स्पष्ट करके नहीं समझाया होता तो इस महान ग्रन्थाधिराजके मर्मको समझ सकनेका भी महा सौभाग्य हम सबको कैसे प्राप्त होता? अभीसे २००० वर्ष पूर्व भगवान श्री कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा समयसाररूपी मूलसूत्रोंकी रचना हुई, उनके १००० वर्ष उपरान्त ही आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेवके द्वारा उन सूत्ररूप गाथाओं पर गाथाओंके गुप्त भावोंको प्रकाशमें ला देनेवाली आत्मख्याति नामकी टीका की रचना हुई, और आज उस रचनाके १००० वर्ष उपरान्त ही पूज्य श्री कानजी स्वामी के द्वारा उस टीका पर विस्तृत विशद व्याख्या हो रही है, यह सब परम्परा इस बातकी द्योतक है कि जैसे २ जीवोंकी बुद्धि न्यून होती जा रही है वैसे ही वैसे पात्र जीवोंको यथार्थ तत्त्व समझने योग्य स्पष्टता होती चली जा रही है। यह वर्तमानके आपके प्रवचन आगामी १००० वर्ष तक, पात्र जीवोंकी परम्परा बनाये रखनेके लिए निश्चय पूर्वक कारण होंगे।

इस ग्रन्थराजकी रचनाके सम्बन्धमें, ग्रन्थके विषयके बाबतमें गुजराती भाषामें अनुवाद करनेका कारण एवं अनुवादमें कौन २ ग्रन्थोंका आधार आदि लिया गया आदि अनेक विषयोंको श्री हिंमतलाल भाई ने अपने उपोद्घातमें सुन्दर रीतिसे स्पष्ट किया है वह पाठकोंको जरूर पढ़ने योग्य है।

इस समयसारके गुजराती भाषामें अनुवादकर्ता तथा गुजरातीमें हरिगीतिका छन्दकी रचना करनेवाले तथा हिन्दी हरिगीतिका छन्द जो इस प्रकाशनमें दिये गये

हैं उनका संपूर्णतया संशोधन करनेवाले भाई श्री हिमंतलालभाई-B.Sc. हैं उनकी प्रशंसा जितनी भी की जावे कम है। उनके विषयमें श्री भाई श्री रामजीभाई माणोकचन्दजी दोशी प्रमुख श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट ने निम्न शब्दोंमें प्रशंसा की है:—

“भाई श्री हिमंतलालभाई, अध्यात्मरसिक, शांत, विवेकी, गम्भीर और वैराग्यशाली सज्जन हैं इसके अलावा उच्च शिक्षाप्राप्त और संस्कृतमें प्रवीण हैं। ग्रंथाधि-
राज श्री समयसारजी, प्रवचनसार, नियमसार तथा पंचास्तिकायका गुजराती अनुवाद भी उन्होंने ही किया है। इसप्रकार श्रीमद् कुन्दकुन्दभगवानके सर्वोत्कृष्ट परमागमशास्त्रों के अनुवाद करनेका परम सौभाग्य उन्हींको मिला है इसलिए वे यथार्थरूपसे धन्यवाद के पात्र हैं।”

समयसार गुजराती टीका परसे हिन्दी अनुवाद करनेका कार्य भी कठिन परिश्रम साध्य था, उसको पूरा करनेवाले श्री प. परमेष्ठीदीसजी न्यायतीर्थ धन्यवादके पात्र हैं।

इस अनुवादके तैयार हो जाने पर इसको अक्षरशः मिलान करके जांचनेका कार्य और भी कठिन था, उसमें अपना अमूल्य समय देनेवाले श्रीयुक्त माननीय भाई श्री रामजीभाई माणोकचन्द दोशी, श्रीयुक्त भाई श्री खीमचन्द भाई, श्री ब्र. चन्दूभाई, श्री ब्र. अमृतलालभाई और श्री ब्र. गुलाबचन्दभाईको बहुत २ धन्यवाद है।

इसकी गाथाओं पर हिन्दी छन्द रचना करनेका मुझे अवसर मिला, यह मेरा सौभाग्य है। इस रचनाके समय गाथाके भाव; पूर्णरीत्या छन्दमें आजावे इसी ही बातका मुख्य उद्देश्य रक्खा गया है। छन्दरचनाकी दृष्टि गौण रक्खी गई अतः इस सम्बन्धकी कमीके लिये पाठक क्षमा करें।

सबके अन्तमें परम उपकारी अध्यात्ममूर्ति श्री कानजीस्वामीके प्रति अत्यन्त भक्तिपूर्वक नेमस्कार है कि जिनको यथार्थ तत्वप्ररूपणासे अनन्त काल नहीं प्राप्त किया ऐसे यथार्थ मोक्षमार्गको समझनेका अवसर प्राप्त हुआ है तथा इस ओरकी रुचि प्रगटी है। अब आन्तरिक हृदयसे यह भावना है कि आपका उपदेशित हितमार्ग मेरे अन्तरमें जयवंत रहे तथा उसपर अप्रतिहत भावसे चलनेका बल मेरेमें प्राप्त हो।

तीसरी श्रावृत्तिका प्रकाशकीय निवेदन

आत्मकल्याणका स्पष्ट मार्ग बतलानेवाला परमागम, श्री समयसारजी शास्त्र अद्वितीय जगतचक्षु है जिसकी महिमा अपार है। वर्तमान धर्मक्रान्ति युगमें इस शास्त्रका श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा सत्य समझनेका उत्साह प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

गत वर्ष वीर निर्वाण सं० २४८६ के कार्तिक मासमें इस शास्त्रकी १५०० प्रति छपकर आई थीं और बेचनेमें कंट्रोल रखनेपर भी दो मासमें सर्व प्रतियाँ बिक गईं धर्म जिज्ञासुओंमें तत्त्वज्ञानका प्रचार कितना वृद्धिगत हो रहा है यह बात इससे सूचित होती है।

समयसारजी दैवीशास्त्र-भागवत शास्त्र है इसलिये उसका पारायण (पठन-पाठन) करना तत्त्वजिज्ञासुओंके लिये नित्य कर्तव्य है। श्री अमृतचंद्राचार्यकृत टीका सर्वोत्तम अध्यात्मटीका है। उसमें श्री कुंदकुंदाचार्यका हार्द विशदरूपसे खोला गया है। अनादि मोहरूप अज्ञानके कारण जो जीव अत्यन्त अप्रतिबुद्ध हो वह भी ज्ञानीका अभिप्राय समझनेमें अत्यन्त सावधान हो जावे ऐसी अनुपम शैली है। पवित्र रसमय शान्तिदायक अपूर्व जीवन कैसे प्राप्त हो यह बात समयसार द्वारा समझनेका प्रयत्न करनेवालोंकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है यह इसका सूचक है और यही सच्ची धर्मप्रभावना है।

परमोपकारी पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीके इस शास्त्रके ऊपर अत्यन्त सुस्पष्ट और सुबोध प्रवचन द्वारा धर्म जिज्ञासुओंको अपूर्व यथार्थ समाधान प्राप्त हो रहा है। जो चीज पूर्वमें अनंत कालमें दुर्लभ थी वही चीज स्वामीजीने जिज्ञासु पात्र जीवोंके लिये सुगम-सुलभ कर दी है। जो मध्यस्थ होकर प्रत्यक्ष समागम द्वारा यथार्थता, स्वतंत्रता और वीतरागता ग्रहण करनेका प्रयत्न करेगा उसके लिये आत्मकल्याण करने का यह उत्तम अवसर है।

इस ग्रंथप्रकाशनमें भी ब्र० श्री गुलाबचन्दभाईने संपूर्ण सहयोग दिया है तथा श्री नेमीचन्द्रजी बाकलीवाल (मालिक-कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज-किशनगढ़) ने उत्तम ढंगसे छाप दिया है, उसके लिये हम आप सबका आभार मानते हैं। पाठकोंसे प्रार्थना है कि इस शास्त्रका नयविभाग द्वारा सुचारुरूपसे अभ्यास कर त्रैकालिक पूर्ण ज्ञायक-स्वरूप निजात्माके आश्रयसे ही शुद्धताकी प्राप्ति निर्णय और प्रयत्न करें।

श्रीमचन्द्र जेठालाल शेट

श्री वीर निर्वाण

सं० २४६०

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट अन्तर्गत प्रकाशक

श्री साहित्य प्रचार विभाग कमेटी

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

चतुर्थ आवृत्ति का प्रकाशकीय निवेदन



इससे पूर्वकी तीन आवृत्तियोंमें संस्कृत टीकाके कलशरूप श्लोकोंका अनुवाद बीचमें संस्कृत शब्द दिये बिना ही छपा था। कुछ समय पूर्व समयसारजी की जो गुजराती आवृत्ति प्रकाशित हुई है उसमें संस्कृत श्लोकोंका गुजराती अर्थ देते हुए बीच-बीचमें वे संस्कृत शब्द भी कौसमें दिये गये हैं जिनका वह अर्थ है। जिससे पाठकोंको यह समझनेमें सरलता हो कि वह अर्थ किस संस्कृत शब्दका है। 'श्लोकार्थ' में संस्कृत शब्द यथास्थान रखनेका वह कार्य ब्र० श्री चन्दुलालजीने अपनी स्वयं स्फुरित भावनासे अत्यन्त सावधानी पूर्वक किया है, अतः हम उनका आभार मानते हैं। गुजराती आवृत्तिके अनुसार प्रस्तुत हिन्दी आवृत्तिमें भी 'श्लोकार्थ' के बीच-बीचमें संस्कृत शब्द दिये गये हैं; जिनके सम्पादनमें ब्र० श्री गुलाबचन्दजीने अपना सहयोग दिया है, इसलिये हम उनके भी आभारी हैं।

श्री वीर निर्वाण सं०
२४६७

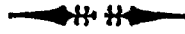


साहित्य प्रकाशन कमेटी
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)



—:: श्री वीतरायगुरवे नमः ::—

उपोद्घात



भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत यह “समयप्राभूत” अथवा ‘समयसार’ नामका शास्त्र ‘द्वितीय श्रुतस्कंध’ में का सर्वोत्कृष्ट आगम है ।

द्वितीय श्रुतस्कंधकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह पहले अपन पट्टावलिओंके आधारसे संक्षेपमें देख लेवें ।

आज से २४६६ वर्ष पहले इस भरत क्षेत्रकी पुण्य-भूमिमें मोक्षमार्गका प्रकाश करनेके लिये जगत्पूज्य परम भट्टारक भगवान् श्री महावीरस्वामी अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थोंका स्वरूप प्रगट कर रहे थे । उनके निर्वाणके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए, उनमेंसे अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी हुवे । वहाँ तक तो द्वादशाङ्ग शास्त्रके प्ररूपणसे व्यवहारनिश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा । तत्पश्चात् कालदोषसे क्रमक्रमसे अंगोंके ज्ञानकी व्युच्छिति होती गई । इसप्रकार अपार ज्ञान-सिंधुका बहु भाग विच्छेद हो जानेके पश्चात् दूसरे श्री भद्रबाहुस्वामी आचार्य की परिपाटीमें दो महा समर्थ मुनि हुए—एक का नाम श्री धरसेन आचार्य तथा दूसरोंका नाम श्री गुणधर आचार्य था । उनसे मिले हुए ज्ञानके द्वारा उनकी परम्परामें होने वाले आचार्योंने शास्त्रोंकी रचनाएँ कीं और श्री वीरभगवानके उपदेशका प्रवाह प्रवाहित रखा ।

श्री धरसेन आचार्य को अग्रायणी पूर्वका पाँचवाँ वस्तु अधिकार उसके महा-कर्मप्रकृति नाम चौथे प्राभूतका ज्ञान था । उस ज्ञानामृतमेंसे अनुक्रमसे उनके पीछेके आचार्यों द्वारा षट्खंडागम, धवल, महाधवल, जयधवल, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणसार, आदि शास्त्रों की रचना हुई । इसप्रकार प्रथम श्रुतस्कंधकी उत्पत्ति है । उसमें

जीव और कर्मके संयोगसे हुए आत्माकी संसार-पर्यायिका—गुणस्थान, मार्गणा आदि का—संक्षिप्त वर्णन है, पर्यायार्थिकनयको प्रधान करके कथन है। इस नयको अशुद्ध द्रव्यार्थिक भी कहते हैं और अध्यात्मभाषासे अशुद्ध निश्चयनय अथवा व्यवहार कहते हैं।

श्री गुणधर आचार्यको ज्ञानप्रवादपूर्वकी दसवीं वस्तुके तृतीय प्राभृतका ज्ञान था। उस ज्ञानमेंसे उनके पीछेके आचार्योंने अनुक्रमसे सिद्धान्त रचे। इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् महावीरसे प्रवाहित होता हुआ ज्ञान, आचार्यों की परम्परासे भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवको प्राप्त हुआ। उन्होंने पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियम-सार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्र रचे इसप्रकार द्वितीय श्रुतस्कंधकी उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञानको प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे कथन है। आत्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन है।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम संवत्के प्रारम्भमें होगये हैं। दिगम्बर जैन परम्परामें भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवका स्थान सर्वोत्कृष्ट है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलं ॥

प्रत्येक दिगम्बर जैन, इस श्लोकको, शास्त्राध्ययन प्रारम्भ करते समय मंगला-चरणरूप बोलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ भगवान् श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान् श्री गौतम स्वामी के अनन्तर ही भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यका स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधुगण स्वयंको कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्पराका कहलाने में गौरव मानते हैं, भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवके शास्त्र साक्षात् गणधर देवके वचनों जैसे ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके अनन्तर हुवे ग्रंथकार आचार्य स्वयंके किसी कथनको सिद्ध करनेके लिये कुन्दकुन्दाचार्यदेवके शास्त्रोंका प्रमाण देते हैं जिससे यह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। उनके पीछेके रचे हुवे ग्रन्थोंमें उनके शास्त्रोंमेंसे अनेकानेक अवतरण लिये हुवे हैं। यथार्थतः भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यने स्वयंके परमागर्मोंमें तीर्थकरदेवोंके द्वारा प्ररूपित उत्तमोत्तम सिद्धान्तोंको (भालवी) साध रखा है और मोक्षमार्गको टिका रखा है। वि० सं० १९० में हुए श्री देवसेनाचार्यवर अपने दर्शन-सार नामके ग्रन्थमें कहते हैं कि—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणारोण ।

ए विवोहइ तो समणा कंहुं सुमग्गं पयाणंति ॥ (दर्शनसार)

“विदेहक्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामीसे प्राप्त किये हुवे दिव्य ज्ञानके द्वारा श्री पद्मनंदिनाथने (श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवने) बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते ?” दूसरा एक उल्लेख देखिये, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्य-देवको कलिकाल सर्वज्ञ कहा गया है, “पद्मनंदि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, ऐला-चार्य, गृध्रपिच्छाचार्य, इन् पाँचों नामोंसे विराजित, चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करनेकी जिनको ऋद्धि थी, जिन्होंने पूर्व विदेहमें जाकर श्री सीमंधर भगवानका वंदन किया था और जिनके पाससे मिले हुवे श्रुतज्ञानके द्वारा जिन्होंने भारतवर्ष के भव्य जीवों को प्रतिबोधित किया है ऐसे जो श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारकके पट्टके आभरणरूप कलिकाल सर्वज्ञ (भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव) उनके द्वारा रचित इस षटप्राभृत ग्रन्थमें..... सूरेश्वर श्री श्रुतसागर द्वारा रचित मोक्ष प्राभृतकी टीका समाप्त हुई ।” इसप्रकार षट्-प्राभृतकी श्री श्रुतसागरसूरिकृत टीकाके अन्तमें लिखा हुआ है । भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य-देवकी महत्ता बतानेवाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्यमें मिलते हैं । शिलालेख भी अनेक हैं । इसप्रकार यह निर्णीत है कि सनातन जैन (दिग्म्बर) संप्रदायमें कलिकाल सर्वज्ञ भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यका स्थान अजोड़ है ।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यके रचे हुवे अनेक शास्त्र हैं; उसमें से थोड़े अभी विद्यमान हैं । त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ देवके मुखसे प्रवाहित श्रुतामृतकी सरितामेंसे जो अमृत-भाजन भर लिये गये वे वर्तमानमें भी अनेक आत्मार्थिओंको आत्म-जीवन अर्पण

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः । कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ॥

यश्चारु-चारण-करान्बुजचञ्चरीक-श्चके श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

(चन्द्रगिरि पर्वतका शिलालेख)

अर्थः—कुन्दपुष्पकी प्रभाको धारण करनेवाली जिनकी कीर्तिके द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणोंके-चारणश्रद्धिधारी महामुनियोंके-सुन्दर हस्तकमलोंके अमर थे और जिस पवित्रात्माने भरत-क्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं ?

.....कौण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त बौह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।

रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

(विन्ध्यगिरि-शिलालेख)

अर्थः—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थानको—भूमितलको—छोड़ कर चार अंगुल ऊपर आकाशमें चलते थे, उससे मैं यह समझता हूँ कि, वे अन्तरंग तथा बहिरंग रजसे (अपना) अत्यन्त अस्पृष्टत्व व्यक्त करते थे (वे अन्तरङ्गमें रागादि मलसे और बाह्यमें धूलसे अस्पृष्ट थे) ।

करते हैं। उनके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार नामके तीन उत्तमोत्तम शास्त्र 'नाटकत्रय' अथवा 'प्राभूतत्रय' कहलाते हैं, इन तीन परमागमोंमें हजारों शास्त्रोंका सार आ जाता है। इन तीन परमागमोंमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यके पश्चात् लिखे हुये अनेक ग्रन्थोंके बीज निहित हैं ऐसा सूक्ष्म दृष्टिसे अभ्यास करने पर मालूम होता है। पंचास्तिकायमें छह द्रव्योंका और नौ तत्त्वोंका स्वरूप संक्षेपमें कहा है। प्रवचनसारको ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इसप्रकार तीन अधिकारोंमें विभाजित किया है। समयसारमें नवतत्त्वोंका शुद्धनयकी दृष्टिसे कथन है।

श्री समयसार अलौकिक शास्त्र है। आचार्य भगवान्ने इस जगतके जीवों पर परम कृपा करके इस शास्त्रकी रचना की है। उसमें मोक्षमार्गका यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा कहा गया है, अनन्तकालसे परिभ्रमण करते हुवे जीवको जो कुछ समझना बाकी रह गया है वो इस परमागममें समझाया गया है। परम कृपालु आचार्य भगवान् इस शास्त्रको प्रारम्भ करते ही स्वयं ही कहते हैं:—कामभोगबंधनकी कथा सबने सुनी है, परिचय किया है, अनुभव किया है लेकिन पर से भिन्न एकत्वकी प्राप्ति ही केवल दुर्लभ है। उस एकत्वकी—परसे भिन्न आत्माकी—बात मैं इस शास्त्रमें समस्त निज वैभवसे (आगम, युक्ति, परंपरा और अनुभवसे) कहूँगा, इस प्रतिज्ञाके अनुसार आचार्यदेव इस शास्त्रमें आत्माका एकत्व—पर द्रव्यसे और परं भावोंसे भिन्नता—समझाते हैं। वे कहते हैं कि 'जो आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त देखते हैं वे समग्र जिनशासनको देखते हैं' और भी वे कहते हैं कि 'ऐसा नहीं देखनेवाले अज्ञानीके सर्व भाव अज्ञानमय हैं'। इसप्रकार जहाँतक जीवको स्वयंकी शुद्धताका अनुभव नहीं होता वहाँतक वो मोक्षमार्गी नहीं है; भले हो वो व्रत, समिति, गुप्ति आदि व्यवहार-चारित्र पालता हो और सर्व आगम भी पढ़ चुका हो। जिसको शुद्ध आत्माका अनुभव वर्तता है वह ही सम्यग्दृष्टि है, रागादिके उदयमें सम्यक्त्वकी जीव कभी एकाकाररूप परिणमता नहीं है परन्तु ऐसा अनुभवता है कि 'यह पुद्गलकर्मरूप रागका विपाकरूप उदय है; ये मेरे भाव नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ।' यहाँ प्रश्न होगा कि रागादिभाव होते रहने पर भी आत्मा शुद्ध कैसे हो सकता है? उत्तरमें स्फटिकमणिका दृष्टान्त दिया गया है। जैसे स्फटिकमणि लाल कपड़ेके संयोगसे लाल दिखाई देती है—होती है तो भी स्फटिकमणिके स्वभावकी दृष्टिसे देखने पर स्फटिकमणिने निर्मलपना छोड़ा नहीं है, उसीप्रकार आत्मा रागादि कर्मोदयके संयोगसे रागी दिखाई देता है—होता है तो भी शुद्धनयकी दृष्टिसे उसने शुद्धता छोड़ी नहीं है। पर्यायदृष्टिसे अशुद्धता

वर्तते हुवे भी द्रव्यदृष्टिसे शुद्धताका अनुभव हो सकता है। वह अनुभव चतुर्थ गुणस्थान में होता है। इससे वाचकके समझमें आवेगा कि सम्यग्दर्शन कितना दुष्कर है। सम्यग्दृष्टिका परिणमन ही पलट गया होता है। वह चाहे जो कार्य करते हुवे भी शुद्ध आत्मा को ही अनुभवता है। जैसे लोलुपी मनुष्य नमक और शाकके स्वादका भेद नहीं कर सकता; उसी प्रकार अज्ञानी ज्ञानका और रागका भेद नहीं कर सकता; जैसे अलुब्ध मनुष्य शाकसे नमकका भिन्न स्वाद ले सकता है उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि रागसे ज्ञानको भिन्न ही अनुभवता है। अब यह प्रश्न होता है कि ऐसा सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् राग और आत्माकी भिन्नता किस प्रकार अनुभवपूर्वक समझ में आवे? आचार्य भगवान् उत्तर देते हैं कि—प्रज्ञारूपी छैनीसे छेदते वे दोनों भिन्न हो जाते हैं, अर्थात् ज्ञानसे ही वस्तुके यथार्थ स्वरूप की पहचानसे ही—, अनादिकालसे राग द्वेषके साथ एकाकाररूप परिणमता आत्मा भिन्नपने परिणमने लगता है; इससे अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिये प्रत्येक जीवका वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी पहिचान करनेका प्रयत्न सदा कर्तव्य है।

इस शास्त्रका मुख्य उद्देश्य यथार्थ आत्मस्वरूपकी पहिचान कराना है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये इस शास्त्रमें आचार्य भगवानने अनेक विषयोंका निरूपण किया है। जीव और पुद्गलके निमित्त नैमित्तिकपना होनेपर भी दोनोंका अत्यन्त स्वतंत्र परिणमन, ज्ञानीको राग-द्वेषका अकर्ता-अभोक्तापना, अज्ञानीको रागद्वेषका कर्ताभोक्तापना, सांख्यदर्शनकी एकान्तिकता, गुणस्थान आरोहणमें भावका और द्रव्यका निमित्तनैमित्तिकपना, विकाररूप परिणमन करनेमें अज्ञानीका स्वयंका ही दोष, मिथ्यात्वादिका जड़पना उसीप्रकार चेतनापना, पुण्य और पाप दोनोंका बंधस्वरूपपना, मोक्षमार्गमें चरणानुयोग का स्थान इत्यादि अनेक विषय इस शास्त्रमें प्ररूपण किये हैं। भव्यजीवोंको यथार्थ मोक्षमार्ग बतलानेका इन सबका उद्देश्य है। इस शास्त्रकी महत्ता देखकर अन्तर उल्लास आजानेसे श्रीमद् जयसेन आचार्य कहते हैं कि 'जयवंत वर्ते वे पद्मनंदि आचार्य अर्थात् कुन्दकुन्द आचार्य कि जिन्होंने महातत्वसे भरे हुये प्राभूतरूपी पर्वतको बुद्धिरूपी सिर पर उठाकर भव्यजीवोंको समर्पित किया है'। यथार्थतया इस समयमें यह शास्त्र मुमुक्षु भव्यजीवोंका परम आधार है। ऐसे दुःषमकालमें भी ऐसा अद्भुत अनन्य-शरणभूत शास्त्र-तीर्थकरदेवके मुखमेंसे निकला हुआ अमृत - विद्यमान है यह अपना सबका महा सद्भाग्य है। निश्चय-व्यवहारकी संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्गकी ऐसी संकलनाबद्ध प्ररूपणा दूसरे कोई भी ग्रन्थमें नहीं है। परमपूज्य श्री कानजी स्वामीके

शब्दोंमें कहा जावे तो—यह समयसार शास्त्र आगमोंका भी आगम है; लाखों शास्त्रों का सार इसमें है; जैनशासनका यह स्थम्भ है; साधककी यह कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। चौदहपूर्वका रहस्य इसमें समाया हुआ है। इसकी हरएक गाथा छट्टे सातवें गुणस्थानमें भूलते। हुवे महामुनिके आत्म-अनुभवमेंसे निकली हुई है। इस शास्त्रके कर्ता भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्रमें सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमन्धर भगवान्के समवसरणमें गये थे और वहाँ वे आठ दिन रहे थे यह बात यथातथ्य है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाणसिद्ध है, इसमें लेशमात्र भी शंकाके लिये स्थान नहीं है। उन परम उपकारी आचार्य भगवान् द्वारा रचित इस समयसारमें तीर्थङ्करदेवकी निरक्षरी उँकारध्वनिमेंसे निकला हुआ ही उपदेश है।

इस शास्त्रमें भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी प्राकृत गाथाओंपर आत्मख्याति नामकी संस्कृत टीका लिखनेवाले (विक्रमकी दसवीं शताब्दीके लगभग होनेवाले) श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव हैं। जिसप्रकार इस शास्त्रके मूलकर्ता अलौकिक पुरुष हैं उसीप्रकार उसके टीकाकार भी महासमर्थ आचार्य हैं। आत्मख्याति जैसी टीका अभीतक भी दूसरे कोई जैन ग्रंथकी नहीं लिखी गई है। उन्होंने पंचास्तिकाय तथा प्रवचनसारकी भी टीका लिखी है और तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्धचुपाय आदि स्वतंत्र ग्रंथोंकी रचना भी की है। उनकी एक इस आत्मख्याति टीकाही पढ़नेवालेको उनकी अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखर विद्वत्ता, वस्तुस्वरूपको न्यायसे सिद्ध करनेकी उनकी असाधारण शक्ति और उत्तम काव्यशक्तिका पूरा ज्ञान हो जावेगा। अति संक्षेपमें गंभीर रहस्योंको भर देनेकी अनोखी शक्ति विद्वानोंको आश्चर्यचकित करती है। उनकी यह देवी टीका श्रुतकेवलीके वचनोंके समान है। जिसप्रकार मूलशास्त्रकर्ताने समस्त निजवैभवसे इस शास्त्रकी रचना की है उसीप्रकार टीकाकारने भी अत्यन्त उत्साहपूर्वक सर्व निज-वैभवसे यह टीका रची है ऐसा इस टीकाके पढ़नेवालोंको स्वभावतः ही निश्चय हुये बिना नहीं रह सकता। शासनमान्य भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इस कलिकालमें जगद्गुरु तीर्थंकरदेवके जैसा काम किया है और श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेवने, मानों कि वे कुन्दकुन्द भगवान्के हृदयमें बैठ गये हों उसप्रकारसे उनके गम्भीर आशयोंको यथार्थतया व्यक्त करके, उनके गणधरके समान कार्य किया है। इस टीकामें आनेवाले काव्य (कलश) अध्यात्मरससे और आत्मानुभवकी मस्तीसे भरपूर हैं। श्रीपद्मभमलधारिदेव जैसे समर्थ आचार्योंपर भी उन कलशोंने गहरी छाप डाली है और आज भी वे तत्त्वज्ञानसे

और अध्यात्मरससे भरे हुये मधुर कलश, अध्यात्मरसिकोंके हृदयके तारको झनझना देते हैं। अध्यात्मकविरूपमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवका जैन साहित्यमें अद्वितीय स्थान है।

समयसारमें भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवने प्राकृत में ४१५ गाथाओंकी रचना की है। उसपर श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेवने आत्मख्याति नामकी और श्रीजयसेनाचार्यदेवने तात्पर्य वृत्ति नामकी संस्कृत टीका लिखी है। श्री पंडित जयचंद्रजीने मूल गाथाओंका और आत्मख्यातिका हिन्दीमें भाषांतर किया और उसमें स्वयंने थोड़ा भावार्थ भी लिखा है। वह पुस्तक 'समयप्राभृत' के नामसे विक्रम सं० १९६४ में प्रकाशित हुई। उसके बाद उस पुस्तकको पंडित मनोहरलालजीने प्रचलित हिंदीमें परिवर्तित किया और श्री परमश्रुत-प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमाला द्वारा 'समयसार' के नामसे वि० सं० १९७५ में प्रकाशित हुआ। उस हिंदी ग्रंथके आधारसे, उसीप्रकार संस्कृत टीकाके शब्दों तथा आशयसे चिपटे रहकर यह गुजराती अनुवाद तैयार किया गया है।

यह अनुवाद करनेका महाभाग्य मुझे प्राप्त हुआ यह मुझे अत्यन्त हर्षका कारण है। परमपूज्य श्री कानजी स्वामीकी छत्रछायामें इस गहन शास्त्रका अनुवाद हुआ है। अनुवाद करनेकी समस्त शक्ति मुझे पूज्यपाद श्रीगुरुदेवके पाससे ही मिली है। मेरी मार्फत अनुवाद हुआ इससे 'यह अनुवाद मैंने किया है' ऐसा व्यवहारसे भले ही कहा जावे, परंतु मुझे मेरी अल्पज्ञाताका पूरा ज्ञान होनेसे और अनुवादकी सर्व शक्तिका मूल पूज्य श्रीगुरुदेव ही होनेसे मैं तो बराबर समझता हूँ कि श्रीगुरुदेवकी अमृतवाणीका तीव्र वेग ही उनके द्वारा मिला हुआ अनमोल उपदेश ही—यथाकाल इस अनुवादरूपमें परिणमा है। जिनके बलपर ही इस अतिगहन शास्त्रके अनुवाद करनेका मैंने साहस किया था और जिनकी कृपासे ही यह निर्विघ्न पूरा हुआ है उन परम उपकारी गुरुदेव के चरणारविंदमें अति भक्तिभावसे वंदन करता हूँ।

इस अनुवादमें अनेक भाइयोंकी मदद है। भाई श्री अमृतलाल फाटकियाकी इसमें सबसे ज्यादा मदद है। उन्होंने सम्पूर्ण अनुवादका अति परिश्रम करके बहुत ही सूक्ष्मतासे और उत्साहसे संशोधन किया है, बहुतसी अति-उपयोगी सूचनाएँ उन्होंने बताईं, संस्कृत टीकाकी हस्त लिखित प्रतियोंका मिलान कर पठान्तरोंको ढूँढ कर दिया, शंका-स्थलोंका समाधान पण्डितजनोंसे बुलाकर दिया—आदि अनेक प्रकारसे उन्होंने जो सर्वतोमुखी सहायता की है उसके लिये मैं उनका अत्यंत आभारी हूँ। अपने विशाल शास्त्रज्ञानसे, इस अनुवादमें पड़नेवाली छोटी मोटी दिक्कतोंको दूर कर देनेवाले माननीय

श्री वकील रामजीभाई माणिकचन्द दोशीका मैं हृदयपूर्वक आभार मानता हूँ । भाषांतर करते समय जब २ कोई अर्थ बराबर नहीं बैठा तब २ मैंने पं० गणेशप्रसादजी वर्णी और पं० रामप्रसादजी शास्त्रीजी को पत्र द्वारा (भाई अमृतलालजी द्वारा) अर्थ पुछवाने पर उन्होंने मेरेको हर समय बिना संकोचके प्रश्नोंके उत्तर दिये इसके लिये मैं उनका अंतःकरणपूर्वक आभार मानता हूँ । इसके अनंतर भी जिन २ भाइयोंकी इस अनुवादमें सहायता है उन सबका भी मैं आभारी हूँ ।

यह अनुवाद भव्य जीवोंको जिनदेव द्वारा प्ररूपित आत्म शांतिका यथार्थ मार्ग बतावे, यह मेरी अंतरकी भावना है, श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवके शब्दोंमें 'यह शास्त्र आनंदमय विज्ञानघन आत्माको प्रत्यक्ष दिखानेवाला अद्वितीय जगत्चक्षु है । जो कोई उसके परम गम्भीर और सूक्ष्मभावोंको हृदयङ्गत करेगा उसको वह जगत्चक्षु आत्माका प्रत्यक्ष दर्शन करावेगा, जबतक वे भाव यथार्थ प्रकारसे हृदयङ्गत नहीं होंगे तबतक रात दिन वह ही मंथन, वह ही पुरुषार्थ कर्तव्य है । श्री जयसेनाचार्य देवके शब्दोंमें समयसारके अभ्यास आदिका फल कहकर यह उपोद्घात पूर्ण करता हूँ:— 'स्वरूपरसिक पुरुषों द्वारा वर्णित इस प्राभूतका जो कोई आदरसे अभ्यास करेगा, श्रवण करेगा, पठन करेगा, प्रसिद्धि करेगा, वह पुरुष अविनाशी स्वरूपमय, अनेक प्रकारकी विभिन्नतावाले, केवल एक ज्ञानात्मक भावको प्राप्त करके अग्रपदकी मुक्ति ललनामें लीन होगा ।'

दीपोत्सव वि० सं० १९९६

—हिंमतलाल जेठालाल शाह



अनुवादकों औरसे !

मैं इसे अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि मुझे इस युगके महान आध्यात्मिक संत श्री कानजी स्वामीके सान्निध्यका सुयोग प्राप्त हुआ, और उनके प्रवचनोंको सुनने एवं उन्हें राष्ट्रभाषा-हिन्दीमें अनूदित करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन अनूदित ग्रंथोंमेंसे 'समयसार प्रवचनादि' पहले प्रकाशित हो चुके हैं। पूज्य कानजी स्वामीके सान्निध्यमें रहकर अनेक विद्वानोंने कई आध्यात्मिक ग्रंथोंकी रचना की है, अनुवाद किये हैं और सम्पादन किया है। उन विद्वानोंमें श्री हिम्मतलाल शाह तथा श्री रामजीभाई दोशी आदि प्रमुख हैं।

उपरोक्त विद्वानोंके द्वारा गुजराती भाषामें अनूदित, सम्पादित एवं लिखित अनेक ग्रंथोंका हिन्दी भाषानुवाद करनेका मुझे सुयोग मिला है, जिनमें प्रवचनसार, मोक्षशास्त्र और यह समयसार ग्रंथ भी है। अध्यात्मप्रेमी भाई श्री कुं० नेमीचन्दजी पाटनीकी प्रेरणा इस सुकार्यमें विशेष साधक सिद्ध हुई है। प्रत्येक गाथाका गुजराती से हिन्दी पद्यानुवाद उन्हींने किया है। मैंने गुजराती अन्वयार्थ, टीका और भावार्थका भाषानुवाद किया है। यद्यपि अनुवादमें सम्पूर्ण सावधानी रखी गई है, तथापि यदि कोई दोष रह गये हों तो विशेषज्ञ मुझे क्षमा करें।

जैनेन्द्र प्रेस
ललितपुर

—परमेश्रीदास जैन
सम्पादक "वीर"



विषयानुक्रमणिका

१. जीवाजीवाधिकार

विषय	गाथा	पृष्ठ
(प्रथम ३८ गाथाओंमें रंगभूमिस्थल बाँधा है, उसमें जीव नामके पदार्थका स्वरूप कहा है)		
मंगलाचरण, ग्रन्थप्रतिज्ञा	१	५
यह जीव-अजीवरूप छह द्रव्यात्मक लोक है इसमें धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य तो स्वभावपरिणतिस्वरूप ही हैं और जीव पुद्गलद्रव्य के अनादिकालके संयोगसे विभावपरिणति भी है, क्योंकि स्पर्श, रस, गंध वर्ण शब्दरूप मूर्तिक पुद्गलको देखकर यह जीव रागद्वेषमोहरूप परिणमता है और इसके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप होकर जीवके साथ बँधता है। इस तरह इन दोनोंके अनादिसे बंधावस्था है। जीव जब निमित्त पाकर रागादिकरूप नहीं परिणमता तब नवीन कर्म भी नहीं बँधते, पुराने कर्म ऋढ़ जाते हैं, इसलिये मोक्ष होती है; ऐसे जीवके स्वसमय-परसमयकी प्रवृत्ति होती है। जब जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य-भावरूप अपने स्वभावरूप परिणमता है तब स्वसमय होता है और जब मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप परिणमता है तब पुद्गलकर्ममें ठहरा हुआ परसमय है ऐसा कथन	२	८
जीवके पुद्गलकर्मके साथ बंध होनेसे परसमयपना है सो सुन्दर नहीं है, कारण कि इसमें जीव संसार में भ्रमता अनेक तरहके दुःख पाता है; इसलिये स्वभावमें स्थिर होकर सबसे जुदा होकर अकेला स्थिर होय तभी सुन्दर (ठीक) है.	३	१०
जीवके जुदापन और एकपनका पाना दुर्लभ है; क्योंकि बंधकी कथा तो सभी प्राणी करते हैं, एकत्वकी कथा विरले जानते हैं जो कि दुर्लभ है, उस संबंधी कथन	४	१२
इस कथाको हम सब अपने अनुभवसे बुद्धिके अनुसार कहते हैं; उसको अन्य जीव भी अपने अनुभवसे परीक्षा कर ग्रहण करना	५	१३-१४
शुद्धनयसे देखिये तो जीव अप्रमत्त प्रमत्त दोनों दशाओंसे जुदा एक ज्ञायक-भावमात्र है जो कि जाननेवाला है वही जीव है उस सम्बन्धी	६	१५

विषय	गाथा	पृष्ठ
इस ज्ञायकभावमात्र आत्माके दर्शन-ज्ञान-चारित्रके भेदकर भी अशुद्धपन नहीं है, ज्ञायक है वह ज्ञायक ही है	७	१७
आत्माको व्यवहारनय अशुद्ध कहता है उस व्यवहारनयके उपदेशका प्रयोजन व्यवहारनय परमाथका प्रतिपादक कैसे है ?	८	१६
शुद्धनय सत्यार्थ और व्यवहारनय असत्यार्थ कहा गया है	६-१०	२०-२१
जो स्वरूपसे शुद्ध परम्भावको प्राप्त हो गये उनके तो शुद्धनय ही प्रयोजनवान है, और जो साधक अवस्थामें हैं उनके व्यवहारनय भी प्रयोजनवान है	११	२२-२३
ऐसा कथन	१२	२४से२८
जीवादितत्त्वोंको शुद्धनयसे जानना सो सम्यक्त्व है ऐसा कथन	१३	३०से३४
शुद्धनयका विषयभूत आत्मा बद्धः, अन्य, अनियत, विशेष और संयुक्त-इन-पांच भावोंसे रहित होने संबन्धी कथन	१४	३५से४०
शुद्धनयके विषयभूत आत्माको जानना सो सम्यग्ज्ञान है ऐसा कथन	१५	४१से४३
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप आत्मा ही साधुके सेवने करने योग्य है, उसका		
दृष्टान्तसहित कथन	१६से१८	४४से४६
शुद्धनयके विषयभूत आत्माको जवतक न जाने तवतक वे जीव अज्ञानी हैं	१६	५०-५१
अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) को कैसे पहिचाना जा सकता है ?	२०से२२	५२से५४
अज्ञानीको समझानेकी रीति	२३से२५	५५से५८
अज्ञानीने जीव-देहको एक देखकर तीर्थङ्करकी स्तुतिका प्रश्न किया उसका उत्तर	२६-२७	५८से६०
इस उत्तरमें जीव देहकी भिन्नताका दृश्य तथा जितेन्द्रिय, जितमोह क्षीणमोह	२८से३३	६०से६८
चारित्रमें जो प्रत्याख्यान कहनेमें आना है वह क्या है ? ऐसे शिष्यके प्रश्न		
का उत्तर प्राप्त होता है कि प्रत्याख्यान ज्ञान ही है	३४-३५	७०-७१
अनुभूतिद्वारा परभावका भेदज्ञान तथा ज्ञेयभावके भेदज्ञानके प्रकार	३६-३७	७३से७६
दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप परिणत हुए आत्माका स्वरूप कह कर रंगभूमिका		
स्थल (३८ गाथाओंमें) पूर्ण	३८	८०
जीव, अजीव दोनों बन्धपर्यायरूप होकर एक देखनेमें आते हैं उनमें जीवका		
स्वरूप न जाननेसे अज्ञानीजने जीवकी कल्पना अर्थात् अज्ञानादि भावरूप		
अन्यथा करते हैं-इस प्रकारका वर्णन	३६से४३	८१से८४
जीवका स्वरूप अन्यथा कल्पते हैं उनके निषेधकी गाथा	४४	८४से८६
अध्यवसानादिकभाव-पुद्गलमय हैं जीव नहीं हैं ऐसा कथन	४५	८७-८८
अध्यवसानादिकभावको व्यवहारनयसे जीव कहा गया है तथा दृष्टान्त	४६से४८	८८से९०

विषय	गाथा	पृष्ठ
परमार्थरूप जीवका स्वरूप (अलिंगग्रहण)	४६	६०से६५
वर्णाको आदि लेकर गुणस्थानपर्यन्त जितने भाव हैं वे जीवके नहीं हैं ऐसा छह गाथाओंमें कथन	५०से५५	१०३
ये वर्णादिक भाव जीवके हैं ऐसा व्यवहारनय कहता है, निश्चयनय नहीं कहता ऐसा दृष्टांतपूर्वक कथन	५६से६०	१०२से१०६
वर्णादिक भावोंका जीवके साथ तादात्म्य कोई अज्ञानी माने उसका निषेध	६१से६८	१०६से११६

२. कर्ताकर्माधिकार

१२०

अज्ञानी जीव क्रोधादिकमें जबतक वर्तता है तबतक कर्मका बन्ध करता है	६६-७०	१२१से१२३
आस्रव और आत्माका भेदज्ञान होने पर बन्ध नहीं होता	७१	१२३-२४
ज्ञानमात्र से ही बन्धका निरोध कैसे होता है	७२	१२५से२७
आस्रवोंमें निवृत्त होनेका विधान	७३	१२७से२६
ज्ञान होनेका और आस्रवोंकी निवृत्तिका समकाल कैसे है ? उसका कथन	७४	१२६ से ३१
ज्ञानस्वरूप हुए आत्माका चिह्न	७५	१३३
आस्रव और आत्माका भेदज्ञान होने पर आत्मा ज्ञानी होता है तब कर्तृ- कर्मभाव भी नहीं होता	७६-७६	१३४ से १३६
जीव-पुद्गलकर्मके परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव है तो कर्तृकर्मभाव नहीं कहा जा सकता	८० से ८२	१४१
निश्चयनयसे आत्मा और कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव नहीं हैं, अपने में ही कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव है	८३	१४२
व्यवहारनय आत्मा और पुद्गलकर्मके कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव कहता है	८४	१४४
आत्माको पुद्गलकर्मका कर्ता और भोक्ता माना जाय तो महान दोष-स्वपर के अभिन्नपनेका प्रसंग-आता है; वह मिथ्यात्व होनेसे जिनदेव सम्मत नहीं है	८५-८६	१४६ से १५०
मिथ्यात्वादि आस्रव जीव-अजीवके भेदसे दो प्रकारके हैं ऐसा कथन और उसका हेतु	८७ ८८	१५१
आत्माके मिथ्यात्व, अज्ञान, अचिरन्ति ये तीन परिणाम आनादि हैं उनका कर्तृपना और उनके निमित्तसे पुद्गलका कर्मरूप होना	८९ से ९२	१५२ से १७०
प न परिणामे तब कर्मका कर्ता नहीं है	९३	१५८

विषय	गाथा	पृष्ठ
अज्ञानसे कर्म कैसे होता है ऐसे शिष्यका प्रश्न और उसका उत्तर	६४-६५	१५६ से १६१
कर्मके कर्तापनका मूल अज्ञान ही है	६६	१६२
ज्ञानके होनेपर कर्तापन नहीं होता	६७	१६६
व्यवहारी जीव पुद्गलकर्मका कर्ता आत्माको कहते हैं यह अज्ञान है	६८	१६८
आत्मा पुद्गलकर्मका कर्ता निमित्तनैमित्तिकभावसे भी नहीं है, आत्माके योग, उपयोग हैं वे निमित्तनैमित्तिकभावसे कर्ता हैं और योग उपयोगका आत्मा कर्ता है	१००	१७०
ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है	१०१	१७१
अज्ञानी भी अपने अज्ञानभावका तो कर्ता है, पुद्गलकर्मका कर्ता, तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई नहीं है क्योंकि परद्रव्योंके परस्पर कर्तृकर्मभाव नहीं है-	१०२	१७२
एक द्रव्य अन्य द्रव्यका कुछ भी कर सकता नहीं	१०३-१०४	१७३-१७४
जीवको परद्रव्यके कर्तापनेका हेतु देख उपचारसे कहा जाता है कि यह कार्य जीवने क्रिया	१०५-१०८	१७५-१७८
मिथ्यात्वादिक सामान्य आसन्न और विशेष गुणस्थान ये बंधके कर्ता हैं		
निश्चयकर इनका जीव कर्ता भोक्ता नहीं है-स्पष्ट सूक्ष्म कथन	१०९-११२	१८०-१८१
जीव और आसन्नोका भेद दिखलाया है अभेद कहनेमें दूषण दिया है	११३-१५	१८५
सांख्यमती, पुरुष और प्रकृतिको अपरिणामी कहते हैं उसका निषेध कर पुरुष और पुद्गलको परिणामी कहा है	११६-१२५	१९०
ज्ञानसे ज्ञानभाव और अज्ञानसे अज्ञानभाव ही उत्पन्न होता है	१२६-१३१	१९६
अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म बन्धनेका निमित्तरूप अज्ञानादि भावोंका हेतु होता है	१३२-३६	१९७-२००
पुद्गलका परिणाम तो जीवसे जुदा है और जीवका पुद्गलसे जुदा है	१३७-१४०	२०२
कर्म जीवसे बद्धस्पष्ट है, या अबद्धस्पष्ट, ऐसे शिष्यके प्रश्नका निश्चय व्यवहार दोनों नयों से उत्तर	१४१	२०३
जो नयोंके पक्षसे रहित है वह कर्तृकर्मभावसे रहित समयसार शुद्ध आत्मा है ऐसा कहकर अधिकार पूर्ण	१४२-४४	२०४-२२१
		२२२
३. पुण्य-पाप अधिकार		
शुभाशुभ कर्मके स्वभावका वर्णन	१४५	२२४-२५
दोनों ही कर्मबन्धके कारण हैं	१४६	२२६
इसलिये दोनों कर्मोंका निषेध	१४७	२२७
उसका दृष्टांत और आगम की साक्षी	१४८-५०	२२८-३०

विषय	गाथा	पृष्ठ
ज्ञान मोक्षका कारण है	१५१	२३१
व्रतादिक पाले तो भी ज्ञान बिना मोक्ष नहीं है	१५२	२३२
मुख्यकर्मके पक्षपातीका दोष	१५४	२३५
ज्ञानको भी परमार्थस्वरूप मोक्षका कारण कहा है और अन्यका निषेध किया है	१५५	२३६-३७
कर्म मोक्षके कारणका घात करता है ऐसा दृष्टांतद्वारा कथन	१५७-५६	२४०
कर्म आप ही बन्धस्वरूप है	१६०	२४१
कर्म बन्धका कारणरूप भावस्वरूप है अर्थात् मिथ्यात्व-अज्ञान-कषायस्वरूप है ऐसा कथन, और तीनों अधिकार पूर्ण	१६१-६३	२४७
४ आस्रव-अधिकार		२४८
आस्रवके स्वरूपका वर्णन अर्थात् मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग-ये जीव अजीवके भेदसे दो प्रकारके हैं और वे बन्धके कारण हैं ऐसा कथन	१६४-६५	२५०
ज्ञानीके उन आस्रवोंका अभाव कहा है	१६६	२५१
राग-द्वेष-मोहरूप जीवके अज्ञानमय परिणाम हैं वे ही आस्रव हैं	१६७	२५२
रागादिक बिना जीवके ज्ञानमय भावकी उत्पत्ति	१६८	२५३-५४
ज्ञानीके द्रव्य आस्रवोंका अभाव	१६९	२५५
ज्ञानी निरास्रव किस तरह है ऐसे शिष्यके प्रश्नका उत्तर	१७०	२५६
अज्ञानी और ज्ञानीके आस्रवका होना और न होनेका युक्ति पूर्वक वर्णन	१७१-७६	२५७-६४
राग-द्वेष मोह अज्ञान परिणाम है वही बन्धका कारणरूप आस्रव है; वह ज्ञानीके नहीं है; इसलिये ज्ञानीके कर्मबन्ध भी नहीं है, अधिकार पूर्ण	१७७-१८०	२७१
५. संवर-अधिकार		२७२
संवरका मूल उपाय भेदविज्ञान है उसकी रीतिका तीन गाथाओंमें कथन	१८१-८३	२७३-७७
भेद विज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है ऐसा कथन	१८४-८५	२७८
शुद्ध आत्माकी प्राप्तिसे ही संवर होता है ऐसा कथन	१८६	२८१
संवर होनेका प्रकार-तीन गाथाओंमें	१८७	२८३
संवर होनेके क्रमका कथन, अधिकार पूर्ण	१९०-९२	२८८
६. निर्जरा-अधिकार		२८९
द्रव्यनिर्जराका स्वरूप	१९३	२९१
भावनिर्जराका स्वरूप	१९४	२९२
ज्ञानका सामर्थ्य	१९५	२९३
वैराग्यका सामर्थ्य	१९६	२९४

विषय	गाथा	पृष्ठ
ज्ञान-वैराग्यके सामर्थ्यका दृष्टांत पूर्वक कथन	१६७	२६६
सम्यग्दृष्टि सामान्यरूपसे तथा विशेषरूपसे स्व-परको कई रीतिसे जानता है		
उस सम्बन्धी कथन	१६८-१६९	२६८
सम्यग्दृष्टि ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न होता है	२००	३०१
रागी जीव सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता है उस सम्बन्धी कथन	२०१-२०२	३०४
अज्ञानी रागी प्राणी रागादिकको अपना पद जानता है उस पदको छोड़		
अपने एक वीतराग ज्ञायकभावपदमें स्थिर होनेका उपदेश	२०३	३०६
आत्माका पद एक ज्ञायकस्वभाव है और वह ही मोक्षका कारण है; ज्ञानमें		
जो भेद हैं वे कर्मके क्षयोपशमके निमित्तसे हैं	२०४	३०६
ज्ञान ज्ञानसे ही प्राप्त होता है	२०५-६	३१२
ज्ञानी परको क्यों नहीं ग्रहण करता ऐसे शिष्यके प्रश्नका उत्तर	२०७	३१३
परिग्रहके त्यागका विधान	२०८	३१४
ज्ञानीके सब परिग्रहका त्याग है	२१४-२१७	३२६
कर्मके फलकी वांछासे कर्म करता है वह कर्मसे लिप्त होता है। ज्ञानीके		
वांछा नहीं होनेसे वह कर्मसे लिप्त नहीं होता है, उसका दृष्टांतद्वारा कथन	२१८-२२७	३३५
सम्यक्त्वके आठ अंग हैं उनमेंसे प्रथम तो सम्यग्दृष्टि निःशंक तथा सात		
भय रहित है ऐसा कथन	२२८-२२९	३४०-३४२
निष्कांक्षिता, निर्विचिकित्सा, अमूढत्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य,		
प्रभावना-इनका निश्चयनयकी प्रधानतासे वर्णन	२३०-२३६	३५१

७. बन्ध अधिकार

३५२

बन्धके कारणका कथन	२३७-२४१	३५४-३५७
ऐसे कारणरूप आत्मा न प्रवर्ते तो बन्ध न हो ऐसा कथन	२४२-२४६	३६१
मिथ्यादृष्टिके बन्ध होता है इसके आशयको प्रगट किया है और वह आशय		
अज्ञान है ऐसा सिद्ध करते हैं	२४७-२५८	३६२-३७१
अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्धका कारण है	२५९	३७२-३७६
बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं है, अध्यवसाय ही बन्धका कारण है-ऐसा कथन	२६५	३७८
अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया कर्ता नहीं होनेसे मिथ्या है	२६६-६७	३८०
मिथ्यादृष्टि अज्ञानरूप अध्यवसायसे अपनी आत्माको अनेक अवस्थारूप		
करता है ऐसा कथन	२६८-६९	३८२

विषय	गाथां	पृष्ठ
यह अज्ञानरूप अध्यवसाय जिसके नहीं है उसके कर्मबन्ध नहीं है	२७०	३२५
यह अध्यवसाय क्या है ऐसे शिष्यके प्रश्नका उत्तर	२७१	३२६
इस अध्यवसानका निषेध है, वह व्यवहार नयका ही निषेध है	२७२	३२७-३२८
जो केवल व्यवहारका ही आलंबन करता है वह अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि इसका अवलम्बन अभव्य भी करता है। व्रत, समिति, गुप्ति पालता है, ग्यारह अंग पढ़ता है; तो भी उसे मोक्ष नहीं है	२७३	३२६
शास्त्रोंका ज्ञान होने पर भी अभव्य अज्ञानी है	२७४	३६०
अभव्य धर्मकी श्रद्धा करता है तो भी उसके भोगके निमित्त हैं, मोक्षके निमित्त नहीं हैं	२७५	३६१
व्यवहार-निश्चयनयका स्वरूप	२७६-७७	३६३
रागादिक भावोंका निमित्त आत्मा है या परद्रव्य ? उसका उत्तर	२७८-८२	३६६
आत्मा रागादिकका अकर्ता किस रीतिसे है, उसका उदाहरण पूर्वक कथन	२८३-८७	४०५
८. मोक्ष अधिकार		
मोक्षका स्वरूप कर्मबन्धसे छूटना है जो जीव बन्धका तो छेद नहीं करता है परन्तु मात्र बन्धके स्वरूपको जानकर ही संतुष्ट होता है वह मोक्ष नहीं पाता है	२८८-९०	४०८
बन्धकी चिन्ता करने पर भी बन्ध नहीं छूटता है	२९१	४०६
बन्ध छेदनेसे ही मोक्ष होता है	२९२-९३	४११
बन्धका छेद किससे करना ऐसे प्रश्नका उत्तर यह है कि कर्मबन्धके छेदनेको प्रज्ञा शस्त्र ही कारण है	२९४	४१४
प्रज्ञारूप कारणसे आत्मा और बन्ध दोनोंको जुदे जुदे कर प्रज्ञासे ही आत्मा को ग्रहण करना, बन्धको छोड़ना	२९५-९६	४१५-१६
आत्माको प्रज्ञाके द्वारा कैसे ग्रहण करना, उस सम्बन्धी कथन	२९७-९९	४२२
आत्माके सिवाय अन्य भावका त्याग करना, कौन ज्ञानी परभावको पर जानकर ग्रहण करेगा ? अर्थात् कोई नहीं करेगा	३००	४२४
जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह अपराधी है, बन्धनमें पड़ता है; जो अपराध नहीं करता, वह बन्धनमें भी नहीं पड़ता	३०१-४	४२६
अपराधका स्वरूप	३०४-३०५	४२८
शुद्ध आत्माके ग्रहणसे मोक्ष कहा; परन्तु आत्मा तो प्रतिक्रमण आदि द्वारा भी दोषोंसे छूट जाता है; तो पीछे शुद्ध आत्माके ग्रहणसे क्या लाभ है ?		

विषय	गाथा	पृष्ठ
ऐसे शिष्यके प्रश्नका उत्तर यह दिया है कि प्रतिक्रमण -अप्रतिक्रमणसे रहित अप्रतिक्रमणादिस्वरूप तीसरी अवस्था शुद्ध आत्माका ही ग्रहण है, इसीसे आत्मा निर्दोष होता है	३०६-७	४३४
९. सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार		
आत्माके अकर्तापना दृष्टांतपूर्वक कहते हैं	३०८-११	४३८
कर्तापना जीव अज्ञानसे मानता है, उस अज्ञानकी सामर्थ्य दिखाते हैं	३१२-१३	४४०
जब तक आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उपजना विनशना न छोड़े तब तक कर्ता होता है	३१४-१५	४४२
कर्तृत्वपना भोक्तृपना भी आत्माका स्वभाव नहीं है, अज्ञानसे ही भोक्ता है ऐसा कथन	३१६-१७	४४४
ज्ञानी कर्मफलका भोक्ता नहीं है	३१८-१९	४४६
ज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं है उसका दृष्टांत पूर्वक कथन	३२०	४४९
जो आत्माको कर्ता मानते हैं उनके मोक्ष नहीं है ऐसा कथन	३२१-२७	४५४
अज्ञानी अपने भावकर्मका कर्ता है ऐसा युक्तिपूर्वक कथन	३२८-३१	४५८
आत्माके कर्तापना और अकर्तापना जिस तरह है उस तरह स्याद्वाद द्वारा		
तेरह गाथाओंमें सिद्ध करते हैं	३३२-४४	४७०
बौद्धमती ऐसा मानते हैं कि कर्मको करनेवाला दूसरा है और भोगनेवाला		
दूसरा है उसका युक्तिपूर्वक निषेध	३४५-४८	४७१
कर्तृकर्मका भेद-अभेद जैसे है उसीतरह नयविभाग द्वारा दृष्टांतपूर्वक कथन	३४९-५५	४८२
निश्चयव्यवहारके कथनको, खड़ियाके दृष्टांतसे दस गाथाओंमें स्पष्ट करते हैं	३५६-६५	४९६
'ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न हैं' ऐसा जाननेके कारण सम्यग्दृष्टिको विषयोंके प्रति रागद्वेष नहीं होता, वे मात्र अज्ञानदशामें प्रवर्तमान जीवके परिणाम हैं	३६६-७१	५०१
अन्यद्वन्द्वका अन्यद्वन्द्व कुछ नहीं कर सकता ऐसा कथन	३७२	५०५
स्पर्श आदि पुद्गलके गुण हैं वे आत्माको कुछ ऐसा नहीं कहते कि हमको		
ग्रहण करो और आत्मा भी अपने स्थानसे छूट कर उनमें नहीं जाता है		
परन्तु अज्ञानी जीव उनसे वृथा राग-द्वेष करता है	३७३-८२	५१२
प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और आलोचनाका स्वरूप	३८३-८६	५१५
जो कर्म और कर्मफलको अनुभवता अपनेको उसरूप करता है वह नवीन कर्मको बाँधता है। (यहीं पर टीकाकार आचार्यदेव कृत-कारित-अनु-		

विषय	गाथा	पृष्ठ
मोदनासे मन-वचन-क्रयसे अतीत, वर्तमान और अनागत कर्मके त्यागको उनचास उनचास भंग द्वारा कथन करके कर्मचेतनाके त्यागका विधान दिखाते हैं तथा एक सौ अड़तालीस प्रकृतियोंके त्यागका कथन करके कर्मफलचेतनाके त्यागका विधान दिखाते हैं	३८७-३८६	५४४
ज्ञानको समस्त अन्य द्रव्योंसे भिन्न बतलाते हैं	३६०-४०४	५५४
आत्मा अमूर्तिक है इसलिये इसके पुद्गलमयी देह नहीं है	४०५-४०७	५५६
द्रव्यलिंग देहमयी है इसलिये द्रव्यलिंग आत्माके मोक्षका कारण नहीं है, दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है ऐसा कथन	४०८-४१०	५५८
मोक्षका अर्थी दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप मोक्षमार्गमें ही आत्माको प्रवर्ताने ऐसा उपदेश किया है	४११-४१२	५६२
जो द्रव्यलिंगमें ही मग्न करते हैं वे समयसारको नहीं जानते हैं व्यवहारनय तो मुनि श्रावकके लिंगको मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय किसी लिंगको मोक्षमार्ग नहीं कहता ऐसा कथन	४१३	५६४
इस ग्रन्थको पूर्ण करते हुए उसके अभ्यास वगैरहका फल कहते हैं	४१४	५६६
इस ग्रन्थमें अनन्त धर्मवाले आत्माको ज्ञानमात्र कहनेमें स्याद्वादसे विरोध कैसे नहीं आता है ? इसको बताते हुए तथा एक ही ज्ञानमें उपायभाव और उपेयभाव दोनों किस तरह बनते हैं ? यह बताते हुए टीकाकार आचार्यदेव इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारके अन्तमें परिशिष्टरूप स्याद्वाद और उपाय-उपेयभावमें थोड़ा कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं	४१५	५६६
एक ज्ञानमें ही "तत्, अतत्, एक, अनेक, सत्, असत्, नित्य, अनित्य" इन भावोंके चौदह भेद कर उनके १४ काव्य कहते हैं		५७१
ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है, ज्ञानकी प्रसिद्धि ही आत्माकी प्रसिद्धि होती है इसलिये आत्माको ज्ञानमात्र कहा है, एक ज्ञानक्रियारूप ही परिणत आत्मामें अनन्तशक्तियाँ प्रगट हैं उनमेंसे सैंतालीस शक्तियोंके नाम तथा लक्षणोंका कथन		५७७
उपाय-उपेयभावका वर्णन; उसमें आत्मा परिणामी होनेसे साधकपना और सिद्धपना-ये दोनों भाव अच्छी तरह बनते हैं ऐसा कथन		५६३
थोड़े कलशोंमें अनेक विचित्रतास भरे हुए आत्माकी महिमा करके सर्व-विशुद्धज्ञान अधिकार सम्पूर्ण		५६८
टीकाकार आचार्यदेवका वक्तव्य, आत्मख्याति टीका सम्पूर्ण		६०२
श्री पं० जयचन्द्रजी छाबड़ाका वक्तव्य, ग्रन्थ समाप्त		६०४

प्रवचन भक्ति



सर्वाङ्गी 'सन्मति' श्रुत धारा, गुरु गौतम ने मुख धारी;
थी करुणा हों भाव मरण बिन, तृषित तप्त भवि संसारी ।
हृदय शुद्ध मुनि कुन्दकुन्दने वह संजीवन दया विचार;
घट 'प्रवचन', पंचास्ति, समयमें ली लख शोषित अमृत धार ॥
कुन्द रचित पद सार्थक कर मुनि अमृत ने अमृत सींचा;
ग्रन्थराज त्रय तुमने अद्भुत मृदुरस ब्रह्म-भाव सींचा ॥

वीर वाक्य यह अहो नितारें साम्य सुधारस
भर हृदयान्जलि पियें मुमुक्षू वमें विषय-विष
गहरी-मूर्छा प्रबल-मोह दुस्तर-मल उतरे
तज विभाव हो स्वमुख परिणती ले निज लहरे
यह हैं निश्चय ग्रन्थ भंग संयोगी भेदे
अरु हैं प्रज्ञा-शस्त्र उदय-मति संधी छेदे
साधक साथी जगत सूर्य संदेश वीरका
कलान्त जगत विश्राम स्थान सतपथ सुधीरका
सुनें, समझलें, रुचे, जगत रुचिसे अलसावे
पड़े बंधरस शिथिल हृदय ज्ञानीका पावे

कुन्दन पत्र बना लिखे, अक्षर रत्न तथापि
कुन्द सत्रके मूल्यका अंकन हो न कदापि

—“युगल” (कोटा-राज०)

शास्त्रका अर्थ करनेकी पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको तथा उसके भावोंको एवं कारण कार्यादिको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, अतः इसका त्याग करना चाहिये । और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है, तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, अतः उसका श्रद्धान करना चाहिये ।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो, जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण ?

उत्तर—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो “सत्यार्थ इसी प्रकार है” ऐसा समझना चाहिये, तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लेकर कथन किया गया है, उसे “ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है” ऐसा जानना चाहिये; और इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है । किन्तु दोनों नयोंके व्याख्यान (कथन-विवेचन) को समान सत्यार्थ जानकर “इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है” इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तनेसे तो दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा नहीं है ।

प्रश्न—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्गमें उसका उपदेश क्यों दिया है ? एक मात्र निश्चयनयका ही निरूपण करना चाहिये था ।

उत्तर—ऐसा ही तर्क इस श्री समयसारमें भी करते हुए यह उत्तर दिया है कि—जैसे किसी अनार्थम्लेच्छको म्लेच्छ भाषाके बिना अर्थ ग्रहण करानेमें कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है इसलिये व्यवहारका उपदेश है । और फिर इसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है कि—इस प्रकार निश्चयको अंगीकार करानेके लिये व्यवहारके द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है ।

—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक

LIBRARY



लगवान श्री इंद्रदाथार्थदेव वनभा ताडपत्र डिपर शास्त्रलभेय

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके सम्बन्धमें

उल्लेख

वन्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यथारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

[चन्द्रगिरि पर्वतका शिलालेख]

अर्थः—कुन्द पुष्पकी प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणोंके—चारणऋद्धिधारी महामुनियोंके—सुन्दर हस्त-कमलोंके भ्रमर थे और जिन पवित्रात्माने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे बंध नहीं हैं ?

★

...कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥

रजोभिरस्पृष्टमत्वमन्त-

वीक्ष्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।

रजःपदं भूमितलं विहाय

चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

[विंध्यगिरि-शिलालेख]

अर्थ:—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थानको-भूमितलको—
छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करते थे उसके द्वारा मैं ऐसा
समझता हूँ कि—वे अन्तरमें तथा बाह्यमें रजसे (अपनी) अत्यन्त अस्पृष्टता
व्यक्त करते थे (—अन्तरमें वे रागादिक मलसे अस्पृष्ट थे और बाह्यमें धूलसे
अस्पृष्ट थे) ।



जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमगं पयाणंति ॥

—[दर्शनसार]

अर्थ:—(महाविदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थकरदेव) श्री सीमंधर स्वामी
के प्राप्त हुए दिव्य ज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथने (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने)
बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते ?



हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानमें इस पामर-
को परम उपकारभूत हुए हैं । उसके लिये मैं आपको अत्यन्त भक्तिपूर्वक
नमस्कार करता हूँ ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]



श्री समयसारणी की स्तुति

• हरिगीत •

संसारी जीवनां भावमरणो टालवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर ! तें संजीवनी ।
शोषाती देखी सरितने करुणाभीता हृदये करी,
मुनिकुन्द संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी ॥

• अनुष्टुप् •

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्वा;
ग्रंथाधिराज ! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्था ।

• शिवरिणी •

अहो ! वाणी तारी प्रशमरस—भावे नितरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी ।
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोडे परिणती ।

• शार्दूलविकीर्णित •

तूं छे निश्चयग्रन्थ, भङ्ग सघला व्यवहारना भेदवा
तूं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहू छेदवा ।
साथी साधकनो, तूं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो ।

• वसंततिलका •

सूप्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाप्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय ।
तूं रुचतां जगतनी रुचि आलसे सौ,
तूं रीभतां सकलज्ञायकदेव रीभे ॥

• अनुष्टुप् •

बनावूं पत्र कुन्दननां, रत्नोंना अक्षरो लखी,
तथापि-कुन्दसूत्रोंनां अंकाये मूल्य ना कदी ॥



—* श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः *—

शास्त्र-स्वाध्यायं का प्रारम्भिक मंगलाचरण



ओंकारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥ १ ॥
अविरलशब्दधनौघप्रभालितसकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ ३ ॥

॥ श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं धर्मसम्बन्धकं, मन्यजीवमनःप्रति-
बोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीसमयसारनामधेयं, अस्य
मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां
वचनानुसारमासाद्य आचार्यश्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचितं, श्रोतारः सावधानतया
शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥ १ ॥
सर्वमङ्गलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥ २ ॥



— नमः समयसाराय —

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित

श्री

समयसार



जीव-अजीव अधिकार



श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृता आत्मख्यातिः

* मङ्गलाचरणम् *

(अनुष्टुप्)

नमः समयसाराय स्वातुभूत्या चकासते ।

चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥ १ ॥

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत मूल गाथाओं और श्रीमद्
अमृतचन्द्रसूरि कृत आत्मख्याति नामक टीकाकी

हिन्दी भाषा वचनिका

मङ्गलाचरण

श्री परमात्मको प्रणमि, शारद सुगुरु मनाय ।

समयसार शासन करू देशवचनमय, भाय ॥ १ ॥

(अनुष्टुभ्)

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पर्ययंती प्रत्यगात्मनः ।

अनेकांतमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

शब्दब्रह्मपरब्रह्मकै वाचकवाच्यनियोग ।

मंगलरूप प्रसिद्ध हूँ, नमो धर्मधनभोग ॥ २ ॥

नय नय लहइ सार शुभवार, पय पय दहइ मार दुखकार ।

लय लय गहइ पार भवधार, जय जय समयसार अविचार ॥ ३ ॥

शब्द अर्थ अरु ज्ञान समय त्रय आगम गाथे

मत सिद्धांत रु काल भेदत्रय नाम बताये ।

इन्हि आदि शुभ अर्थसमयवचके सुनिये बहु

अर्थसमयमें जीव नाम है सार सुनहु सहु ।

तातैं जु सार बिन कर्ममल शुद्ध जीव शुध नय कहै ।

इस ग्रन्थ माँहि कथनी सबै समयसार बुधजन गहै ॥४॥

नामादिक छह ग्रन्थमुख, तामें मंगलसार ।

विघन हरन नास्तिक हरन, शिष्टाचार उचार ॥ ५ ॥

समयसार जिनराज है, स्याद्वाद जिनवैन ।

मुद्रा जिन निरग्रंथता, नमूँ करै सब चैन ॥ ६ ॥

प्रथम, संस्कृत टीकाकार श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलके लिये इष्टदेवको नमस्कार करते हैं :—

श्लोकार्थः—[नमः समयसाराय] 'समय' अर्थात् जीव नामक पदार्थ, उसमें सार जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित शुद्ध आत्मा—उसे मेरा नमस्कार हो। वह कैसा है? [भावाय] शुद्ध सत्तास्वरूप वस्तु है। इस विशेषणपदसे सर्वथा अभाववादी नास्तिकोंका मत खंडित हो गया। और वह कैसा है? [चित्स्वभावाय] जिसका स्वभाव चेतनागुणरूप है। इस विशेषणसे गुण-गुणीका सर्वथा भेद माननेवाले नैयायिकोंका निषेध हो गया। और वह कैसा है? [स्वानुसूत्या चकासते] अपनी ही अनुभवनरूप क्रियासे प्रकाश करता है, अर्थात् अपनेको अपनेसे ही जानता है—प्रगट करता है। इस विशेषणसे, आत्माको तथा ज्ञानको सर्वथा परोक्ष ही माननेवाले जैमिनीय-भट्ट-प्रभाकरके भेदवाले मीमांसकोंके मतका खण्डन हो गया। तथा ज्ञान अन्य ज्ञानसे जाना जा सकता है—स्वयं अपनेको नहीं जानता, ऐसा माननेवाले नैयायिकोंका भी प्रतिषेध हो गया। और वह कैसा है? [सर्वभावाग्ररच्छिद्ये] स्वतः अन्य सर्व जीवाजीव, चराचर पदार्थोंको सर्व क्षेत्र काल सम्बन्धी सर्व विशेषणोंके साथ एक ही समयमें जाननेवाला है। इस विशेषणसे, सर्वज्ञका अभाव माननेवाले

* मालिनी *

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभावन्याप्तिकल्मापितायाः ।

मीमांसक आदिका निराकरण हो गया । इसप्रकारके विशेषणों (गुणों) से शुद्ध आत्माको ही इष्टदेव सिद्ध करके (उसे) नमस्कार किया है ।

भावार्थ—यहाँ मंगलके लिये शुद्ध आत्माको नमस्कार किया है । यदि कोई यह प्रश्न करे कि किसी इष्टदेवका नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? तो उसका समाधान इस प्रकार है:—वास्तवमें इष्टदेवका सामान्य स्वरूप सर्व कर्म रहित, सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्मा ही है, इसलिये इस अध्यात्म ग्रन्थमें 'समयसार' कहनेसे इसमें इष्टदेवका समावेश हो गया । तथा एक ही नाम लेनेमें अन्यमतवादी मतपक्षका विवाद करते हैं, उन सबका निराकरण समयसारके विशेषणोंसे किया है । और अन्यवादीजन अपने इष्टदेवका नाम लेते हैं, उसमें इष्ट शब्दका अर्थ घटित नहीं होता, उसमें अनेक वाधाएँ आती हैं । और स्याद्वादी जैनोंको तो सर्वज्ञ वीतरागी शुद्ध आत्मा ही इष्ट है; फिर चाहे भलेही इष्टदेवको परमात्मा कहो, परमज्योति कहो, परमेश्वर, परब्रह्म, शिव, निरंजन, निष्कलंक, अक्षय, अन्वय, शुद्ध, बुद्ध, अचिन्ताशी, अनुपम, अच्छेद्य, अभेद्य, परमपुरुष, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानंद, सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हत्, जिन, आप्त, भगवान्, समयसार-इत्यादि हजारों नामोंसे कहो; वे सब नाम कथंचित् सत्यार्थ हैं । सर्वथा एकान्तवादियोंको भिन्न नामोंमें विरोध है, स्याद्वादीको कोई विरोध नहीं है । इसलिये अर्थको यथार्थ समझना चाहिये ।

प्रगटै निज अनुभव करै, सत्ता चेतनरूप ।

सब ज्ञाता लखिकै नमौ समयसार सब भूप ॥—॥ ? ॥

अब सरस्वतीको नमस्कार करते हैं—

श्लोकार्थः—[अनेकान्तमयी मूर्तिः] जिसमें अनेक अन्त (धर्म) हैं ऐसे जो ज्ञान तथा वचन उसमयी मूर्ति [नित्यम् एव] सदा ही [प्रकाशताम्] प्रकाशरूप हो । [अनंतधर्मणः प्रयगात्मनः तत्त्वं] जो अनन्त धर्मोंवाला है और परद्रव्योंसे तथा परद्रव्योंके गुण-पर्यायों से भिन्न एवं परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने विकारोंसे कथंचित् भिन्न एकाकार है, ऐसे आत्माके तत्त्वको अर्थात् असाधारण-सजातीय विजातीय द्रव्योंसे विलक्षण—निजस्वरूपको [पश्यन्ती] वह मूर्ति अबलोकन करती है ।

भावार्थः—यहाँ सरस्वतीकी मूर्तिको आशीर्वचनरूपसे नमस्कार किया है । लौकिकमें जो सरस्वतीकी मूर्ति प्रसिद्ध है वह यथार्थ नहीं है, इसलिये यहाँ उसका यथार्थ वर्णन किया है । सम्यक्ज्ञान ही सरस्वतीकी सत्यार्थ मूर्ति है । उसमें भी सम्पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है, जिसमें समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

भासित होते हैं। वह अनन्त धर्म सहित आत्मतत्त्वको प्रत्यक्ष देखता है, इसलिये वह सरस्वतीकी मूर्ति है, और उसीके अनुसार जो श्रुतज्ञान है वह आत्मतत्त्वको परोक्ष देखता है इसलिये वह भी सरस्वतीकी मूर्ति है। और द्रव्यश्रुत वचनरूप है, वह भी उसकी मूर्ति है, क्योंकि वह वचनोंके द्वारा अनेक धर्मवाले आत्माको बतलाती है। इसप्रकार समस्त पदार्थोंके तत्त्वको बतानेवाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकात्मयी सरस्वतीकी मूर्ति है; इसीलिये सरस्वतीके वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी इत्यादि बहुतसे नाम कहे जाते हैं। यह सरस्वतीकी मूर्ति अनन्तधर्मोंको 'श्यात्' पदसे एक धर्ममें अविरोधरूपसे साधती है, इसलिये सत्यार्थ है। कितने ही अन्यवादीजन सरस्वतीकी मूर्तिको अन्यथा (प्रकारान्तरसे) स्थापित करते हैं, किन्तु वह पदार्थको सत्यार्थ कहनेवाली नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्माको अनन्तधर्मवाला कहा है, सो उसमें वे अनन्त धर्म कौन कौनसे हैं ? उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—वस्तुमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व, इत्यादि (धर्म) तो गुण हैं; और उन गुणोंका तीनों कालमें समय-समयवर्ती परिणामन होना पर्याय है, जो कि अनन्त हैं। और वस्तुमें एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं। वे सामान्यरूप धर्म तो वचनगोचर हैं, किन्तु अन्य विशेषरूप अनन्त धर्म भी हैं जो कि वचनके विषय नहीं हैं, किन्तु वे ज्ञानगम्य हैं। आत्मा भी वस्तु है, इसलिये उसमें भी अपने अनन्त धर्म हैं।

आत्माके अनन्त धर्मोंमें चेतनत्व असाधारण धर्म है वह अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है। सजातीय जीवद्रव्य अनन्त हैं, उनमें भी यद्यपि चेतनत्व है तथापि सबका चेतनत्व निजस्वरूपसे भिन्न भिन्न कहा है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यके प्रदेशभेद होनेसे वह किसीका किसीमें नहीं मिलता। वह चेतनत्व अपने अनन्त धर्मोंमें व्यापक है, इसलिये उसे आत्माका तत्त्व कहा है, उसे यह सरस्वतीकी मूर्ति देखती है, और दिखाती है। इसप्रकार इसके द्वारा सर्व प्राणियोंका कल्याण होता है, इसलिये 'सदा प्रकाशरूप रहो' इसप्रकार इसके प्रति आशीर्वादरूप वचन कहा है ॥ २ ॥

अब टीकाकार इस ग्रन्थका व्याख्यान करनेका फल चाहते हुए प्रतिज्ञा करते हैं:—

श्लोकार्थः—श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि [समयसार-व्याख्यया एव] इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रन्थ) की व्याख्या (टीका) से ही [मम अनुभूतेः] मेरी अनुभूतिकी अर्थात् अनुभवनरूप परिणतिकी [परमविशुद्धिः] परमविशुद्धि (समस्त रागादि विभावपरिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता) [भवतु] हो। कैसी है यह मेरी परिणति ? [परपरिणतिहेतोः मोहान्मनः

अथ सूत्रावतारः—

वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिं प्राप्तान् ।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवललिभणितम् ॥१॥

अनुभावात्] परपरिणतिका कारण जो मोह नामक कर्म है, उसके अनुभाव (उदयरूप विपाक) से [अविरतम् अनुभाव्य-व्याप्ति-कल्माषितायाः] जो अनुभाव्य (रागादि परिणामों) की व्याप्ति है, उससे निरन्तर कल्माषित अर्थात् मैली है। और मैं [शुद्ध-चिन्मात्र-मूर्तेः] द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ।

भावार्थः—आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे तो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, किन्तु मेरी परिणति मोहकर्मके उदयका निमित्त पा करके मैली है—रागादिस्वरूप हो रही है। इसलिये शुद्ध आत्माकी कथनीरूप इस समयसार ग्रन्थकी टीका करनेका फल यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादि रहित होकर शुद्ध हो, मेरे शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो। मैं दूसरा कुछ भी ख्याति, लाभ, पूजादिक नहीं चाहता, इसप्रकार आचार्यने टीका करनेकी प्रतिज्ञागर्भित उसके फलकी प्रार्थना की है ॥ ३ ॥

अब मूलगाथासूत्रकार श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्रन्थके प्रारम्भमें संगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं—

गाथा १

गाथार्थः—[ध्रुवां] ध्रुव, [अचलां] अचल और [अनौपम्यां] अनुपम—इन तीन विशेषणोंसे युक्त [गतिं] गतिको [प्राप्तान्] प्राप्त हुए [सर्वसिद्धान्] सर्व सिद्धोंको [वंदित्वा] नमस्कार करके [अहो] अहो ! [श्रुतकेवलिभणितं] श्रुतकेवलियोंके द्वारा कथित [इदं] यह [समयप्राभृतं] समयसार नामक प्राभृत [वक्ष्यामि] कहूँगा।

यह पद्यानुवाद हरिगीतिका छन्दमें है—

ध्रुव अचल अरु अनुपमगति, पाये हुए सब सिद्धको,
मैं वंद श्रुतकेवलिकथित, कहूँ समयप्राभृतको अहो ॥१॥

अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलम्बमानामनादिभावान्तरपरपरिवृत्तिवि-
श्रांतिवशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्यमानौपम्यामपवर्गसंज्ञिकां
गतिमापन्नान् भगवतः सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिच्छन्दस्थानीयान् भावद्रव्य-
स्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारि-
केवलप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्विरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्यास्य समय-

टीका :—यहाँ (संस्कृत टीकामें) 'अथ' शब्द मंगलके अर्थको सूचित करता है। ग्रन्थके प्रारम्भमें सर्व सिद्धोंको भाव-द्रव्य स्तुतिसे अपने आत्मामें तथा परके आत्मामें स्थापित करके इस समय नामक प्राभृतका भाववचन-और द्रव्यवचनसे परिभाषण (व्याख्यान) प्रारम्भ करते हैं—इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। वे सिद्ध भगवान् सिद्धत्वसे साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्दके स्थान पर हैं,—जिनके स्वरूपका संसारी भव्यजीव चितवन करके, उनके समान अपने स्वरूपको ध्याकर उन्हींके समान हो जाते हैं और चारों गतियोंसे विलक्षण पंचमगति-मोक्षको प्राप्त करते हैं। वह पंचमगति स्वभावसे उत्पन्न हुई है, इसलिये ध्रुवत्वका अवलम्बन करती है। चारों गतियाँ परनिमित्तसे होती हैं, इसलिये ध्रुव नहीं किन्तु विनाशीक हैं। 'ध्रुव' विशेषणसे पंचमगतिमें इस विनाशीकताका व्यवच्छेद हो गया। और वह गति अनादिकालसे परभावोंके निमित्तसे होनेवाले परमें भ्रमण, उसकी विश्रांति (अभाव) के वश अचलताको प्राप्त है। इस विशेषणसे, चारों गतियोंमें परनिमित्तसे जो भ्रमण होता है, उसका (पंचमगतिमें) व्यवच्छेद हो गया। और वह जगत्में जो संमस्त उपमायोग्य पदार्थ हैं उनसे विलक्षण—अद्भुत महिमावाली है, इसलिये उसे किसीकी उपमा नहीं मिल सकती। इस विशेषणसे चारों गतियोंमें जो परस्पर कथंचित् समानता पाई जाती है, उसका (पंचमगतिमें) निराकरण हो गया। और उस गतिका नाम अपवर्ग है—धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग कहलाते हैं; मोक्षगति इस वर्गमें नहीं है, इसलिये उसे अपवर्ग कही है। ऐसी पंचमगतिको सिद्ध भगवान् प्राप्त हुये हैं। उन्हें अपने तथा परके आत्मामें स्थापित करके, समयका (सर्व पदार्थोंका अथवा जीव पदार्थका) प्रकाशक जो प्राभृत नामक अर्हत्प्रवचनका अवयव है उसका, अनादिकालसे उत्पन्न हुए अपने और परके मोहका नाश करनेके लिये परिभाषण करता हूँ। वह अर्हत्प्रवचनका अवयव अनादिनिधन परमागम शब्दब्रह्मसे प्रकाशित होनेसे, सर्व पदार्थोंके समूहको साक्षान् करनेवाले केवली भगवान्-सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत होनेसे, और केवलियोंके निकटवर्ती साक्षान् सुननेवाले तथा स्वयं अनुभव करनेवाले श्रुतकेवली-गणधर देवोंके द्वारा कथित होनेसे प्रमाणताको प्राप्त है। यह अन्यवादियोंके आगमकी भाँति छद्मस्थ (अल्प ज्ञानियों) की कल्पनामात्र नहीं है कि जिससे अप्रमाण हो।

प्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमौहग्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ॥१॥

तत्र तावत्समय एवाभिधीयते—

भावार्थः—गाथासूत्रमें आचार्यदेवने 'वक्ष्यामि' कहा है, उसका अर्थ टीकाकारने 'वच् परिभाषणे' धातुसे परिभाषण किया है। उसका आशय इसप्रकार सूचित होता है कि—चौदह पूर्वोंमेंसे ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्वमें वारह 'वस्तु' अधिकार हैं; उनमें भी एक एकके बीस बीस 'प्राभृत' अधिकार हैं। उनमेंसे दसवें वस्तुमें समय नामक जो प्राभृत है उसके मूलसूत्रोंके शब्दोंका ज्ञान पहले वड़े आचार्योंको था और उसके अर्थका ज्ञान आचार्योंकी परिपाटीके अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवको भी था। उन्होंने समयप्राभृतका परिभाषण किया—परिभाषासूत्र बनाया। सूत्रकी दस जातियाँ कही गई हैं, उनमेंसे एक 'परिभाषा' जाति भी है। जो अधिकारको अर्थके द्वारा यथास्थान सूचित करे वह 'परिभाषा' कहलाती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयप्राभृतका परिभाषण करते हैं,—अर्थात् वे समयप्राभृतके अर्थको ही यथास्थान बतानेवाला परिभाषासूत्र रचते हैं।

आचार्यने मंगलके लिये सिद्धोंको नमस्कार किया है। संसारीके लिये शुद्ध आत्मा साध्य है और सिद्ध साक्षात् शुद्धात्मा है, इसलिये उन्हें नमस्कार करना उचित है। यहाँ किसी इष्टदेवका नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? इसकी चर्चा टीकाकारके मंगलाचरण पर की गई है, उसे यहाँ भी समझ लेना चाहिये। सिद्धोंको 'सर्व' विशेषण देकर यह अभिप्राय बताया है कि सिद्ध अनन्त हैं। इससे यह माननेवाले अन्यमतियों का खण्डन हो गया कि 'शुद्ध आत्मा एक ही है'। 'श्रुतकेवली' शब्दके अर्थमें श्रुत तो अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम है और केवली शब्दसे सर्वज्ञ तथा परमागमके ज्ञाता—श्रुतकेवली कहे गये हैं। उनसे समयप्राभृतकी उत्पत्ति बताई गई है। इसप्रकार ग्रन्थकी प्रमाणता बताई है, और अपनी बुद्धिसे कल्पित कहनेका निषेध किया है। अन्यवादी छद्मस्थ (अल्पज्ञ) अपनी बुद्धिसे पदार्थका स्वरूप चाहे, जैसा कहकर विवाद करते हैं, उनका असत्यार्थपन बताया है।

इस ग्रन्थके अभिधेय, सम्बन्ध और प्रयोजन तो प्रकट ही हैं। शुद्ध आत्मा का स्वरूप अभिधेय (कहने योग्य) है। उसके वाचक इस ग्रन्थमें जो शब्द हैं उनका और शुद्ध आत्माका वाच्यवाचकरूप सम्बन्ध है सो सम्बन्ध है। और शुद्धात्माके स्वरूपकी प्राप्तिका होना प्रयोजन है।

प्रथम गाथामें समयका प्राभृत कहनेकी प्रतिज्ञा की है। इसलिये यह आकांक्षा होती है कि समय क्या है ? इसलिये पहले उस समयको ही कहते हैं:—

जीवो चरितदंशणणाण्डिठ तं हि ससमयं जाण ।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि ।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥२॥

योयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादन्ययध्रौव्यैक्यानुभूति-
लक्षणया सत्त्वानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिरनंतधर्माधिरूढैकधर्मि-

तथा २

गाथार्थः—हे भव्य ! [जीवः] जो जीव [चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः] दर्शन, ज्ञान, चारित्र्यमें स्थित हो रहा है [तं] उसे [हि] निश्चयसे (वास्तवमें) [स्वसमयं] स्वसमय [जानीहि] जानो [च] और जो जीव [पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं] पुद्गलकर्मके प्रदेशोंमें स्थित है [तं] उसे [परसमयं] परसमय [जानीहि] जानो ।

टीकाः—‘समय’ शब्दका अर्थ इसप्रकार है—‘सम्’ उपसर्ग है, जिसका अर्थ ‘एकपना’ है, और ‘अय् गतौ’ धातु है, जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है; इसलिये एक साथ ही (युगपद्) जानना और परिणामन करना,—यह दोनों क्रियायें एकत्वपूर्वक करे वह समय है । यह जीव नामक पदार्थ एकत्वपूर्वक एक ही समयमें परिणामन भी करता है और जानता भी है इसलिये वह समय है । यह जीवपदार्थ सदा ही परिणामनस्वरूप स्वभावमें रहता हुआ होनेसे उत्पादन्ययध्रौव्यकी एकतारूप अनुभूति लक्षणयुक्त सत्ता सहित है । (इस विशेषणसे जीवकी सत्ताको न माननेवाले नास्तिकवादियोंका मत खण्डन हो गया; तथा पुरुषको (जीवको) अपरिणामी माननेवाले सांख्यवादियोंका मत परिणामन-स्वभाव कहनेसे खण्डित हो गया । नैयायिक और वैशेषिक सत्ताको नित्य ही मानते हैं; और बौद्ध क्षणिक ही मानते हैं; उनका निराकरण, सत्ताको उत्पादन्ययध्रौव्यरूप कहनेसे हो गया ।) और जीव चैतन्यस्वरूपतासे नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शनज्ञानव्योवित्स्वरूप है; (क्योंकि चैतन्यका परिणामन दर्शनज्ञानस्वरूप है) । (इस विशेषणसे चैतन्यको ज्ञानाकारस्वरूप न माननेवाले सांख्यमतवालोंका निराकरण हो गया ।) और वह जीव, अनन्त धर्मोंमें रहनेवाला जो एकधर्मीपना है उसके कारण जिसे द्रव्यत्व प्रगट है, ऐसा है; (क्योंकि अनन्त धर्मोंकी एकता द्रव्यत्व है) । (इस विशेषणसे,

जीव चरितदर्शनज्ञानस्थित, स्वसमय निश्चय-जानना;

स्थित कर्मपुद्गलके प्रदेशों, परसमय जीव जानना ॥ २ ॥

त्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायः स्वपराकाराव-
भासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्त्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावाद-
साधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यंतमनंतद्रव्यसंकरेपि
स्वरूपादप्रच्यवनाद्ब्रह्मोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः, समयत एकत्वेन युगपज्जा-
नाति गच्छति चेति निरुक्तेः । अयं खलु यदा सकलभावस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेक-
ज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन
वर्त्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति । यदा
त्वनाद्यविद्याकंदलीमूलकंदायमानमोहानुद्युत्तंत्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपादात्मतत्त्वा-
त्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिवैकत्वगतत्वेन वर्त्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात्पर-

वस्तुको धर्मोंसे रहित माननेवाले बौद्धमतिव्योंका निषेध होगया ।) और वह क्रमरूप और अक्रमरूप
प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होनेसे जिसने गुणपर्यायोंको अंगीकार किया है,—ऐसा है ।
(पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होता है; सहवर्तीको अक्रमवर्ती भी कहते हैं ।) (इस
विशेषणसे, पुरुषको निर्गुण माननेवाले सांख्यमतवालोंका निरसन हो गया ।) और वह, अपने
और परद्रव्योंके आकारोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य होनेसे जिसने समस्तरूपको प्रकाशनेवाली एक-
रूपता प्राप्त की है,—ऐसा है, (अर्थात् जिसमें अनेक वस्तुओंके आकार प्रतिभासित होते हैं, ऐसे एक
ज्ञानके आकाररूप है ।) (इस विशेषणसे, ज्ञान अपनेको ही जानता है परको नहीं,—इसप्रकार एकाकार-
को ही माननेवालेका, तथा अपनेको नहीं जानता किन्तु परको जानता है, इसप्रकार अनेकाकारको ही
माननेवालेका व्यवच्छेद हो गया । और वह, अन्य द्रव्योंके जो विशिष्ट गुण—अवगाहन-गति-स्थिति-
वर्तनाहेतुत्व और-रूपित्व हैं, उनके अभावके कारण और असाधारण चैतन्यरूपतास्वभावके सद्भावके
कारण आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल—इन पाँच द्रव्योंसे भिन्न है । (इस विशेषणसे एक
ब्रह्मवस्तुको ही माननेवालेका खण्डन हो गया ।) और वह, अनन्त अन्य द्रव्योंके साथ अत्यन्त
एकत्वेनावगाहरूप होने पर भी, अपने स्वरूपसे न छूटनेसे टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है । (इस
विशेषणसे वस्तु-स्वभावका निरसन बताया है ।)—ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है ।

जब यह (जीव), सर्व पदार्थोंके स्वभावको प्रकाशित करनेमें समर्थ केवलज्ञानको उत्पन्न
करनेवाली भेदज्ञानज्योतिका उदय होनेसे, सर्व परद्रव्योंसे छूटकर दर्शन-ज्ञानस्वभावमें नियत
वृत्तिरूप (अस्तित्वरूप) आत्मतत्त्वके साथ एकत्वरूपमें लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन-
ज्ञान-चारित्रमें स्थित होनेसे अपने स्वरूपको एकत्वरूपसे एक ही समयमें जानता तथा परिणमता हुआ
वह 'स्वसमय' है, इसप्रकार प्रतीत किया जाता है; किन्तु जब वह, अनादि अविद्यारूपी केलके मूलकी

मेकत्वेन युगपज्ज्ञानं गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते । एवं किल समयस्य द्वैविध्य-
मुद्भावति ॥

अथैतद्वाध्यते—

एकत्वनिश्चयगतो समयो सव्वत्थ सुन्दरो लोए ।

बंधकथा एयत्ते तेण विसंवादिणी होइ ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके ।

बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

गाँठकी भाँति (पुष्ट हुआ) मोह उसके उदयानुसार प्रवृत्तिकी आधीनतासे, दर्शनज्ञानस्वभावमें नियत वृत्तिरूप आत्मतत्त्वसे छूटकर परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न मोहरागद्वेषादि भावोंमें एकतारूपसे लीन होकर प्रवृत्त होता है तब पुद्गलकर्मके (कार्माणस्कन्धरूप) प्रदेशोंमें स्थित होनेसे युगपद् परको एकत्वपूर्वक जानता और पररूपसे एकत्वपूर्वक परिणमित होता हुआ 'परसमय' है, इसप्रकार प्रतीति की जाती है । इसप्रकार जीव नामक पदार्थकी स्वसमय और परसमयरूप द्विविधता प्रगट होती है ।

भावार्थः—जीव नामक वस्तुको पदार्थ कहा है । 'जीव' इसप्रकार अक्षरोंका समूह 'पद' है और उस पदसे जो द्रव्यपर्यायरूप अनेकांतस्वरूपता निश्चित की जाये वह पदार्थ है । यह जीवपदार्थ उत्पाद-
व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है, दर्शनज्ञानमयी चेतनास्वरूप है, अनंतधर्मस्वरूप द्रव्य है, द्रव्य होनेसे वस्तु है, गुणपर्यायवान है, उसका स्वपरंप्रकाशक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है, और वह (जीवपदार्थ) आकाशादिसे भिन्न असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है, तथा अन्य द्रव्योंके साथ एक क्षेत्रमें रहने पर भी अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता । ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है । जब वह अपने स्वभावमें स्थित हो तब स्वसमय है, और परस्वभाव-रागद्वेषमोहरूप होकर रहे तब परसमय है । इसप्रकार जीवके द्विविधता आती है ॥

अब, समयकी द्विविधतामें आचार्य वाधा बतलाते हैं :—

गाथा ३-

गाथार्थः—[एकत्वनिश्चयगतः] एकत्वनिश्चयको प्राप्त जो [समयः] समय है वह [लोके]

एकत्व-निश्चय-गत समय, सर्वत्र सुन्दर लोकमें ।

उससे बने बंधनकथा, जु विरोधिनी एकत्वमें ॥३॥

समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते । समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः । ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केऽप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोपि परस्परमनुम्बन्तोत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतन्तः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वाद्भ्रूत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौंदर्यमापद्यन्ते, प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः । एवमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बंधकथाया एव विसंवादापत्तिः । कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूल-परसमयत्वोत्पादितमेतस्य द्वैविध्यम् । अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते ॥

लोकमें—[सर्वत्र] सब जगह [सुन्दरः] सुन्दर है [तेन] इसलिये [एकत्वे] एकत्वमें [बन्धकथा] दूसरेके साथ बंधकी कथा [विसंवादिनी] विसंवाद-विरोध करनेवाली [भवति] है ।

टीकाः—यहाँ 'समय' शब्दसे सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि व्युत्पत्तिके अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभावसे (एकत्वपूर्वक) अपने गुण-पर्यायोंको प्राप्त-होकर जो परिणमन करता है सो समय है । इसलिये धर्म-अधर्म-आकाश-काल-पुद्गल-जीवद्रव्यस्वरूप लोकमें सर्वत्र जो कुछ जितने जितने पदार्थ हैं वे सभी निश्चयसे (वास्तवमें) एकत्वनिश्चयको प्राप्त होनेसे ही सुन्दरताको पाते हैं, क्योंकि अन्य प्रकारसे उसमें सर्वसंकर आदि दोष आजायेंगे । वे सब पदार्थ अपने द्रव्यमें अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मोंके चक्रको (समूहको) चुम्बन करते हैं—स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एक दूसरेको स्पर्श नहीं करते, अत्यन्त निकट एकत्रैत्रावगाहरूपसे तिष्ठ रहे हैं तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते, पररूप परिणमन न करनेसे अनन्त व्यक्तित्वा नष्ट नहीं होती इसलिये वे टंकोत्कीर्णकी भाँति (शाश्वत) स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनोंकी हेतुतासे वे सदा विश्वका उपकार करते हैं-टिक्राये रखते हैं । इसप्रकार सर्व पदार्थोंका भिन्न २ एकत्व सिद्ध होनेसे जीव नामक समयको बंधकी कथासे ही विसंवादकी आपत्ति आती है; तो फिर बंध जिसका मूल है ऐसा जो पुद्गलकर्मके प्रदेशोंमें स्थित होना, वह जिसका मूल है ऐसा परसमयपना, उससे उत्पन्न होनेवाला (परसमय-स्वसमयरूप) द्विविधपना उसको (जीव नामके समयको) कहाँसे हो ? इसलिये समयके एकत्वका होना ही सिद्ध होता है ।

भाषार्थः—निश्चयसे सर्व पदार्थ अपने २ स्वभावमें स्थित रहते हुए ही शोभा पाते हैं । परन्तु जीव नामक पदार्थकी अनादि कालसे पुद्गलकर्मके साथ निमित्तरूप बंध-अवस्था है; उससे इस जीवमें विसंवाद खड़ा होता है, इसलिये वह शोभाको प्राप्त नहीं होता । इसलिये वास्तवमें विचार किया जाये तो एकत्र ही सुन्दर है; उससे यह जीव शोभाको प्राप्त होता है ॥

अथैतदसुलभत्वेन विभाव्यते—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।

एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ४ ॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा ।

एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

इह किल सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रांतमनंतद्रव्यक्षेत्रकाल-
भवभावपरावर्तैः समुपक्रांतप्रातिरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव बाह्यमानस्य
प्रसमोज्जृम्भिततृष्णातंकत्वेन व्यक्तांतराधेरुत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुन्धानस्य

अब, उस एकत्वकी असुलभता बताते हैं:—

गाथा ४

गाथार्थः—[सर्वस्य अपि] सर्व लोकको [कामभोगबंधकथा] कामभोगसंबंधी बन्धकी
कथा तो [श्रुतपरिचितानुभूता] सुननेमें आ गई है, परिचयमें आ गई है, और अनुभवमें भी आ गई है,
इसलिये सुलभ है; किन्तु [विभक्तस्य] भिन्न आत्माका [एकत्वस्य उपलंभः] एकत्व होना कभी न
तो सुना है, न परिचयमें आया है, और न अनुभवमें आया है; इसलिये [केवलं] एकमात्र वही
[न सुलभः] सुलभ नहीं है ।

टीका:—इस समस्त जीवलोकको, कामभोगसम्बन्धी कथा एकत्वसे विरुद्ध होनेसे अत्यन्त
विसंवाद करानेवाली है (आत्माका अत्यन्त अनिष्ट करनेवाली है) तथापि, पहले अनन्त बार सुननेमें
आई है, अनन्त बार परिचयमें आई है, और अनन्त बार अनुभवमें भी आई है । वह जीवलोक,
संसाररूपी चक्रके मध्यमें स्थित है, निरन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनन्त परावर्तनके
कारण भ्रमणको प्राप्त हुआ है, समस्त विश्वको एकछत्र राज्यसे वश करनेवाला महा मोहरूपी भूत
जिसके पास बैलकी भाँति भार वहन कराता है, जोरसे प्रगट हुए तृष्णारूपी रोगके दाहसे अन्तरंगमें पीड़ा
प्रगट हुई है, आकुलित हो होकर मृगजलकी भाँति विषयग्रामको (इन्द्रियविषयोंके समूहको) जिसने
घेरा ढाल रखा है, और वह परस्पर आचार्यत्व भी करता है (अर्थात् दूसरोंसे कहकर उसीप्रकार
अंगीकार करवाता है) । इसलिये कामभोगकी कथा तो सबके लिये सुलभ है । किन्तु निर्मल भेदज्ञानरूपी

हैं सर्व श्रुत-परिचित-अनुभूत, भोगबंधनकी कथा ।

परसे जुदा एकत्वकी, उपलब्धि केवल सुलभ ना ॥ ४ ॥

परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनंतशः श्रुतपूर्वानंतशः परिचितपूर्वानंतशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्ध-
त्वेनात्यंतविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा । इदं तु नित्यव्यक्ततयांतःप्रकाशमानमपि
कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वात्त्यंततिरोभूतं सत् स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपा-
सनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मल-
विवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वम् । अत एकत्वस्य न सुलभत्वम् ॥

अत एवैतदुपदर्शयते—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अण्णो सविहवेण ।

जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ए घेतव्वं ॥ ५ ॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन ।

यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्वस्त्रियं छलं न गृहीतव्यम् ॥ ५ ॥

प्रकाशसे स्पष्ट भिन्न दिखाई देनेवाला यह मात्र भिन्न आत्माका एकत्व ही है,—जो कि सदा प्रगटरूपसे
अन्तरङ्गमें प्रकाशमान है, तथापि कषायचक्र (—कषायसमूह)के साथ एकरूप जैसा किया जाता है,
इसलिये अत्यंत तिरोभावको प्राप्त हुआ है (—ढक रहा है) वह, अपनेमें अनात्मज्ञता होनेसे (—स्वयं
आत्माको न जाननेसे) और अन्य आत्माको जाननेवालोंकी संगति-सेवा न करनेसे, न तो पहले कभी
सुना है, न परिचयमें आया है और न कभी अनुभवमें आया है, इसलिये भिन्न आत्माका एकत्व सुलभ
नहीं है ।

भाषार्थः—इस लोकमें समस्त जीव संसाररूपी चक्रपर चढ़कर पंच परावर्तनरूप भ्रमण करते
हैं । वहाँ उन्हें मोहकर्मोदयरूपी पिशाचके द्वारा जोता जाता है, इसलिये वे विषयोंकी वृष्णारूपी दाहसे
पीड़ित होते हैं, और उस दाहका इलाज (उपाय) इन्द्रियोंके रूपादि विषयोंको जानकर उनकी ओर दौड़ते
हैं; तथा परस्पर भी विषयोंका ही-उपदेश करते हैं । इसप्रकार काम तथा भोगकी कथा तो अनन्तवार
सुनी, परिचयमें प्राप्त की और उसीका अनुभव किया इसलिये-वह सुलभ है । किन्तु सर्व परद्रव्योंसे भिन्न
एक चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपने-आत्माकी कथाका ज्ञान अपनेको अपनेसे कभी नहीं हुआ, और जिन्हें
वह ज्ञान हुआ है उनकी कभी सेवा नहीं की; इसलिये उसकी कथा न तो कभी सुनी, न परिचय किया
और न अनुभव किया इसलिये उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं, दुर्लभ है ॥

अब आचार्य कहते हैं कि इसीलिये जीवोंको उस भिन्न आत्माका एकत्व बतलाते हैंः—

दर्शाउँ एक विभक्तकी, आत्मातने निज विभवसे ।

दर्शाउँ तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने ॥ ५ ॥

इह किल संकलोज्ञासिस्त्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षभोदक्षमाति-
निस्तुपयुक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञानधनांतनिमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासन-
जन्मा अनवरतरस्यंदिसुन्दरानंदमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कथनापि ममात्मनः
स्वो विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं तमेकत्रविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोस्मि । किंतु
यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यम् । यदि तु स्वलेयं तदा तु

वाथा ५

वाथार्थः—[तं] उस [एकत्वविभक्त] एकत्वविभक्त आत्माको [ग्रहं] मैं [आत्मनः]
आत्माके [स्वविभवेन] निज वैभवसे [दर्शये] दिखाता हूँ; [यदि] यदि मैं [दर्शयेयं] दिखाऊँ तो
[प्रमाणं] प्रमाण (स्वीकार) करना, [स्वलेयं] और यदि कहीं चूक जाऊँ तो [छलं] छल
[न] नहीं [गृहीतव्यं] ग्रहण करना ।

टीका:—आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्माका निजवैभव है, उस-सबसे-मैं-इस-एकत्व-
विभक्त आत्माको दिखाऊँगा, ऐसा मैंने व्यवसाय (उद्यम, निर्यय) किया है। मेरे आत्माका वह निज वैभव
इस लोकमें प्रगट समस्त वस्तुओंका प्रकाशक है, और 'स्यात्' पदकी मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म—अर्हन्तका
परमागम है, उसकी उपासनासे उसका जन्म हुआ है। ('स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' है अर्थात् किसी
प्रकारसे किसी अपेक्षासे कहना। परमागमको शब्दब्रह्म कहनेका कारण यह है कि—अर्हन्तके परमागममें
सामान्य धर्मोंके—वचनगोचर समस्त धर्मोंके नाम आते हैं और वचनसे अगोचर जो विशेषधर्म हैं उनका
अनुमान कराया जाता है; इसप्रकार वह सर्व वस्तुओंका प्रकाशक है, इसलिये उसे सर्वव्यापी कहा जाता
है, और इसीलिये उसे शब्दब्रह्म कहते हैं।) समस्त विपक्ष—अन्यवादियोंके द्वारा गृहीत सर्वथा एकान्तरूप
नयपक्षके निराकरणमें समर्थ अतिनिस्तुप निर्वाध युक्तिके अवलम्बनसे उस निज वैभवका जन्म हुआ
है। और निर्मल विज्ञानधन आत्मामें अन्तर्निमग्न (अन्तर्लीन) परमगुरु—सर्वज्ञदेव और अपरगुरु—
गणधरादिकसे लेकर हमारे गुरुपर्यन्त,—उनके प्रसादरूपसे दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्वका अनुग्रहपूर्वक
उपदेश तथा पूर्वाचार्योंके अनुसार जो उपदेश है उससे निज वैभवका जन्म हुआ है। निरन्तर भरता
हुआ—त्वादमें आता हुआ जो सुन्दर आनन्द है, उसकी मुद्रासे युक्त प्रचुरसंवेदनस्वरूप स्वसंवेदनसे निज
वैभवका जन्म हुआ है। यों जिस जिस प्रकारसे मेरे ज्ञानका वैभव है उस समस्त वैभवसे दिखाता हूँ।
मैं जो यह दिखाऊँ तो उसे स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण करना; और यदि कहीं
अक्षर, मात्रा, अलंकार, युक्ति आदि प्रकरणोंमें चूक जाऊँ तो छल (दोष) ग्रहण करनेमें सावधान मत
होना। शास्त्रसमुद्रके बहुतेसे प्रकरण हैं, इसलिये यहाँ स्वसंवेदनरूप अर्थ प्रधान है; इसलिये अर्थकी
परीक्षा करनी चाहिये।

न ब्रह्मग्रहणजागरूकैर्भवित्त्व्यम् ॥

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत्—

एवि होदि अप्रमत्तो ए प्रमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं एणओ जो सो उ सो चैव ॥ ६ ॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।

एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

यो हि नाम स्वतःसिद्धत्वेनानादिरनंतो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिवंधपर्यायनिरूपणया क्षीरीदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेपि द्रव्यस्वभाव-

भावार्थः—आचार्य आगमका सेवन, युक्तिका अवलंबन, पर और अपर गुरुका उपदेश और स्वसंवेदन—यों चार प्रकारसे उत्पन्न हुए अपने ज्ञानके वैभवसे एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्माका स्वरूप दिखाते हैं। हे श्रोताओ ! उसे अपने स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे प्रमाण करो; यदि कहीं किसी प्रकरणमें भूल जाऊँ तो उतने दोषको ग्रहण मत करना। कहनेका भाश्य यह है कि यहाँ अपना अनुभव प्रधान है; उससे शुद्ध स्वरूपका निश्चय करो ॥

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है जिसका स्वरूप जानना चाहिये ? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ६

गाथार्थः—[यः तु] जो [ज्ञायकः भावः] ज्ञायक भाव है वह [अप्रमत्तः अपि] अप्रमत्त भी [न भवति] नहीं और [न प्रमत्तः] प्रमत्त भी नहीं है; [एवं] इसप्रकार [शुद्धं] इसे शुद्ध [भणंति] कहते हैं; [च यः] और जो [ज्ञातः] ज्ञायकरूपसे ज्ञात हुआ [सः तु] वह तो [स एव] वही है, अन्य कोई नहीं।

टीकाः—जो स्वयं अपनेसे ही सिद्ध होनेसे (किसीसे उत्पन्न हुआ न होनेसे), अनादि सत्त्वरूप है, कभी विनाशको प्राप्त न होनेसे अनन्त है, नित्यउद्योतरूप होनेसे क्षणिक नहीं है और स्पष्ट-प्रकाशमान ज्योति है, ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है, वह संसारकी अवस्थामें अनादि बन्धपर्यायकी निरूपणासे (अपेक्षासे) क्षीरनीरकी भाँति कर्मपुद्गलोंके साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षासे

नहि अप्रमत्त प्रमत्त नहि, जो एक ज्ञायक भाव है।

इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है ॥ ६ ॥

निरूपणया दुरंतकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्त्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्त्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवति । एष एवाशेषद्रव्यांतरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलष्यते । न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाहनिष्ठ-दहनस्येवाशुद्धत्वं, यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव ।

देखा जाय तो दुरन्त कषायचक्रके उदयकी (-कषायसमूहके अपार उदर्योकी) विचित्रताके वशसे प्रवर्त्तमान पुण्य-पापको उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभ भाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभावसे जड़भावरूप नहीं होता) इसलिये वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्वद्रव्योंके भावोंसे भिन्नरूपसे उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है ।

और जैसे दाह (-जलने योग्य-पदार्थ)के आकार होनेसे अग्निको दहन कहते हैं तथापि उसके दाहकृत अशुद्धता नहीं होती; उसीप्रकार ज्ञेयाकार होनेसे उस 'भाव'के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्थामें जो ज्ञायकरूपसे ज्ञात हुआ वह स्वरूप-प्रकाशनकी (स्वरूपको जाननेकी) अवस्थामें भी, दीपककी भाँति, कर्ताकर्मका अनन्यत्व (एकता) होनेसे ज्ञायक ही है-स्वयं जाननेवाला है इसलिये स्वयं कर्ता और अपनेको जाना इसलिये स्वयं ही कर्म है । (जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करनेकी अवस्थामें भी दीपक है, और अपनेको—अपनी ज्योतिरूप शिखाको प्रकाशित करनेकी अवस्थामें भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं; उसीप्रकार ज्ञायकका समझना चाहिये ।)

भावायः—अशुद्धता परद्रव्यके संयोगसे आती है । उसमें मूल द्रव्य अन्य तो द्रव्यरूप नहीं होता, मात्र परद्रव्यके निमित्तसे अवस्था मलिन हो जाती है । द्रव्य-दृष्टिसे तो द्रव्य जो है वही है, और पर्याय (अवस्था) -दृष्टिसे देखा जाये तो मलिन ही दिखाई देता है । इसीप्रकार आत्माका स्वभाव ज्ञायकत्व-मात्र है; और उसकी अवस्था पुद्गलकर्मके निमित्तसे रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है । पर्यायदृष्टिसे देखा जाये तो वह मलिन ही दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है; यह कहीं जड़त्व नहीं हुआ । यहाँ द्रव्यदृष्टिको प्रधान करके कहा है । जो प्रमत्त-अप्रमत्तके भेद हैं वे परद्रव्यकी संयोगजनित पर्याय हैं । यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टिमें गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है । द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है । इसलिये आत्मा ज्ञायक ही है; उसमें भेद नहीं हैं इसलिये वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है । 'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेयको जाननेसे दिया जाता है; क्योंकि ज्ञेयका प्रतिबिम्ब जब भलकता है तब ज्ञानमें वैसा ही अनुभव होता है । तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञानमें प्रतिभासित हुआ वैसा ज्ञायकका ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है । 'यह जो मैं जाननेवाला हूँ सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं'—ऐसा अपनेको अपना अभेदरूप अनुभव हुआ तब इस जाननेरूप क्रियाका कर्ता स्वयंही है, और जिसने जाना वह कर्म भी स्वयंही

दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनास्याशुद्धत्वमिति चेत्—

व्यवहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।

एवि णाणं ण चरित्तं ए दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।

नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥७॥

है। ऐसा एक ज्ञायकत्वमात्र स्वयं शुद्ध है।—यह शुद्धनयका विषय है। अन्य जो परसंयोगजनित भेद हैं वे सब भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनयके विषय हैं। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिमें पर्यायार्थिक ही है इसलिये व्यवहारनय ही है ऐसा आशय समझना चाहिये।

यहाँ यह भी जानना चाहिये कि जिनमत्तका कथन स्याद्वादरूप है, इसलिये अशुद्धनयको सर्वथा असत्यार्थ न माना जाये; क्योंकि स्याद्वादप्रमाणसे शुद्धता और अशुद्धता-दोनों वस्तुके धर्म हैं और वस्तु-धर्म वस्तुका सत्त्व है; अन्तर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्यके संयोगसे होती है। अशुद्धनयको यहाँ हेय कहा है क्योंकि—अशुद्धनयका विषय संसार है और संसारमें आत्मा क्लेश भोगता है; जब स्वयं परद्रव्यसे भिन्न होता है तब संसार छूटता है और क्लेश दूर होता है। इसप्रकार दुःख मिटानेके लिये शुद्धनयका उपदेश प्रधान है। अशुद्धनयको असत्यार्थ कहनेसे यह न समझना चाहिये कि आकाशके फूलकी भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है, ऐसा सर्वथा एकान्त समझनेसे मिथ्यात्व होता है; इसलिये स्याद्वादकी शरण लेकर शुद्धनयका आलम्बन लेना चाहिये। स्वरूपकी प्राप्ति होनेके बाद शुद्धनयका भी आलम्बन नहीं रहता। जो वस्तुस्वरूप है वह है—यह प्रमाणदृष्टि है। इसका फल वीतरागता है। इसप्रकार ^{विकल्प} निश्चय करना योग्य है।

यहाँ, (ज्ञायकभाव) प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है ऐसा कहा है। वह गुणस्थानोंकी परिपाटीमें छठे-गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवेंसे लेकर अप्रमत्त कहलाता है। किन्तु यह सब गुणस्थान अशुद्धनयकी कथनीमें है; शुद्धनयसे तो आत्मा ज्ञायक ही है।

अत्र, प्रश्न यह होता है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्रको आत्माका धर्म कहा गया है, किन्तु यह तो तीन भेद हुए; और इन भेदरूप भावोंसे आत्माको अशुद्धता आती है? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ७

गाथार्थः—[ज्ञानिनः] ज्ञानीके [चरित्रं दर्शनं ज्ञानं] चारित्र, दर्शन, ज्ञान—यह तीन भाव [व्यवहारेण] व्यवहारसे [उपविश्यते] कहे जाते हैं; निश्चयसे [ज्ञानं प्रपि न] ज्ञान भी नहीं है,

चारित्र, दर्शन, ज्ञान भी, व्यवहार कहता ज्ञानिके ।

चारित्र नहीं, दर्शन नहीं, नहीं ज्ञान, ज्ञायक शुद्ध है ॥७॥

आस्तां तावद्बन्धप्रत्ययात् ज्ञायकस्याशुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्राण्येव न विद्यन्ते । यतो ह्यनन्तधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यातिवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्भेदस्तमनुशासतां स्मरिणां धर्मधर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः । परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानन्तपर्यायतयैकं किञ्चिन्मिलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं, ज्ञायक एकैकः शुद्धः ।

[चारित्रं न] चारित्र भी नहीं है, और [दर्शनं न] दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक [ज्ञायकः शुद्धः] शुद्ध ज्ञायक ही है ।

टीका:—इस ज्ञायक आत्माको बन्धपर्यायके निमित्तसे अशुद्धता तो दूर रहो, किन्तु उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी विद्यमान नहीं हैं; क्योंकि अनन्त धर्मावाले एक धर्मि में जो निष्णात नहीं हैं ऐसे निकटवर्ती शिष्योंको, धर्माको बतलानेवाले कितने ही धर्मोंके द्वारा, उपदेश करते हुए आचार्योंका—यद्यपि धर्म और धर्माका स्वभावसे अभेद है तथापि नामसे भेद करके—व्यवहारमात्रसे ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है । किन्तु परमार्थसे देखा जाये तो अनन्त पर्यायोंको एक द्रव्यपी जाता है इसलिये एकरूप, किञ्चित् एकमेक मिले हुए आस्वादरूप, अभेद, एकस्वभाव वस्तुका अनुभव करनेवाले पण्डित पुरुषके न तो दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र ही है; किन्तु वह तो एकमात्र शुद्ध ज्ञायक ही है ।

भावार्थ:—इस शुद्ध आत्माके कर्मबन्धके निमित्तसे अशुद्धता होती है, यह बात तो दूर ही रहो, किन्तु उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भी भेद नहीं है, क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मरूप एकधर्मी है । परन्तु व्यवहारीजन धर्मोंको ही समझते हैं, धर्मोंको नहीं जानते; इसलिये वस्तुके किन्हीं असाधारण धर्मोंको उपदेशमें लेकर अभेदरूप वस्तुमें भी धर्मोंके नामरूप भेदको उत्पन्न करके ऐसा उपदेश दिया जाता है कि ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है । इसप्रकार अभेदमें भेद किया जाता है, इसलिये वह व्यवहार है । यदि परमार्थसे विचार किया जाये तो एक द्रव्य अनन्त पर्यायोंको अभेदरूपसे पीकर बैठा है, इसलिये उसमें भेद नहीं है ।

यहाँ कोई कह सकता है कि पर्याय भी द्रव्यके ही भेद हैं, अवस्तु नहीं; तब फिर उन्हें व्यवहार कैसे कहा जा सकता है ? उसका समाधान यह है:—यह ठीक है, किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टिसे अभेदको प्रधान करके उपदेश दिया है । अभेददृष्टिमें भेदको गौण कहनेसे ही अभेद भलीभाँति मालूम हो सकता है । इसलिये भेदको गौण करके उसे व्यवहार कहा है । यहाँ यह अभिप्राय है कि भेददृष्टिमें भी निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागीके विकल्प होते रहते हैं; इसलिये जहाँतक रागादिक दूर नहीं हो जाते वहाँतक भेदको गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है । वीतराग होनेके बाद भेदाभेदरूप वस्तुका ज्ञाता हो जाता है, वहाँ नयका आलम्बन ही नहीं रहता ।

तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत्—

जह णवि सकमएज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।

तह व्यवहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् ।

तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥८॥

यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसंबंधावबोधबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेघ इवानिमेपोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव तदेतद्भाषा-संबंधैकार्थज्ञानान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुदाय स्वस्तिपदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभि-धेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुजलझलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव । तथा

अब यहाँ पुनः यह प्रश्न उठा है कि—यदि ऐसा है तो एक परमार्थका ही उपदेश देना चाहिये; व्यवहार किसलिये कहा जाता है ? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ८

गाथार्थः—[यथा] जैसे [अनार्यः] अनार्य (म्लेच्छ) जनको [अनार्यभाषां विना तु] अनार्यभाषाके विना [ग्राहयितुम्] किसी भी वस्तुका स्वरूप ग्रहण करनेके लिये [न अपि शक्यः] कोई समर्थ नहीं है [तथा] उसीप्रकार [व्यवहारेण विना] व्यवहारके विना [परमार्थोपदेशनम्] परमार्थका उपदेश देना [अशक्यम्] अशक्य है ।

टीका:—जैसे किसी म्लेच्छसे यदि कोई ब्राह्मण 'स्वस्ति' ऐसा शब्द कहे तो वह म्लेच्छ उस शब्दके वाच्यवाचक सम्बन्धको न जाननेसे कुछ भी न समझकर उस ब्राह्मणकी ओर मेंढेकी भाँति आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, किन्तु जब ब्राह्मणकी और म्लेच्छकी भाषाका—दोनोंका अर्थ जाननेवाला कोई दूसरा पुरुष या वही ब्राह्मण म्लेच्छभाषा बोलकर उसे समझता है कि 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ यह है कि "तेरा अविनाशी कल्याण हो", तब तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त आनन्दमय अश्रुओंसे जिसके नेत्र भर जाते हैं ऐसा वह म्लेच्छ इस 'स्वस्ति' शब्दके अर्थको समझ जाता है; इसीप्रकार व्यवहारीजन भी 'आत्मा' शब्दके कहने पर 'आत्मा' शब्दके अर्थका ज्ञान न होनेसे कुछ भी न समझकर मेंढेकी भाँति आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखते रहते हैं, किन्तु जब व्यवहार-परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथको चलानेवाले सारथीकी भाँति अन्य कोई आचार्य अथवा 'आत्मा' शब्दको कहनेवाला स्वयं ही व्यवहारमार्गमें रहता हुआ आत्मा शब्दका यह अर्थ बतलाता है कि—"दर्शन, ज्ञान,

भाषा अनार्य विना न, समझाना ज्यु शक्य अनार्यको ।

व्यवहार विन परमार्थका, उपदेश होय अशक्य यों ॥८॥

किल लोकोप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानवहिष्कृतत्वात् किञ्चिदपि प्रतिपद्यमानो मेघ इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथ-प्रस्थापितसम्यग्बोधमहारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यत-तीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमदानंदांतःसुन्दरबधुरबोधतरंगस्त-त्प्रतिपद्यत एव । एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयः, अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः ।

कथं व्यवहारस्य प्रतिपादकत्वमिति चेत्—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।

तं सुयकेवलिमिसिणो भयांति लोयप्पईवयरा ॥९॥

जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।

णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवती तम्हा ॥१०॥ जुम्मं ॥

चारित्रको जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा है”, तब तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त आनन्दसे जिसके हृदयमें सुन्दर बोधतरंगों (ज्ञानतरंगों) उछलने लगती हैं ऐसा वह व्यवहारीजन उस “आत्मा” शब्दके अर्थको अच्छी तरह समझ लेता है । इसप्रकार जगत तो म्लेच्छके स्थान पर होनेसे, और व्यवहारनय भी म्लेच्छभाषाके स्थान पर होनेसे परमार्थका प्रतिपादित (कहनेवाला) है इसलिये, व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है; किन्तु ब्राह्मणको म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिये—इस वचनसे वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है ।

भावार्थः—लोग शुद्धनयको नहीं जानते, क्योंकि शुद्धनयका विषय अमेद एकरूप वस्तु है; किन्तु वे अशुद्धनयको ही जानते हैं क्योंकि उसका विषय भेदरूप अनेकप्रकार है; इसलिये वे व्यवहारके द्वारा ही परमार्थको समझ सकते हैं । अतः व्यवहारनयको परमार्थका कहनेवाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है । इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि यहाँ व्यवहारका आलम्बन कराते हैं, प्रत्युत व्यवहारका आलम्बन छोड़कर परमार्थमें पहुँचाते हैं,—यह समझना चाहिये ।

अब, प्रश्न यह होता है कि व्यवहारनय परमार्थका प्रतिपादक कैसे है ? इसके उत्तर—स्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

इस आत्मको श्रुतसे नियत, जो शुद्ध केवल जानते ।

ऋषिगण प्रकाशक लोकके, श्रुतकेवली उसको कहे ॥९॥

श्रुतज्ञान सब जानें जु, जिन श्रुतकेवली उसको कहे ।

सब ज्ञान सो आत्मा हि है, श्रुतकेवली उससे बने ॥१०॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम् ।

तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ॥९॥

यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।

ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥१०॥युगमम्॥

यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो, यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः । तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा ? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपंचतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः । ततो गत्यंतराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायाति । अतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात् । एवं सति यः आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति, स तु परमार्थ एव । एवं ज्ञानज्ञानिनोर्भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते, न किंचिदप्यतिरिक्तम् । अथ च यः

गाथा ९-१०

गाथार्थः—[यः] जो जीव [हि] निश्चयसे (वास्तवमें) [श्रुतेन तु] श्रुतज्ञानके द्वारा [इमं] इस अनुभवगोचर [केवलं शुद्धम्] केवल एक शुद्ध [आत्मानं] आत्माको [अभिगच्छति] सम्मुख होकर जानता है, [तं] उसे [लोकप्रदीपकराः] लोकको प्रगट जाननेवाले [ऋषयः], ऋषीश्वर [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [भणंति] कहते हैं; [यः] जो जीव- [सर्वं] सर्व [श्रुतज्ञानं] श्रुतज्ञानको [जानाति] जानता है [तं] उसे [जिनाः] जिनदेव [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [आहुः] कहते हैं, [यस्मात्] क्योंकि [ज्ञानं सर्वं] ज्ञान-सब [आत्मा] आत्मा ही है [तस्मात्] इसलिये [श्रुतकेवली] (वह जीव) श्रुतकेवली है ।

टीकाः—प्रथम, “जो श्रुतसे केवल शुद्ध आत्माको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं” वह तो परमार्थ है, और “जो सर्व श्रुतज्ञानको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं” यह व्यवहार है । यहाँ दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं—उपरोक्त सर्व ज्ञान आत्मा है या अनात्मा ? यदि अनात्माका पक्ष लिया जाये तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि जो समस्त जड़रूप अनात्मा आकाशादिक पाँच द्रव्य हैं, उनका ज्ञानके साथ तादात्म्य बनता ही नहीं (क्योंकि उनमें ज्ञान सिद्ध नहीं है) । इसलिये अन्य पक्षका अभाव होनेसे ‘ज्ञान आत्मा ही है’ यह पक्ष सिद्ध हुआ । इसलिये श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है । ऐसा होनेसे ‘जो आत्माको जानता है, वह श्रुतकेवली है’ ऐसा ही घटित होता है; और वह तो परमार्थ ही है । इसप्रकार ज्ञान और ज्ञानीके भेदसे कहनेवाला जो व्यवहार है उससे भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है, उससे भिन्न कुछ नहीं कहा जाता । और “जो श्रुतसे केवल शुद्ध आत्माको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं” इसप्रकार परमार्थका प्रतिपादन करना अशक्य होनेसे, “जो सर्व श्रुतज्ञानको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं” ऐसा व्यवहार परमार्थके प्रतिपादकत्वसे अपनेको दृढतापूर्वक स्थापित करता है ।

श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति ।

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य इति चेत्—

व्यवहारोऽभूयत्थो भूयत्थो दक्षिणो दु सुद्वयत्रो ।

भूयत्थमस्मिदौ खलु सम्पाहृद्वी हवइ जीवो ॥११॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दक्षिणस्तु शुद्धनयः ।

भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥११॥

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति, शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति । तथा हि—यथा प्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकाचक्षभावस्य पयसोनुभवितारः

भावार्थः—जो शास्त्रज्ञानसे अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ (निश्चय कथन) है । और जो सर्व शास्त्रज्ञानको जानता है उसने भी ज्ञानको जाननेसे आत्माको ही जाना है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है; इसलिये ज्ञान-ज्ञानीके भेदको कहनेवाला जो व्यवहार उसने भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नहीं कहा । और परमार्थका विषय तो कथंचित् वचन-गोचर भी नहीं है, इसलिये व्यवहारनय ही आत्माको प्रगटरूपसे कहता है, ऐसा जानना चाहिये ।

अब, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—पहले यह कहा था कि व्यवहारको अङ्गीकार नहीं करना चाहिये, किन्तु यदि वह परमार्थको कहनेवाला है तो ऐसे व्यवहारको क्यों अङ्गीकार न किया जाये ? इसके उत्तररूपमें गाथासूत्र कहते हैंः—

गाथा ११

गाथार्थः—[व्यवहारः] व्यवहारनय [अभूतार्थः] अभूतार्थ है [तु] और [शुद्धनयः] शुद्धनय [भूतार्थः] भूतार्थ है, ऐसा [दक्षिणः] ऋषीश्वरोंने बताया है; [जीवः] जो जीव [भूतार्थः] भूतार्थका [आश्रितः] आश्रय लेता है वह जीव [खलु] निश्चयसे (वास्तवमें) [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [भवति] है ।

टीकाः—व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है, इसलिये वह अविद्यमान, असत्य, अभूत, अर्थको प्रगट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होनेसे विद्यमान, सत्य, भूत अर्थको प्रगट करता है । यह बात दृष्टान्तसे वतलाते हैंः—जैसे प्रबल कीचड़के मिलनेसे जिसका सहज एक निर्मलभाव तिरोभूत (आच्छादित) होगया है, ऐसे जलका अनुभव करनेवाले पुरुष—जल और कीचड़का विवेक न करनेवाले (दोनोंके

व्यवहारनय अभूतार्थ दक्षिण, शुद्धनय भूतार्थ है ।

भूतार्थ आश्रित आत्मा, सद्येति निश्चय होय है ॥११॥

पुरुषाः पंकपयसोर्विवेकमकुर्वतो ब्रह्मो न च्छमेव तदनुभवंति । केचित्तु स्वकरविक्रीर्णकतकनिपात-
मात्रोपजनितपंकपयोविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवंति ।
तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकभावस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेक-
मकुर्वतो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रधोतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवंति । भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमति-
निपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकज्ञायक
भावत्वात् प्रधोतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवंति । तदत्र ये भूतार्थमाश्रयन्ति त एव सम्यक् पश्यन्तः
सम्यग्दृष्टयो भवंति, न पुनरन्ये, कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्य । अतः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यव-
हारनयो नानुसर्त्तव्यः ।

भेदको न समझनेवाले) -बहुतसे तो उस जलको मलिन ही अनुभवते हैं, किन्तु कितने ही अपने हाथसे
ढाले हुवे कतकफल^१ के पड़ने मात्रसे उत्पन्न जल-कादवके विवेकतासे, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत
किये गये सहज एक निर्मलभावपनेसे उस जलको निर्मल ही अनुभव करते हैं; इसीप्रकार प्रबल कर्मोंके
मिलनेसे जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्माका अनुभव करनेवाले पुरुष-
आत्मा और कर्मका विवेक (भेद) न करनेवाले, व्यवहारसे विमोहित हृदयवाले तो, उसे (आत्माको)
जिसमें भावोंकी विश्वरूपता (अनेकरूपता) प्रगट है ऐसा अनुभव करते हैं; किन्तु भूतार्थदर्शी
(शुद्धनयको देखनेवाले) अपनी बुद्धिसे ढाले हुवे शुद्धनयके अनुसार बोध होनेमात्रसे उत्पन्न आत्म-कर्मके
विवेकतासे, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायकभावत्वके कारण उसे (आत्माको)
जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसा अनुभव करते हैं । यहाँ, शुद्धनय कतकफलके स्थानपर है,
इसलिये जो शुद्धनयका आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करनेसे सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे (जो अशुद्ध-
नयका सर्वथा आश्रय लेते हैं वे) सम्यग्दृष्टि नहीं हैं । इसलिये कर्मोंसे भिन्न आत्माके देखनेवालोंको
व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है ।

भावायः—यहाँ व्यवहारनयको अभूतार्थ, और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है । जिसका विषय
विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो उसे अभूतार्थ कहते हैं । व्यवहारनयको अभूतार्थ कहनेका आशय यह है
कि शुद्धनयका विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है, उसकी दृष्टिमें भेद दिखाई नहीं देता; इसलिये
उसकी दृष्टिमें भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहना चाहिये । ऐसा न समझना चाहिये कि भेदरूप कोई
वस्तु ही नहीं है । यदि ऐसा माना जाये तो जैसे वेदान्त मतवाले भेदरूप अनित्यको देखकर अवस्तु
मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्ध ब्रह्मको वस्तु कहते हैं वैसा सिद्ध हो और
उससे सर्वथा एकान्त शुद्धनयके पक्षरूप मिथ्यादृष्टिका ही प्रसंग आये, इसलिये यहाँ ऐसा समझना
चाहिये कि जिनवाणी स्वाद्धाररूप है, वह प्रयोजनवश नयको मुख्य-गौण करके कहती है । प्राणियोंको

१ कतकफल = निर्मली; (एक औषधि जिससे कीचड़ नीचे बैठ जाता है) ।

अथ च केषांचित्कदाचित्सोपि प्रयोजनवान् । यतः —

शुद्धो शुद्धादेशो णायन्दो परमभावदरिसीहिं ।
व्यवहारदेशिदा पुण जे तु अपरमे द्विदा भावे ॥१२॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।

व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥१२॥

ये खलु पर्यतपाकोचीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवंति तेषां प्रथमद्वितीया-
द्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवनशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया

भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो अनादि कालसे ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। और जिनवाणीमें व्यवहारका उपदेश शुद्धनयका हस्तावलम्बन (सहायक) जानकर बहुत किया है; किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनयका पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है—वह कहीं कहीं पाया जाता है। इसलिये उपकारी श्रीगुरुने शुद्धनयके ग्रहणका फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानतासे दिया है कि—“शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेनेसे सम्यक्-दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जबतक जीव व्यवहारमें मग्न है तबतक आत्माका ज्ञान—श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।” ऐसा आशय समझना चाहिये।

अब, “यह व्यवहारनय भी किसी किसीको किसी काल प्रयोजनवान है, सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है; इसलिये उसका उपदेश है” यह कहते हैं—

गाथा १२

गाथार्थः—[परमभावदर्शिभिः] जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान-
चारित्रवान हो गये उन्हें तो [शुद्धादेशः] शुद्ध (आत्मा) का उपदेश (आज्ञा) करनेवाला [शुद्धः]
शुद्धनय [ज्ञातव्यः] जाननेयोग्य है; [पुनः] और [ये तु] जो जीव [अपरमे भावे] अपरम-
भावमें—अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञानचारित्रके पूर्ण भावको नहीं पहुँच सके हैं, साधक अवस्थामें ही-
[स्थिताः] स्थित हैं वे [व्यवहारदेशिताः] व्यवहारद्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

टीकाः—जो पुरुष अन्तिम पाकसे उतरे हुये शुद्ध स्वर्णके समान (वस्तुके) उत्कृष्ट भावका
अनुभव करते हैं उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि पाकोंकी परम्परासे पच्यमान (पकाये जाते हुये) अशुद्ध
स्वर्णके समान जो अनुत्कृष्ट मध्यम भाव हैं उनका अनुभव नहीं होता; इसलिये, शुद्धद्रव्यको कहनेवाला
होनेसे जिसने अचलित अखण्ड एकस्वभावरूप एक भाव प्रगट किया है ऐसा शुद्धनय ही, सबसे ऊपरकी

देखै परम जो भाव उसको, शुद्धनय ज्ञातव्य है ।

ठहरा जु अपरमभावमें, व्यवहारसे उपदिष्ट है ॥१२॥

समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोजनवान् । ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवन्ति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शित-प्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् । उक्तं च—“जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह । एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥”

एक प्रतिवर्णिका (स्वर्ण-वर्ण) समान होनेसे, जाननेमें आता हुआ प्रयोजनवान है । परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों (तावों) की परम्परासे पच्यमान अशुद्ध स्वर्णके समान जो (वस्तुका) अनुकृष्ट मध्यमभावका अनुभव करते हैं उन्हें अन्तिम तावसे उतरे हुये शुद्ध स्वर्णके समान उत्कृष्ट भावका अनुभव नहीं होता; इसलिये, अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला होनेसे जिसने भिन्न भिन्न एक एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं ऐसा व्यवहारनय, विचित्र अनेक वर्णमालाके समान होनेसे, जाननेमें आता (-ज्ञात होता) हुआ उस काल प्रयोजनवान है । क्योंकि तीर्थ और तीर्थके फलकी ऐसी ही व्यवस्थिति है । (जिससे तिरा जाये वह तीर्थ है; ऐसा व्यवहार धर्म है और पार होना व्यवहारधर्मका फल है; अथवा अपने स्वरूपको प्राप्त करना तीर्थफल है ।) अन्यत्र भी कहा है कि:—

प्रथं:—आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! यदि तुम जिनमतका प्रवर्ताना करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय—दोनों नयोंको मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थ—व्यवहारमार्गका नाश हो जायेगा और निश्चयनयके बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा ।

भावार्थ:—लोकमें सोनेके सोलह वान (ताव) प्रसिद्ध हैं । पन्द्रहवें वान तक उसमें चूरी आदि परसंयोगकी कालिमा रहती है, इसलिये तबतक वह अशुद्ध कहलाता है; और ताव देते देते जब अन्तिम तावसे उतरता है तब वह सोलहवान या सौटंची शुद्ध सोना कहलाता है । जिन्हें सोलहवानवाले सोनेका ज्ञान, श्रद्धान तथा प्राप्ति हुई है उन्हें पन्द्रह-वान तकका सोना कोई प्रयोजनवान नहीं होता, और जिन्हें सोलह-वानवाले शुद्ध सोनेकी प्राप्ति नहीं हुई है उन्हें तबतक पन्द्रह-वान तकका सोना भी प्रयोजनवान है । इसीप्रकार यह जीव नामक पदार्थ है, जो कि पुद्गलके संयोगसे अशुद्ध अनेकरूप हो रहा है । उसका, समस्त परद्रव्योंसे भिन्न, एक ज्ञायकत्वमात्रका-ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति—यह तीनों जिसे हो गये हैं उसे पुद्गलसंयोगजनित अनेकरूपताको कहनेवाला अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजन-ज्ञान (किसी मतलबका) नहीं है; किन्तु जहाँ तक शुद्धभावकी प्राप्ति नहीं हुई वहाँ तक जितना अशुद्धनयका कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान है । जहाँ तक यथार्थ ज्ञानश्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यक्-दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई हो वहाँ तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिनवचनोंको सुनना; धारण करना तथा जिनवचनोंको कहनेवाले श्री जिन-गुरुकी भक्ति, जिनबिम्बके दर्शन इत्यादि

* मालिनी *

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वांतमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्यै-
रनयमनयपक्षाङ्गुणमीक्षंत एव ॥४॥

व्यवहारमार्गमें प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है; और जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई उन्हें पूर्वकथित कार्य, परद्रव्यका आलम्बन छोड़नेरूप अगुत्रत-महाव्रतका ग्रहण, समिति, गुप्ति, और पंच परमेष्ठीका ध्यानरूप प्रवर्तन तथा इसीप्रकार प्रवर्तन करनेवालोंकी संगति एवं विशेष जाननेके लिये शास्त्रोंका अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्गमें स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरोंको प्रवर्तन कराना—ऐसे व्यवहारनयका उपदेश अङ्गीकार करना प्रयोजनवान है। *व्यवहारनयको कर्षंचित् असत्यार्थ कहा गया है; किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहारको ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिये उल्टा अशुभोपयोगमें ही आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादिं गति तथा परम्परासे निगोदको प्राप्त होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा। इसलिये शुद्धनयका विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान है—ऐसा स्याद्वाद मतमें श्री गुरुओंका उपदेश है।

इसी अर्थका कलशरूप काव्य टीकाकार कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[उभय-नय-विरोध-ध्वंसिनि] निश्चय और व्यवहार—इन दो नयोंके विषयके भेदसे परस्पर विरोध है; उस विरोधका नाश करनेवाला [स्यात्, पद-श्रंके] 'स्यात्'-पदसे चिह्नित जो [जिनवचसि] जिन भगवानका वचन (वाणी) है उसमें [ये रमन्ते] जो पुरुष रमते हैं (—प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं) [ते] वे [स्वयं] अपने आप ही (अन्य कारणके बिना) [वान्त मोहाः] मिथ्यात्वकर्मके उदयका वसन करके [उच्चैः परं ज्योतिः समयसारं] इस अतिशयरूप परम-ज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्माको [सपदि ईक्षन्ते एव] तत्काल ही देखते हैं। वह समयसाररूप शुद्ध-आत्मा [अनयम्] नवीन उत्पन्न नहीं हुआ; किन्तु पहले कर्मोंसे आच्छादित था सो वह प्रगट व्यक्तिरूप होगया है। और वह [अनय-पक्ष-अक्षुण्णम्] सर्वथा एकान्तरूप कुनयके पक्षसे खण्डित नहीं होता, निर्बाध है।

* व्यवहारनयके उपदेशसे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि आत्मा परद्रव्यकी क्रिया कर सकता है, लेकिन ऐसा समझना कि व्यवहारोपदिष्ट शुभभावोंको आत्मा व्यवहारसे कर सकता है। और उस उपदेशसे ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि शुभ भाव करनेसे आत्मा शुद्धताको प्राप्त करता है, परन्तु ऐसा समझना कि साधक दशामें भूमिकाके अनुसार शुभ भाव आवे बिना नहीं रहते।

* मालिनी *

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितदानां हंत हस्तावलंबः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥५॥

भावार्थः—जिनवचन (जिनवाणी) स्याद्वादरूप हैं । जहाँ दो नयोंके विषयका विरोध है, जैसे कि—जो सत्तरूप होता है वह असत्तरूप नहीं होता, जो एक होता है वह अनेक नहीं होता, जो नित्य होता है वह अनित्य नहीं होता, जो भेदरूप होता है वह अभेदरूप नहीं होता, जो शुद्ध होता है वह अशुद्ध नहीं होता इत्यादि नयोंके विषयोंमें विरोध है—वहाँ जिनवचन कथंचित् विवक्षासे सत्-असत्तरूप, एक-अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप, शुद्ध-अशुद्धरूप जिसप्रकार विद्यमान वस्तु है उसीप्रकार कहकर विरोध मिटा देता है, असत् कल्पना नहीं करता । जिनवचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—दोनों नयोंमें, प्रयोजनवश शुद्धद्रव्यार्थिक नयको मुख्य करके उसे निश्चय कहते हैं और अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिकनयको गौण करके व्यवहार कहते हैं ।—ऐसे जिनवचनमें जो पुरुष रमण करते हैं वे इस शुद्ध आत्माको यथार्थ प्राप्त कर लेते हैं; अन्य सर्वथा-एकान्तवादी सांख्यादिक उसे प्राप्त नहीं कर पाते; क्योंकि वस्तु सर्वथा एकान्त पक्षका विषय नहीं है तथापि वे एक ही धर्मको ग्रहण करके वस्तुकी असत्य कल्पना करते हैं—जो असत्यार्थ है, बाधासहित मिथ्यादृष्टि है ॥४॥

इसप्रकार इन बारह गाथाओंमें पीठिका (भूमिका) है ।

अब आचार्य शुद्धनयको प्रधान करके निश्चय सम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं । अशुद्धनयकी (व्यवहारनयकी) प्रधानतामें जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है, जब कि यहाँ उन जीवादि तत्त्वोंको शुद्धनयके द्वारा जाननेसे सम्यक्त्व होता है, यह कहते हैं । टीकाकार इसकी सूचनारूप तीन श्लोक कहते हैं, उनमेंसे प्रथम श्लोकमें यह कहते हैं कि व्यवहारनयको कथंचित् प्रयोजनवान कहा तथापि वह कुछ वस्तुभूत नहीं है—

श्लोकार्थः—[व्यवहरण-नयः] जो व्यवहारनय है वह [यद्यपि] यद्यपि [इह प्राक्-पदव्या] इस पहली पदवीमें (जबतक शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक) [निहित-पदानां] जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषोंको [हन्त] अरे रे ! [हस्तावलंबः स्यात्] हस्तावलम्बन तुल्य कहा है, [तद-अपि] तथापि [चित्-चमत्कार-मात्रं पर-विरहितं परमं अर्थं अन्तः पश्यतां] जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्यभावोंसे रहित (शुद्धनयके विषयभूत) परम 'अर्थ'को अन्तरङ्गमें अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा उसरूप लीन होकर चारित्रभावको प्राप्त होते हैं उन्हें [एषः] यह व्यवहारनय [किञ्चित् न] कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है ।

* शार्दूलविक्रीडित *

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरैभ्यः पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥६॥

भावार्थः—शुद्ध स्वरूपका ज्ञान, अद्भान तथा आचरण होनेके बाद अशुद्धनय-कुछ भी प्रयोजन-कारी नहीं है ॥६॥

अब निश्चय सम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[अस्य आत्मनः] इस आत्माको [यद् इह द्रव्यान्तरैभ्यः पृथक् दर्शनम्] अन्य द्रव्योंसे पृथक् देखना (अद्भान करना) [एतत् एव नियमात् सम्यग्दर्शनम्]—ही नियमसे सम्यक्दर्शन है, यह आत्मा [व्याप्तुः] अपने गुण-पर्यायोंमें व्याप्त रहनेवाला है, और [शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य] शुद्धनयसे एकत्वमें निश्चित किया गया है तथा [पूर्ण-ज्ञान-घनस्य] पूर्ण ज्ञानघन है। [च] एवं [तावान् अयं आत्मा] जितना सम्यक्दर्शन है उतना ही आत्मा है, [तत्] इसलिये आचार्य प्रार्थना करते हैं कि [इमाम् नव-तत्त्व-सन्ततिं मुक्त्वा] “इस नवतत्त्वकी परिपाटीको छोड़कर, [अयम् आत्मा एकः अस्तु नः] यह आत्मा एक ही-हमें प्राप्त हो।”

भावार्थः—सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुणपर्यायभेदोंमें व्यापनेवाला यह आत्मा शुद्धनयसे एकत्वमें निश्चित किया गया है—शुद्धनयसे ज्ञायकमात्र एक-आकार दिखलाया गया है, उसे सर्व अन्यद्रव्यों और अन्यद्रव्योंके भावोंसे अलग देखना, अद्भान करना सो नियमसे सम्यक्दर्शन है। व्यवहारनय आत्माको अनेक भेदरूप कहकर सम्यक्दर्शनको अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नहीं रहता। शुद्धनयकी सीमा तक पहुँचने पर व्यभिचार नहीं रहता इसलिये नियमरूप है, शुद्धनयका विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है—सर्व लोकालोकको जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है। ऐसे आत्माका अद्भानरूप सम्यक्दर्शन है। यह कहीं पृथक् पदार्थ नहीं है,—आत्माका ही परिणाम है, इसलिये आत्मा ही है। अतः जो सम्यक्दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नहीं।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि जो नय है सो श्रुतप्रमाणका अंश है, इसलिये शुद्धनय भी श्रुतप्रमाणका ही अंश हुआ। श्रुतप्रमाण परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि वस्तुको सर्वज्ञके आगमके मन्त्रसे जाना है; इसलिये यह शुद्धनय सर्वद्रव्योंसे भिन्न, आत्माकी सर्व पर्यायोंमें व्याप्त, पूर्ण चैतन्यकेवलज्ञान-रूप-सर्व लोकालोकको जाननेवाले, असाधारण चैतन्यधर्मको परोक्ष दिखाता है। यह व्यवहारी छद्मस्थ जीव आगमको प्रमाण करके शुद्धनयसे दिखाये गये पूर्ण आत्माका अद्भान करे, सो वह अद्भान निश्चय सम्यक्दर्शन है। जबतक केवल व्यवहारनयके विषयभूत जीवादि भेदरूप तत्त्वोंका ही अद्भान रहता है

* अनुष्टुप् *

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यगज्योतिश्चकास्ति तत् ।

नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुञ्चति ॥ ७ ॥

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्यपावं च ।

आस्रवसंवरणिज्जरबंधो मोक्षो य सम्पत्तं ॥ १३ ॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।

आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥ १३ ॥

तिस्रस्तकं निश्चयः सम्यक्दर्शन नहीं होता। इसलिये आचार्य कहते हैं कि इन नवतत्त्वोंकी संतति (परि-
पाटी) को छोड़कर शुद्धतत्त्वका विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो; हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। यह
वीतराग अवस्थाकी आर्थना है, कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नयाका पक्षपात ही हुआ करे तो
मिथ्यात्व ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि—आत्मा चैतन्य है, मात्र इतना ही अनुभवमें आये तो इतनी श्रद्धा
सम्यक्दर्शन है या नहीं? उसका समाधान यह है—नास्तिकोंको छोड़कर सभी मतवाले आत्माको
चैतन्यमात्र मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धाको सम्यक्दर्शन कहा जाये तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो
जायेगा; इसलिये सर्वज्ञकी बाणीमें जैसा सम्पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा है जैसा श्रद्धान होनेसे ही निश्चय
सम्यक्त्व होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ६ ॥

अब, टीकाकार-आचार्य निम्नलिखित श्लोकमें यह कहते हैं कि—तत्पश्चात् शुद्धनयके आधीन,
सर्व द्रव्योंसे भिन्न, आत्मज्योति प्रगट हो जाती है:—

श्लोकार्थः—[अतः] तत्पश्चात् [शुद्धनय-आयत्तं] शुद्धनयके आधीन [प्रत्यगज्योतिः]
ज्यो भिन्न आत्मज्योति है [तत्] वह [चकास्ति] प्रगट होती है [यद्] कि जो [नव-तत्त्व-गतत्वे
अपि] नवतत्त्वोंमें प्राप्त होने पर भी [एकत्वं] अपने एकत्वको [न मुञ्चति] नहीं छोड़ती।

आचार्यः—नवतत्त्वोंमें प्राप्त हुआ आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है; यदि इसको भिन्न स्वरूप
विचार किया जाये तो वह अपनी चैतन्यचमत्कारमात्र ज्योतिको नहीं छोड़ता ॥ ७ ॥

भूतार्थसे जाने अजीव जीव; पुण्य पाप रू निर्जरा ।

आस्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना ॥ १३ ॥

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एव, अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयने व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वैकत्वद्योतिना भूतार्थनयनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोऽनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणायाः संपद्यमानत्वात् । तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंधः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः, स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः ।

इसप्रकार ही शुद्धनयसे जानना सो सम्यक्त्व है, यह सूत्रकार इस गाथामें कहते हैं—

गाथा १३

गाथार्थः—[भूतार्थेन अभिगताः] भूतार्थं नयसे ज्ञात [जीवाजीवौ] जीव, अजीव [च] और [पुण्यपापं] पुण्य, पाप [च] तथा [आस्रवसंवरनिर्जराः] आस्रव, संवर, निर्जरा [बंधः] बन्ध [च] और [मोक्षः] मोक्ष [सम्यक्त्वम्]—यह नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

टीकाः—यह जीवादि नवतत्त्व भूतार्थं नयसे जाने हुवे सम्यग्दर्शन ही है (—यह नियम कहा); क्योंकि तीर्थकी (व्यवहार, धर्मकी) प्रवृत्तिके लिये अभूतार्थं (व्यवहार) नयसे कहा जाता है ऐसे नवतत्त्व—जिनके लक्षण जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष हैं—उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनयसे एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनयरूपसे स्थापित आत्माकी अनुभूति—जिसका लक्षण आत्मख्याति है—वह प्राप्त होती है (शुद्धनयसे नवतत्त्वोंको जाननेसे आत्माकी अनुभूति होती है, इस हेतुसे यह नियम कहा है ।) वहाँ, विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला—दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं, आस्रव होने योग्य और आस्रव करनेवाला—दोनों आस्रव हैं, संवररूप होने योग्य (संवार्य) और संवर करनेवाला (संवारक)—दोनों संवर हैं, निर्जरा होनेके योग्य और निर्जरा करनेवाला—दोनों निर्जरा हैं, बंधनेके योग्य और बन्धन करनेवाला—दोनों बन्ध हैं, और मोक्ष होने योग्य तथा मोक्ष करनेवाला—दोनों मोक्ष हैं; क्योंकि एकके ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्षकी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती । वे दोनों जीव और अजीव हैं (अर्थात् उन दोमेंसे एक जीव है और दूसरा अजीव) ।

बाह्य (स्थूल) दृष्टिसे देखा जाये तो—जीव—पुद्गलकी अनादि बन्धपर्यायके समीप जाकर एकरूपसे अनुभव करने पर यह नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्यके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं; (वे जीवके एकाकार स्वरूपमें नहीं हैं;) इसलिये इन नव तत्त्वोंमें भूतार्थ नयसे एक जीव ही प्रकाशमान है । इसीप्रकार अन्तर्दृष्टिसे देखा जाये तो—ज्ञायक भाव जीव है और जीवके विकारका हेतु अजीव है; और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा

तदुभयं च जीवाजीवाविति । बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबंधपर्यायमुपेत्यैक-
त्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि ।
ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयनेको जीव एव प्रद्योतते । तथातर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो,
जीवस्य विकारहेतुरजीवः । केवलजीवविकारांश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणाः,
केवलाजीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षा इति । नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्य-
स्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकाल-
मेवास्खलंतमेकं जीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि । ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु
भूतार्थनयनेको जीव एव प्रद्योतते । एवमसावेकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव । या
त्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेव । इति समस्तमेव निरवधम् ।

मोक्ष जिनके लक्षण हैं ऐसे केवल जीवके विकार हैं और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध
तथा मोक्ष—ये विकारहेतु केवल अजीव हैं । ऐसे यह नव तत्त्व, जीवद्रव्यके स्वभावको छोड़कर, स्वयं और
पर जिनके कारण हैं ऐसे एक द्रव्यकी पर्यायोंके रूपमें अनुभव करनेपर भूतार्थ हैं और सर्व कालमें
अस्खलित एक जीवद्रव्यके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं । इसलिये
इन तत्त्वोंमें भूतार्थ नयसे एक जीव ही प्रकाशमान है । इसप्रकार यह, एकत्वरूपसे प्रकाशित होता हुआ
शुद्धनयरूपसे अनुभव किया जाता है । और जो यह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्माकी पहिचान)
ही है, और जो आत्मख्याति है सो सम्यक्दर्शन ही है । इसप्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है—बाधा
रहित है ।

भावार्थः—इन नव तत्त्वोंमें, शुद्धनयसे देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य-चमत्कार मात्र प्रकाशरूप
प्रगट हो रहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न नवतत्त्व कुछ भी दिखाई नहीं देते । जबतक इसप्रकार जीव
तत्त्वकी जानकारी जीवको नहीं है तबतक वह व्यवहारदृष्टि है, भिन्न भिन्न नवतत्त्वोंको मानता है । जीव-
पुद्गलकी बन्धपर्यायरूप दृष्टिसे यह पदार्थ भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं; किन्तु जब शुद्धनयसे जीव-पुद्गलका
निज स्वरूप भिन्न भिन्न देखा जाये तब वे पुण्य, पापादि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं हैं; वे निमित्त
नैमित्तिक भावसे हुए थे इसलिये जब वह निमित्त-नैमित्तिकभाव मिट गया तब जीव, पुद्गल भिन्न भिन्न
होनेसे अन्य कोई वस्तु (पदार्थ) सिद्ध नहीं हो सकती । वस्तु तो द्रव्य है, और द्रव्यका निजभाव द्रव्यके
साथ ही रहता है तथा निमित्त नैमित्तिक भावका अभाव ही होता है, इसलिये शुद्धनयसे जीवको जाननेसे
ही सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति हो सकती है । जबतक भिन्न भिन्न नव पदार्थोंको जाने, और शुद्धनयसे आत्माको
न जाने तबतक पर्यायबुद्धि है ।

यहाँ, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

* मालिनी *

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
 कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
 अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
 प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥

अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिज्ञेयाः ये ते खल्वभूतार्था-
 स्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः । प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च । तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्त्तमानं
 परोक्षं केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं च । तदुभयमपि प्रमात्प्रमाणप्रमेयभेदस्यानु-
 भूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ।
 नयस्तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति

श्लोकार्थः—[इति] इसप्रकार [चिरम्-नव-तत्त्व-च्छन्नम् इदम् आत्मज्योतिः] नव
 तत्त्वोंमें बहुत समयसे छिपी हुई यह आत्मज्योति [उन्नीयमानं] शुद्धनयसे बाहर निकालकर प्रगट
 की गई है, [वर्णमाला-कलापे निमग्नं कनकम् इव] जैसे वर्णोंके समूहमें छिपे हुए एकाकार स्वर्णको
 बाहर निकालते हैं । [अथ] इसलिये अब हे भव्य जीवो ! [सततविविक्तं] इसे सदा अन्य द्रव्योंसे
 तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावोंसे भिन्न, [एकरूपं] एकरूप [दृश्यताम्] देखो । [प्रतिपदम्
 उद्योतमानम्] यह (ज्योतिः), पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्यायमें एकरूप चित्तवमत्कारमात्र
 उद्योतमान है ।

भावार्थः—यह आत्मा सर्व अवस्थाओंमें विविधरूपसे दिखाई देता था, उसे शुद्ध नयने एक
 चैतन्य-चमत्कारमात्र दिखाया है; इसलिये अब उसे सदा एकबार ही अनुभव करो, पर्यायवृद्धिका एकान्त
 मत रखो—ऐसा श्री गुरुओंका उपदेश है । ८ ।

टीकाः—अब, जैसे नवतत्त्वोंमें एक जीवको ही जानना भूतार्थ कहा है उसीप्रकार, एकरूपसे
 प्रकाशमान आत्माके अधिगमके उपाय जो प्रमाण, नय, निज्ञेय हैं वे भी निश्चयसे अभूतार्थ हैं, उनमें भी
 यह आत्मा एक ही भूतार्थ है (क्योंकि ज्ञेय और वचनके भेदोंसे प्रमाणादि अनेक भेदरूप होते हैं) ।
 उनमेंसे पहले, प्रमाण दो प्रकारके हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष । ^१उपात्त और ^२अनुपात्त पर (पदार्थों) द्वारा
 प्रवर्त्त वह परोक्ष है और केवल आत्मासे ही प्रतिनिश्चितरूपसे प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है । (प्रमाण ज्ञान
 है । वह ज्ञान पाँच प्रकारका है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल । उनमेंसे मति और श्रुतज्ञान
 परोक्ष हैं, अवधि और मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है । इसलिये यह दो

१. उपात्त=प्राप्त । (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं ।)

२. अनुपात्त=अप्राप्त । (प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं ।)

द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः । तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्याये-
णानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च द्रव्यपर्यायानालोढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूयमान-
तायामभूतार्थम् । निक्षेपस्तु नाम स्थापना द्रव्यं भावश्च । तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं
नाम । सोयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना । वर्त्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यम् ।
वर्त्तमानतत्पर्यायो भावः । तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च
निर्विलक्षणस्वलक्षणैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । अथैवमपीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु
भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रघोतते ।

प्रकारके प्रमाण हैं ।) वे दोनों प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयके भेदका अनुभव करनेपर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं,
और जिसमें सर्वभेद गौण हो गये हैं ऐसे एक जीवके स्वभावका अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं,
असत्यार्थ हैं ।

नय दो प्रकारके हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । वहाँ द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तुमें द्रव्यका मुख्यतासे
अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिक नय है और पर्यायका मुख्यतासे अनुभव कराये सो पर्यायार्थिक नय है । यह
दोनों नय द्रव्य और पर्यायका पर्यायसे (भेदसे, क्रमसे) अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं,
और द्रव्य तथा पर्याय दोनोंसे अनालिंगित (आलिंगन नहीं किया हुआ) शुद्धवस्तुमात्र जीवके (चैतन्य-
मात्र) स्वभावका अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं ।

निक्षेपके चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । वस्तुमें जो गुण न हो उस गुणके नामसे
(व्यवहारके लिये) वस्तुकी संज्ञा करना सो नाम निक्षेप है । 'यह वह है' इसप्रकार अन्य वस्तुमें अन्य
वस्तुका प्रतिनिधित्व स्थापित करना (—प्रतिमा रूप स्थापन करना) सो स्थापना निक्षेप है । वर्तमानसे
अन्य अर्थात् अतीत अथवा अनागत पर्यायसे वस्तुको वर्तमानमें कहना सो द्रव्य निक्षेप है । वर्तमान
पर्यायसे वस्तुको वर्तमानमें कहना सो भाव निक्षेप है । इन चारों निक्षेपोंका अपने अपने लक्षणभेदसे
(विलक्षणरूपसे—भिन्न भिन्न रूपसे) अनुभव किये जानेपर वे भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और भिन्न लक्षणसे
रहित एक अपने चैतन्यलक्षणरूप जीवस्वभावका अनुभव करनेपर वे चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं ।
इसप्रकार इन प्रमाण-नय-निक्षेपोंमें भूतार्थरूपसे एक जीव ही प्रकाशमान है ।

भाषार्थः—इन प्रमाण, नय, निक्षेपोंका विस्तारसे कथन तद्विषयक ग्रन्थोंसे जानना चाहिये,
उनसे द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तुकी सिद्धि होती है । वे साधक अवस्थामें तो सत्यार्थ ही हैं क्योंकि वे ज्ञानके
ही विशेष हैं । उनके बिना वस्तुको चाहे जैसे साधा जाये तो विपर्यय हो जाता है । अवस्थानुसार व्यवहारके
अभावकी तीन रीतियाँ हैं : प्रथम अवस्थामें प्रमाणादिसे यथार्थ वस्तुको जानकर ज्ञान-श्रद्धानकी सिद्धि
करना; ज्ञान-श्रद्धानके सिद्ध होनेपर श्रद्धानके लिये प्रमाणादिकी कोई आवश्यकता नहीं है । किन्तु अब यह
दूसरी अवस्थामें प्रमाणादिके आलम्बनसे विशेष ज्ञान होता है और राग-द्वेष-मोहकर्मका सर्वथा

* मालिनी *

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
 क्वचिदपि च न विबो याति निक्षेपचक्रम् ।
 किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मि-
 न्नुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है; उससे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। केवलज्ञान होनेके पश्चात् प्रमाणादिका आलम्बन नहीं रहता। तत्पश्चात् तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है, वहाँ भी कोई आलम्बन नहीं है। इसप्रकार सिद्ध अवस्थामें प्रमाण-नय-निक्षेपका अभाव ही है।

इस अर्थका कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—आचार्य शुद्धनयका अनुभव करके कहते हैं कि—[अस्मिन् सर्वङ्क्षे धाम्नि अनुभवम् उपयाते] इन समस्त भेदोंको गौण करनेवाला जो शुद्धनयका विषयभूत चैतन्य-चमत्कारमात्र तेजःपुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव होनेपर [नयश्रीः न उदयति] नयोंकी लक्ष्मी उदित नहीं होती, [प्रमाणं अस्तम् एति] प्रमाण अस्त हो जाता है [अपि च] और [निक्षेपचक्रम् क्वचित् याति, न विबः] निक्षेपोंका समूह कहीं चला जाता है सो हम नहीं जानते। [किम अपरम् अभिदध्मः] इससे अधिक क्या करें ? [द्वैतम् एव न भाति] द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

भावार्थः—भेदको अत्यन्त गौण करके कहा है कि—प्रमाण, नयादि भेदकी तो बात ही क्या ? शुद्ध अनुभवके होनेपर द्वैत ही भासित नहीं होता, एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि—अन्तमें परमार्थरूप तो अद्वैतका ही अनुभव हुआ। यही हमारा मत है; इसमें आपने विशेष क्या कहा ? इसका उत्तर:—तुम्हारे मतमें सर्वथा अद्वैत माना जाता है। यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्य वस्तुका अभाव ही हो जाये, और ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे मतमें तयविवक्षा है जो कि बाह्यवस्तुका लोप नहीं करती। जब शुद्ध अनुभवसे विकल्प मिट जाता है तब आत्मा परमानन्दको प्राप्त होता है इसलिये अनुभव करानेके लिये यह कहा है कि—‘शुद्ध अनुभवमें द्वैत भासित नहीं होता।’ यदि बाह्य वस्तुका लोप किया जाये तो आत्माका भी लोप हो जायेगा और शून्यवादका प्रसङ्ग आयेगा। इसलिये जैसा तुम कहते हो उसप्रकारसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि नहीं हो सकती और वस्तुस्वरूपकी यथार्थ श्रद्धाके बिना जो शुद्ध अनुभव किया जाता है वह भी मिथ्यारूप है; शून्यका प्रसङ्ग होनेसे तुम्हारा अनुभव भी आकाश-कुसुमके अनुभवके समान है। ६।

आगे शुद्धनयका उदय होता है उसकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं:—

• उपजाति •

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।

विलीनसंकल्पविकल्पजालं

प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ॥१०॥

जो परसदि अप्पाणं, अबद्धपुट्टं अणणयं णियदं ।

अविसेसमसंयुक्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

यः परयति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम् ।

अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥१४॥

श्लोकार्थः— [शुद्धनयः आत्मस्वभावंप्रकाशयन् अभ्युदेति] शुद्धनय आत्मस्वभावको प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। वह आत्मस्वभावको [परभावभिन्नम्] परद्रव्य, परद्रव्यके भाव तथा परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने विभाव-ऐसे परभावोंसे भिन्न प्रगट करता है। और वह, [अप्पाणम्] आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूपसे पूर्ण है—समस्त लोकालोकका ज्ञाता है—ऐसा प्रगट करता है; (क्योंकि ज्ञानमें भेद कर्म संयोगसे हैं, शुद्धनयमें कर्म गौण हैं।) और वह, [आदि-ग्रन्त-विमुक्तम्] आत्मस्वभावको आदि ग्रन्तसे रहित प्रगट करता है (अर्थात् किसी आदिसे लेकर जो किसीसे उत्पन्न नहीं किया गया, और कभी भी किसीसे जिसका विनाश नहीं होता, ऐसे पारिणामिक भावको प्रगट करता है।) और वह, [एकम्] आत्मस्वभावको एक—सर्व भेदभावोंसे (द्वैतभावोंसे) रहित एकाकार—प्रगट करता है, और [विलीनसंकल्प-विकल्प-जालं] जिसमें समस्त संकल्प-विकल्पके समूह विलीन हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है। (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्योंमें अपनी कल्पना करना सो संकल्प है, और ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें भेद ज्ञात होना सो विकल्प है।) ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है। १०।

उस शुद्धनयको गाथासूत्रसे कहते हैं:—

गाथा १४

गाथार्थः— [यः] जो नय [आत्मानं] आत्माको [अबद्धस्पृष्टम्] बन्ध रहित और परके स्पर्शसे रहित, [अनन्यकं] अन्यत्व रहित, [नियतम्] चलाचलता रहित, [अविशेषम्] विशेष रहित, [असंयुक्तं] अन्यके संयोगसे रहित—ऐसे पाँच भावरूपसे [परयति] देखता है [तं] उसे, हे शिष्य ! तू [शुद्धनयं] शुद्धनय [विजानीहि] जान।

अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्मको ।

अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जानजो ॥१४॥

या खल्वद्वस्त्वस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः, सा त्वनुभूतिरात्मैव । इत्यात्मैक एव प्रद्योतते । कथं यथोदितस्यात्मनोऽनुभूतिरिति चेद्वद्वस्त्व-त्वादीनामभूतार्थत्वात् । तथा हि—यथा खलु विसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्व-पर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः सलिलास्पृश्यं विसिनीपत्रस्वभाव-मुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनोनादिवद्वस्य वद्वस्त्वपर्यायेणानुभूयमानतायां

टीका:—निश्चयसे अवद्व-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे आत्माकी अनुभूति शुद्धनय है, और वह अनुभूति आत्मा ही है; इसप्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है । (शुद्धनय, आत्माकी अनुभूति या आत्मा सब एक ही हैं, अलग नहीं ।) यहाँ शिष्य पूछता है कि जैसा ऊपर कहा है वैसे आत्माकी अनुभूति कैसे हो सकती है ? उसका समाधान यह है:—वद्वस्त्व आदि भाव अभूतार्थ हैं इसलिये यह अनुभूति हो सकती है । इस बातको दृष्टान्तसे प्रगट करते हैं—जैसे कमलिनी-पत्र जलमें डूबा हुआ हो तो उसका जलसे स्पर्शित होनेरूप अवस्थासे अनुभव करनेपर जलसे स्पर्शित होना भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जलसे किंचित् मात्र भी न स्पर्शित होने योग्य कमलिनी-पत्रके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर जलसे स्पर्शित होना अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार अनादि कालसे बंधे हुये आत्माका, पुद्गलकर्मोंसे बंधने-स्पर्शितहोनेरूप अवस्थासे अनुभव करने पर वद्वस्त्वप्रथा भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि पुद्गलसे किंचित् मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर वद्वस्त्वप्रथा अभूतार्थ है—असत्यार्थ है । तथा जैसे मिट्टीका, ढकन, घड़ा, भारी इत्यादि पर्यायोंसे अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अखलित (—सर्व पर्यायभेदोंसे किंचित् मात्र भी भेदरूप न होनेवाले ऐसे) एक मिट्टीके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर अन्यत्व अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्माका, नारक आदि पर्यायोंसे अनुभव करनेपर (पर्यायोंके अन्य-अन्यरूपसे) अन्यत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अखलित (सर्व पर्यायभेदोंसे किंचित् मात्र भेदरूप न होनेवाले) एक चैतन्याकार आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है—असत्यार्थ है ।

जैसे समुद्रका, वृद्धिहानिरूप अवस्थासे अनुभव करने पर अनियतता (अनिश्चितता) भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर समुद्रस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्माका, वृद्धिहानिरूप पर्यायभेदोंसे अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर- (निश्चल) आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है ।

जैसे सोनेका, चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदोंसे अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय होगये हैं ऐसे सुवर्णस्वभावके समीप जाकर

बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । यथा च मृत्तिकायाः करककरीरककरीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्य-
स्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानु-
भूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायाम-
भूतार्थम् । यथा च वारिधेवृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यव-
स्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूय-

अनुभव करनेपर विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्माका, ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदोंसे अनुभव करनेपर विशेषता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है ।

जैसे जलका, अग्नि जिसका निमित्त है ऐसी उष्णताके साथ संयुक्तारूप-तप्तारूप—अवस्थासे अनुभव करनेपर (जलका) उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि एकान्त शीतलतारूप जलस्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर (उष्णताके साथ) संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्माका, कर्म जिसका निमित्त है ऐसे मोहके साथ संयुक्तारूप अवस्थासे अनुभव करनेपर संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जो स्वयं एकान्त बोधवीजरूप स्वभाव है उसके (चैतन्यभावके) समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है ।

भावार्थः—आत्मा पाँच प्रकारसे अनेकरूप दिखाई देता है:—(१) अनादि कालसे कर्मपुद्गलके सम्बन्धसे बँधा हुआ कर्मपुद्गलके स्पर्शवाला दिखाई देता है, (२) कर्मके निमित्तसे होनेवाली नर, नारक आदि पर्यायोंमें भिन्न स्वरूपमें दिखाई देता है,—(३) शक्तिके अविभाग प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं, और बढ़ते भी हैं—यह वस्तु स्वभाव है इसलिये वह नित्य-नियत एकरूप दिखाई नहीं देता, (४) वह दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणोंसे विशेषरूप दिखाई देता है और (५) कर्मके निमित्तसे होनेवाले मोह, राग, द्वेष आदि परिणामोंकर सहित वह-सुखदुःखरूप दिखाई देता है । यह सब अशुद्ध-द्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनयका पिपय है । इस दृष्टि (अपेक्षा)से देखा जाये तो यह सब सत्यार्थ है । परन्तु आत्माका एक स्वभाव इस नयसे ग्रहण नहीं होता, और एक स्वभावको जाने बिना यथार्थ आत्माको कैसे जाना जा सकता है ? इसलिये दूसरे नयको—उसके प्रतिपक्षी शुद्ध द्रव्यार्थिकनयको—ग्रहण करके, एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्माका भाव लेकर, उसे शुद्धनयकी दृष्टिसे सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, सर्व पर्यायोंमें एकाकार, हानिवृद्धिसे रहित, विशेषोंसे रहित और नैमित्तिक भावोंसे रहित देखा जाये तो सर्व (पाँच) भावोंसे जो अनेकप्रकारता है वह अभूतार्थ है—असत्यार्थ है ।

यहाँ यह समझना चाहिये कि वस्तुका स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है, वह स्याद्वादसे यथार्थ सिद्ध होता है । आत्मा भी अनन्तधर्मावाला है ।—उसके कुछ धर्म तो स्वाभाविक हैं और कुछ पुद्गलके संयोगसे

मानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं कांचनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । यथा चापां सप्तार्चिःप्रत्ययोग्यसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः स्वयं बोधवीजस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ।

होते हैं। जो कर्मके संयोगसे होते हैं, उनसे आत्माकी सांसारिक प्रवृत्ति होती है और तत्सम्बन्धी जो सुखदुःखादि होते हैं उन्हें भोगता है। यह, इस आत्माकी अनादिकालीन अज्ञानसे पर्यायवृद्धि है; उसे अनादि-अनन्त एक आत्माका ज्ञान नहीं है। इसे बतानेवाला सर्वज्ञका आगम है। उसमें शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे यह बताया है कि आत्माका एक असाधारण चैतन्यभाव है जो कि अखण्ड, नित्य और अनादिनिघन है। उसे जाननेसे पर्यायवृद्धिका पक्षपात मिट जाता है। परद्रव्योंसे, उनके भावोंसे और उनके निमित्तसे होनेवाले अपने विभावोंसे अपने आत्माको भिन्न जानकर जीव उसका अनुभव करता है तब परद्रव्यके भावोंस्वरूप परिणामित नहीं होता; इसलिये कर्म बन्ध नहीं होता और ससारसे निवृत्ति हो जाती है। इसलिये पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनयको गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है और शुद्ध निश्चयनयको सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन दिया है। वस्तुस्वरूपकी प्राप्ति होनेके बाद उसका भी आलम्बन नहीं रहता। इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शुद्धनयको सत्यार्थ कहा है इसलिये अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा माननेसे वेदान्तमतवाले जो कि संसारको सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्त पक्ष आज्ञायेगा और उससे मिथ्यात्व आज्ञायेगा, इसप्रकार यह शुद्धनयका आलम्बन भी वेदान्तियोंकी भाँति मिथ्यादृष्टिपना लयेगा। इसलिये सर्वनयोंकी कथंचित् सत्यार्थताका श्रद्धान करनेसे सम्यक्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वादको समझकर जिनमतका सेवन करना चाहिये, मुख्य-गौण कथनको सुनकर सर्वथा एकान्त पक्ष नहीं पकड़ना चाहिये। इस गाथासूत्रका विवेचन करते हुए टीकाकार आचार्यने भी कहा है कि आत्मा व्यवहारनयकी दृष्टिमें जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखाई देता है वह इस दृष्टिसे तो सत्यार्थ ही है परन्तु शुद्धनयकी दृष्टिसे बद्धस्पृष्टादिता असत्यार्थ है। इस कथनमें टीकाकार आचार्यने स्याद्वाद बताया है ऐसा जानना।

यहाँ यह समझना चाहिए कि वह नय है यह श्रुतज्ञान-प्रमाणका अंश है; श्रुतज्ञान वस्तुको परोक्ष बतलाता है; इसलिए यह नय भी परोक्ष ही बतलाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका विषयभूत, बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावोंसे रहित आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र है। वह शक्ति तो आत्मामें परोक्ष है ही; और उसकी व्यक्तिकर्मसंयोगसे मतिश्रुतादि ज्ञानरूप है, वह कथंचित् अनुभवगोचर होनेसे प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है, और

* मालिनी *

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥११॥

सम्पूर्णज्ञान-केवलज्ञान यद्यपि छद्मस्थके प्रत्यक्ष नहीं है तथापि यह शुद्धनय आत्माके केवलज्ञानरूपको परोक्ष वतलाता है । जबतक जीव इस नयको नहीं जानता तबतक आत्माके पूर्णरूपका ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता । इसलिये श्रीगुरुने इस शुद्धनयको प्रगट करके उपदेश किया है कि बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावोंसे रहित पूर्णज्ञानघनस्वभाव आत्माको जानकर श्रद्धान करना चाहिये, पर्यायबुद्धि नहीं रहना चाहिये ।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि—ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देता और बिना देखे श्रद्धान करना असत् श्रद्धान है । उसका उत्तर यह है—देखे हुए का ही श्रद्धान करना तो नास्तिकमत है । जैनमतमें प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाण माने गये हैं, उनमेंसे आगमप्रमाण परोक्ष है; उसका भेद शुद्धनय है । इस शुद्धनयकी दृष्टिसे शुद्ध आत्माका श्रद्धान करना चाहिये, मात्र व्यवहार-प्रत्यक्षका ही एकान्त नहीं करना चाहिये ।

यहाँ, इस शुद्धनयको मुख्य करके कलशरूप काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[जगत् तम् एव सम्यक्स्वभावम् अनुभवतु] जगतके प्राणियो ! इस सम्यक् स्वभावका अनुभव करो कि [यत्र] जहाँ [अमी बद्धस्पृष्टभावादयः] यह बद्धस्पृष्टादिभाव [एत्य स्फुटम् उपरि तरन्तः अपि] स्पष्टतया उस स्वभावके ऊपर तरते हैं, तथापि वे [प्रतिष्ठाम् न हि विदधति] (उसमें) प्रतिष्ठा नहीं पाते, क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है एकरूप है और यह भाव अनित्य है अनेकरूप हैं; पर्यायें द्रव्यस्वभावमें प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही रहती हैं । [समंतात् द्योतमानं] यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओंमें प्रकाशमान है । [अपगतमोहीभूय] ऐसे शुद्ध स्वभावका, मोह रहित होकर जगत अनुभव करे; क्योंकि मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न मिथ्यात्वरूपी अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता ।

भावार्थः—यहाँ यह उपदेश है कि शुद्धनयके विपर्यय आत्माका अनुभव करो । ११ ।

अब, इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य पुनः कहते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है—

* शार्दूलविक्रीडित *

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निभिद्य वंधं सुधी-
 र्यंधंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहृत्य मोहं हठात् ।
 आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
 नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥

* वसन्ततिलका *

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या-
 ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्या ।
 आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
 मेकोऽस्ति नित्यमवधोधघनः समंतात् ॥१३॥

श्लोकार्थः—[यदि] यदि [कः अग्रि सुधीः] कोई सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि) [भूतं भातम्
 अभूतम् एव बन्धं] जीव भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालमें कर्मोंके बन्धको अपने आत्मासे
 [रभसात्] तत्काल—शीघ्र [निभिद्य] भिन्न करके तथा [मोहं] उस कर्मोदयके निमित्तसे
 होनेवाले मिय्यात्व (अज्ञान)को [हठात्] अपने बलसे (पुरुषार्थसे) [व्याहृत्य] रोककर अथवा
 नाश करके [अन्तः] अन्तरङ्गमें [किल ग्रहो कलयति] अभ्यास करे—देखे तो [अयम् आत्मा]
 यह आत्मा [आत्म-अनुभव-एक-गम्य-महिमा] अपने अनुभवसे ही जाननेयोग्य जिसकी प्रगट महिमा
 है ऐसा [व्यक्तः] व्यक्त (अनुभवगोचर), [ध्रुवं] निश्चल [शाश्वतः] शाश्वत, [नित्यं
 कर्म-कलङ्क-पङ्क-विकलः] नित्य कर्मकलङ्क-कर्मसे रहित [स्वयं देवः] स्वयं ऐसा स्तुति करने योग्य
 देव [आस्ते] विराजमान है ।

भावार्थः—शुद्धनयकी दृष्टिसे देखा जाये तो सर्व कर्मोंसे रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा
 अन्तरङ्गमें स्वयं विराजमान है । यह प्राणी—पर्यायबुद्धि बहिरात्मा—उसे बाहर ढूँढता है, यह महा
 अज्ञान है । १२ ।

अत्र, 'शुद्धनयके विषयभूत आत्माकी अनुभूति ही ज्ञानकी अनुभूति है' इसप्रकार आगेकी
 गायत्री सूचनाके अर्थरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[इति] इसप्रकार [या शुद्धनयात्मिका आत्म-अनुभूतिः] जो पूर्वकथित
 शुद्धनयस्वरूप आत्माकी अनुभूति है [इयम् एव किल ज्ञान-अनुभूतिः] वही वास्तवमें ज्ञानकी
 अनुभूति है, [इति बुद्ध्या] यह जानकर तथा [आत्मनि आत्मानम् सुनिष्प्रकम्पम् निवेश्य]
 आत्मामें आत्माको निश्चल स्थापित करके, [नित्यम् समन्तात् एकः अवबोध-घनः अस्ति] 'सदा सर्व
 ओर एक ज्ञानघन आत्मा है,' इसप्रकार देखना चाहिये ।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्टं अप्पणमविसेसं ।

❀ अपदेससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् ।

अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१५॥

येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोनुभूतिः सा खल्वखिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्, ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः । किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावितरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते । तथा हि—यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं

भावाद्यः—पहले सम्यग्दर्शनको प्रधान करके कहा था; अब ज्ञानको मुख्य करके कहते हैं कि शुद्धनयके विषयस्वरूप आत्माकी अनुभूति ही सम्यक्ज्ञान है । १३ ।

अब, इस अर्थरूप गाथा कहते हैं—

गाथा १५

गाथार्थः—[यः] जो पुरुष [आत्मानम्] आत्माको [अबद्धस्पृष्टम्] अबद्धस्पृष्ट, [अनन्यम्] अनन्य, [अविशेषम्] अविशेष (तथा उपलक्षणसे नियत और असंयुक्त) [पश्यति] देखता है वह [सर्वम् जिनशासनं] सर्व जिनशासनको [पश्यति] देखता है,—जो जिनशासन [अपदेशसांतमध्यं] बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है ।

टीकाः—जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्माकी अनुभूति है वह निश्चयसे समस्त जिनशासनकी अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है । इसलिये ज्ञानकी अनुभूति ही आत्माकी अनुभूति है । परन्तु अब वहाँ, सामान्यज्ञानके आविर्भाव (प्रगटपना) और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञानके तिरोभाव (आच्छादन)से जब ज्ञानमात्रका अनुभव किया जाता है तब ज्ञान प्रगट अनुभवमें आता है तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयोंमें आसक्त हैं उन्हें वह स्वादमें नहीं आता । यह प्रगट दृष्टान्तसे बतलते हैं : जैसे—अनेक प्रकारके शाकादि भोजनोंके सम्बन्धसे उत्पन्न सामान्य लवणके तिरोभाव और विशेष लवणके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला जो (सामान्यके तिरोभावरूप और शाकादिके स्वाद भेदसे भेदरूप—विशेषरूप) लवण है उसका स्वाद अज्ञानी, शाक लोलुप मनुष्योंको आता है किन्तु अन्यकी सम्बन्धरहिततासे उत्पन्न सामान्यके आविर्भाव और विशेषके

❀ पाठान्तरः अपदेससुत्तमज्झं । १ अपदेश—द्रव्यश्रुत; सांत—ज्ञानरूप; भावश्रुत ।

अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्माको,
जो द्रव्य और ज्ञान भाव, जिनशासन सकल देखे अहो ॥१५॥

लोकानामनुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भाव-
तिरोभावाभ्याम्, अथ च यदेव विशेषाविर्भावानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावनापि ।
तथा विचित्रज्ञेयाकारकरं वितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावनाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमनु-
द्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्,
अथ च यदेव विशेषाविर्भावानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावनापि । अलुब्धनुद्धानां
तु यथा सैधवखिल्योन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकलवणरस-
त्वाल्लवणत्वेन स्वदते, तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येक-
विज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते ।

तिरोभावसे अनुभवमें आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है उसका स्वाद नहीं आता; और परमार्थसे
देखा जाये तो, विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्यके आविर्भावसे
अनुभवमें आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण है । इसप्रकार—अनेकप्रकारके ज्ञेयोंके आकारोंके साथ
मिश्ररूपतासे उत्पन्न सामान्यके तिरोभाव और विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (विशेषभावरूप,
भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवोंके स्वादमें आता है किन्तु अन्य ज्ञेयाकारकी
संयोग रहिततासे उत्पन्न सामान्यके आविर्भाव और विशेषके तिरोभावसे अनुभवमें आनेवाला एकाकार
अभेदरूप ज्ञान स्वादमें नहीं आता, और परमार्थसे विचार किया जाये तो, जो ज्ञान विशेषके आविर्भावसे
अनुभवमें आता है वही ज्ञान सामान्यके आविर्भावसे अनुभवमें आता है । अलुब्ध ज्ञानियोंको तो, जैसे
सैधवकी डली, अन्यद्रव्यके संयोगका व्यवच्छेद करके केवल सैधवका ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः
एक क्षाररसत्वके कारण क्षाररूपसे स्वादमें आती है उसीप्रकार आत्मा भी, परद्रव्यके संयोगका व्यवच्छेद
करके केवल आत्माका ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक विज्ञानघनताके कारण ज्ञानरूपसे स्वादमें
आता है ।

भावार्थः—यहाँ आत्माकी अनुभूतिको ही ज्ञानकी अनुभूति कहा गया है । अज्ञानीजन ज्ञेयोंमें
ही—इन्द्रियज्ञानके विषयोंमें ही—लुब्ध हो रहे हैं; वे इन्द्रियज्ञानके विषयोंसे अनेकाकार हुये ज्ञानको ही
ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं परन्तु ज्ञेयोंसे भिन्न ज्ञानमात्रका आस्वादन नहीं करते । और जो ज्ञानी हैं,
ज्ञेयोंमें आसक्त नहीं हैं वे ज्ञेयोंसे भिन्न एकाकार ज्ञानका ही आस्वाद लेते हैं,—जैसे शाकोंसे भिन्न नमककी
डलीका क्षारमात्र स्वाद आता है, उसीप्रकार आस्वाद लेते हैं, क्योंकि जो ज्ञान है सो आत्मा है और जो
आत्मा है सो ज्ञान है । इसप्रकार गुण-गुणीकी अभेद दृष्टिमें आनेवाला सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, अपनी
पर्यायोंमें एकरूप निश्चल, अपने गुणोंमें एकरूप, परनिमित्तसे उत्पन्न हुए भावोंसे भिन्न अपने स्वरूपका
अनुभव, ज्ञानका अनुभव है; और यह अनुभवन भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासनका अनुभवन है । शुद्धनयसे
इसमें कोई भेद नहीं है ।

* पृथ्वी * ।

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्वाहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

* अनुष्टुभ् *

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

अब इसी अर्थका कलंशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—आचार्य कहते हैं कि [परमम् महः नः अस्तु] हमें वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश प्राप्त हो [यत् सकलकालम् चिद्-उच्छलन-निर्भरं] कि जो तेज सदाकाल चैतन्यके परिणमनसे परिपूर्ण है, [उल्लसत्-लवण-खिल्य-लीलायितम्] जैसे नमककी डली एक क्षार रसकी लीलाका आलम्बन करती है, उसीप्रकार जो तेज [एक-रसम् आलंबते] एक ज्ञानरसस्वरूपका आलम्बन करता है; [अखण्डितम्] जो तेज अखण्डित है—जो ज्ञेयोंके आकाररूप खण्डित नहीं होता, [अनाकुलं] जो अनाकुल है—जिसमें कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले रागादिसे उत्पन्न आकुलता नहीं है, [अनन्तम् अन्तः बहिः ज्वलत्] जो अविनाशीरूपसे अन्तरङ्गमें और बाहरमें प्रगट दैदीप्यमान है—जाननेमें आता है, [सहजम्] जो स्वभावसे हुआ है—जिसे किसीने नहीं रचा और [सदा उद्विलासं] सदा जिसका विलास उदयरूप है—जो एकरूप प्रतिभासमान है ।

भावार्थः—आचार्यदेवने प्रार्थना की है कि यह ज्ञानानन्दमय एकाकार स्वरूप-ज्योति हमें सदा प्राप्त रहो । १४ ।

अब, आगेकी गाथाका सूचनारूप श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[एषः ज्ञानघनः आत्मा] यह (पूर्वकथित) ज्ञानस्वरूप आत्मा, [सिद्धिम् अभीप्सुभिः] स्वरूपकी प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको [साध्यसाधकभावेन] साध्यसाधकभावके भेदसे [द्विधा] दो प्रकारसे, [एकः] एक ही [नित्यम् समुपास्यताम्] नित्य सेवन करने योग्य है; उसका सेवन करो ।

भावार्थः—आत्मा तो ज्ञानस्वरूप एक ही है परन्तु उसका पूर्णरूप साध्यभाव है और अपूर्णरूप साधकभाव है; ऐसे भावभेदसे दो प्रकारसे एकका ही सेवन करना चाहिये । १५ ।

अब, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव है यह इस गाथासे कहते हैं:—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदब्बाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिरिण वि अण्णाणं चैव णिच्छयदो ॥१६॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यम् ।
तानि पुनर्जानीहि श्रेष्ठ्यप्यात्मानं चैव निश्चयतः ॥१६॥

येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते । तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वंतराभावात् । यथा देवदत्तस्य कस्यचित् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वंतरम् । तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव न वस्त्वंतरम् । तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते । स किल—

गाथा १६

गाथार्थः—[साधुना] साधु पुरुषको [दर्शनज्ञानचारित्राणि]-दर्शन, ज्ञान और चारित्र [नित्यम्] सदा [सेवितव्यानि] सेवन करने योग्य हैं;-[पुनः] और [तानि त्रीणि अपि] उन तीनोंको [निश्चयतः] निश्चयनयसे [आत्मानं च एव] एक आत्मा ही [जानीहि] जानो ।

टीकाः—यह आत्मा जिस भावसे साध्य तथा साधन हो उस भावसे ही नित्य सेवन करने योग्य है, इसप्रकार स्वयं विचार करके दूसरोंको व्यवहारसे प्रतिपादन करते हैं कि 'साधु पुरुषको दर्शन ज्ञान चारित्र सदा सेवन करने योग्य है।' किन्तु परमार्थसे देखा जाये तो यह तीनों एक आत्मा ही हैं क्योंकि वे अन्य वस्तु नहीं—किन्तु आत्माकी ही पर्याय हैं । जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुषके ज्ञान, श्रद्धान और आचरण, देवदत्तके स्वभावका उल्लंघन न करनेसे (वे) देवदत्त ही हैं,—अन्यवस्तु नहीं, इसीप्रकार आत्मामें भी आत्माके ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्माके स्वभावका उल्लंघन न करनेसे आत्मा ही हैं—अन्य वस्तु नहीं । इसलिये यह स्वयमेव सिद्ध होता है कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है ।

भावार्थः—दर्शन, ज्ञान, चारित्र—तीनों आत्माकी ही पर्याय हैं, कोई भिन्न वस्तु नहीं हैं, इसलिये साधु पुरुषोंको एक आत्माका ही सेवन करना यह निश्चय है और व्यवहारसे दूसरोंको भी यही उपदेश करना चाहिये ।

अब, इसी अर्थका कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

दर्शनसहित नित ज्ञान अरु, चारित्र साधु सेवीये ।
पर ये तीनों आत्मा हि केवल, जान निश्चयदृष्टिमें ॥१६॥

* अनुष्टुम् *

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिरुक्तत्वादेकत्वतः स्वयम् ।

मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।

एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।

सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वाद्मेचकः ॥१८॥

श्लोकार्थः—[प्रमाणतः] प्रमाणदृष्टिसे देखा जाये तो [आत्मा] यह आत्मा [समम् मेचकः अमेचकः च अपि] एक ही साथ अनेक अवस्थारूप ('मेचक') भी है और एक अवस्थारूप ('अमेचक') भी है—[दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रिभिरुक्तत्वात्] क्योंकि इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे-तो त्रित्व (तीनपना) है और [स्वयम् एकत्वतः] अपनेसे अपनेको एकत्व है ।

भावार्थः—प्रमाणदृष्टिमें तीनकालस्वरूप वस्तु द्रव्यपर्यायरूप देखी जाती है, इसलिये आत्माको भी एक ही साथ एक-अनेकस्वरूप देखना चाहिये । १६ ।

अब, नयाविवेक्षां कहते हैं—

श्लोकार्थः—[एकः अपि] आत्मा एक है, तथापि [व्यवहारेण] व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तो [त्रिस्वभावत्वात्] तीन स्वभावरूपताके कारण [मेचकः] अनेकाकाररूप ('मेचक') है, [दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रिभिः परिणतत्वतः] क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावोंमें परिणमन करता है ।

भावार्थः—शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे आत्मा एक है; जब इस नयको प्रधान करके कहा जाता है तब पर्यायार्थिक नय गौण हो जाता है, इसलिये एकको तीनरूप परिणामित होता हुआ कहना सो व्यवहार हुआ, असत्यार्थ भी हुआ । इसप्रकार व्यवहारनयसे आत्माको दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणामोंके कारण 'मेचक' कहा है । १७ ।

अब, परमार्थनयसे कहते हैं—

श्लोकार्थः—[परमार्थेन तु] शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाये तो [व्यक्त-ज्ञातृत्व-ज्योतिषा] प्रगट ज्ञायकत्वज्योतिमानसे [एककः] आत्मा एकस्वरूप है [सर्व-भावांतर-ध्वंसि-स्वभावत्वात्] क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे सर्व अन्यद्रव्यके स्वभाव तथा अन्यके निमित्तसे होनेवाले विभावोंको दूर करनेरूप उसका स्वभाव है, इसलिये वह 'अमेचक' है—शुद्ध एकाकार है ।

भावार्थः—भेददृष्टिको गौण करके अभेददृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा एकाकार ही है, वही अमेचक है । १८ ।

* अनुष्टुम् *

आत्मनश्चित्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।

दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१९॥

जहः साय को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सहहदि ।

तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥

एवं हि जीवराया णादब्बो तह य सहहेदब्बो ।

अणुचरिदब्बो य पुणो सो वेद दु णीदस्सकामेण ॥१८॥

आत्माको प्रमाण-नयसे मेचक, अमेचक कहा है, उस चिन्ताको मिटाकर, जैसे साध्यकी सिद्धि हो वैसा करना चाहिये, यह आगेके श्लोकमें कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[आत्मनः] यह आत्मा [मेचक-अमेचकत्वयोः] मेचक है—भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है,—अभेदरूप एकाकार है [चिन्तया एव अलं] ऐसी चिन्तासे बस हो । [साध्यसिद्धिः] साध्य आत्माकी सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावोंसे ही होती है, [न च अन्यथा] अन्य प्रकारसे नहीं, (यह नियम है) ।

भावार्थः—आत्माके शुद्ध स्वभावकी साक्षात् प्राप्ति अथवा सर्वथा मोक्ष साध्य है । आत्मा मेचक है या अमेचक, ऐसे विचार ही मात्र करते रहनेसे साध्य सिद्ध नहीं होता; परन्तु दर्शन अर्थात् शुद्ध स्वभावका अवलोकन, ज्ञान अर्थात् शुद्ध स्वभावका प्रत्यक्ष जानना, और चारित्र अर्थात् शुद्धस्वभावमें स्थिरतासे ही साध्यकी सिद्धि होती है । यही मोक्षमार्ग है; अन्य नहीं ।

व्यवहारीजन पर्यायमें—भेदमें समझते हैं इसलिये यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्रके भेदसे समझाया है । १६ ।

अब, इसी प्रयोजनको दो गाथाओंमें दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

ज्यों पुरुष कोई नृपतिको भी, जानकर श्रद्धा करे ।

फिर यत्नसे धन अर्थ-वो, अनुचरण राजाका करे ॥१७॥

जीवराजको यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीतिसे ।

उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्नसे ॥१८॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्धधाति ।
 ततस्तमनुचरति पुनर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥१७॥
 एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः ।
 अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥१८॥

यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धात्चे ततस्तमेवानुचरति । तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः ततः स एव श्रद्धातव्यः ततः स एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम् । तत्र यदात्मनोऽनुभूयमानानेकभावसंकरेऽपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानुत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमवस्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लव-

गाथा १७-१८

गाथायः—[यथा नाम] जैसे [कः अपि] कोई [प्रार्थार्थिकः पुरुषः] धनका अर्थी पुरुष [राजानं] राजाको [ज्ञात्वा] जानकर [श्रद्धधाति] श्रद्धा करता है, [ततः पुनः] और फिर [तं प्रयत्नेन अनुचरति] उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है अर्थात् उसकी सुन्दर रीतिसे सेवा करता है, [एवं हि] इसीप्रकार [मोक्षकामेन] मोक्षके इच्छुकको [जीवराजः] जीवरूपी राजाको [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये, [पुनः च] और फिर [तथाऽएव] इसीप्रकार [श्रद्धातव्यः] उसका श्रद्धान करना चाहिये; [तु चः] और तत्पश्चात् [स एव अनुचरितव्यः] उसीका अनुचरण करना चाहिये अर्थात् अनुभवके द्वारा तन्मय हो जाना चाहिये ।

टोकाः— निश्चयसे जैसे कोई धनका अर्थी पुरुष बहुत उद्यमसे पहले तो राजाको जाने कि यह राजा है, फिर उसीका श्रद्धान करे कि 'यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करनेसे अवश्य धनकी प्राप्ति होगी' और फिर उसीका अनुचरण करे, सेवा करे, आज्ञासँ रहे, उसे प्रसन्न करे; इसीप्रकार मोक्षार्थी पुरुषको पहले तो आत्माको जानना चाहिये, और फिर उसीका श्रद्धान करना चाहिये कि 'यही आत्मा है, इसका आचरण करनेसे अवश्य कर्मोंसे छूटा जा सकेगा' और फिर उसीका अनुचरण करना चाहिये— अनुभवके द्वारा उसमें लीन होना चाहिये; क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अमेद शुद्धस्वरूप उसकी सिद्धिकी इसीप्रकार उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् इसीप्रकारसे साध्यकी सिद्धि होती है, अन्य प्रकारसे नहीं) ।

(इसी बातको विशेष समझाते हैं:—) जब आत्माको, अनुभवमें आनेपर अनेक पर्यायरूप भेदभावोंके साथ मिश्रितता होनेपर भी सर्व प्रकारसे भेदज्ञानमें प्रवीणतासे जो यह अनुभूति है सो हीं मैं हूँ; ऐसे आत्मज्ञानसे प्राप्त होता हुआ, इस आत्माको जैसा जाना है वैसा ही है इसप्रकारकी प्रतीति जिसका

मानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः । यदा त्वावांलंगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेऽपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिवंधवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमवस्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः ।

* मालिनी *

कथमपि समुपात्त्रित्वमप्येकताया

अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।

सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं

न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

लक्षण है ऐसा, श्रद्धान उदित होता है तब समस्त अन्यभावोंका भेद होनेसे निःशंक स्थिर होनेमें समर्थ होनेसे आत्माका आचरण उदय होता हुआ आत्माको साधता है । ऐसे साध्य आत्माकी सिद्धिकी इसप्रकार उपपत्ति है ।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान् आत्मा आवालगोपाल सबके अनुभवमें सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बन्धके वश पर (द्रव्यों)के साथ एकत्वके निश्चयसे मूढ़-अज्ञानी जनको 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभावसे, अज्ञातका श्रद्धान गधेके सींगके श्रद्धान समान है इसलिये, श्रद्धान भी उदित नहीं होता तब समस्त अन्यभावोंके भेदसे आत्मामें निःशंक स्थिर होनेकी असमर्थताके कारण आत्माका आचरण उदित न होनेसे आत्माको नहीं साध सकता । इसप्रकार साध्य आत्माकी सिद्धिकी अन्यथा अनुपपत्ति है ।

भावार्थः—साध्य आत्माकी सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे ही है, अन्य प्रकारसे नहीं । क्योंकि—पहले तो आत्माको जाने कि यह जो जाननेवाला अनुभवमें आता है सो मैं हूँ । इसके बाद उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है; क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा ? तत्पश्चात् समस्त अन्यभावोंसे भेद करके अपनेमें स्थिर हो ।—इसप्रकार सिद्धि होती है । किन्तु यदि जाने ही नहीं, तो श्रद्धान भी नहीं हो सकता; और ऐसी स्थितिमें स्थिरता कहाँ करेगा ? इसलिये यह निश्चय है कि अन्य प्रकारसे सिद्धि नहीं होती ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—आचार्य कहते हैं कि—[अनन्तचैतन्यचिह्नं] अनन्त (अविनश्वर) चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी [इदम् आत्मज्योतिः] इस आत्मज्योतिका [सततम् अनुभवामः] हम निरन्तर अनुभव करते हैं [यस्मात्] क्योंकि [अन्यथा साध्यसिद्धिः न खलु न खलु] उसके अनुभवके बिना अन्य प्रकारसे साध्य आत्माकी सिद्धि नहीं होती । वह आत्मज्योति ऐसी है कि [कथम् अपि समुपात्त-

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं नित्यमुपास्त एव, कुतस्तदुपास्यत्वेनानुशास्यत इति चेन्न यतो न खल्व्वात्मा ज्ञानतादात्म्येपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते, स्वयंबुद्धबोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः । तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वात् ? एवमेतत् ।

तर्हि कियंतं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयताम्—

कम्मे णोकम्ममिह य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।

जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥

त्रित्वम् अपि एकतायाः अप्रतितम्] जिसने किसी प्रकारसे त्रित्व अङ्गीकार किया है तथापि जो एकत्वसे च्युत नहीं हुई और [अक्षम् उद्गच्छत्] जो निर्मलतासे उदयको प्राप्त हो रही है ।

भावार्थः—आचार्य कहते हैं कि जिसे किसी प्रकार पर्यायदृष्टिसे त्रित्व प्राप्त है तथापि शुद्धद्रव्यदृष्टिसे जो एकत्वसे रहित नहीं हुई तथा जो अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल उदयको प्राप्त हो रही है ऐसी आत्मज्योतिका हम निरन्तर अनुभव करते हैं । यह कहनेका आशय यह भी जानना चाहिये कि जो सम्यक्दृष्टि पुरुष हैं वे, जैसा हम अनुभव करते हैं वैसा अनुभव करें । २० ।

टीकाः—अब, कोई तर्क करे कि आत्मा तो ज्ञानके साथ तादात्म्यस्वरूप है, अलग नहीं है, इसलिये वह ज्ञानका नित्य सेवन करता है; तब फिर उसे ज्ञानकी उपासना करनेकी शिक्षा क्यों दी जाती है ? उसका समाधान यह हैः—ऐसा नहीं है । यद्यपि आत्मा ज्ञानके साथ तादात्म्यस्वरूपसे है तथापि वह एक क्षणमात्र भी ज्ञानका सेवन नहीं करता; क्योंकि स्वयंबुद्धत्व (स्वयं स्वतः जानना) अथवा बोधित-बुद्धत्व (दूसरेके वतानेसे जानना)—इन कारणपूर्वक ज्ञानकी उत्पत्ति होती है । (या तो काललब्धि^१ आये तब स्वयं ही जान ले अथवा कोई उपदेश देनेवाला मिले तब जाने—जैसे सोया हुआ पुरुष या तो स्वयं ही जाग जाये अथवा कोई जगाये तब जागे ।) यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो जाननेके कारणसे पूर्व क्या आत्मा अज्ञानी ही है क्योंकि उसे सदा अप्रतिबुद्धत्व है ? उसका उत्तरः—ऐसा ही है, वह अज्ञानी ही है ।

अब यहाँ पुनः पूछते हैं कि—यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध रहता है वह कहो । उसके उत्तररूप गाथासूत्र कहते हैंः—

१. काललब्धिका अर्थ स्व-कालकी प्राप्ति है ।

नोकर्म कर्म जु “मै” अवरु, “मै” में कर्म नोकर्म है ।

यह बुद्धि जबतक जीवकी, अज्ञानी तबतक वो रहे ॥१९॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहं च कर्म नोकर्म ।

यावदेषा खलु बुद्धिप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥१९॥

यथा स्पर्शरसगंधवर्णादिभावेषु पृथुबुद्धोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधेषु घटोपमिति घटे च स्पर्शरसगंधवर्णादिभावाः पृथुबुद्धोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्रामी इति वस्त्वभेदेनानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वंतरंगेषु नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरंगेषु चात्मतिरस्कारिषु पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्म मोहादयोंतरंगा नोकर्म शरीरादयो बहिरंगाश्चात्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावतं कालमनुभूतिस्तावतं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः ।

गाथा १९

गाथार्थः—[यावत्] जबतक इस आत्माकी [कर्मणि] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म [च] और [नोकर्मणि] शरीरादि नोकर्ममें [अहं] 'यह मैं हूँ' [च] और [अहं कर्म नोकर्म] इति [मुझमें (आत्मामें)] 'यह कर्म-नोकर्म हूँ'—[एषा खलु बुद्धिः] ऐसी बुद्धि है, [तावत्] तबतक [अप्रतिबुद्धः] यह आत्मा अप्रतिबुद्ध [भवति] है ।

टीकाः—जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भावोंमें तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादिके आकार परिणत हुये पुद्गलके स्कन्धोंमें 'यह घट है' इसप्रकार, और घड़ेमें 'यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदिरूप परिणत पुद्गल-स्कन्ध हैं' इसप्रकार वस्तुके अभेदसे अनुभूति होती है, इसीप्रकार कर्म-मोह आदि अन्तरङ्ग परिणाम तथा नोकर्म-शरीरादि बाह्य वस्तुयें—सब पुद्गलके परिणाम हैं और आत्माके तिरस्कार करनेवाले हैं—उनमें 'यह मैं हूँ' इसप्रकार और आत्मामें 'अहं कर्म-मोह आदि अन्तरङ्ग तथा नोकर्म-शरीरादि बहिरङ्ग, आत्म-तिरस्कारी (आत्माके तिरस्कार करनेवाले) पुद्गल-परिणाम हैं' इसप्रकार वस्तुके अभेदसे जबतक अनुभूति है तबतक आत्मा अप्रतिबुद्ध है; और जब कभी, जैसे रूपी दर्पणकी स्वच्छता ही स्व-परके आकारका प्रतिभास करनेवाली है और उष्णता तथा ज्वाला अग्निकी है इसीप्रकार अरूपी आत्माकी तो अपनेको और परको जाननेवाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गलके हैं इसप्रकार स्वतः अथवा परोपदेशसे जिसका मूल भेदविज्ञान है ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा ।

भावाार्थः—जैसे स्पर्शादिमें पुद्गलका और पुद्गलमें स्पर्शादिका अनुभव होता है अर्थात् दोनों एकरूप अनुभवमें आते हैं, उसीप्रकार जबतक आत्माको, कर्म-नोकर्ममें आत्माकी और आत्मामें कर्म-नोकर्मकी भ्रान्ति होती है अर्थात् दोनों एकरूप भासित होते हैं, तबतक तो वह अप्रतिबुद्ध है; और जब वह यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म-नोकर्म पुद्गलके ही हैं तभी वह प्रतिबुद्ध होता है । जैसे दर्पणमें अग्निकी ज्वाला दिखाई देती है वहाँ यह ज्ञात होता है कि 'ज्वाला तो अग्निमें ही है, वह

यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव बह्वै रौष्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृत्वैव पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतः परतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरूपत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति ।

* मालिनी *

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-
मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥२१॥

ननु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत—

दर्पणमें प्रविष्ट नहीं है, और जो दर्पणमें दिखाई दे रही है वह दर्पणकी स्वच्छता ही है;” इसीप्रकार “कर्म-नोकर्म अपने आत्मामें प्रविष्ट नहीं हैं; आत्माकी ज्ञान-स्वच्छता ऐसी ही है कि जिसमें ज्ञेयका प्रतिबिम्ब दिखाई दे; इसीप्रकार कर्म-नोकर्म ज्ञेय हैं इसलिये वे प्रतिभासित होते हैं”—ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव आत्माको या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेशसे हो तभी वह प्रतिबुद्ध होता है ।

अब, इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

इत्योकार्यः—[ये] जो पुरुष [स्वतः वा अन्यतः वा] अपने ही अथवा परके उपदेशसे [कथम् अपि हि] किसी भी प्रकारसे [भेदविज्ञानमूलाम्] भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है ऐसी अपने आत्माकी [अचलितम्] अविचल [अनुभूतिम्] अनुभूतिको [लभन्ते] प्राप्त करते हैं, [ते एव] वे ही पुरुष [मुकुरवत्] दर्पणकी भाँति [प्रतिफलन-निमग्न-अनन्त-भाव-स्वभावः] अपनेमें प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावोंके स्वभावोंसे [सन्ततं] निरन्तर [अविकाराः] विकाररहित [स्युः] होते हैं,—ज्ञानमें जो ज्ञेयोंके आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे रागादि विकारको प्राप्त नहीं होते । २१ ।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि अप्रतिबुद्धको कैसे पहिचाना जा सकता है ? उसका चिह्न बताइये; उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सहि अत्थि मम एदं ।
 अणं जं परदव्वं सच्चित्ताच्चित्तमिस्सं वा ॥२०॥
 आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि ।
 होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥
 एयत्तु असंभूहं आदवियप्पं करोदि संभूढो ।
 भूदत्थं जायांतो ए करोदि दु तं असंभूढो ॥२२॥

अहमेतदेतदहं अहमेतस्यास्मि अस्ति ममैतत् ।
 अन्यद्यत्परद्रव्यं सच्चित्ताच्चित्तमिश्रं वा ॥२०॥
 आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वम् ।
 भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि ॥२१॥
 एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संभूढः ।
 भृतार्थं जानन्न करोति तु तमसंभूढः ॥२२॥

गाथा २०-२१-२२

गाथार्थः—[अन्यत् यत् परद्रव्यं] जो पुरुष अपनेसे अन्य जो परद्रव्य—[सच्चित्ताच्चित्तमिश्रं वा] सचित्त स्त्रीपुत्रादिक, अचित्त घनघान्यादिक अथवा मिश्र ग्रामनगरादिक हैं—उन्हें यह समझता है कि [अहं एतत्] मैं यह हूँ, [एतत् अहम्] यह द्रव्य मुझ-स्वरूप है, [अहम् एतस्य अस्मि] मैं इसका हूँ, [एतत् मम अस्ति] यह मेरा है, [एतत् मम पूर्वम् आसीत्] यह मेरा पहले था, [एतस्य अहम् अपि पूर्वम् आसम्] इसका मैं भी पहले था, [एतत् मम पुनः भविष्यति] यह मेरा भविष्यमें होगा, [अहम् अपि एतस्य भविष्यामि] मैं भी इसका भविष्यमें होऊँगा,—[एतत् तु असद्भूतम्] ऐसा भूठा [आत्मविकल्पं] आत्मविकल्प [करोति] करता है वह [संभूढः] भूढ है, मोही है, अज्ञानी

मैं ये अवरु ये मैं, मैं हूँ इनका अवरु ये हैं मेरे ।
 जो अन्य हैं पर द्रव्य मिश्र. सचित्त अगर अचित्त वे ॥२०॥
 मेरा ही यह था पूर्व में, मैं इसीका गतकालमें ।
 ये होयगा मेरा अवरु, मैं इसका हूँगा भानि में ॥२१॥
 अयर्थार्थ आत्मविकल्प ऐसा. भूदजीव हि आचरे ।
 भृतार्थ जाननहार ज्ञानी. ए विकल्प नहीं करे ॥२२॥

यथाग्निरिन्धनमस्तीन्धनमग्निरस्त्यग्नेरिन्धनमस्तीन्धनस्याग्निरस्ति, अग्नेरिन्धनं पूर्वमासीदिन्धनस्याग्निः पूर्वमासीत्, अग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यतीन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यतीतीन्धन एवासद्भूताग्निकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत, तथाहमेतदस्म्येतदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि, ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं, ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा । नाग्निरिन्धनमस्ति नेन्धनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तीन्धनमिन्धनमस्ति नाग्नेरिन्धनमस्ति नेन्धनस्याग्निरस्त्यग्नेरग्निरस्तीन्धनस्येन्धनमस्ति, नाग्नेरिन्धनं पूर्वमासीन्नेन्धनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिन्धनस्येन्धनं पूर्वमासीत्, नाग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यति नेन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतीन्धनस्येन्धनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नवेव सद्भूताग्निकल्पवन्नाहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहम-

है; [तु] और जो पुरुष [भूतार्थ] परमार्थ वस्तुस्वरूपको [जानन्] जानता हुआ [तम्] वैयास भूठा विकल्प [न करोति] नहीं करता वह [असंमूढः] मूढ़ नहीं, ज्ञानी है ।

टीका:—(दृष्टान्तसे समझाते हैं :) जैसे कोई पुरुष ईंधन और अग्निको मिला हुआ देखकर ऐसा भूठा विकल्प करे कि “जो अग्नि है सो ईंधन है और ईंधन है सो अग्नि है; अग्निका ईंधन है, ईंधनकी अग्नि है; अग्निका ईंधन पहले था, ईंधनकी अग्नि पहले थी; अग्निका ईंधन भविष्यमें होगा, ईंधनकी अग्नि भविष्यमें होगी;”—ऐसा ईंधनमें ही अग्निका विकल्प करता है वह भूठा है, उसमें अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) कोई पहिचाना जाता है, इसीप्रकार कोई आत्मा परद्रव्यमें असत्यार्थ आत्मविकल्प करे कि “मैं यह परद्रव्य हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप है; यह मेरा परद्रव्य है, इस परद्रव्यका मैं हूँ; मेरा यह पहले था, मैं इसका पहले था; मेरा यह भविष्यमें होगा, मैं इसका भविष्यमें होऊँगा;”—ऐसे भूठे विकल्पोंसे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहिचाना जाता है ।

और, “अग्नि है वह ईंधन नहीं है, ईंधन है वह अग्नि नहीं है,—अग्नि है वह अग्नि ही है, ईंधन है वह ईंधन ही है; अग्निका ईंधन नहीं, ईंधनकी अग्नि नहीं,—अग्निकी अग्नि है, ईंधनका ईंधन है; अग्निका ईंधन पहले नहीं था, ईंधनकी अग्नि पहले नहीं थी,—अग्निकी अग्नि पहले थी और ईंधनका ईंधन पहले था; अग्निका ईंधन भविष्यमें नहीं होगा, ईंधनकी अग्नि भविष्यमें नहीं होगी,—अग्निकी अग्नि ही भविष्यमें होगी, ईंधनका ईंधन ही भविष्यमें होगा;”—इसप्रकार जैसे किसीको अग्निमें ही सत्यार्थ अग्निका विकल्प हो सो प्रतिबुद्धका लक्षण है, इसीप्रकार “मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं है,—मैं तो मैं ही हूँ, परद्रव्य है वह परद्रव्य ही है; मेरा यह परद्रव्य नहीं, इस परद्रव्यका मैं नहीं,—मेरा ही मैं हूँ, परद्रव्यका परद्रव्य है; यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था, यह परद्रव्यका मैं पहले नहीं था,—मेरा मैं ही पहले था, परद्रव्यका परद्रव्य पहले था; यह परद्रव्य मेरा भविष्यमें नहीं होगा, इसका

स्म्येतदेतदस्ति न ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति, न ममैतत्पूर्वमासीन्नै-
तस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीत्, न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं
पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य
प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात् ।

* मालिनी *

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं

रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत ।

इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः

किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः क्रियते—

मैं भविष्यमें नहीं होऊँगा,—मैं अपना ही भविष्यमें होऊँगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य)
भविष्यमें होगा ।”—ऐसा जो स्वद्रव्यमें ही सत्यार्थ आत्मविकल्प होता है वही प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) का
लक्षण है, इसमें ज्ञानी पहिचाना जाता है ।

भावार्थः—जो परद्रव्यमें आत्माका विकल्प करता है वह तो अज्ञानी है और जो अपने आत्माको
ही अपना मानता है वह ज्ञानी है—यह अग्नि-ईधनके दृष्टान्तसे दृढ़ किया है ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[जगत्] जगत् अर्थात् जगत्के जीवो ! [आजन्मलीनं मोहम्] अनादि संसारसे
लेकर आज तक अनुभव किये गये मोहको [इदानीं त्यजतु] अब तो छोड़ो और [रसिकानां रोचनं]
रसिक जनको रुचिकर, [उद्यत ज्ञानम्] उद्यत हुआ जो ज्ञान उसको [रसयतु] आस्वादन करो;
क्योंकि [इह] इस लोकमें [आत्मा] आत्मा [किल] वास्तवमें [कथम् अपि] किसीप्रकार भी
[अनात्मना साकम्] अनात्मा (परद्रव्य) के साथ [क्व अपि काले] कदापि [तादात्म्यवृत्तिम्
कलयति न] तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा [एकः] एक है वह अन्य
द्रव्यके साथ एकतारूप नहीं होता ।

भावार्थः—आत्मा परद्रव्यके साथ किसीप्रकार किसी समय एकताके भावको प्राप्त नहीं होता ।
इसप्रकार आचार्यदेवने, अनादिकालसे परद्रव्यके प्रति लगा हुआ जो मोह है उसका भेदविज्ञान बताया है
और प्रेरणा की है कि इस एकत्वरूप मोहको अब छोड़ दो और ज्ञानका आस्वादन करो; मोह बुरा है,
भूटा है, दुःखका कारण है । २२ ।

अब अप्रतिबुद्धको समझानेके लिये प्रयत्न करते हैंः—

अज्ञानमोहितमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
 बद्धमवद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुत्तो ॥२३॥
 सव्वग्रहुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
 कह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥
 जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
 तो सत्तो वत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥२५॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम् ।
 बद्धमवद्धं च तथा जीवो बहुभात्रसंयुक्तः ॥२३॥
 सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम् ।
 कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्गणसि ममेदम् ॥२४॥
 यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् ।
 तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम् ॥२५॥

गाथा २३-२४-२५

गाथार्थः— [अज्ञानमोहितमतिः] जिसकी मति अज्ञानसे मोहित है [बहुभावसंयुक्तः] और जो मोह, राग, द्वेष आदि अनेक भावोंसे युक्त है ऐसा [जीवः] जीव [भणति] कहता है कि [इदं] यह [बद्धम् तथा च अवद्धं] शरीरादिक बद्ध तथा धनधान्यादिक अवद्ध [पुद्गलं द्रव्यम्] पुद्गल द्रव्य [मम] मेरा है। आचार्य कहते हैं कि— [सर्वज्ञज्ञानदृष्टः] सर्वज्ञके ज्ञान द्वारा देखा गया जो [नित्यम्] सदा [उपयोगलक्षणः] उपयोगलक्षणवाला [जीवः] जीव है [सः] वह [पुद्गलद्रव्यीभूतः] पुद्गलद्रव्यरूप [कथं] कैसे हो सकता है [यत्] जिसे कि [भणसि] तू कहता है कि [इदं मम] यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ? [यदि] यदि [सः] जीवद्रव्य [पुद्गलद्रव्यीभूतः]

अज्ञान मोहितबुद्धि जो, बहुभावसंयुत जीव है ।
 “ये बद्ध और अवद्ध, पुद्गलद्रव्य मेरा” वो कहै ॥२३॥
 सर्वज्ञज्ञानविषै सदा, उपयोगलक्षण जीव है ।
 वो कैसे पुद्गल हो सके जो, तू कहे मेरा अरे ! ॥२४॥
 जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्वको ।
 तू तब हि ऐसा कह सके, “है मेरा” पुद्गलद्रव्यको ॥२५॥

युगपदनेकविषय बंधनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोगवशा-
द्विचित्रोपाश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यंततिरोहितस्वभावभावतया अस्तामितसमस्तविवेक-
ज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्याणः
पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः । अथायमेव प्रतिबोध्यते—रे दुरात्मन्
'आत्मपंसन् जहीहि जहीहि परमाविवेकधरसत्तृणाभ्यवहारित्वम् । दूरनिरस्तसमस्तसंदेह-
विपर्यासानध्यवसायेन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं
तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं येन पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि, यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं
पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात् पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं

पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय और [इतरत्] पुद्गलद्रव्य [जीवत्वम्] जीवत्वको [आगतम्] प्राप्त करे
[तत्] तो [वक्तुं शक्तः] तू कह सकता है [यत्] कि [इदं पुद्गलं द्रव्यम्] यह पुद्गल द्रव्य
[मम] मेरा है । (किन्तु ऐसा तो नहीं होता ।)

टीका:—एक ही साथ अनेक प्रकारकी बन्धनकी उपाधिकी अति निकटतासे वेगपूर्वक बहते हुये
अस्वभावभावोंके संयोगवश जो (अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव) अनेक प्रकारके वर्णवाले ३आश्रयकी निकटतासे
रंगे-हुये स्फटिक-पाषाण जैसा है, अत्यन्त तिरोभूत (ढँके हुये) अपने स्वभावभावत्वसे जिसकी समस्त
भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गई है ऐसा है, और महा अज्ञानसे जिसका हृदय स्वयं स्वतः ही विमोहित
है—ऐसा अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी जीव स्वपरका भेद न करके, उन अस्वभावभावोंको ही (जो अपने स्वभाव
नहीं हैं ऐसे विभावोंको ही) अपना करता हुआ, पुद्गलद्रव्यको 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव करता
है । (जैसे स्फटिकपाषाणमें अनेक प्रकारके वर्णोंकी निकटतासे अनेकवर्णरूपता दिखाई देती है, स्फटिकका
निज श्वेत-निर्मलभाव दिखाई नहीं देता इसीप्रकार अज्ञानीको कर्मकी उपाधिसे आत्माका शुद्ध स्वभाव
आच्छादित हो रहा है—दिखाई नहीं देता इसलिये पुद्गलद्रव्यको अपना मानता है ।) ऐसे अज्ञानीको
अब समझाया जा रहा है कि:—रे दुरात्मन् ! आत्मघात करनेवाले ! जैसे परम अविवेकपूर्वक खानेवाले
हाथी आदि पशु सुन्दर आहारको चूण सहित खा जाते हैं उसीप्रकार खानेके स्वभावको तू छोड़, छोड़ ।
जिसने समस्त संदेह, विपर्यय, अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं और जो विश्वको (समस्त वस्तुओंको)
प्रकाशित करनेके लिये एक अद्वितीय ज्योति है, ऐसे सर्वज्ञज्ञानसे स्फुट (प्रगट) किये गये जो नित्य
उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे होगया कि जिससे तू यह अनुभव करता है कि 'यह
पुद्गलद्रव्य मेरा है' ? क्योंकि यदि किसी भी प्रकारसे जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो और पुद्गलद्रव्य
जीवद्रव्यरूप हो तभी 'नमकके पानी' इसप्रकारके अनुभवकी भाँति ऐसी अनुभूति वास्तवमें ठीक हो
सकती है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'; किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकारसे नहीं बनता ।

१. आत्मविनाशक । २. आश्रय = जिसमें स्फटिकमणि रखा हुआ हो वह वस्तु;

पुद्गलद्रव्यमित्यनुभूतिः किल घटेत, तत्तु न कथंचनापि स्यात् । तथा हि—यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनुभूयते, न तथा नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवत् नित्यानुपयोगलक्षणं-पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवत् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनुभूयते । तत्सर्वथा प्रसीद विवुध्यस्व स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव ।

* मालिनी *

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि ज्ञागिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

दृष्टान्त देकर इसी बातको स्पष्ट करते हैं:—जैसे खारापन जिसका लक्षण है ऐसा नमक पानीरूप होता हुआ दिखाई देता है और द्रवत्व (प्रवाहीपन) जिसका लक्षण है, ऐसा पानी नमकरूप होता दिखाई देता है, क्योंकि खारेपन और द्रवत्वका एक साथ रहनेमें अविरोध है, अर्थात् उसमें कोई बाधा नहीं आती, इसप्रकार नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य होता हुआ दिखाई नहीं देता और नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य होता हुआ देखनेमें नहीं आता क्योंकि प्रकाश और अन्धकारकी भाँति उपयोग और अनुपयोगका एक ही साथ रहनेमें विरोध है; जड़ और चेतन कभी भी एक नहीं हो सकते । इसलिये तू सर्व प्रकारसे प्रसन्न हो, (अपने चित्तको उज्ज्वल करके) सावधान हो, और स्वद्रव्यको ही 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव कर ।

भावार्थः—यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्यको अपना मानता है; उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतनद्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न भिन्न हैं, कभी भी किसी भी प्रकारसे एकरूप नहीं होते ऐसा सर्वज्ञ भगवानने देखा है; इसलिये हे अज्ञानी ! तू परद्रव्यको एकरूप मानना छोड़ दे; व्यर्थकी मान्यतासे बस कर ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः— [अयि] 'अयि' यह कोमल सम्बोधनका सूचक अव्यय है । आचार्यदेव कोमल संबोधनसे कहते हैं कि हे भाई ! तू [कथम् अपि] किसीप्रकार महा कष्टसे अथवा [मृत्वा] मरकर भी [तत्त्वकौतूहली सन्] तत्त्वोंका कौतूहली होकर [भवमूर्तेः मुहूर्तम् पार्श्ववर्ती] इस शरीरादि मूर्त द्रव्यका एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ीसी होकर [अनुभव] आत्मानुभव कर [अथ येन] कि जिससे [स्वं विलसन्तं] अपने आत्माके विलासरूप, [पृथक्] सर्व परद्रव्योंसे भिन्न [समालोक्य] देखकर

अथाहाप्रतिबुद्धः—

जदि जीवो ए शरीरं तित्थथरायरियसंधुदी चैव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण तु आदा हवदि देहो ॥२६॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव ।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥२६॥

यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा—

[सूर्या साकम्] इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यके साथ [एकत्वमोहम्] एकत्वके मोहको [भगिति त्यजसि] शीघ्र ही छोड़ देगा ।

भावार्थः—यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गलद्रव्यसे भिन्न अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषहके आनेपर भी डिगे नहीं, तो घातियाकर्मका नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके, मोक्षको प्राप्त हो । आत्मानुभवकी ऐसी महिमा है तब मिथ्यात्वका नाश करके सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति होना तो सुगम है; इसलिये श्रीगुरुने प्रधानतासे यही उपदेश दिया है । २३ ।

अब अप्रतिबुद्ध जीव कहता है उसकी गाथा कहते हैंः—

गाथा २६

गाथार्थः—अप्रतिबुद्ध जीव कहता है कि—[यदि] यदि [जीवः] जीव [शरीरं न] शरीर नहीं है तो [तीर्थकराचार्यसंस्तुतिः] तीर्थकरों और आचार्योंकी जो स्तुति की गई है वह [सर्वा अपि] सभी [मिथ्या भवति] मिथ्या है; [तेन तु] इसलिये हम (समझते हैं कि) [आत्मा] जो आत्मा है वह [देहः च एव] देह ही [भवति] है ।

टोकाः—जो आत्मा है वही पुद्गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर है । यदि ऐसा न हो तो तीर्थकरों और आचार्योंकी जो स्तुति की गई है वह सब मिथ्या सिद्ध होगी । वह स्तुति इसप्रकार हैः—

जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेशकी ।

मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीवदेहकी ! ॥२६॥

* शार्दूलविक्रीडित *

कांत्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं
वंधास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

इत्यादिका तीर्थकराचार्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात् । ततो य एवात्मा तदेव शरीरं
पुद्गलद्रव्यमिति ममैकांतिकी प्रतिपत्तिः ।

नैवं, नयविभागानभिज्ञोसि—

व्यवहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इको ।

ए तु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥२७॥

व्यवहारणयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ।

न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥२७॥

श्लोकार्थः—[ते तीर्थेश्वराः सूरयः वन्धाः] वे तीर्थकर और आचार्य वन्दनीय हैं। कैसे हैं वे ? [ये काम्ना एव दशदिशः स्नपयन्ति] अपने शरीरकी कांतिसे दसों दिशाओंको धोते हैं—निर्मल करते हैं, [ये धाम्ना उद्दाम-महस्विनां धाम निरुन्धन्ति] अपने तेजसे उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादिके तेजको ढक देते हैं, [ये रूपेण जनमनः मुष्णन्ति] अपने रूपसे लोगोंके मनको हर लेते हैं, [दिव्येन ध्वनिना श्रवणयोः साक्षात् सुखं अमृतं क्षरन्तः] दिव्यध्वनिसे (भव्योंके) कानोंमें साक्षात् सुखामृत बरसाते हैं और वे [अष्टसहस्रलक्षणधराः] एक हजार आठ लक्षणोंके धारक हैं । २४ ।

—इत्यादिरूपसे तीर्थकरों-आचार्योंकी जो स्तुति है वह सब ही मिथ्या सिद्ध होती है। इसलिये हमारा तो यही एकान्त निश्चय है कि जो आत्मा है वही शरीर है, पुद्गलद्रव्य है। इसप्रकार अप्रतिबुद्धने कहा ।

आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; तू नयविभागको नहीं जानता। जो नयविभाग इसप्रकार है उसे गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २७

गाथार्थः—[व्यवहारणयः] व्यवहारणय तो [भाषते] यह कहता है कि [जीवः देहः च] जीव और शरीर [एकः खलु] एक ही [भवति] है; [तु] किन्तु [निश्चयस्य] निश्चयनयके

जीव देह दोनों एक हैं, यह वचन है व्यवहार का ।

निश्चयविषै तो जीव देह, कदापि एक पदार्थ ना ॥२७॥

इह खलु परस्परवगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समवर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेक-
स्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैकैकत्वं न पुनर्निश्चयतः, निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोग-
स्वभावयोः कनककलधौतयौः पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः
नानात्वमेवेति । एवं हि किल नयविभागः । ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नम् ।

तथा हि—

इणमसण्णं जीवादो देहं पुद्गलमयं थुणित्तु सुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदितो मण केवली भयवं ॥२८॥

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः ।

मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ॥२८॥

अभिप्रायसे [जीवः देहः च] जीव और शरीर [कदा अपि] कभी भी [एकार्थः] एक पदार्थ
[न] नहीं हैं ।

टीका:—जैसे इस लोकमें सोने और चाँदीको गलाकर एक कर देनेसे एक पिण्डका व्यवहार
होता है उसीप्रकार आत्मा और शरीरकी परस्पर एक क्षेत्रमें रहनेकी अवस्था होनेसे एकपनेका
व्यवहार होता है । यों व्यवहारमात्रसे ही आत्मा और शरीरका एकपना है, परन्तु निश्चयसे एकपना नहीं
है; क्योंकि निश्चयसे देखा जाये तो, जैसे पोलापन आदि और सफेदी आदि जिसका स्वभाव है ऐसे सोने
और चाँदीमें अत्यन्त भिन्नता होनेसे उनमें एकपदार्थपनेकी असिद्धि है, इसलिये अनेकत्व ही है, इसीप्रकार
उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है ऐसे आत्मा और शरीरमें अत्यन्त भिन्नता होनेसे एकपदार्थपनेकी
असिद्धि है इसलिये अनेकत्व ही है । ऐसा यह प्रगट नयविभाग है । इसलिये व्यवहारनयसे ही शरीरके
स्तवनसे आत्माका स्तवन होता है ।

भावार्थः—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीरको एक कहता है और निश्चयनयसे भिन्न है ।
इसलिये व्यवहारनयसे शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन माना जाता है ।

यही बात इस गाथामें कहते हैं:—

गाथा २८

गाथार्थः—[जीवात् अन्यत्] जीवसे भिन्न [इदम् पुद्गलमयं देहं] इस पुद्गलमय देहकी
[स्तुत्वा] स्तुति करके [मुनिः] साधु [मन्यते खलु] ऐसा मानते हैं कि [मया] मैंने [केवली
भगवान्] केवली भगवानकी [स्तुतः] स्तुति की और [वंदितः] वन्दना की ।

जीवसे जुदा पुद्गलमयी, इस देहकी स्तवना करी ।

माने मुनी जो केवली, वंदन हुआ स्तवना हुई ॥२८॥

यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतस्त्वभावस्यापि कार्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरं कार्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः, तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतस्त्वभावस्यापि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनम् । निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव ।

तथा हि—

तं णिञ्चये ण जुज्जदि ण शरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणो थुण्णदि जो सो तच्चं केवलिं थुण्णदि ॥२६॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः ।

केवलिगुणान् स्तौति यः स तच्चं केवलिनं स्तौति ॥२९॥

टीका:—जैसे, परमार्थसे सफेदी सोनेका स्वभाव नहीं है, फिर भी चाँदीका जो श्वेत गुण है, उसके नामसे सोनेका नाम 'श्वेत स्वर्ण' कहा जाता है यह व्यवहारमात्रसे ही कहा जाता है; इसीप्रकार, परमार्थसे शुक्ल-रक्तता तीर्थङ्कर-केवलीपुरुषका स्वभाव न होने पर भी, शरीरके गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं, उसके स्तवनसे तीर्थकर-केवलीपुरुषका 'शुक्ल-रक्त तीर्थकरकेवलीपुरुष'के रूपमें स्तवन किया जाता है वह व्यवहारमात्रसे ही किया जाता है। किन्तु निश्चयनयसे शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन नहीं हो सकता ।

भावार्थ:—यहाँ कोई प्रश्न करे कि—व्यवहारनय तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है तब व्यवहाराश्रित जड़की स्तुतिका क्या फल है ? उसका उत्तर यह है:—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, उसे निश्चयको प्रधान करके असत्यार्थ कहा है। और छद्मस्थको अपना, परका आत्मा साक्षात् दिखाई नहीं देता, शरीर दिखाई देता है, उसकी शान्तरूप मुद्राको देखकर अपनेको भी शांत भाव होते हैं। ऐसा उपकार समझकर शरीरके आश्रयसे भी स्तुति करता है; तथा शांत मुद्राको देखकर अन्तरङ्गमें वीतराग भावका निश्चय होता है यह भी उपकार है ।

उपरकी बातको गाथामें कहते हैं:—

गाथा २९

गाथार्थ:—[तत्] वह स्तवन [णिञ्चये] निश्चयमें [न युज्यते] योग्य नहीं है [हि] क्योंकि [शरीरगुणाः] शरीरके गुण [केवलिनः] केवलीके [न भवंति] नहीं होते; [यः]

निश्चयविषै नहि योग्य ये, नहिं देह गुण केवलि हि के ।

जो केवली गुणको स्तवे, परमार्थ केवलि वो स्तवे ॥२९॥

यथा कार्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान् निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभावान् निश्चयतस्तत्स्त्वनेन स्तवनं तीर्थकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य स्तवनात् ।

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यते इति चेत्—

एषरश्मि वसिष्ठे जह ए दि रश्मौ वर्णना कदा होदि ।

देहगुणे ध्रुवंते ए केवलिगुणा ध्रुवा ह्येति ॥३०॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।

देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति ॥३०॥

तथा हि—

जो [केवलिगुणान्] केवलीके गुणोंकी [स्तौति] स्तुति करता है, [सः] वह [तत्त्वं] परमार्थसे [केवलिनं] केवलीकी [स्तौति] स्तुति करता है ।

टीकाः—जैसे चाँदीका गुण जो सफेदपना, उसका सुवर्णमें अभाव है इसलिये निश्चयसे सफेदीके नामसे सोनेका नाम नहीं बनता, सुवर्णके गुण जो पीलापन आदि हैं उनके नामसे ही सुवर्णका नाम होता है; इसीप्रकार शरीरके गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं उनका तीर्थङ्करकेवलीपुरुषमें अभाव है इसलिये निश्चयसे शरीरके शुक्ल-रक्तता आदि गुणोंका स्तवन करनेसे तीर्थङ्कर-केवलीपुरुषका स्तवन नहीं होता है, तीर्थङ्कर-केवलीपुरुषके गुणोंका स्तवन करनेसे ही तीर्थङ्कर-केवलीपुरुषका स्तवन होता है ।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा तो शरीरका अधिष्ठाता है इसलिये शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन निश्चयसे क्यों युक्त नहीं है ? उसके उत्तररूप दृष्टान्त सहित गाथा कहते हैंः—

गाथा ३०

गाथार्थः—[यथा] जैसे [नगरे] नगरका [वर्णिते अपि] वर्णन करने पर भी [राज्ञः वर्णना] राजाका वर्णन [न कृता भवति] नहीं किया जाता, इसीप्रकार [देहगुणे स्तूयमाने] शरीरके गुणका स्तवन करनेपर [केवलिगुणाः] केवलीके गुणोंका [स्तुताः न भवन्ति] स्तवन नहीं होता ।

टीकाः—उपरोक्त अर्थका काव्य कहते हैंः—

रे ग्राम वर्णन करनेसे, भूपाल वर्णन हो न उर्यो ।

त्यो देहगुणके स्तवनसे, नहीं केवलीगुण स्तवन हो ॥३०॥

(आर्या)

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।

पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

इति नगरे वर्णितेपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्दर्शनं न स्यात् । तथैव—

(आर्या)

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।

अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

इति शरीरे स्तूयमानेपि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेपि सुस्थितसर्वांगत्वलावण्यादि-
गुणाभावात्स्तवनं न स्यात् ।

अथ निश्चयस्तुतिमाह । तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत्—

श्लोकार्थः—[इदं नगरम् हि] यह नगर ऐसा है कि जिसने [प्राकार-कवलित-ग्रम्बरम्] कोटके द्वारा आकाशको ग्रसित कर रखा है (अर्थात् इसका कोट बहुत ऊँचा है), [उपवनराजी-निगीर्ण-भूमितलम्] बगीचोंकी पंक्तियोंसे जिसने भूमितलको निगल लिया है (अर्थात् चारों ओर बगीचोंसे पृथ्वी ढक गई है), और [परिखावलयेन पातालम् पिबति इव] कोटके चारों ओरकी खाईके धेरेसे मानों पातालको पी रहा है (अर्थात् खाई बहुत गहरी है) । २५ ।

इसप्रकार नगरका वर्णन करनेपर भी उससे राजाका वर्णन नहीं होता क्योंकि, यद्यपि राजा उसका अधिष्ठाता है तथापि, वह राजा कोट-बाग-खाई आदिवाला नहीं है ।

इसीप्रकार शरीरका स्तवन करनेपर तीर्थंकरका स्तवन नहीं होता यह भी श्लोक द्वारा कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[जिनेन्द्ररूपं परं जयति] जिनेन्द्रका रूप उत्कृष्टतया जयवन्त वर्तता है, [नित्यम्-प्रविकार-सुस्थित-सर्वांगम्] जिसमें सभी अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, [अपूर्व-सहज-लावण्यम्] जिसमें (जन्मसे ही) अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है (जो सर्वप्रिय है) और [समुद्रं इव अक्षोभम्] जो समुद्रकी भाँति क्षोभरहित है, चलाचल नहीं है । २६ ।

इसप्रकार शरीरका स्तवन करनेपर भी उससे तीर्थंकर-केवलीपुरुषका स्तवन नहीं होता क्योंकि, यद्यपि तीर्थंकर-केवलीपुरुषके शरीरका अधिष्ठात्रत्व है तथापि, सुस्थित सर्वांगता, लावण्य आदि आत्माके गुण नहीं हैं इसलिये तीर्थंकर-केवलीपुरुषके उन गुणोंका अभाव है ।

अब, (तीर्थंकर-केवलीकी) निश्चयस्तुति कहते हैं । उसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायकके संकरदोषका परिहार करके स्तुति करते हैंः—

जो इन्द्रिये जिणिता एणसहावाधिक्कं सुणदि आदं ।
तं खलु जित्तिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

य इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावधिकं जानात्यात्मानम् ।

तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिताः साधवः ॥३१॥

यः खलु निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यास-
कौशलोपलब्धांतःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभाववष्टंभवत्सेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि
प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खंडशः आकर्षति प्रतीयमानाखंडैकचिच्छक्तितया
भावेन्द्रियाणि ग्राह्यग्राहकलक्षणसंबंधप्रत्यासत्तियशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानि चिच्छक्तेः
स्वयमेवानुभूयमानासंगतया भावेन्द्रियावगुह्यमाणान् स्पर्शादीनिन्द्रियार्थारश्च सर्वथा स्वतः

गाथा ३१

गाथार्थः—[यः] जो [इन्द्रियाणि] इन्द्रियोंको [जित्वा] जीतकर [ज्ञानस्वभावाधिकं]
ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक [आत्मानम्] आत्माको [जानाति] जानते हैं [तं]
उन्हें, [ये निश्चिताः साधवः] जो निश्चयनयमें स्थित साधु हैं [ते] वे, [खलु] वास्तवमें
[जितेन्द्रियं] जितेन्द्रिय [भणंति] कहते हैं ।

टीकाः—(जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंको—तीनोंको अपनेसे
अलग करके समस्त अन्यद्रव्योंसे भिन्न अपने आत्माका अनुभव करते हैं वे मुनि निश्चयसे जितेन्द्रिय हैं ।)
अनादि अमर्यादरूप बंधपर्यायके वश जिसमें समस्त स्वपरका विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो
आत्माके साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता) ऐसी शरीरपरिणामको प्राप्त
द्रव्येन्द्रियोंको तो निर्मल भेदाभ्यासकी प्रवीणतासे प्राप्त अन्तरङ्गमें प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभावके
अवलम्बनके बलसे सर्वथा अपनेसे अलग किया; सो वह द्रव्येन्द्रियोंको जीतना हुआ । भिन्न २ अपने २
विषयोंमें व्यापारभावसे जो विषयोंको खण्डखण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञानको खंडखंडरूप बतलाती हैं) ऐसी
भावेन्द्रियोंको, प्रतीतिमें आती हुई अखंड एक चैतन्यशक्तिके द्वारा सर्वथा अपनेसे भिन्न जाना सो यह
भावेन्द्रियोंका जीतना हुआ । ग्राह्यग्राहकलक्षणवाले सम्बन्धकी निकटताके कारण जो अपने संवेदन
(अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं ऐसी, भावेन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये हुवे,
इन्द्रियोंके विषयभूत स्पर्शादि पदार्थोंको, अपनी चैतन्यशक्तिकी स्वयमेव अनुभवमें आनेवाली असंगताके

कर इन्द्रिय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्मको ।

निश्चयविषै स्थित साधुजन, भापै जितेन्द्रिय उन्हींको ॥३१॥

पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि
तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसता भगवता
ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यांतरेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो
जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः ।

अथ भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमद्विवियाणया विंति ॥३२॥

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।

तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विंदन्ति ॥३२॥

द्वारा सर्वथा अपनेसे अलग किया; सो यह इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंका जीतना हुआ । इसप्रकार जो
(मुनि) द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंको (तीनोंको) जीतकर ज्ञेयज्ञायक-
संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होनेसे एकत्वमें टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभावके द्वारा सर्व
अन्यद्रव्योंसे परमार्थसे भिन्न ऐसे अपने आत्माका अनुभव करते हैं वे निश्चयसे जितेन्द्रिय जिन हैं ।
(ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है इसलिये उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है ।)
कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? विश्वके (समस्त पदार्थोंके) ऊपर तिरता हुआ (उन्हें जानता हुआ भी अनुरूप
न होता हुआ), प्रत्यक्ष उद्योतपनेसे सदा अन्तरङ्गमें प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध और परमार्थरूप
—ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है ।

इसप्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई ।

(ज्ञेय तो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंका और ज्ञायकस्वरूप स्वयं
आत्माका—दोनोंका अनुभव, विषयोंकी आसक्तिसे, एकसा होता था; जब भेदज्ञानसे भिन्नत्व ज्ञात किया
तब वह ज्ञेयज्ञायक-संकरदोष दूर हुआ ऐसा यहाँ जानना ।)

अब, भाव्यभावक-संकरदोष दूर करके स्तुति कहते हैं:—

गाथा ३२

गाथायं:—[यः तु] जो मुनि [मोहं] मोहको [जित्वा] जीतकर [आत्मानम्] अपने
आत्माको [ज्ञानस्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यभावोंसे अधिक [जानाति] जानता है

कर मोहजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आत्मा ।

परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उन हि जितमोही कहा ॥३२॥

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव 'तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य' व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसंकरदोपत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभावभाविभ्यः सर्वेभ्यो भावांतरेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुतिः ।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादश पंचानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्वाच्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूहानि ।

[तं साधु] उस मुनिको [परमार्थविज्ञायकाः] परमार्थके जाननेवाला [जितमोहं] जितमोह [विदति] जानते हैं—कहते हैं ।

टीका:—मोहकर्म फल देनेकी सामर्थ्यसे प्रगट उदयरूप होकर भावकपनेसे प्रगट होता है तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्मा—भाव्य, उसको भेदज्ञानके बल द्वारा दूरसे ही अलग करनेसे इसप्रकार बलपूर्वक मोहका तिरस्कार करके, समस्त भाव्यभावक-संकरदोप दूर हो जानेसे एकत्वमें टंकोत्कीर्ण (निश्चल) और ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्योंके स्वभावोंसे होनेवाले सर्व अन्यभावोंसे परमार्थतः भिन्न अपने आत्माको जो (मुनि) अनुभव करते हैं वे निश्चयसे जितमोह (जिसने मोहको जीता है) जिन हैं । कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? समस्त लोकके ऊपर तिरता हुआ, प्रत्यक्ष उद्योतरूपसे सदा अन्तरङ्गमें प्रकाशमान, अचिनाशी, अपनेसे ही सिद्ध और परमार्थरूप ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है ।

इसप्रकार भाव्यभावक भावके संकरदोपको दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति है ।

इस गाथासूत्रमें एक मोहका ही नाम लिया है; उसमें 'मोह' पदको बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय रखकर ग्यारह सूत्र व्याख्यानरूप करना और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, तथा स्पर्शन—इन पाँचके सूत्रोंको इन्द्रियसूत्रके द्वारा अलग व्याख्यानरूप करना; इसप्रकार सोलह सूत्रोंको भिन्न भिन्न व्याख्यानरूप करना और इस उपदेशसे अन्य भी विचार लेना ।

भावार्थ:—भावक मोहके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे अपना आत्मा भाव्यरूप होता है उसे भेदज्ञानके बलसे भिन्न अनुभव करनेवाले जितमोह जिन हैं । यहाँ ऐसा आशय है कि श्रेणी चढ़ते हुए जिसे मोहका उदय अनुभवमें न रहे और जो अपने बलसे उपशमादि करके आत्मानुभव करता है उसे जितमोह कहा है । यहाँ मोहको जीता है; उसका नाश नहीं हुआ ।

१. तदनुकूलस्य । २. भेदबलेन ।

अथ भाव्यभावकभावाभावेन—

जितमोहस्य तु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया ह्नु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्चयविदूहिं ॥३३॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।

तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्धिः ॥३३॥

इह खलु पूर्वप्रकृतिन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्म-
संचैतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ट्रवावष्टंभात्तसंतानात्यंतविनाशेन
पुनरप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्ण
परमात्मानमवाप्तः क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुतिः । एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन
रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोर्कर्मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश
व्याख्येयानि । अनया दिशन्यान्यप्यूह्यानि ।

अब, भाव्यभावक भावके अभावसे निश्चयस्तुति बतलाते हैं:—

गाथा ३३

गाथार्थः—[जितमोहस्य तु साधोः] जिसने मोहको जीत लिया है ऐसे साधुके [यदा] जब
[क्षीणः मोहः] मोह क्षीण होकर सत्तामेंसे नष्ट [भवेत्] हो [तदा] तब [निश्चयविद्धिभिः]
निश्चयके जाननेवाले [खलु] निश्चयसे [सः] उस साधुको [क्षीणमोहः] 'क्षीणमोह' नामसे
[भण्यते] कहते हैं ।

टोकाः—इस निश्चयस्तुतिमें पूर्वोक्त विधानसे आत्मासे मोहका तिरस्कार करके, पूर्वोक्त
ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यसे अधिक आत्माका अनुभव करनेसे जो जितमोह हुआ है, उसे जब अपने
स्वभावभावकी भावनाका भलीभाँति अवलम्बन करनेसे मोहकी संततिका ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो
कि फिर उसका उदय न हो—इसप्रकार भावकरूप मोह क्षीण हो, तब (भावक मोहका क्षय होनेसे
आत्माके विभावरूप भाव्यभावका अभाव होता है, और इसप्रकार) भाव्यभावक भावका अभाव
होनेसे एकत्व होनेसे टंकोत्कीर्ण (निश्चल) परमात्माको प्राप्त हुआ वह 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है ।
यह तीसरी निश्चय स्तुति है ।

जित मोह साधु पुरुषका जब, मोह क्षय हो जाय है ।

परमार्थविज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उनको कहे ॥३३॥

* शार्दूलविक्रीडित *

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
 न्तुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तच्चत्वतः ।
 स्तोत्रं निश्चयतश्चित्तो भवति चित्तस्तुत्यैव सैवं भवे-
 त्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥२७॥

* मालिनी *

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
 नयविभजनयुक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायाम् ।

यहाँ भी पूर्व कथनानुसार 'मोह' पदको बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्श—इन पदोंको रखकर सोलह सूत्रोंका व्याख्यान करना और इसप्रकारके उपदेशसे अन्य भी विचार लेना ।

भावार्थः—साधु पहले अपने बलसे उपशम भावके द्वारा मोहको जीतकर, फिर जब अपनी महा सामर्थ्यसे मोहको सत्तामेंसे नष्ट करके ज्ञानस्वरूप परमात्माको प्राप्त होते हैं तब वे क्षीणमोह जिन कहलाते हैं ।

अब यहाँ इस निश्चय-व्यवहाररूप स्तुतिके अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[कायात्मनोः व्यवहारतः एकत्वं] शरीर और आत्माके व्यवहारनयसे एकत्व है [तु पुनः] किन्तु [निश्चयात् न] निश्चयनयसे नहीं है; [वपुषः स्तुत्या तुः स्तोत्रं व्यवहारतः अस्ति] इसलिये शरीरके स्तवनसे आत्मा-पुरुषका स्तवन व्यवहारनयसे हुआ कहलाता है, [तच्चत्वतः तत् न] निश्चयनयसे नहीं; [निश्चयतः] निश्चयसे तो [चित्तस्तुत्या एव] चैतन्यके स्तवनसे ही [चित्तः स्तोत्रं भवति] चैतन्यका स्तवन होता है । [सा एवं भवेत्] उस चैतन्यका स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह—इत्यादिरूपसे कहा वैसा है । [अतः तीर्थकरस्तवोत्तरबलात्] अज्ञानीने तीर्थकरके स्तवनका जो प्रश्न किया था उसका इसप्रकार नयविभागसे उत्तर दिया है; जिसके बलसे यह सिद्ध हुआ कि [आत्म-अङ्गयोः एकत्वं न] आत्मा और शरीरमें निश्चयसे एकत्व नहीं है । २७ ।

अब फिर, इस अर्थके जाननेसे भेदज्ञानकी सिद्धि होती है इस अर्थका सूचक काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[परिचित-तत्त्वः] जिन्होंने वस्तुके यथार्थ स्वरूपको परिचयरूप किया है ऐसे मुनियोंने [आत्म-काय-एकतायां] जब आत्मा और शरीरके एकत्वको [इति नय-विभजन-युक्त्या] इसप्रकार नयविभागकी युक्तिके द्वारा [अत्यन्तम् उच्छादितायाम्] जड़मूलसे उखाड़ फेंका है—उसका अत्यन्त निषेध किया है, तब अपने [स्व-रस-रभस-कृष्टः प्रस्फुटन् एकः एव] निजरसके

अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य

स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः ।

एवमयमनादिमोहसंताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यंतमप्रतिबुद्धोपि प्रसभोज्ज्व-
म्भिततत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटल्लसितिप्रतिबुद्धः साक्षात् द्रष्टारं स्वं
स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं
किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्यः—

सव्वे भावे जम्हा पञ्चक्खाई परे त्ति णादूणं ।

तम्हा पञ्चक्खाणं णाणं णियमा मुण्येयव्वं ॥३४॥

वेगसे आकृष्ट हुए प्रगट होनेवाले एक स्वरूप होकर [कस्य] किस पुरुषको वह [बोधः] ज्ञान
[अद्य एव] तत्काल ही [बोधं] यथार्थपनेको [न अवतरति] प्राप्त न होगा ? अवश्य ही होगा ।

भावार्थः—निश्चय-व्यवहारनयके विभागसे आत्मा और परका अत्यन्त भेद बताया है; उसे
जानकर, ऐसा कौन पुरुष है जिसे भेदज्ञान न हो ? होता ही है; क्योंकि जब ज्ञान अपने स्वरूपसे स्वयं
अपने स्वरूपको जानता है, तब अवश्य ही वह ज्ञान अपने आत्माको परसे भिन्न ही बतलाता है । कोई
दीर्घ संसारी ही हो तो उसकी यहाँ कोई बात नहीं है । २८ ।

इसप्रकार, अप्रतिबुद्धने जो यह कहा था कि—“हमारा तो यह निश्चय है कि शरीर ही आत्मा
है” उसका निराकरण किया ।

इसप्रकार यह अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोहके संतानसे निरूपित आत्मा और शरीरके
एकत्वके संस्कारसे अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था वह अब तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योतिके प्रगट उदय होनेसे नेत्रके
विकारकी भाँति (जैसे किसी पुरुषकी आँखोंमें विकार था तब उसे वर्णादिक अन्यथा दीखते थे और जब
नेत्र विकार दूर हो गया तब वे ज्योंके त्यों-यथार्थ दिखाई देने लगे, इसीप्रकार) पटल समान आवरण-
कर्मोंके भलीभाँति उघड़ जानेसे प्रतिबुद्ध हो गया और साक्षात् द्रष्टा आपको अपनेसे ही जानकर तथा
श्रद्धान करके उसीका आचरण करनेका इच्छुक होता हुआ पूछता है कि ‘इस आत्मारामको अन्य द्रव्योंका
प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है ?’ उसको आचार्य इसप्रकार कहते हैं किः—

सव भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावोंका करे ।

इससे नियमसे जानना कि, ज्ञान प्रत्याख्यान है ॥३४॥

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा ।

तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यम् ॥३४॥

यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातद्रव्यं स्वस्वभाव-
भावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे, ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न
पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेऽपि
परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ।

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टान्त इत्यत आह—

गाथा ३४

गाथार्थः—[यस्मात्] जिसे [सर्वान् भावान्] अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थोंको [परान्]
पर हैं [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [प्रत्याख्याति] प्रत्याख्यान करता है—त्याग करता है,
[तस्मात्] उससे, [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [ज्ञानं] ज्ञान ही है [नियमात्] ऐसा नियमसे
[ज्ञातव्यम्] जानना । अपने ज्ञानमें त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं ।

टीकाः—यह भगवान् ज्ञाता-द्रव्य (आत्मा) है वह अन्य द्रव्यके स्वभावसे होनेवाले अन्य
समस्त परभावोंको, उनके अपने स्वभावभावसे व्याप्त न होनेसे पररूप जानकर, त्याग देता है; इसलिये जो
पहले जानता है वही बादमें त्याग करता है, अन्य तो कोई त्याग करनेवाला नहीं है—इसप्रकार आत्मामें
निश्चय करके, प्रत्याख्यानके (त्यागके) समय प्रत्याख्यान करनेयोग्य परभावकी उपाधिमात्रसे प्रवर्तमान
त्यागके कर्तृत्वका नाम (आत्माको) होने पर भी, परमार्थसे देखा जाये तो परभावके त्याग-कर्तृत्वका
नाम अपनेको नहीं है, स्वयं तो इस नामसे रहित है क्योंकि ज्ञानस्वभावसे स्वयं छूटा नहीं है, इसलिये
प्रत्याख्यान ज्ञान ही है—ऐसा अनुभव करना चाहिये ।

भावार्थः—आत्माको परभावके त्यागका कर्तृत्व है वह नाममात्र है । वह स्वयं तो ज्ञानस्वभाव
है । परद्रव्यको पर जानता, और फिर परभावका ग्रहण न करना वही त्याग है । इसप्रकार, स्थिर हुआ
ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञानके अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नहीं है ।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि ज्ञाताका प्रत्याख्यान, ज्ञान ही कहा है, तो उसका दृष्टान्त क्या है ?
उत्तरमें दृष्टान्त-दाष्टीरूप गाथा कहते हैं—

जह एाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिटुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे एाऊण विमुञ्चदे एाणी ॥३५॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति ।

तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुञ्चति ज्ञानी ॥३५॥

यथा हि 'कश्चित्पुरुषः संभ्रांत्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्नयेन तदंचलमालंब्य बलात्सनीक्रियमाणो मञ्जु प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुञ्चति तचीवरमचिरात्, तथा ज्ञातापि संभ्रांत्या परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मञ्जु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुञ्चति सर्वान्परभावानचिरात् ।

गाथा ३५

गाथार्थः—[यथा नाम] जैसे लोकमें [कः अपि पुरुषः] कोई पुरुष [परद्रव्यम् इदम् इति ज्ञात्वा] परवस्तुको 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तो ऐसा जानकर [त्यजति] परवस्तुका त्याग करता है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी पुरुष [सर्वान्] समस्त [परभावान्] परद्रव्योंके भावोंको [ज्ञात्वा] 'यह परभाव हैं' ऐसा जानकर [विमुञ्चति] उनको छोड़ देता है ।

टीकाः—जैसे कोई पुरुष धोबीके घरसे भ्रमवश दूसरेका वस्त्र लाकर, उसे अपना समझकर ओढ़कर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी (—यह वस्त्र दूसरेका है ऐसे ज्ञानसे रहित) हो रहा है; (किन्तु) जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्रका छोर (पछा) पकड़कर खींचता है और उसे नग्न कर कहता है कि—'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदलेमें आगया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे,' तब वारम्बार कहे गये इस वाक्यको सुनता हुआ वह, (उस वस्त्रके) सर्व चिह्नोंसे भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह वस्त्र दूसरेका ही है' ऐसा जानकर, ज्ञानी होता हुआ, उस (दूसरेके) वस्त्रको शीघ्र ही त्याग देता है । इसीप्रकार—ज्ञाता भी भ्रम वश परद्रव्यके भावोंको ग्रहण करके, उन्हें अपना जानकर, अपनेमें

१ कोऽपि इत्यपि ग. पुस्तके पाठः । २ सुप्यमानः । ३ ददिति ।

ये और का है जानकर, परद्रव्यको को नर तजे ।

त्योँ और के हैं जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे ॥३५॥

* मालिनी *

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगा-
 दनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः ।
 झटिति सकलभावैरन्यदीर्यैर्विमुक्ता
 स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९॥

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेकप्रकारमाह—

एत्थि मम को वि योहो बुज्झदि उवञ्चोग एव अहमिच्छो ।
 तं योहण्णम्मपत्तं समयस्स वियाणया विति ॥३६॥

एकरूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है; जब श्री गुरु परभावका विवेक (भेदज्ञान) करके उसे एक आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तवमें एक (ज्ञानमात्र) ही है, (अन्य सर्व परद्रव्यके भाव हैं),' तब चारम्बार कहे गये इस आगमके वाक्यको सुनता हुआ वह, समस्त (स्व-परके) चिह्नोंसे भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह परभाव ही है, (मैं एक ज्ञानमात्र ही हूँ)' यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावोंको तत्काल छोड़ देता है।

भावार्थः—जबतक परवस्तुको भूलसे अपनी समझता है तभीतक ममत्व रहता है; और जब यथार्थ ज्ञान होनेसे परवस्तुको दूसरेकी जानता है तब दूसरेकी वस्तुमें ममत्व कैसे रहेगा ? अर्थात् नहीं रहे यह प्रसिद्ध है।

अब इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[अवर-भाव-त्याग-दृष्टान्त-दृष्टिः] यह परभावके त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि, [अनवम् अत्यन्त-वेगात् यावद् वृत्तिम् न अवतरति] पुरानी न हो इसप्रकार अत्यन्त वेगसे जबतक प्रवृत्तिको प्राप्त न हो, [तावद्] उससे पूर्व ही [झटिति] तत्काल [सकल-भावैः अन्यदीर्यैः विमुक्ता] सकल अन्यभावोंसे रहित [स्वयम् इयम् अनुभूतिः] स्वयं ही यह अनुभूति तो, [आविर्बभूव] प्रगट हो जाती है।

भावार्थः—यह परभावके त्यागका दृष्टान्त कहा उस पर दृष्टि पड़े उससे पूर्व, समस्त अन्य भावोंसे रहित अपने स्वरूपका अनुभव तो तत्काल हो गया; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वस्तुको परकी जान लेनेके वाद ममत्व नहीं रहता। २६।

अब, 'इस अनुभूतिसे परभावका भेदज्ञान कैसे हुआ ?' ऐसी आशंका करके, पहले तो जो भावकभाव—मोहकर्मके उदयरूप भाव, उसके भेदज्ञानका प्रकार कहते हैं:—

उच्च मोह वो मेरा नहीं, उदयोम कैवल एकः मैं ।

इस ज्ञानको ज्ञायक समयके, मोहनिर्ममता कहे ॥३६॥

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।

तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका विदन्ति ॥३६॥

इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमान-
पटंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमशक्यत्वात्कतमोपि न नाम
मम मोहोस्ति । किं चैतत्स्वयमेव च विश्वप्रकाशचंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण
स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणाव-
गाहस्य निवारयितुमशक्यत्वान्मञ्जितावस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमान-
स्वादभेदतया मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् ।
इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः ।

गाथा ३६

* गाथार्थः—[बुध्यते] जो यह जाने कि [मोहः मम कः अपि नास्ति] 'मोह मेरा कोई
भी (सम्बन्धी) नहीं है, [एकः उपयोगः एव अहम्] एक उपयोग ही मैं हूँ—[तं] ऐसे जाननेको
[समयस्य] सिद्धान्तके अथवा स्वपर स्वरूपके [विज्ञायकाः] जाननेवाले [मोहनिर्ममत्वं] मोहसे
निर्ममत्व [विदन्ति] जानते हैं, कहते हैं ।

टीकाः—निश्चयसे, (यह मेरे अनुभवमें) फलदानकी सामर्थ्यसे प्रगट होकर भावकरूप
होनेवाले पुद्गलद्रव्यसे रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावभावका
परमार्थसे परके भाव द्वारा 'भाना अशक्य है । और यहाँ स्वयमेव, विश्वको (समस्त वस्तुओंको)
प्रकाशित करनेमें चतुर और विकासरूप ऐसी, निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है; ऐसा चैतन्यशक्तिमात्र
स्वभावभावके द्वारा, भगवान् आत्मा ही जानता है कि—परमार्थसे मैं एक हूँ इसलिये, यद्यपि समस्त
द्रव्योंके परस्पर साधारण अवगाहका (—एकद्वेत्रावगाहका) निवारण करना अशक्य होनेसे मेरा आत्मा
और जड़, श्रीखंडकी भाँति, एकमेक हो रहे हैं तथापि, श्रीखंडकी भाँति, स्पष्ट अनुभवमें आनेवाले स्वादके
भेदके कारण, मैं मोहके प्रति निर्मम ही हूँ; क्योंकि सदा अपने एकत्वमें प्राप्त होनेसे समय (आत्मपदार्थ
अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्योंका त्यों ही स्थित रहता है । (दही और शक्कर मिलानेसे श्रीखंड बनता है उसमें
दही और शक्कर एक जैसे मालूम होते हैं तथापि प्रगटरूप खट्टे—मीठे स्वादके भेदसे भिन्न भिन्न जाने जाते
हैं; इसीप्रकार द्रव्योंके लक्षण भेदसे जड़—चेतनके भिन्न २ स्वादके कारण ज्ञात होता है कि मोहकर्मके

* इस गाथाका दूसरा अर्थ यह भी है किः—'किंचित्मात्र मोह मेरा नहीं है, मैं एक हूँ' ऐसा उपयोग ही
(—आत्मा ही) जाने, उस उपयोगको (—आत्माको) समयके जाननेवाले मोहके प्रति निर्मल (ममता रहित) कहते हैं ।

१ भाना = भावरूप करना; बनाना ।

‘सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोर्कर्ममनोवचनकायश्रोत्र-
चक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनस्रग्नाणि षोडस व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह—

उदयका स्वाद रागादिक है वह चैतन्यके निजस्वभावके स्वादसे भिन्न ही है ।) इसप्रकार भावकभाव जो मोहका उदय उससे भेदज्ञान हुआ ।

भावार्थः—यह मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है, उसका उदय कलुप (मलिन) भावरूप है; वह भाव भी, मोहकर्मका भाव होनेसे, पुद्गलका ही विकार है । यह भावकका भाव जब चैतन्यके उपयोगके अनुभवमें आता है तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है । जब उसका भेदज्ञान हो कि ‘चैतन्यकी शक्तिकी व्यक्ति तो ज्ञानदर्शनोपयोगमात्र है और यह कलुपता रागद्वेषमोहरूप है वह द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्गलद्रव्यकी है,’ तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोहके भाव उससे अवश्य भेदभाव होता है और आत्मा अवश्य अपने चैतन्यके अनुभवरूप स्थित होता है ।

अब इस अर्थका द्योतक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[इह] इस लोकमें [अहं] मैं [स्वयं] स्वतः ही [एकं स्वं] अपने एक
आत्मस्वरूपका [चेतये] अनुभव करता हूँ, [सर्वतः स्व-रस-निर्भर-भावं] जो स्वरूप सर्वतः
अपने निजरसरूप चैतन्यके परिणामनसे पूर्ण भरे हुए भाववाला है; इसलिये यह [मोहः] मोह
[मम] मेरा [कश्चन नास्ति नास्ति] कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कोई भी
सम्बन्ध नहीं है । [शुद्ध-चिद्घन-महः-निधिः अस्मि] मैं तो शुद्ध चैतन्यके समूहरूप तेजःपुंजका
निधि हूँ । (भावभावकके भेदसे ऐसा अनुभव करे ।) । ३० ।

इसीप्रकार गाथामें जो ‘मोह’ पद है उसे बदलकर, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म,
शोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन—इन सोलह पदोंके भिन्न २ सोलह गाथासूत्र
व्याख्यान करना, और इसी उपदेशसे अन्य भी विचार लेना ।

अब ज्ञेयभावके भेदज्ञानका प्रकार कहते हैं:—

१ असंख्येष्वपि प्रदेक्षेपु स्वरसेन ज्ञानेन निर्भरः सम्पूर्णा भावः स्वरूपं यस्य ।

एत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवञ्चोग एव अहमिको ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥३७॥

नास्ति मम धर्मादिर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।

तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका विंदति ॥३७॥

अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविज्ञृम्भितानिवारितप्रसरविश्वघस्मर-
प्रचंडचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यंतमर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्व-
भावत्वेन तत्त्वतोऽन्तस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न
नाम मम सन्ति । किं चैतत्स्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं कलयन्
भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसंश्रुलनेऽपि
परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि प्रति निर्ममत्वोस्मि,
सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् । इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः ।

गाथा ३७

* गाथार्थः—[बुध्यते] यह जाने कि [धर्मादिः] 'यह धर्म आदि द्रव्य [मम नास्ति]
मेरे कुछ भी नहीं लगते, [एकः उपयोगः एव] एक उपयोग ही [अहम्] मैं हूँ—[तं] ऐसा
जाननेको [समयस्य विज्ञायकाः] सिद्धान्तके अथवा स्वपरके स्वरूपरूप समयके जाननेवाले
[धर्मनिर्ममत्वं] धर्मद्रव्यके प्रति निर्ममत्व [विंदति] जानते हैं—कहते हैं ।

टीकाः—अपने निजरससे जो प्रगट हुई है, जिसका विस्तार अनिवार है तथा समस्त पदार्थोंको
प्रसित करनेका जिसका स्वभाव है ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्तिके द्वारा ग्रासीभूत किये जानेसे, मानों
अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों—ज्ञानमें तदाकार होकर डूब रहे हों इसप्रकार आत्मामें प्रकाशमान यह धर्म,
अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव—ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं; क्योंकि
टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्वसे परमार्थतः अन्तरङ्गतत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभावसे भिन्न
स्वभाववाले होनेसे परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपताको छोड़नेके लिये असमर्थ हैं (क्योंकि वे अपने स्वभावका
अभाव करके ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं होते) । और यहाँ स्वयमेव, (चैतन्यमें) नित्य उपयुक्त और परमार्थसे

* इस गाथाका अर्थ ऐसा भी होता है—'धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं एक हूँ' ऐसा उपयोग ही जाने, उस
उपयोगको समयके जाननेवाले धर्म प्रति निर्मम कहते हैं ।

धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक हूँ,
—इस ज्ञानको, ज्ञायक समयके धर्मनिर्ममता कहे ॥३७॥

* मालिनी *

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयद्युपयोगो विश्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्तुप-
संहरति—

अहमिच्छामी खलु सुद्धो दंसणणाणमइञ्चो सदाखुवी ।
एवि अत्थि मज्झ किञ्चि वि अराणं परमाणुमित्तंपि ॥३२॥

एक, अनाकुल आत्माका अनुभव करता हुआ भगवान् आत्मा ही जानता है कि—मैं प्रगट निश्चयसे एक ही हूँ, इसलिये ज्ञेयज्ञायकभावमात्रसे उत्पन्न परद्रव्योंके साथ परस्पर मिलन होनेपर भी, प्रगट स्वादमें आते हुये स्वभावके कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवोंके प्रति मैं निर्मम हूँ; क्योंकि सदा ही अपने एकत्वमें प्राप्त होनेसे समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्योंका त्यों ही स्थित रहता है; (अपने स्वभावको कोई नहीं छोड़ता) । इसप्रकार ज्ञेयभावोंसे भेदज्ञान हुआ ।

यहाँ इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः— [इति] इसप्रकार पूर्वोक्तरूपसे भावकभाव और ज्ञेयभावोंसे भेदज्ञान होनेपर जब [सर्वः अन्यभावैः सह विवेके सति] सर्व अन्यभावोंसे भिन्नता हुई तब [अयं उपयोगः] यह उपयोग [स्वयं] स्वयं ही [एकं आत्मानम्] अपने एक आत्माको ही [विश्रुत्] धारण करता हुआ, [प्रकटितपरमार्थैः दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिः] जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे दर्शनज्ञानचारित्रसे जिसने परिणति की है ऐसा [आत्म-आरामे एव प्रवृत्तः] अपने आत्मारूपी वाग (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नहीं जाता ।

भावार्थः—सर्व परद्रव्योंसे तथा उनसे उत्पन्न हुए भावोंसे जब भेद जाना तब उपयोगके रमणके लिये अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा । इसप्रकार दर्शनज्ञान-चारित्रके साथ एकरूप हुआ वह आत्मामें ही रमण करता है ऐसा जानना । ३१ ।

अब, इसप्रकार दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप परिणत आत्माको स्वरूपका संचेतन कैसा होता है यह कहने हुए आचार्य इस कथनको समेटते हैं:—

मैं एक, सुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग् हूँ यथार्थ से ।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे ! ॥३२॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी ।

नाप्यस्ति मम किञ्चिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥३८॥

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णोऽन्येन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्य-
मानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं
ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मरामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः,
समस्तक्रमाक्रमप्रवर्तमानव्यावहारिकभावैश्विन्मात्राकारेणाभिधमानत्वादेकः, नरनारकादिजीव-
विशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्व-
भावभावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः, चिन्मात्रतया सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणादर्शन-
ज्ञानमयः, स्पर्शरसगंधवर्णानिमित्तसंवेदनपरिणतत्त्वेपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः
सदैवारूपी, इति प्रत्यगयं स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि । एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्रस्वरूप-
संपदा विश्वे परिस्फुरत्यपि न किञ्चनाप्यन्यत्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति यद्भावकत्वेन
ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति, स्वरसत एवापुनःप्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य
महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात् ।

गाथा ३८

गाथार्थः—दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि—[खलु] निश्चयसे
[अहम्] मैं [एकः] एक हूँ, [शुद्धः] शुद्ध हूँ, [दर्शनज्ञानमयः] दर्शनज्ञानमय हूँ, [सदा
अरूपी] सदा अरूपी हूँ; [किञ्चित् अपि अन्यत्] किञ्चित्मात्र भी अन्य परद्रव्य [परमाणुमात्रम्
अपि] परमाणुमात्र भी [मम न अपि अस्ति] मेरा नहीं है यह निश्चय है ।

टीकाः—जो, अनादि मोहरूप अज्ञानसे उन्मत्तताके कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त
गुरुसे निरन्तर समझाये जानेपर जो किसी प्रकारसे समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई (पुरुष)
मुट्टीमें रखे हुए सोनेको भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोनेको देखे इस न्यायसे, अपने परमेश्वर
(सर्व सामर्थ्यके धारक) आत्माको भूल गया था उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण
करके (—उसमें तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकारसे एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ
कि—मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभवसे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; चिन्मात्र आकारके
कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावोंसे भेदरूप नहीं होता इसलिये मैं
एक हूँ; नर, नारक आदि जीवके विशेष; अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और
मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व हैं उनसे, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भावके द्वारा, अत्यन्त
भिन्न हूँ इसलिये मैं शुद्ध हूँ; चिन्मात्र होनेसे सामान्य-विशेष उपयोगात्मकताका उल्लंघन नहीं करता

* वसन्ततिलका *

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका

आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः ।

आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण

प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥३२॥

इसलिये मैं दर्शनज्ञानमय हूँ; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त है ऐसे संवेदनरूप परिणामित होनेपर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणामित नहीं हुआ इसलिये परमार्थसे मैं सदा ही अरूपी हूँ। इसप्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूपका अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। इसप्रकार प्रतापवंत चर्तते हुवे ऐसे मुझे, यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकारकी स्वरूप-सम्पदाके द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तथापि, कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भांसेते नहीं कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूपसे मेरे साथ एक होकर पुनः मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरससे ही मोहको मूलसे उखाड़कर—पुनः अंकुरित न हो इसप्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

भावार्थः—आत्मा अनादि कालसे मोहके उदयसे अज्ञानी था, वह श्री गुरुओंके उपदेशसे और स्व-काललब्धिसे ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूपको परमार्थसे जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ। ऐसा जाननेसे मोहका समूल नाश हो गया, भावकभाव और ज्ञेयभावसे भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूपसंपदा अनुभवमें आई; तब फिर पुनः मोह कैसे उत्पन्न हो सकता है ? नहीं हो सकता।

अब, ऐसा जो आत्मानुभव हुआ उसकी महिमा कहकर आचार्यदेव प्रेरणारूप काव्य कहते हैं कि—ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मामें समस्त लोक निमग्न हो जाओः—

श्लोकार्थः—[एषः भगवान् अवबोधसिन्धुः] यह ज्ञानसमुद्र भगवान् आत्मा [विभ्रम-तिरस्करिणीं भरेण आप्लाव्य] विभ्रमरूपी आड़ी चादरको समूलतया डुबोकर (दूर करके) [प्रोन्मग्नः] स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; [अमी समस्ताः लोकाः] इसलिये अब समस्त लोक [शांतरसे] उसके शांत रसमें [समम् एव] एक साथ ही [निर्भरम्] अत्यन्त [मज्जन्तु] मग्न हो जाओ जो शांत रस [आलोकम् उच्छलति] समस्त लोक पर्यंत उछल रहा है।

भावार्थः—जैसे समुद्रके आड़े कुछ आ जाये तो जल दिखाई नहीं देता और जब वह आड़ दूर हो जाती है तब जल प्रगट होता है; वह प्रगट होनेपर, लोगोंको प्रेरणायोग्य होता है कि 'इस जलमें सभी लोग स्नान करो'; इसीप्रकार यह आत्मा विभ्रमसे आच्छादित था तब उसका स्वरूप दिखाई नहीं देता था; अब विभ्रम दूर हो जानेसे यथास्वरूप (ज्योंका त्यों स्वरूप) प्रगट हो गया; इसलिये 'अब उसके वीतराग विज्ञानरूप शांतरसमें एक ही साथ सर्व लोक मग्न होओ' इसप्रकार आचार्यदेवने प्रेरणा की है।

इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरङ्गः समाप्तः ।

अथवा इसका अर्थ यह भी है कि जब आत्माका अज्ञान दूर होता है तब केवलज्ञान प्रगट होता है और केवलज्ञान प्रगट होनेपर समस्त लोकमें रहनेवाले पदार्थ एक ही समय ज्ञानमें भलकते हैं उसे समस्त लोक देखो । ३२ ।

इसप्रकार इस समयप्राभृतग्रंथमें प्रथम जीवाजीवाधिकारमें टीकाकारने पूर्वरङ्गस्थल कहा ।

यहाँ टीकाकारका यह आशय है कि इस ग्रंथको अलङ्कारसे नाटक रूपमें वर्णन किया है । नाटकमें पहले रङ्गभूमि रची जाती है । वहाँ देखनेवाले, नायक तथा सभा होती है और नृत्य (नाट्य, नाटक) करनेवाले होते हैं जो विविध प्रकारके स्वाँग रखते हैं तथा शृङ्गारादिक आठ रसोंका रूप दिखलाते हैं । वहाँ शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत—यह आठ रस लौकिक रस हैं; नाटकमें इन्हींका अधिकार है । नवमा शांत रस है जो कि अलौकिक है; नृत्यमें इसका अधिकार नहीं है । इन रसोंके स्थायी भाव, सात्त्विक भाव, अनुभावी भाव, व्यभिचारी भाव, और उनकी दृष्टि आदिका वर्णन रसग्रन्थोंमें है वहाँसे जान लेना । सामान्यतया रसका यह स्वरूप है कि ज्ञानमें जो ज्ञेय आया उसमें ज्ञान तदाकार हुआ, उसमें पुरुषका भाव लीन हो जाय और अन्य ज्ञेयकी इच्छा नहीं रहे सो रस है । उन आठ रसोंका रूप नृत्यमें नृत्यकार बतलाते हैं; और उनका वर्णन करते हुए कवीश्वर जय अन्य रसको अन्य रसके समान कर भी वर्णन करते हैं तब अन्य रसका अन्य रस अङ्गभूत होनेसे तथा अन्यभाव रसोंका अङ्ग होनेसे, रसवत् आदि अलङ्कारसे उसे नृत्यरूपमें वर्णन किया जाता है ।

यहाँ पहले रंगभूमिस्थल कहा । वहाँ देखनेवाले तो सम्यक्दृष्टि पुरुष हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषोंकी सभा है, उनको दिखलाते हैं । नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ हैं और दोनोंका एकपना, कर्ताकर्मपना आदि उनके स्वाँग हैं । उनमें वे परस्पर अनेकरूप होते हैं,—आठ रसरूप होकर परिणामन करते हैं, सो वह नृत्य है । वहाँ सम्यक्दृष्टि दर्शक जीव-अजीवके भिन्न स्वरूपको जानता है; वह तो इन सब स्वाँगोंको कर्मकृत जानकर शांत रसमें ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि जीव-अजीवके भेद नहीं जानते इसलिये वे इन स्वाँगोंको ही यथार्थ जानकर उनमें लीन हो जाते हैं । उन्हें सम्यक्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, उन्हें शांतरसमें लीन करके सम्यक्दृष्टि बनाता है । उसकी सूचनारूपमें रंगभूमिके अन्तमें आचार्यने 'मज्जंतु' इत्यादि इस श्लोककी रचना की है, वह अब जीव-अजीवके स्वाँगका वर्णन करेंगे इसका सूचक है ऐसा आशय प्रगट होता है । इसप्रकार यहाँ तक रंगभूमिका वर्णन किया है ।

नृत्य कुतूहल तत्त्वको, मरियवि देखो घाय ।

निजानन्द रसमें झको, आन सबै छिटकाय ॥

इसप्रकार जीवाजीवाधिकारमें पूर्वरंग समाप्त हुआ ।

* शार्दूलविक्रीडित *

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
 आसंसारनिवद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
 आत्माराममनंतधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
 धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥३३॥

अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः—

अब जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य—वे दोनों एक होकर रंगभूमिमें प्रवेश करते हैं । इसके प्रारम्भमें मंगलके आश्रयसे (काव्य द्वारा) आचार्यदेव ज्ञानकी महिमा करते हैं कि सर्व वस्तुओंको जाननेवाला यह ज्ञान है वह जीव-अजीवके सर्व स्वाँगोंको भलीभाँति पहिचानता है । ऐसा (सभी स्वाँगोंको जाननेवाला) सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है—इस अर्थरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[ज्ञानं] ज्ञान है वह [मनो ह्लादयत्] मनको आनन्दरूप करता हुआ [विलसति] प्रगट होता है । वह [पार्षदान्] जीव-अजीवके स्वाँगको देखनेवाले महापुरुषोंके [जीव-अजीव-विवेक-पुष्कल-दृशा] जीव-अजीवके भेदको देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टिके द्वारा [प्रत्याययत्] भिन्न द्रव्यकी प्रतीति उत्पन्न कर रहा है । [आसंसार-निवद्धबंधन-विधि-ध्वंसात्] अनादि संसारसे जिनका बन्धन दृढ़ बँधा हुआ है ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके नाशसे [विशुद्धं] विशुद्ध हुआ है, [स्फुटत्] स्फुट हुआ है—जैसे फूलकी कली खिलती है उसीप्रकार विकासरूप है । और [आत्म-आरामम्] उसका रमण करनेका क्रीड़ावन आत्मा ही है, अर्थात् उसमें अनन्त जेयोंके आकार आकर भ्रूलकते हैं तथापि वह स्वयं अपने स्वरूपमें ही रमता है; [अनन्तधाम] उसका प्रकाश अनन्त है; और वह [अर्धक्षेण महसा नित्य-उदितं] प्रत्यक्ष तेजसे नित्य उदयरूप है । तथा वह धीर है, उदात्त (उच्च) है और इसीलिये अनाकुल है—सर्व इच्छाओंसे रहित निराकुल है । (यहाँ [धीरोदात्तम्] धीर, उदात्त, [अनाकुलं] अनाकुल—यह तीन विशेषण शान्तरूप नृत्यके आभूषण जानना ।) ऐसा ज्ञान विलास करता है ।

भावार्थः—यह ज्ञानकी महिमा कही । जीव अजीव एक होकर रंगभूमिमें प्रवेश करते हैं उन्हें यह ज्ञान ही भिन्न जानता है । जैसे नृत्यमें कोई स्वांग धरकर आये और उसे जो यथार्थरूपमें जान ले (पहिचान ले) तो वह स्वांगकर्ता उसे नमस्कार करके अपने रूपको जैसाका तैसा ही कर लेता है उसीप्रकार यहाँ भी समझना । ऐसा ज्ञान सम्यक्दृष्टि पुरुषोंको होता है; मिथ्यादृष्टि इस भेदको नहीं जानते । ३३ ।

अब जीव-अजीवका एकरूप वर्णन करते हैं:—

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
 जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तथा परूविति ॥३६॥
 अवरे अज्झवसाणेसु तिच्चमंदाणुभागगं जीवं ।
 मणंति तथा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ॥४०॥
 कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति ।
 तिच्चत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥
 जीवो कम्मं उहयं दोरिण वि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
 अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥
 एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुस्मेहा ।
 ते ण परमट्टवाई णिच्छयवाइहिं णिदिट्ठा ॥४३॥

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् ।
 जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति ॥३९॥
 अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवम् ।
 मन्यन्ते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ॥४०॥
 कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छंति ।
 तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ॥४१॥
 जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छंति ।
 अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छंति ॥४२॥
 एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः ।
 ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ॥४३॥

गाथा ३९-४०-४१-४२-४३

गाथार्थः—[आत्मानम् अजानंतः] आत्माको न जानते हुए [परात्मवादिनः] परको
 आत्मा कहनेवाले [केचित् मूढाः तु] कोई मूढ़, मोही, अज्ञानी तो [अध्यवसानं] अध्यवसानको

को मूढ़, आत्म अजान जो, पर आत्मवादी जीव है,
 'है कर्म, अध्यवसान ही जीव' यों हि वो कथनी करे ॥३९॥
 अरु कोई अध्यवसानमें, अनुभाग तीक्ष्ण मंद जो ।
 उसको ही माने आत्मा, अरु अन्य को नोकर्मको ॥४०॥

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्त्विकमात्मानमजानंतो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपन्ति । नैसर्गिकरागद्वेषकल्मापितमध्यवसानमेव जीवस्तथा-विधाध्यवसानात् अंगारस्येव काष्ण्यीदतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेणक्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्या-

[तथा च] और कोई [कर्म] कर्मको [जीवम् प्ररूपयति] जीव कहते हैं । [अपरे] अन्य कोई [अध्यवसानेषु] अध्यवसानोंमें [तीव्रमंदानुभागम्] तीव्रमंद अनुभागगतको [जीवं मन्यन्ते] जीव मानते हैं [तथा] और [अपरे] दूसरे कोई [नोकर्मं अपि च] नोकर्मको [जीवः इति] जीव मानते हैं [अपरे] अन्य कोई [कर्मणः उदयं] कर्मके उदयको [जीवम्] जीव मानते हैं, कोई [यः] जो [तीव्रत्वमंदत्वगुणाम्यां] तीव्रमंदतारूप गुणोंसे भेदको प्राप्त होता है [सः] वह [जीवः भवति] जीव है इसप्रकार [कर्मानुभागम्] कर्मके अनुभागको [इच्छन्ति] जीव इच्छते हैं (—मानते हैं) । [केचित्] कोई [जीवकर्मोभयं] जीव और कर्म [द्वे अपि खलु] दोनों मिले हुएओंको ही [जीवम् इच्छन्ति] जीव मानते हैं [तु] और [अपरे] अन्य कोई [कर्मणः संयोगेन] कर्मके संयोगसे ही [जीवम् इच्छन्ति] जीव मानते हैं । [एवंविधाः] इसप्रकारके तथा [बहुविधाः] अन्य भी अनेक प्रकारके [दुर्बुधसः] दुर्बुद्धि-मिथ्यादृष्टि जीव [परम्] परको [आत्मानं] आत्मा [वदन्ति] कहते हैं । [ते] उन्हें [निश्चयवादिभिः] निश्चयवादियोंने (—सत्यार्थवादियोंने) [परमार्थवादिनः] परमार्थवादी (—सत्यार्थवक्ता) [न निर्दिष्टाः] नहीं कहा है ।

टीका:—इस जगत्में आत्माका असाधारण लक्षण न जाननेके कारण नपुंसकतासे अत्यन्त विमूढ़ होते हुये, तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्माको न जाननेवाले बहुतेसे अज्ञानी जन अनेक प्रकारसे परको भी आत्मा कहते हैं, वकते हैं । कोई तो ऐसा कहते हैं कि स्वाभाविक अर्थान् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेषके द्वारा मिलन जो अध्यवसान (मिथ्या अभिप्राय युक्त विभावपरिणाम) वह ही जीव है क्योंकि जैसे कालेपनसे अन्य अलग कोई कोयला दिखाई नहीं देता उसीप्रकार अध्यवसानसे भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखाई नहीं देता । ? । कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्यका अवयव है-ऐसी एक संसरणरूप (भ्रमणरूप) जो किया है उस-रूपसे क्रीड़ा करता हुआ कर्म

को अन्य माने आत्मा वस, कर्मके ही उदय को ।
 को तीव्रमंदगुणोंसहित, कर्मोंहिके अनुभागको ॥४१॥
 को कर्म आत्मा, उभय मिलकर जीवकी आशा धरें ।
 को कर्मके संयोगसे, अभिलाष आत्माकी करें ॥४२॥
 दुर्बुद्धि यों ही और बहुविध आत्मा परको, कहै ।
 वे सर्व नहीं परमार्थवादी, ये हि निश्चयविद् कहै ॥४३॥

नुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । विश्वमपि पुण्यपाप-रूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मो-भयमेव जीवः कात्स्न्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अर्थक्रिया-समर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगत्वदूवाया इवाष्टकाष्टसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुप-लभ्यमानत्वादिति केचित् । एवमेवंप्रकारा इतरेऽपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिशन्ति दुर्मेधसः किन्तु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिन इति निर्दिश्यन्ते ।

ही जीव है क्योंकि कर्मसे भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता । २। कोई कहते हैं कि तीव्र-मंद अनुभवसे भेदरूप होते हुए, दुरंत (जिसका अन्त दूर है ऐसा) रागरूप रससे भरे हुवे अध्यवसानोंकी संतति (परिपाटी) ही जीव है क्योंकि उससे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता । ३। कोई कहता है कि नई और पुरानी अवस्था इत्यादि भावसे प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है क्योंकि इस शरीरसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता । ४। कोई यह कहते हैं कि समस्त लोकको पुण्यपापरूपसे व्याप्त करता हुआ कर्मका विपाक ही जीव है क्योंकि शुभाशुभ भावसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता । ५। कोई कहते हैं कि साता-असातारूपसे व्याप्त समस्त तीव्रमन्दत्वगुणोंसे भेदरूप होनेवाला कर्मका अनुभव ही जीव है क्योंकि सुख-दुःखसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता । ६। कोई कहते हैं कि श्रीखण्डकी भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म, दोनों ही मिलकर जीव हैं क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मोंसे भिन्न कोई जीव दिखाई नहीं देता । ७। कोई कहते हैं कि अर्थक्रियामें (प्रयोजनभूत क्रियामें) समर्थ ऐसा जो कर्मका संयोग वह ही जीव है क्योंकि जैसे आठ लकड़ियोंके संयोगसे भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता इसीप्रकार कर्मोंके संयोगसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता । (आठ लकड़ियाँ मिलकर पलंग बना तब वह अर्थक्रियामें समर्थ हुआ; इसीप्रकार यहाँ भी जानना) । ८। इसप्रकार आठ प्रकार तो यह कहे और ऐसे २ अन्य भी अनेक प्रकारके दुर्बुद्धि (विविध प्रकारसे) परको आत्मा कहते हैं; परन्तु परमार्थके ज्ञाता उन्हें सत्यार्थवादी नहीं कहते ।

भावार्थः—जीव-अजीव दोनों अनादिकालसे एकत्रैत्रावगाहसंयोगरूपसे मिले हुए हैं, और अनादिकालसे ही पुद्गलके संयोगसे जीवकी अनेक विकारसहित अवस्थाएँ हो रही हैं । परमार्थदृष्टिसे देखने पर, जीव तो अपने चैतन्यत्व आदि भावोंको नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़त्व आदिको नहीं छोड़ता । परन्तु जो परमार्थको नहीं जानते वे संयोगसे हुवे भावोंको ही जीव कहते हैं क्योंकि

कृतः—

एष सर्वे भावा पुद्गलद्रव्यपरिणामणिष्पन्ना ।
केवलिजिणैर्भणिता कथं ते जीवो ति बुच्यंति ॥४४॥

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः ।

केवलिजिनेर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यन्ते ॥४४॥

यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्वाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः

पुद्गलसे भिन्न परमार्थसे जीवका स्वरूप सर्वज्ञको दिखाई देता है तथा सर्वज्ञकी परम्पराके आगमसे जाना जा सकता है, इसलिये जिनके मतमें सर्वज्ञ नहीं हैं वे अपनी बुद्धिसे अनेक कल्पनाएँ करके कहते हैं। उनमेंसे वेदान्ती, मीमांसक, सांख्य, योग, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक आदि मतोंके आशय लेकर आठ प्रकार तो प्रगट कहे हैं; और अन्य भी अपनी २ बुद्धिसे अनेक कल्पनाएँ करके अनेक प्रकारसे कहते हैं सो उन्हें कहाँ तक कहा जाये ?

ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं सो कहते हैं:—

भाषा ४४

गाथार्थः—[एते] यह पूर्वकथित अध्यवसान आदि [सर्वे भावाः] भाव हैं वे सभी [पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः] पुद्गलद्रव्यके परिणामसे उत्पन्न हुए हैं इसप्रकार [केवलिजिनैः] केवली सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवने [भणिताः] कहा है [ते] उन्हें [जीवः इति] जीव ऐसा [कथं उच्यन्ते] कैसे कहा जा सकता है ?

टीकाः—यह समस्त अध्यवसानादि भाव, विश्वके (समस्त पदार्थोंके) साक्षात् देखनेवाले भगवान (वीतराग सर्वज्ञ) अरहंतदेवोंके द्वारा, पुद्गलद्रव्यके परिणाममय कहे गये हैं, इसलिये वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होनेके लिये समर्थ नहीं हैं कि जो जीवद्रव्य चैतन्यभावसे शून्य ऐसे पुद्गलद्रव्यसे अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है; इसलिये जो इन अध्यवसानादिकको जीव कहते हैं वे वास्तवमें परमार्थवादी नहीं हैं क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभवसे उनका पक्ष बाधित है। उसमें, 'वे जीव नहीं हैं' यह सर्वज्ञका वचन है वह तो आगम है और यह (निम्नोक्त) स्वानुभववर्धित युक्ति

पुद्गलद्रव्य परिणामसे, उपजे हुए सब भाव थे ।

सब केवलीजिन भाषिया, किस रीत जीव कही उन्हें ॥४४॥

परमार्थवादिनः । एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः । इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः । न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकाया अतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्यविवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरी-भूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसान-संतानो जीवस्ततोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोऽकर्म जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य

हैः—स्वयमेव उत्पन्न हुए रागद्वेषके द्वारा मलिन अध्यवसान है वे जीव नहीं हैं क्योंकि, कालिमासे भिन्न सुवर्णकी भाँति; अध्यवसानसे भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे चैतन्यभावको प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं । १ । अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्यका अवयव है ऐसी एक संसरणरूप क्रियाके रूपमें क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है क्योंकि कर्मसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । २ । तीव्र-मंद अनुभवसे भेदरूप होनेपर, दुरंत रागरससे भरे हुये अध्यवसानोंकी संतति भी जीव नहीं है क्योंकि उस संततिसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ३ । नई पुरानी अवस्थादिकके भेदसे प्रवर्तमान नोऽकर्म भी जीव नहीं है क्योंकि शरीरसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ४ । समस्त जगतको पुण्यपापरूपसे व्याप्त करता कर्मविपाक भी जीव नहीं है क्योंकि शुभाशुभ भावसे अन्य पृथक् चैतन्य-स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ५ । साता-असातारूपसे व्याप्त समस्त तीव्रमंदतारूप गुणोंके द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्मका अनुभव भी जीव नहीं है क्योंकि सुखदुःखसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ६ । श्रीखण्डकी भाँति उभयात्मकरूपसे मिले हुए आत्मा और कर्म दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मोंसे भिन्न अन्य चैतन्य-स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ७ । अर्थक्रियामें समर्थ कर्मका संयोग भी जीव नहीं है क्योंकि आठ लकड़ियोंके संयोगसे (-पलंगसे) भिन्न पलंगपर सोनेवाले पुरुषकी भाँति, कर्मसंयोगसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ८ । (इसीप्रकार अन्य किसी दूसरे प्रकारसे कहा जाये तो वहाँ भी यही युक्ति जानना ।)

[भावार्थः—चैतन्यस्वभावरूप जीव, सर्व परभावोंसे भिन्न, भेदज्ञानियोंके अनुभवगोचर है; इसलिये अज्ञानी जैसा मानते हैं वैसा नहीं है ।]

विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु विश्वमपि पुण्ययापरूपेणाक्रामत्कर्मविपाको जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमदंत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभवो जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु मञ्जितांबदुभयात्म-कत्वादात्मकर्मोभयं जीवः कात्स्न्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति ।

इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नेवैवमनुशास्यः ।

* मालिनी *

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन

स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।

हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नघाम्नो

ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥३४॥

यहाँ पुद्गलसे भिन्न आत्माकी उपलब्धिके प्रति विरोध करनेवाले (—पुद्गलको ही आत्मा जाननेवाले) पुरुषको (उसकी हितरूप आत्मप्राप्तिकी बात कहकर) मिठासपूर्वक (समभावसे) ही इसप्रकार उपदेश करना यह काव्यमें बतलाते हैं:—

श्लोकार्थः—हे भव्य ! तुझे [अपरेण] अन्य [अकार्य—कोलाहलेन] व्यर्थ ही कोलाहल करनेसे [किम्] क्या लाभ है ? तू [विरम] इस कोलाहलसे विरक्त हो और [एकम्] एक चैतन्यमात्र वस्तुको [स्वयम् अपि] स्वयं [निभृतः सन्] निश्चल लीन होकर [पश्य षण्मासम्] देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे [हृदय—सरसि] अपने हृदय सरोवरमें, [पुद्गलात् भिन्नघाम्नः] जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गलसे भिन्न है ऐसे उस [पुंसः] आत्माकी [ननु किम् अनुपलब्धिः भाति] प्राप्ति नहीं होती है [किं च उपलब्धिः] या होती है ?

भावार्थः—यदि अपने स्वरूपका अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है; यदि परवस्तु हो तो उसकी तो प्राप्ति नहीं होती । अपना स्वरूप तो विद्यमान है, किन्तु उसे भूल रहा है; यदि सावधान होकर देखे तो वह अपने निकट ही है । यहाँ छह मासके अभ्यासकी बात कही है इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि इतना ही समय लगेगा । उसकी प्राप्ति तो अंतर्मुहूर्तमात्रमें ही हो सकती है, परन्तु यदि शिष्यको बहुत कठिन मालूम होता हो तो उसका निषेध किया है । यदि समझनेमें अधिक काल लगे तो छहमाससे अधिक नहीं लगेगा; इसलिये यहाँ यह उपदेश दिया है कि अन्य निष्प्रयोजन कोलाहलका त्याग करके इसमें लग जानेसे शीघ्र ही स्वरूपकी प्राप्ति हो जायेगी ऐसा उपदेश है । ३४ ।

कथंचिदन्वयप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत्—

अट्टविहं पि य कर्मं सर्वं पुद्गलमयं जिना विंदति ।

जस्स फलं तं वुच्चइ दुःखं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना विंदति ।

यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥४५॥

अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकलज्ञप्तिः । तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलष्यते तदनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल दुःखं; तदंतःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः । ततो न ते चिदन्वयविभ्रमेप्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्गलस्वभावाः ।

अब शिष्य पूछता है कि इन अध्यवसानादि भावोंको जीव नहीं कहा, अन्य चैतन्यस्वभावको जीव कहा; तो यह भाव भी कथंचित् चैतन्यके साथ ही सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं, (वे चैतन्यके अतिरिक्त जड़के तो दिखाई नहीं देते,) तथापि उन्हें पुद्गलके स्वभाव क्यों कहा ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ४५

गाथार्थः—[अष्टविधम् अपि च] आठों प्रकारका [कर्म] कर्म [सर्वं] सब [पुद्गलमयं] पुद्गलमय है ऐसा [जिनाः] जिनेन्द्रभगवान सर्वज्ञदेव [विंदति] कहते हैं—[यस्य विपच्यमानस्य] जो पक्व होकर उदयमें आनेवाले कर्मका [फलं] फल [तत्] प्रसिद्ध [दुःखम्] दुःख है [इति उच्यते] ऐसा कहा है ।

टीका:—अध्यवसानादि समस्त भावोंको उत्पन्न करनेवाला जो आठों प्रकारका ज्ञानावरेणादि कर्म है वह सभी पुद्गलमय है ऐसा सर्वज्ञका वचन है । विपाककी मर्यादाको प्राप्त उस कर्मके फलरूपसे जो कहा जाता है वह, (अर्थात् कर्मफल) अनाकुलतालक्षण-सुखनामक आत्मस्वभावसे विलक्षण है इसलिये, दुःख है । उस दुःखमें ही आकुलतालक्षण अध्यवसानादि भाव समाविष्ट हो जाते हैं; इसलिये, यद्यपि वे चैतन्यके साथ सम्बन्ध होनेका भ्रम उत्पन्न करते हैं तथापि, वे आत्मस्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्गलस्वभाव हैं ।

रे ! कर्म अष्ट प्रकारका, जिन सर्व पुद्गलमय कहे ।

परिपाकमें जिस कर्मका फल दुःख नाम प्रसिद्ध है ॥४५॥

व्यव्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत्—

व्यवहारस्य दर्शनात्पुद्गलस्यो वयिणदो जिणवरेहिं ।

जीवा एते सर्वे अजकवसाणादन्नो भावा ॥४६॥

व्यवहारस्य दर्शनस्युपदेशो वर्णितो जिनवरैः ।

जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥४६॥

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भवति। सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम् । व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमंतरेण तु शरीराजीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्प्रसवस्थारणां भ्रमन इव निःशंक्युपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः । तथा रक्तद्विष्टविषूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ।

भावार्थः—जब कर्मोदय आता है तब यह आत्मा दुःखरूप परिणमित होता है और दुःखरूप भाव है वह अध्यवसान है इसलिये दुःखरूप भावोंमें (अध्यवसानमें) चेतनताका भ्रम उत्पन्न होता है । परमार्थसे दुःखरूप भाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है इसलिये जड़ ही है ।

अब प्रश्न होता है कि यदि अध्यवसानादि भाव हैं वे पुद्गलस्वभाव हैं तो सर्वज्ञके आगममें उन्हें जीवरूप क्यों कहा गया है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैंः—

गाथा ४६

गाथार्थः—[एते सर्वे] यह सब [अध्यवसानादयः भावाः] अध्यवसानादि भाव [जीवाः] जीव हैं इसप्रकार [जिनवरैः] जिनदेवने [उपदेशः वर्णितः] जो उपदेश दिया है सो [व्यवहारस्य दर्शनम्] व्यवहारनय दिखाया है ।

टोकाः—यह सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेवने कहा है वह, यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि, व्यवहारनयको भी बताया है, क्योंकि जैसे म्लेच्छोंको म्लेच्छभाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है उसीप्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंको परमार्थका कहनेवाला है इसलिये, अपरमार्थभूत होनेपर भी, धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिये वह (व्यवहारनय) बतलाना न्यायसंगत ही है । परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो, परमार्थसे (निश्चयनयसे) शरीरसे जीवको भिन्न बताया

व्यवहार ये दिखाया दिया, जिनदेवके उपदेशमें ।

ये सर्व अध्यवसान आदिक, भावको जहं जिव कहे ॥४६॥

अथ केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत्—

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेशो ।
ववहारेण हु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥४७॥
एमेव य ववहारो अज्भवसाणादिअरणभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥४८॥

—राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः ।

व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥४७॥

एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम् ।

जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥४८॥

जानेपर भी, जैसे भस्मको मसल देनेसे हिंसाका अभाव है उसीप्रकार, त्रसस्थावर जीवोंको निःशंकतया मसल देने—कुचल देने (घात करने) में भी हिंसाका अभाव ठहरेगा और इस कारण बंधका ही अभाव सिद्ध होगा; तथा परमार्थके द्वारा जीव रागद्वेषमोहसे भिन्न बताया जानेपर भी, 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्मसे बंधता है उसे छुड़ाना'—इसप्रकार मोक्षके उपायके ग्रहणका अभाव हो जायेगा और इससे मोक्षका ही अभाव होगा । (इसप्रकार यदि व्यवहारनय न बताया जाय तो बन्ध मोक्षका ही अभाव ठहरता है ।)

भावार्थः—परमार्थनय तो जीवको शरीर तथा रागद्वेषमोहसे भिन्न कहता है। यदि इसीका एकान्त ग्रहण किया जाये तो शरीर तथा रागद्वेषमोह पुद्गलमय सिद्ध होंगे तो फिर पुद्गलका घात करनेसे हिंसा नहीं होगी तथा रागद्वेषमोहसे बन्ध नहीं होगा। इसप्रकार, परमार्थसे जो संसार मोक्ष दोनोंका अभाव कहा है एकान्तसे यह ही ठहरेगा, किन्तु ऐसा एकान्तरूप वस्तुका स्वरूप नहीं है; अवस्तुका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण अवस्तुरूप ही है। इसलिये व्यवहारनयका उपदेश न्यायप्राप्त है। इसप्रकार स्याद्वादसे दोनों नयोंका विरोध मिटाकर श्रद्धान करना सो सम्यक्त्व है।

अत्र शिष्य पूछता है कि व्यवहारनय किस दृष्टान्तसे प्रवृत्त हुआ है ? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ४७-४८

गाथार्थः—जैसे कोई राजा सेनासहित निकला वहाँ [राजा खलु निर्गतः] 'यह राजा निकला' [इति एषः] इसप्रकार जो यह [बलसमुदयस्य] सेनाके समुदायको [आदेशः] कहा जाता है सो

“निर्गमन इस नृपका हुआ,”—निर्देश सैन्यसमूहमें ।

व्यवहारसे कहलाय यह, पर भूप इसमें एक है ॥४७॥

त्यों सर्व अध्यवसान आदिक, अन्यभाव जु जीव है ।

—शास्त्रन किया व्यवहार, पर वहाँ जीव निश्चय एक है ॥४८॥

यथैव राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तुमशक्य-
त्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः, परमार्थतस्त्वेक एव राजा; तथैव जीवः समग्रं
रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणामध्य-
वसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः, परमार्थतस्त्वेक एव जीवः ।

यद्येवं तर्हि किं लक्षणोऽसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह—

ॐ अरसमरूपमगंधं ध्वजं चेतनागुणमसद् ।

जाण अलिंगग्रहणं जीवमणिदिष्टसंठाणं ॥४६॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।

जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥४९॥

वह—[व्यवहारेण तु उच्यते] व्यवहारसे कहा जाता है, [तत्र] उस सेनामें (वास्तवमें) [एकः
निर्गतः राज्ञा] राजा तो एक ही निकला है; [एवम् एव च] इसीप्रकार [अध्यवसानाद्यन्य-
भावानाम्] अध्यवसानादि अन्य भावोंको [जीवः इति] '(यह) जीव है' इसप्रकार [सूत्रे]
परमागममें कहा है सो [व्यवहारः कृतः] व्यवहार किया है, [तत्र निश्चितः] यदि निश्चयसे विचार
किया जाये तो उनमें [जीवः एकः] जीव तो एक ही है ।

टीका:—जैसे यह कहना कि यह राजा पाँच योजनके विस्तारमें निकल रहा है सो यह
व्यवहारीजनोंका सेना समुदायमें राजा कह देनेका व्यवहार है क्योंकि एक राजाका पाँच योजनमें फैलना
अशक्य है; परमार्थसे तो राजा एक ही है, (सेना राजा नहीं है); उसीप्रकार यह जीव समग्र (समस्त)
रागग्राममें (—रागके स्थानोंमें) व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है ऐसा कहना वह, व्यवहारीजनोंका
अध्यवसानादिक भावोंमें जीव कहनेका व्यवहार है, क्योंकि एक जीवका समग्र रागग्राममें व्याप्त होना
अशक्य है; परमार्थसे तो जीव एक ही है, (अध्यवसानादिक भाव जीव नहीं हैं) ।

अत्र शिष्य पूछता है कि यह अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं तो एक, टंकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप
जीव कैसा है ? उसका लक्षण क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ४९

गाथार्थः—हे भव्य ! तू [जीवम्] जीवको [अरसम्] रसरहित, [अरूपम्] रूपरहित,
[अगन्धम्] गन्धरहित, [अव्यक्तम्] अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा, [चेतनागुणम्]

* यह गाथा प्रवचनसारमें १७२, नियमसारमें ४६, पंचास्तिकायमें १२७, ध्वला टीका पुस्तक ३ पृष्ठ २,
लघुद्रव्यसंग्रह गाथा १ आदिमें भी है ।

जीव चेतनागुण, शब्द-रस-रूप-गंध-व्यक्तिविहीन है ।

निर्दिष्ट नहीं संस्थान उसका, ग्रहण नहीं है लिंगसे ॥४९॥

यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणोभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारसनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारसनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणोभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारूपणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनारूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणोभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमगंधगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनागंधनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगंध-

चेतना जिसका गुण है ऐसा, [अशब्दम्] शब्दरहित, [अलिंगग्रहणं] किसी चित्तसे ग्रहण न होनेवाला और [अनिर्वृत्तस्थानम्] जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता ऐसा [जानीहि] जान ।

टीका:—जीव निश्चयसे पुद्गलद्रव्यसे भिन्न है इसलिये उसमें रसगुण विद्यमान नहीं है अतः वह अरस है । १ । पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे भी भिन्न होनेसे स्वयं भी रसगुण नहीं है इसलिये अरस है । २ । परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामित्व भी उसके नहीं है इसलिये वह द्रव्येन्द्रियके आलम्बनसे भी रस नहीं चखता अतः अरस है । ३ । अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय तो उसके क्षायोपशमिक भावका भी अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलम्बनसे भी रस नहीं चखता इसलिये अरस है । ४ । समस्त विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक रसवेदनापरिणामको पाकर रस नहीं चखता इसलिये अरस है । ५ । (उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका (—एकरूप होनेका) निषेध होनेसे रसके ज्ञानरूपमें परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता इसलिये अरस है । ६ । इसप्रकार ब्रह्म तरहके रसके निषेधसे वह अरस है ।

इसप्रकार, जीव वास्तवमें पुद्गलद्रव्यसे अन्य होनेके कारण उसमें रूपगुण विद्यमान नहीं है इसलिये अरूप है । १ । पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे भी भिन्न होनेके कारण स्वयं भी रूपगुण नहीं है इसलिये अरूप है । २ । परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामीपना भी उसे नहीं होनेसे वह द्रव्येन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता इसलिये अरूप है । ३ । अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखनेमें आवे तो क्षायोपशमिक भावका भी उसे अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता इसलिये अरूप है ।

वेदनापरिणामापन्नत्वेनागंधनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्द्रव्यपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चागंधः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणोभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनास्पर्शनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनास्पर्शनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात्स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायत्वात्, पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्यायत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेन शब्दाश्रवणात्, स्वभावतः

। ४। सकल विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक रूपवेदनापरिणामको प्राप्त होकर रूप नहीं देखता इसलिये अरूप है । ५। (उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका निषेध होनेसे रूपके ज्ञानरूप परिणमित होनेपर भी स्वयं रूपरूपसे नहीं परिणमता इसलिये अरूप है । ६। इसतरह छह प्रकारसे रूपके निषेधसे वह अरूप है ।

इसप्रकार, जीव वास्तवमें पुद्गलद्रव्यसे अन्य होनेके कारण उसमें गंधगुण विद्यमान नहीं है इसलिये अगंध है । १। पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे भी भिन्न होनेके कारण स्वयं भी गंधगुण नहीं है इसलिये अगंध है । २। परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामीपना भी उसे नहीं होनेसे वह द्रव्येन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी गंध नहीं सूंघता इसलिये अगंध है । ३। अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखनेमें आवे तो क्षायोपशमिक भावका भी उसे अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी गंध नहीं सूंघता अतः अगंध है । ४। सकल विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक गंधवेदनापरिणामको प्राप्त होकर गंध नहीं सूंघता अतः अगंध है । ५। (उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका निषेध होनेसे गंधके ज्ञानरूप परिणमित होनेपर भी स्वयं गंधरूप नहीं परिणमता अतः अगंध है । ६। इसतरह छह प्रकारसे गंधके निषेधसे वह अगंध है ।

इसप्रकार, जीव वास्तवमें पुद्गलद्रव्यसे अन्य होनेके कारण उसमें स्पर्शगुण विद्यमान नहीं है इसलिये अस्पर्श है । १। पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे भी भिन्न होनेके कारण स्वयं भी स्पर्शगुण नहीं है अतः अस्पर्श है । २। परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामीपना भी उसे नहीं होनेसे वह द्रव्येन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी स्पर्शको नहीं स्पर्शता अतः अस्पर्श है । ३। अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखनेमें आवे तो क्षायोपशमिक भावका भी उसे अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी स्पर्शको नहीं स्पर्शता अतः अस्पर्श है । ४। सकल विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक स्पर्शवेदनापरिणामको प्राप्त होकर स्पर्शको नहीं स्पर्शता अतः अस्पर्श है । ५। (उसे

क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावैन्द्रियावलंबेन शब्दाश्रवणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभाव-
त्वात्केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधा-
च्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्दः । द्रव्यांतरारब्धशरीर-
संस्थानेनैव संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात्, नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानंतशरीरवर्तित्वात्,
संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात्, प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तु-
तत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वेऽपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूति-
तयात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः । पद्द्रव्यात्मकलोकाज्ञेयाद्ब्रह्मचक्रादन्यत्वात्,
कषायचक्राद्भावकाद्ब्रह्मचक्रादन्यत्वात्, चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात्, क्षणिकव्यक्ति-

समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका निषेध होनेसे स्पर्शके ज्ञानरूप परिणमित होनेपर भी स्वयं स्पर्शरूप नहीं परिणमता अतः अस्पर्श है । ६ । इसतरह छह प्रकारसे स्पर्शके निषेधसे वह अस्पर्श है ।

इसप्रकार, जीव वास्तवमें पुद्गलद्रव्यसे अन्य होनेके कारण उसमें शब्दपर्याय विद्यमान नहीं है अतः अशब्द है । १ । पुद्गलद्रव्यकी पर्यायोसे भी भिन्न होनेके कारण स्वयं भी शब्दपर्याय नहीं है अतः अशब्द है । २ । परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामीपना भी उसे नहीं होनेसे वह द्रव्येन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता अतः अशब्द है । ३ । अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखनेमें आवे तो क्षायोपशमिक भावका भी उसे अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता अतः अशब्द है । ४ । सकल विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक शब्दवेदनापरिणामको प्राप्त होकर शब्द नहीं सुनता अतः अशब्द है । ५ । (उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका निषेध होनेसे शब्दके ज्ञानरूप परिणमित होनेपर भी स्वयं शब्दरूप नहीं परिणमता अतः अशब्द है । ६ । इसतरह छह प्रकारसे शब्दके निषेधसे वह अशब्द है ।

(अव 'अनिर्दिष्टसंस्थान' विशेषणको समझते हैं:—) पुद्गलद्रव्यरचित शरीरके संस्थान (आकार)से जीवको संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता इसलिये जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है । १ । अपने नियत स्वभावसे अनियत संस्थानवाले अनन्त शरीरोंमें रहता है इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है । २ । संस्थान नामकर्मका विपाक (फल) पुद्गलोंमें ही कहा जाता है (इसलिये उसके निमित्तसे भी आकार नहीं है) इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है । ३ । भिन्न भिन्न संस्थानरूपसे परिणमित समस्त वस्तुओंके स्वरूपके साथ जिसकी स्वाभाविक संवेदनशक्ति सम्बन्धित (अर्थात् तदाकार) है ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोकके मिलापसे (-सम्बन्धसे) रहित निर्मल (ज्ञानमात्र) अनुभूति हो रही है ऐसा होनेसे स्वयं अत्यन्तरूपसे संस्थान रहित है इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है । ४ । इसप्रकार चार हेतुओंसे संस्थानका निषेध कहा ।

मात्राभावात्, व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेपि व्यक्तास्पर्शत्वात्, स्वयमेव हि बहिरंतःस्फुटमनु-
भूयमानत्वेपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रधोतमानत्वाच्चाव्यक्तः । रसरूपबंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वा-
भावेपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहणः । समस्तविप्रति-
पत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं क्वलीकृत्यात्यंतसौहित्य-
मंथरेणैव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन
चेतनागुणेन नित्यमेवांतःप्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च । स खलु भगवानमलालोक इहैकष्टं-
कोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिर्जीवः ।

(अब 'अव्यक्त' विशेषणको सिद्ध करते हैं:—) छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है उससे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है । १ । कणयोंका समूह जो भावकभाव व्यक्त है उससे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है । २ । चित्सामान्यमें चैतन्यकी समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं इसलिये अव्यक्त है । ३ । क्षणिक व्यक्तमात्र नहीं है इसलिये अव्यक्त है । ४ । व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूपसे प्रतिभासित होनेपर भी वह केवल व्यक्तताको ही स्पर्श नहीं करता इसलिये अव्यक्त है । ५ । स्वयं अपनेसे ही बाह्याभ्यंतर स्पष्ट अनुभवमें आ रहा है तथापि व्यक्तताके प्रति उदासीनरूपसे प्रकाशमान है इसलिये अव्यक्त है । ६ । इसप्रकार छह हेतुओंसे अव्यक्तता सिद्ध की है ।

इसप्रकार रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तताका अभाव होनेपर भी स्वसंवेदनके बलसे स्वयं सदा प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानगोचरमात्रताके अभावके कारण (जीवको) अलिंगग्रहण कहा जाता है ।

अपने अनुभवमें आनेवाले चेतनागुणके द्वारा सदा अन्तरङ्गमें प्रकाशमान है इसलिये (जीव) चेतनागुणवाला है । वह चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियोंको (जीवको अन्यप्रकारसे माननेरूप भ्रमणोंको) नाश करनेवाला है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवोंको सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोकको प्राप्तिभूत करके मानों अत्यन्त तृप्तिसे उपशान्त हो गया हो इसप्रकार (अर्थात् अत्यन्त स्वरूप-सौख्यसे तृप्त तृप्त होनेके कारण स्वरूपमेंसे बाहर निकलनेका अनुद्यमी हो इसप्रकार) सर्व कालमें किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और इस तरह सदा लेश मात्र भी नहीं चलित अन्यद्रव्यसे असाधारणता होनेसे जो (असाधारण) स्वभावभूत है ।

—ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है । जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा यह भगवान इस लोकमें एक, टंकोत्कीर्ण, भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहकर ऐसे आत्माके अनुभवकी प्रेरणा करते हैं:—

* मालिनी *

सकलमपि विहायाहाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥३५॥

* अनुष्टुभ् *

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३६॥

जीवस्स णत्थि वरणो ए वि गंधो ए वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ए सरीरं ए वि संठाणं ए संहणणं ॥५०॥

श्लोकार्थः—[चित्-शक्ति-रिषतं] चित्शक्तिसे रहित [सकलम् अपि] अन्य समस्त भावोंको [अह्नाय] मूलसे [विहाय] छोड़कर [च] और [स्फुटतरम्] प्रगटरूपसे [स्वं चित्-शक्तिमात्रम्] अपने चित्शक्तिमात्र भावका [अवगाह्य] अवगाहन करके, [विश्वस्य उपरि] समस्त पदार्थसमूहरूप लोकके उपर [चारु चरतं] सुन्दर रीतिसे प्रवर्तमान ऐसे [इमम्] यह [परम्] एकमात्र [अनन्तम्] अविनाशी [आत्मानम्] आत्माका [आत्मा] भव्यात्मा [आत्मनि] आत्मामें ही [साक्षात् कलयतु] अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव-करो ।

भावार्थः—यह आत्मा परमार्थसे समस्त अन्यभावोंसे रहित चैतन्यशक्तिमात्र है; उसके अनुभवका अभ्यास करो ऐसा उपदेश है । ३५ ।

अब चित्शक्तिसे अन्य जो भाव हैं वे सब पुद्गलद्रव्यसम्बन्धी हैं ऐसी आगेकी गाथाओंकी सूचनारूपसे श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[चित्-शक्ति-व्याप्त-सर्वस्व-सारः] चैतन्यशक्तिसे व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है ऐसा [अयम् जीवः] यह जीव [इयान्] इतना मात्र ही है; [अतः अतिरिक्ताः] इस चित्शक्तिसे शून्य [अमी भावाः] जो ये भाव हैं [सर्वे अपि] वे सभी [पौद्गलिकाः] पुद्गलजन्य हैं—पुद्गलके ही हैं । ३६ ।

ऐसे इन भावोंका व्याख्यान छह गाथाओंमें करते हैं:—

नहिं वर्ण जीवके, गंध नहिं, नहिं स्पर्श, रस जीवके नहीं ।
नहिं रूप अर संहनन नहिं, संस्थान नहिं, तन भी नहीं ॥५०॥

जीवस्स एत्थि रागो ए वि दोसो एव विज्जदे योहो ।
 एो पच्चया ए कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥
 जीवस्स एत्थि वग्गो ए वग्गणा एव फड्ढया केई ।
 एो अज्झप्पट्टाणा एव य अणुआयठाणाणि ॥५२॥
 जीवस्स एत्थि केई जोयट्टाणा ए वंघठाणा वा ।
 एव य उदयट्टाणा ए मग्गणट्टाणया केई ॥५३॥
 एो ठिदिवंघट्टाणा जीवस्स ए संकिलेसठाणा वा ।
 एव विसोहिट्टाणा एो संजमल्लद्धिठाणा वा ॥५४॥
 एव य जीवट्टाणा ए गुणट्टाणा य अत्थि जीवस्स ।
 जेण हु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणाया ॥५५॥

गाथा ५०-५५

गार्थः—[जीवस्य] जीवके [वर्यः] वर्ण [नास्ति] नहीं, [न अपि गंधः] गंध भी
 नहीं, [रसः अपि न] रस भी नहीं [च] और [स्पर्शः अपि न] स्पर्श भी नहीं, [रूपं अपि न]

नहि राग जीवके, द्वेष नहि, अरु मोह जीवके है नहीं ।
 प्रत्यय नहीं. नहि कर्म अरु नोकर्म भी जीवके नहीं ॥५१॥
 नहीं वर्ण जीवके, वर्गणा नहि, कर्मस्पर्द्धक है नहीं ।
 अध्यात्मस्थान न जीवके, अनुभावस्थान भी है नहीं ॥५२॥
 जीवके नहीं कुळ योगस्थान रु, वंघस्थान भी है नहीं ।
 नहि उदयस्थान न जीवके, अरु स्थान मार्गणाके नहीं ॥५३॥
 स्थितिवंघस्थान न जीवके. संक्लेशस्थान भी है नहीं ।
 जीवके विशुद्धिस्थान. संयमलब्धिस्थान भी है नहीं ॥५४॥
 नहि जीवस्थान भी जीवके गुणस्थान भी जीवके नहीं ।
 ये सब ही पुद्गल द्रव्यके, परिणाम है जानो यही ॥५५॥

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।
 नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननम् ॥५०॥
 जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।
 नो प्रत्यया न कर्म नो कर्म चापि तस्य नास्ति ॥५१॥
 जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्धकानि कानिचित् ।
 नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥५२॥
 जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा ।
 नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥५३॥
 नो स्थितिवंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा ।
 नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥५४॥
 नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य ।
 येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ॥५५॥

रूप भी नहीं, [न शरीरं] शरीर भी नहीं, [संस्थानं अपि न] संस्थान भी नहीं, [संहननम् न] संहनन भी नहीं; [जीवस्य] जीवके [रागः नास्ति] राग भी नहीं, [द्वेषः अपि न] द्वेष भी नहीं, [मोहः] मोह भी [न एव विद्यते] विद्यमान नहीं, [प्रत्ययाः नो] प्रत्यय (आत्म) भी नहीं, [कर्म न] कर्म भी नहीं [च] और [नो कर्म अपि] नो कर्म भी [तस्य नास्ति] उसके नहीं है; [जीवस्य] जीवके [वर्गः नास्ति] वर्ग नहीं, [वर्गणा न] वर्गणा नहीं, [कानिचित् स्पर्धकानि न एव] कोई स्पर्धक भी नहीं, [अध्यात्मस्थानानि नो] अध्यात्मस्थान भी नहीं [च] और [अनुभागस्थानानि] अनुभागस्थान भी [न एव] नहीं है; [जीवस्य] जीवके [कानिचित् योगस्थानानि] कोई योगस्थान भी [न संति] नहीं [वा] अथवा [बंधस्थानानि न] बंधस्थान भी नहीं, [च] और [उदयस्थानानि] उदयस्थान भी [न एव] नहीं, [कानिचित् मार्गणा-स्थानानि न] कोई मार्गणास्थान भी नहीं हैं; [जीवस्य] जीवके [स्थितिवंधस्थानानि नो] स्थितिवंधस्थान भी नहीं [वा] अथवा [संक्लेशस्थानानि न] संक्लेशस्थान भी नहीं, [विशुद्धि-स्थानानि] विशुद्धिस्थान भी [न एव] नहीं [वा] अथवा [संयमलब्धिस्थानानि] संयमलब्धि-स्थान भी [नो] नहीं हैं; [च] और [जीवस्य] जीवके [जीवस्थानानि] जीवस्थान भी [न एव] नहीं [वा] अथवा [गुणस्थानानि] गुणस्थान भी [न संति] नहीं हैं; [येन तु] क्योंकि [एते सर्वे] यह सब [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यके [परिणामाः] परिणाम हैं ।

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वा वर्णः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः सुरभिर्दुरभिर्वा गंधः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुलघुमृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तत्रास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कामणं वा शरीरं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुञ्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद्ब्रजर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-

टीकाः—जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यका परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । १ । जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है वह सर्व ही जीवकी नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यका परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । २ । जो कडुवा, कषायला, चरपरा, खट्टा और मीठा रस है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । ३ । जो चिकना, रूखा, ठण्डा, गर्म, भारी, हलका, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । ४ । जो स्पर्शादि सामान्यपरिणाममात्र रूप है वह जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । ५ । जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस अथवा कामण शरीर है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । ६ । जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुञ्जक, वामन अथवा हुंडक संस्थान है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । ७ । जो ब्रजर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका अथवा असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । ८ । जो प्रीतिरूप राग है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलपरिणाममय है इसलिये (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । ९ । जो अप्रीतिरूप द्वेष है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । १० । जो यथार्थ तत्त्वकी अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप) मोह है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । ११ । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण हैं वेसे जो प्रत्यय (आस्रव) वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि

भिन्नत्वात् । यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेऽपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्पट्टपर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोऽकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मंदतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्धकानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कायचाङ्मनोवर्गणा-

वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । १२ । जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप कर्म है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । १३ । जो ब्रह्म पर्याप्तियोग्य और तीन शरीरयोग्य वस्तु (-पुद्गलस्पर्ध) रूप नोऽकर्म है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । १४ । जो कर्मके रसकी शक्तियोंका (अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदोंका) समूहरूप वर्ग है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । १५ । जो वर्गोंका समूहरूप वर्गणा है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । १६ । जो मन्दतीव्ररसवाले कर्मसमूहके विशिष्ट न्यास (-जमाव) रूप (वर्गणाके समूहरूप) स्पर्धक हैं वह सर्व ही जीवके नहीं हैं; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । १७ । स्वपरके एकत्वका अध्यास (निश्चय) हो तब (वर्तने पर), विशुद्ध चैतन्यपरिणामसे भिन्नरूप जिनका लक्षण है ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । १८ । भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके रसके परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो अनुभागस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी)

परिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्म-वस्थालक्षणाद्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकपायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्व-संज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कपायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कपायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि चारित्रमोह-विपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-

अनुभूतिसे भिन्न है । १६ । काय, वचन और मनोवर्गणाका कम्पन जिनका लक्षण है ऐसे जो योगस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । २० । भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो बन्धस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । २१ । अपने फलके उत्पन्न करनेमें समर्थ कर्म-अवस्था जिनका लक्षण है ऐसे जो उदयस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । २२ । गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कपाय, ज्ञान, संयम; दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका लक्षण है ऐसे जो मार्गणास्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । २३ । भिन्न भिन्न प्रकृतियोंका अमुक मर्यादा तक कालान्तरमें साथ रहना जिनका लक्षण है ऐसे जो स्थितिवन्धस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । २४ । कपायोंके विपाककी अतिशयता जिनका लक्षण है ऐसे जो संक्लेशस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । २५ । कपायोंके विपाककी मन्दता जिनका लक्षण है ऐसे जो विशुद्धिस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । २६ । चारित्रमोहके विपाककी क्रमशः निवृत्ति जिनका लक्षण है ऐसे जो संयमलब्धिस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । २७ । पर्याप्त एवं अपर्याप्त ऐसे बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी पचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जो

परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि पर्याप्तापर्याप्तवादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-
चतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेंद्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-
परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्य-
संयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिवादरसांपरायोप-
शमकक्षपकसूक्ष्मसांपरायोपशमकक्षपकोपशांतकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि
गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ।

शालिनी

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा

भिन्ना भावाः सर्व-एवास्य पुंसः ।

तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी

नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

जीवस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे
भिन्न है । २८ । मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत,
प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण—उपशमक तथा क्षपक, अनिवृत्तिवादर—सांपराय—उपशमक तथा
क्षपक, सूक्ष्म सांपराय—उपशमक तथा क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली
जिनका लक्षण है ऐसे जो गुणस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय
होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न हैं । २९ । (इसप्रकार ये समस्त ही पुद्गलद्रव्यके परिणाममय भाव
हैं; वे सब, जीवके नहीं हैं । जीव-तो परमार्थसे चैतन्यशक्तिमात्र है ।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[वर्ण-ब्राह्मः] जो वर्णादिक [वा] अथवा [राग मोह-ब्राह्मणः वा]
रागमोहादिक [भावाः] भाव कहे [सर्वे एव] वे सब ही [अस्य पुंसः] इस पुरुष (आत्मा) से
[भिन्नाः] भिन्न हैं [तेन एव] इसलिये [अन्तःतत्त्वतः पश्यतः] अन्तर्दृष्टिसे देखनेवालेको
[अमी नो दृष्टाः स्युः] यह सब दिखाई नहीं देते, [एकं परं दृष्टं स्यात्] मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही
दिखाई देता है—केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है ।

भावार्थः—परमार्थनय अभेद ही है इसलिये इस दृष्टिसे देखनेपर भेद नहीं दिखाई देता; इस
नयकी दृष्टिमें पुरुष चैतन्यमात्र ही दिखाई देता है । इसलिये वे समस्त ही वर्णादिक तथा रागादिक भाव
पुरुषसे भिन्न ही हैं ।

ये वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंत जो भाव हैं उनका स्वरूप विशेषरूपसे जानना हो तो गोम्मटसार
आदि ग्रन्थोंसे जान लेना । ३७ ।

ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तन्त्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यंते इति चेत्—

व्यवहारेण तु एहे जीवस्य भवंति वर्णाद्याः ।

गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनस्य ॥ ५६ ॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः ।

गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनस्य ॥ ५६ ॥

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबंध-
पर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य
विदधाति । निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः
परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति । ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य
सन्ति निश्चयेन तु न सन्तीति युक्ता प्रज्ञप्तिः ।

अव शिष्य पूछता है कि—यदि यह वर्णादिक भाव जीवके नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्तग्रन्थोंमें ऐसा
कैसे कहा गया है कि 'वे जीवके हैं' ? उसका उत्तर गाथारूपमें कहते हैं:—

गाथा ५६

गाथार्थः—[एते] यह [वर्णाद्याः गुणस्थानांताः भावाः] वर्णसे लेकर गुणस्थानपर्यंत जो
भाव कहे गये वे [व्यवहारेण तु] व्यवहारनयसे तो [जीवस्य भवंति] जीवके हैं (इसलिये सूत्रमें
कहे गये हैं), [तु] किन्तु [निश्चयनयस्य] निश्चयनयके मतमें [केचित् न] उनमेंसे कोई भी
जीवके नहीं हैं ।

टीकाः—यहाँ, व्यवहारनय पर्यायाश्रित होनेसे, सफेद रूईसे बना हुआ वस्त्र जो कि कुसुम्बी
(लाल) रङ्गसे रङ्गा हुआ है ऐसे वस्त्रके औपाधिक भाव (लाल रङ्ग) की भाँति, पुद्गलके संयोगवश
अनादि कालसे जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है ऐसे जीवके औपाधिक भाव (—वर्णादिक) का अवलम्बन
लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, (वह व्यवहारनय) दूसरेके भावको दूसरेका कहता है; और निश्चयनय
द्रव्याश्रित होनेसे, केवल एक जीवके स्वाभाविक भावका अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, दूसरेके
भावको किंचित्मात्र भी दूसरेका नहीं कहता, निषेध करता है । इसलिये वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंत जो
भाव हैं वे व्यवहारनयसे जीवके हैं और निश्चयनयसे जीवके नहीं हैं ऐसा (भगवानका स्याद्वादयुक्त)
कथन योग्य है ।

वर्णादि गुणस्थानांत भाव तु, जीवके व्यवहारसे ।

पर कोई भी ये भाव नहीं हैं, जीवके निश्चयविवे ॥ ५६ ॥

कृतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न संतीति—

एएहि य सम्बन्धो जहेव क्षीरोदयं मुणेदव्वो ।

ए य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

एतैश्च सम्बन्धो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः ।

न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥५७॥

यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परवगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वाद्गनेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावान्न निश्चयेन सलिलमस्ति । तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परवगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वाद्गनेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः सन्ति ।

अब फिर शिष्य पूछता है कि वर्णादिक निश्चयसे जीवके क्यों नहीं हैं ? इसका कारण कहिये । इसका उत्तर गाथारूपसे कहते हैं:—

गाथा ५७

गाथायं:—[एतं च सम्बन्धः] इन वर्णादिक भावोंके साथ जीवका सम्बन्ध [क्षीरोदकं यथा एव] दूध और पानीका एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगसम्बन्ध है ऐसा [ज्ञातव्यः] जानना [च] और [तानि] वे [तस्य तु न भवंति] उस जीवके नहीं हैं [यस्मात्] क्योंकि जीव [उपयोग-गुणाधिकः] उनसे उपयोगगुणसे अधिक है (इवह उपयोग गुणके द्वारा भिन्न ज्ञात होता है) ।

टीका:—जैसे—जलमिश्रित दूधका, जलके साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होनेपर भी, स्वलक्षणभूत दुग्धत्व-गुणके द्वारा व्याप्त होनेसे दूध जलसे अधिकपनेसे प्रतीत होता है; इसलिये; जैसा अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है वैसा जलके साथ दूधका सम्बन्ध न होनेसे, निश्चयसे जल दूधका नहीं है; इसप्रकार—वर्णादिक पुद्गलद्रव्यके परिणामोंके साथ मिश्रित इस आत्माका, पुद्गलद्रव्यके साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होनेपर भी, स्वलक्षणभूत उपयोगगुणके द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सर्व द्रव्योंसे अधिकपनेसे (-परिपूर्णपनेसे) प्रतीत होता है; इसलिये, जैसा अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है वैसा वर्णादिके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसलिये निश्चयसे वर्णादिक पुद्गलपरिणाम आत्माके नहीं हैं ।

इन भावसे संबंध जीवका, क्षीर जलवत् जानना ।

उपयोग गुणसे अधिक, तिससे भाव कोई न जीवका ॥ ५७ ॥

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत्—

पंथे सुस्संतं परिसदूण लोकां यणंति व्यवहारो ।
 सुस्सदि एतो पंथो ए य पंथो सुस्सदे कोई ॥५८॥
 तह जीवे कम्मणां णोकम्मणां च परिसदुं वरणं ।
 जीवस्स एस वरणो जिणैहि व्यवहारदो उत्तो ॥५९॥
 मंधरसफासरूपा देहो संस्थानमाइया जे य ।
 सब्बे व्यवहारस्स य णिच्छयदसहू ववदिसंति ॥६०॥

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः ।
 मुष्यते एष पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ॥५८॥
 तथा जीवे कर्मणां नो कर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम् ।
 जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारतः उक्तः ॥५९॥
 मंधरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानादयो ये च ।
 सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशन्ति ॥६०॥

अब यहाँ प्रश्न होता है कि इसप्रकार तो व्यवहारनय और निश्चयनयका विरोध आता है; अविरोध कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर दृष्टान्तद्वारा तीन गाथाओंमें कहते हैं:—

गाथा ५८-६०

गाथार्थः—[पथि मुष्यमाणं] जैसे मार्गमें जाते हुये व्यक्तिको लुटता हुआ [दृष्ट्वा] देखकर [एषः पंथा] यह मार्ग [मुष्यते] लुटता है, इसप्रकार [व्यवहारिणः लोकाः] व्यवहारीजन [भणंति] कहते हैं; किन्तु परमार्थसे विचार किया जाये तो [कश्चित् पंथा] कोई

देखा लुटाते पंथमें को, 'पंथ ये लुटात है'—
 जनगण कहे व्यवहारसे, नहीं पंथ को लुटात है ॥५८॥
 त्यों वर्ण देखा जीवमें इन कर्म अरु नोकर्मका ।
 जिनवर कहे व्यवहारसे, 'यह वर्ण है इस जीवका' ॥५९॥
 ह्यों मंधर, रस, रूप, स्पर्श, तन, संस्थान इत्यादिक सर्वे ।
 भूतार्थदृष्टा पुरुषने, व्यवहारवयसे वर्णये ॥६०॥

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुख्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुख्यत एष पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पंथा मुख्यत, तथा जीवे बंधपर्यायिणावस्थितकर्मणो नो कर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैव वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनो कर्म-वर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिवंध-स्थानसंबलेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् ।

मार्ग तो [न च मुख्यते] नहीं लुटता, मार्गमें जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है; [तथा] इसीप्रकार [जीवे] जीवमें [कर्मणां नो कर्मणां च] कर्मोंका और नोकर्मोंका [वर्णम्] वर्ण [वृष्ट्वा] देखकर [जीवस्य] जीवका [एषः वर्णः] यह वर्ण है' इसप्रकार [जिनः] जिनेन्द्रदेवने [व्यवहारतः] व्यवहारसे [उक्तः] कहा है । [एवं] इसीप्रकार [गंधरसस्पर्शरूपाणि] गंध, रस, स्पर्श, रूप, [देहः संस्थानादयः] देह, संस्थान आदि [ये च सर्वे] जो सब हैं, [व्यवहारस्य] वे सब व्यवहारसे [निश्चयद्वष्टारः] निश्चयके देखनेवाले [व्यपदिशन्ति] कहते हैं ।

टीका:—जैसे व्यवहारी जन, मार्गमें जाते हुए किसी सार्थ (संध) को लुटता हुआ देखकर, संधकी मार्गमें स्थिति होनेसे उसका उपचार करके, 'यह मार्ग लुटता है' ऐसा कहते हैं, तथापि निश्चयसे देखा जाये तो, जो आकाशके अमुक भागस्वरूप है वह मार्ग तो कुछ नहीं लुटता; इसीप्रकार भगवान् अरहन्तदेव, जीवमें बन्धपर्यायसे स्थितिको प्राप्त कर्म और नोकर्मका वर्ण देखकर, कर्म-नोकर्मकी जीवमें स्थिति होनेसे उसका उपचार करके, 'जीवका यह वर्ण है' ऐसा व्यवहारसे प्रगट करते हैं, तथापि निश्चयसे, सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोगगुणके द्वारा अन्यद्वन्द्वोंसे अधिक है ऐसे जीवका कोई भी वर्ण नहीं है । इसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिवंधस्थान, संबलेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान—यह सब ही (भाव) व्यवहारसे अरहन्तभगवान् जीवके कहते हैं, तथापि निश्चयसे, सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोगगुणके द्वारा अन्यसे अधिक है ऐसे जीवके वे सब नहीं हैं, क्योंकि इन वर्णादि भावोंके और जीवके तादात्म्यलक्षण सम्बन्धका अभाव है ।

भावाय:—ये वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंत भाव सिद्धान्तमें जीवके कहे हैं वे व्यवहारनयसे कहे हैं; निश्चयनयसे वे जीवके नहीं हैं क्योंकि जीव तो परमार्थसे उपयोगस्वरूप है ।

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो नास्तीति चेत्—

तत्र भवे जीवाणं संसारस्थानां ह्येति वणणादी ।

संसारपरिमुक्त्याणं णत्थि हु वणणादस्मी केई ॥६१॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवन्ति वर्णादयः ।

संसारपरिमुक्त्याणां न सन्ति खलु वर्णादयः केचित् ॥६१॥

यहाँ ऐसा जानना कि—पहले व्यवहारनयको असत्यार्थ कहा था सो वहाँ ऐसा न समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु कथंचित् असत्यार्थ जानना; क्योंकि जब एक द्रव्यको भिन्न, पर्यायोसे अभेदरूप, उसके असाधारण गुणमात्रको प्रधान करके कहा जाता है तब परस्पर द्रव्योंका निमित्तनैमित्तिकभाव तथा निमित्तसे होनेवाली पर्यायें—वे सब गौण हो जाते हैं, वे एक अभेदद्रव्यकी दृष्टिमें प्रतिभासित नहीं होते, इसलिये वे सब उस द्रव्यमें नहीं हैं इसप्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। यदि उन भावोंको उस द्रव्यमें कहा जाये तो वह व्यवहारनयसे कहा जा सकता है। ऐसा नयविभाग है।

यहाँ शुद्धनयकी दृष्टिसे कथन है इसलिये ऐसा सिद्ध किया है कि जो यह समस्त भाव सिद्धान्तमें जीवके कहे गये हैं सो व्यवहारसे कहे गये हैं। यदि निमित्तनैमित्तिकभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो वह व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ भी कहा जा सकता है। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये तो सर्व व्यवहारका लोप हो जायेगा और सर्व व्यवहारका लोप होनेसे परमार्थका भी लोप हो जायेगा। इसलिये जिनेन्द्रदेवका उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यक्ज्ञान है, और सर्वथा एकान्त वह मिथ्यात्व है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा ६१

गाथार्थः—[वर्णादयः] जो वर्णादिक हैं वे [संसारस्थानां] संसारमें स्थित [जीवानां] जीवोंके [तत्र भवे] उस संसारमें [भवन्ति] होते हैं और [संसार परिमुक्त्याणां] संसारसे मुक्त हुए जीवोंके [खलु] निश्चयसे [वर्णादयः केचित्] वर्णादिक कोई भी (भाव) [न सन्ति] नहीं हैं; (इसलिये तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है) ।

संसारी जीवके वर्ण आदिक, भाव हैं संसार में ।

संसारसे परिमुक्तके नहीं, भाव को वर्णादिके ॥६१॥

यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात् । ततः सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्ति - शून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात् । संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्ति-शून्यस्याभवतश्चापि मोक्षवस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्व-व्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात् ।

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिवेशे दोषश्चायम्—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि ।

जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

टीका:—जो निश्चयसे समस्त ही अवस्थाओंमें यद्-आत्मकपनेसे अर्थात् जिस-स्वरूपपनेसे व्याप्त हो और तद्-आत्मकपनेकी अर्थात् उस-स्वरूपपनेकी व्याप्तिसे रहित न हो, उसका उनके साथ तादात्म्य-लक्षण सम्बन्ध होता है। (जो वस्तु सर्व अवस्थाओंमें जिस भावस्वरूप हो और किसी अवस्थामें उस भावस्वरूपताको न छोड़े, उस वस्तुका उन भावोंके साथ तादात्म्यसम्बन्ध होता है।) इसलिये सभी अवस्थाओंमें जो वर्णादिस्वरूपतासे व्याप्त होता है और वर्णादिस्वरूपताकी व्याप्तिसे रहित नहीं होता ऐसे पुद्गलका वर्णादिभावोंके साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध है; और यद्यपि संसार-अवस्थामें कथंचित् वर्णादिस्वरूपतासे व्याप्त होता है तथा वर्णादिस्वरूपताकी व्याप्तिसे रहित नहीं होता तथापि मोक्ष-अवस्थामें जो सर्वथा वर्णादिस्वरूपताकी व्याप्तिसे रहित होता है और वर्णादिस्वरूपतासे व्याप्त नहीं होता ऐसे जीवका वर्णादि भावोंके साथ किसी भी प्रकारसे तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध नहीं है।

भावार्थः—द्रव्यकी सर्व अवस्थाओंमें द्रव्यमें जो भाव व्याप्त होते हैं उन भावोंके साथ द्रव्यका तादात्म्यसम्बन्ध कहलाता है। पुद्गलकी सर्व अवस्थाओंमें पुद्गलमें वर्णादि भाव व्याप्त हैं इसलिये वर्णादि भावोंके साथ पुद्गलका तादात्म्यसम्बन्ध है। संसारावस्थामें जीवमें वर्णादि भाव किसी प्रकारसे कहे जा सकते हैं किन्तु मोक्ष-अवस्थामें जीवमें वर्णादि भाव सर्वथा नहीं हैं इसलिये जीवका वर्णादि भावोंके साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है यह बात न्यायप्राप्त है।

अब, यदि कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय व्यक्त करे कि जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य है, तो उसमें यह दोष आता है ऐसा इस गाथा द्वारा कहते हैं:—

ये भाव सव्वे हैं जीव जो, ऐसा हि तू माने कभी ।

तो जीव और अजीवमें कुछ, भेद तुझ रहता नहीं ! ॥६२॥

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि ।

जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित् ॥६२॥

यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छन्तः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्ति, तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छन्तो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्तीति यस्याभिनिवेशः तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः ।

संसारवस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेऽप्ययमेव दोषः—

गाथा ६२

गाथार्थः—वर्णादिकके साथ जीवका तादात्म्य माननेवालेको कहते हैं कि—हे मिथ्या अभिप्रायवाले ! [यदि हि च] यदि तुम [इति मन्यसे] ऐसे मानोगे कि [एते सर्वे भावाः] यह वर्णादिक सर्व भाव [जीवः एव हि] जीव ही हैं, [तु] तो [ते] तुम्हारे मतमें [जीवस्य च अजीवस्य] जीव और अजीवका [कश्चित्] कोई [विशेषः] भेद [नास्ति] नहीं रहता ।

टीकाः—जैसे वर्णादिक भाव, क्रमशः आविर्भाव (प्रगट होना, उपजना) और तिरोभाव (छिप जाना, नाश हो जाना) को प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियोंके द्वारा (अर्थात् पर्यायोंके द्वारा) पुद्गलद्रव्यके साथ ही साथ रहते हुये, पुद्गलका वर्णादिके साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं—विस्तारते हैं, इसीप्रकार वर्णादिक भाव, क्रमशः आविर्भाव और तिरोभावको प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियोंके द्वारा जीवके साथ ही साथ रहते हुये, जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं,—ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मतमें, अन्य शेष द्रव्योंसे असाधारण ऐसी वर्णादिस्वरूपता—कि जो पुद्गलद्रव्यका लक्षण है—उसका जीवके द्वारा अङ्गीकार किया जाता है इसलिये, जीव-पुद्गलके अविशेषका प्रसङ्ग आता है, और ऐसा होनेसे, पुद्गलोंसे भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहनेसे, जीवका अवश्य अभाव होता है ।

भावार्थः—जैसे वर्णादिकभाव पुद्गलद्रव्यके साथ तादात्म्यस्वरूप हैं उसीप्रकार जीवके साथ तादात्म्यस्वरूप हों तो जीव-पुद्गलमें कोई भी भेद न रहे और ऐसा होनेसे जीवका ही अभाव हो जाये यह महादोष आता है ।

अब, 'मात्र संसार-अवस्थामें ही जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य है' इस अभिप्रायमें भी यही दोष आता है सो कहते हैंः—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वणणादी ।
 तम्हा संसारत्था जीवा रूपित्तमावणणा ॥६३॥
 एवं पुग्गलद्रव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
 णिन्वाणमुवगतो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६४॥

अथ संसारस्थानां जीवानां तत्र भवन्ति वर्णादयः ।
 तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥६३॥
 एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते ।
 निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥६४॥

यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति । रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद्द्रव्यस्य लक्षणमस्ति । ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किञ्चिद्भवति स जीवो भवति । रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव

गाथा ६३-६४

गाथार्थः—[अथ] अथवा यदि [तव] तुम्हारा मत यह हो कि—[संसारस्थानां जीवानां] संसारमें स्थित जीवोंके ही [वर्णादयः] वर्णादिक (तादात्म्यस्वरूपसे) [भवन्ति] हैं, [तस्मात्] तो इस कारणसे [संसारस्थाः जीवाः] संसारमें स्थित जीव [रूपित्वम् आपन्नाः] रूपित्वको प्राप्त हुये; [एवं] ऐसा होनेसे, [तथालक्षणेन] वैसा लक्षण (अर्थात् रूपित्वलक्षण) तो पुद्गलद्रव्यका होनेसे, [मूढमते] हे मूढबुद्धि ! [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य ही [जीवः] जीव कहलाया [च] और (मात्र संसार-अवस्थामें ही नहीं किन्तु) [निर्वाणम् उपगतः अपि] निर्वाण प्राप्त होनेपर भी [पुद्गलः] पुद्गल ही [जीवत्वं] जीवत्वको [प्राप्तः] प्राप्त हुआ !

टीकाः—फिर, जिसका यह अभिप्राय है कि—संसार-अवस्थामें जीवका वर्णादिभावोंके साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, उसके मतमें संसार-अवस्थाके समय वह जीव अवश्य रूपित्वको प्राप्त होता है; और रूपित्व तो किसी द्रव्यका, शेष द्रव्योंसे असाधारण ऐसा लक्षण है। इसलिये रूपित्व (लक्षण) से लक्षित

वर्णादि हैं संसारी जीवके, योहि मत तुझ हीय जाँ ।
 संसारस्थित सब जीवगण, पाये तदा रूपित्वको ॥६३॥
 इसरीत पुद्गल वो हि जीव, हे मूढमति ! समचिहसे ।
 अरु मोक्षप्राप्त हुआ भि पुद्गलद्रव्य जीव बने अरे ॥६४॥

भवति । एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोपि । तथा च सति मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्नवस्थास्वनपायित्वादनादिनिधनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोपि । तथा च सति तस्यापि पुद्गलोभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः ।

एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति—

एकं च दोषिण त्रिणिण य चत्तारि य पंच इन्द्रिया जीवा ।

वादरपञ्जजतिदरा पयडीओ एणकम्मस्स ॥६५॥

एदाहि य णिवत्ता जीदट्टाणाउ करणभूदाहिं ।

पयडीहिं पुग्गलमइहिं ताहिं कह भणएदे जीवो ॥६६॥

(लक्ष्यरूप होता हुआ) जो कुछ हो वही जीव है । रूपित्वसे लक्षित तो पुद्गलद्रव्य ही है । इसप्रकार पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव है, किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है । ऐसा होनेपर, मोक्ष-अवस्थामें भी पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव (सिद्ध होता) है, किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कोई जीव (सिद्ध होता) नहीं; क्योंकि सदा अपने स्वलक्षणसे लक्षित ऐसा द्रव्य सभी अवस्थाओंमें हानि अथवा हासको न प्राप्त होनेसे अनादि-अनन्त होता है । ऐसा होनेसे, उसके मतमें भी (संसार-अवस्थामें ही जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य माननेवालेके मतमें भी), पुद्गलोंसे भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहनेसे, जीवका अवश्य अभाव होता है ।

भावार्थः—यदि ऐसा माना जाय कि संसार-अवस्थामें जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्यसम्बन्ध है तो जीव मूर्तिक हुआ; और मूर्तिकत्व तो पुद्गलद्रव्यका लक्षण है; इसलिये पुद्गलद्रव्य ही जीवद्रव्य सिद्ध हुआ, उसके अतिरिक्त कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य नहीं रहा । और मोक्ष होनेपर भी उन पुद्गलोंका ही मोक्ष हुआ; इसलिये मोक्षमें भी पुद्गल ही जीव ठहरे, अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नहीं रहा । इसप्रकार संसार तथा मोक्षमें पुद्गलसे भिन्न ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहनेसे जीवका ही अभाव होगया । इसलिये मात्र संसार-अवस्थामें ही वर्णादि भाव जीवके हैं ऐसा माननेसे भी जीवका अभाव ही होता है ।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि वर्णादिक भाव जीव नहीं हैं, यह अब कहते हैं:—

जीव एक-दो-त्रय-चार-पंचेन्द्रिय, वादर, सूक्ष्म हैं ।

पर्याप्त अनपर्याप्त जीव जु नामकर्मकी प्रकृति हैं ॥६५॥

जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे ।

उससे रचित जीवथान जो हैं, जीव क्यों नहिं कहाय वे ॥६६॥

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः ।
 वादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥६५॥
 एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः ।
 प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ॥६६॥

निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तच्चेदेवेति कृत्वा, यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत् तथा जीवस्थानानि वादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रिय-पर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव न तु जीवः । नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादिमूर्तकार्यानुमेयं च । एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्मप्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरे-काजीवस्थानैरेवोक्तानि । ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्तः ।

। गाथा ६५-६६

गाथार्थः—[एकं वा] एकेन्द्रिय, [द्वे] द्वीन्द्रिय, [त्रीणि च] त्रीन्द्रिय, [चत्वारि च] चतुरिन्द्रिय, और [पंचेन्द्रियाणि] पंचेन्द्रिय, [वादरपर्याप्तेतराः] वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त शरीर अपर्याप्त [जीवाः] जीव तथा—यह [नामकर्मणः] नामकर्मकी [प्रकृतयः] प्रकृतियाँ हैं; [एताभिः च] इन [प्रकृतिभिः] प्रकृतियों [पुद्गलमयीभिः ताभिः] जो कि पुद्गलमयरूपसे प्रसिद्ध हैं उनके द्वारा [करणभूताभिः] करणस्वरूप होकर [निर्वृत्तानि] रचित [जीवस्थानानि] जो जीवस्थान (जीवसमास) हैं वे [जीवः] जीव [कथं] कैसे [भण्यते] कहे जा सकते हैं ?

टीकाः—निश्चयनयसे कर्म और करणकी अभिन्नता होनेसे, जो जिससे किया जाता है (-होता है) वह वही है—यह समझकर (निश्चय करके), जैसे सुवर्ण-पत्र सुवर्णसे किया जाता होनेसे सुवर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं है, इसीप्रकार जीवस्थान वादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्मकी प्रकृतियोंसे किये जाते होनेसे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं । और नामकर्मकी प्रकृतियोंकी पुद्गलमयता तो आगमसे प्रसिद्ध है तथा अनुमानसे भी जानी जा सकती है क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले शरीर आदि जो मूर्तिक भाव हैं वे कर्मप्रकृतियोंके कार्य हैं इसलिये कर्मप्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं ऐसा अनुमान हो सकता है ।

इसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलमय नामकर्मकी प्रकृतियोंके द्वारा रचित होनेसे पुद्गलसे अभिन्न हैं; इसलिये, मात्र जीवस्थानोंको पुद्गलमय कहनेपर, इन सबको भी पुद्गलमय ही कथित समझना चाहिये ।

इसलिये वर्णादिक जीव नहीं हैं यह निश्चयनयका सिद्धान्त है ।

* उपजाति *

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्
 तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत् ।
 रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं
 पश्यति रुक्मं न कथंचनासिम् ॥३८॥

* उपजाति *

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु
 निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
 ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा
 यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥३९॥

शेषमन्यद्वयवहारमात्रम्—

यहाँ इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[येन] जिस वस्तुसे [अत्र यद् किञ्चित् निर्वर्त्यते] जो भाव बने, [ततः] वह भाव [तद् एव स्यात्] वह वस्तु ही है, [कथंचन] किसी भी प्रकार [अन्यत् न] अन्य वस्तु नहीं है; [इह] जैसे जगतमें [रुक्मेण निर्वृत्तम् असिकोशं] स्वर्णनिर्मित म्यानको [रुक्मं पश्यन्ति] लोग स्वर्ण ही देखते हैं, (उसे) [कथंचन] किसी प्रकारसे [न असिम्] तलवार नहीं देखते ।

भावार्थः—वर्णादि पुद्गल-रचित हैं इसलिये वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं । ३८ ।

अब दूसरा कलश कहते हैं:—

श्लोकार्थः—अहो ज्ञानी जनों ! [इदं वर्णादिसामग्र्यम्] ये वर्णादिकसे लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव हैं उन समस्तको [एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्] एक पुद्गलकी रचना [विदन्तु] जानो; [ततः] इसलिये [इदं] यह भाव [पुद्गलः एव अस्तु] पुद्गल ही हों, [न आत्मा] आत्मा न हों; [यतः] क्योंकि [सः विज्ञानघनः] आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञानका पुंज है, [ततः] इसलिये [अन्यः] वह इन वर्णादिक भावोंसे अन्य ही है । ३९ ।

अत्र, यह कहते हैं कि इस ज्ञानघन आत्माके अतिरिक्त जो कुछ है उसे जीव कहना सो सब व्यवहार मात्र है:—

पञ्जत्तापञ्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चैव ।
देहस्य जीवसंज्ञा सुत्ते व्यवहारदो उक्ता ॥६७॥

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा वादराश्च ये चैव ।

देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ॥६७॥

यत्किल वादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञाः सूत्रे जीवसंज्ञात्वेनोक्ताः अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहारः । यथा हि कस्यचिदाजन्म-प्रसिद्धैकघृतकुंभस्य तदितरकुंभानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुंभः स मृण्मयो न घृतमय इति तत्प्रसिद्ध्या कुंभे घृतकुंभव्यवहारः, तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमात्र जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः ।

गाथा ६७

गाथार्थः—[ये] जो [पर्याप्तापर्याप्ताः] पर्याप्त, अपर्याप्त [सूक्ष्माः वादराः च] सूक्ष्म और वादर आदि [ये च एव] जितनी [देहस्य] देहकी [जीवसंज्ञाः] जीवसंज्ञा कही हैं वे सब [सूत्रे] सूत्रमें [व्यवहारतः] व्यवहारसे [उक्ताः] कही हैं ।

टीकाः—वादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त—इन शरीरकी संज्ञाओंको (नामोंको) सूत्रमें जीवसंज्ञारूपसे कहा है, वह, परकी प्रसिद्धिके कारण, 'घीके घड़े' की भाँति व्यवहार है—कि जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है (अर्थात् उसमें प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है) । इसी बातको स्पष्ट कहते हैं—

जैसे किसी पुरुषको जन्मसे लेकर मात्र 'घीका घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़ेको न जानता हो, उसे समझानेके लिये "जो यह 'घीका घड़ा' है सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं" इसप्रकार (समझानेवालेके द्वारा) घड़ेमें घीके घड़ेका व्यवहार किया जाता है, क्योंकि उस पुरुषको 'घीका घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है; इसीप्रकार इस अज्ञानी लोकको अनादि संसारसे लेकर 'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्ध जीवको नहीं जानता, उसे समझानेके लिये (—शुद्ध जीवका ज्ञान करानेके लिये "जो यह 'वर्णादिमान जीव' है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं" इसप्रकार (सूत्रमें) जीवमें वर्णादिमानपनेका व्यवहार किया गया है, क्योंकि उस अज्ञानी लोकको 'वर्णादिमान जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है ।

पर्याप्त अनपर्याप्त जो, हैं सूक्ष्म वरु वादर सभी ।

व्यवहारसे कही जीवसंज्ञा, देहकी शास्त्रन महीं ॥६७॥

* अनुष्टुम् *

घृतकुंभाभिधानेऽपि कुंभो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति—

मोहनकर्मस्सुदया दु वरिण्या जे इमे गुणद्वाना ।
ते कह हवति जीवा जे णिच्चमचेदणा उता ॥६८॥

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि ।
तानि कथं भवति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥६८॥

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[चेत्] यदि [घृतकुंभाभिधाने अपि] 'धीका घड़ा' ऐसा कहनेपर भी [कुम्भः घृतमयः न] घड़ा है वह धीमय नहीं है (-मिट्टीमय ही है), [वर्णादिमत्-जीवजल्पने अपि] तो इसीप्रकार 'वर्णादिमान् जीव' ऐसा कहनेपर भी [जीवः न तन्मयः] जीव है वह वर्णादिमय नहीं है (-ज्ञानघन ही है) ।

भावार्थः—धीसे भरे हुए घड़ेको व्यवहारसे 'धीका घड़ा' कहा जाता है तथापि निश्चयसे घड़ा धी-स्वरूप नहीं है; धी धी-स्वरूप है, घड़ा मिट्टी-स्वरूप है; इसीप्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियों इत्यादिके साथ एक त्रेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीवको सूत्रमें व्यवहारसे 'यंचेन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, वादर जीव, देव जीव, मनुष्य जीव' इत्यादि कहा गया है तथापि निश्चयसे जीव उस-स्वरूप नहीं है; वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियाँ इत्यादि पुद्गलस्वरूप हैं, जीव ज्ञानस्वरूप है । ४० ।

अब कहते हैं कि (जैसे वर्णादि भाव जीव नहीं हैं यह सिद्ध हुआ उसीप्रकार) यह भी सिद्ध हुआ कि रागादि भाव भी जीव नहीं हैं:—

गाथा ६८

गाथार्थः—[यानि इमानि] जो यह [गुणस्थानानि] गुणस्थान हैं वे [मोहनकर्मणः उदयात् तु] मोहकर्मके उदयसे होते हैं [वर्णितानि] ऐसा (सर्वज्ञके आगममें) वर्णन किया गया है; [तानि] वे [जीवाः] जीव [कथं] कैसे [भवति] हो सकते हैं [यानि] कि जो [नित्यं] सदा [अचेतनानि] अचेतन [उक्तानि] कहे गये हैं ?

मोहनकर्मके उदयसे, गुणस्थान जो ये वर्णिये ।

वे क्यों बने आत्मा, निरंतर जो अचेतन जिन कहे ॥६८॥

मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव न तु जीवः । गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्यऽस्वभावव्याप्तस्यात्मनोऽतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यम् । एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोर्कर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिवंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात्पुद्गल एव न तु जीव इति स्वयमायातम् । ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धम् ।

तर्हि को जीव इति चेत्—

टीकाः—ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्मकी प्रकृतिके उदयपूर्वक होते होनेसे, सदा ही अचेतन होनेसे, कारण जैसा ही कार्य होता है ऐसा समझकर (समझकर, निश्चय कर) जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं इसी न्यायसे, वे पुद्गल ही हैं—जीव नहीं । और गुणस्थानोंका सदा ही अचेतनत्व तो आगमसे सिद्ध होता है तथा चैतन्यस्वभावसे व्याप्त जो आत्मा उससे भिन्नपनेसे वे गुणस्थान भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं इसलिये भी उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है ।

इसीप्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिवन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होनेसे, सदा ही अचेतन होनेसे, पुद्गल ही हैं—जीव नहीं ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया । इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं हैं ।

भावार्थः—शुद्धद्वयार्थिक नयकी दृष्टिमें चैतन्य अभेद है और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं । परनिमित्तसे होनेवाले चैतन्यके विकार, यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं तथापि, चैतन्यकी सर्व अवस्थाओंमें व्यापक न होनेसे चैतन्यशून्य हैं—जड़ हैं । और आगममें भी उन्हें अचेतन कहा है । भेदज्ञानी भी उन्हें चैतन्यसे भिन्नरूप अनुभव करते हैं इसलिये भी वे अचेतन हैं, चेतन नहीं ।

प्रश्नः—यदि वे चेतन नहीं हैं तो क्या हैं ? वे पुद्गल हैं या कुछ और ?

उत्तरः—वे पुद्गलकर्मपूर्वक होते हैं इसलिये वे निश्चयसे पुद्गल ही हैं क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है ।

इसप्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्गलकर्मके उदयके निमित्तसे होनेवाले चैतन्यके विकार भी जीव नहीं, पुद्गल हैं ।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव कौन है ? उसके उत्तररूप श्लोक कहते हैंः—

* अनुष्टुभ् *

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।

जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥

* शार्दूलविक्रीडित *

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेषास्त्यजीवो यतो

नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ।

इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा

व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम् ॥४२॥

श्लोकार्थः—[अनादि] जो अनादि^१ है, [अनन्तम्] अनन्त^२ है, [अचलं] अचल^३ है, [स्वसंवेद्यम्] स्वसंवेद्य^४ है [तु] और [स्फुटम्] प्रगट^५ है—ऐसा जो [इदं चैतन्यम्] यह चैतन्य [उच्चैः] अत्यन्त [चकचकायते] चकचकित—प्रकाशित हो रहा है, [स्वयं जीवः] वह स्वयं ही जीव है ।

भावार्थः—वर्णादिक और रागादिक भाव जीव नहीं हैं किन्तु जैसा ऊपर कहा वैसा चैतन्य भाव ही जीव है । ४१ ।

अब, काव्य द्वारा यह समझाते हैं कि चेतनत्व ही जीवका योग्य लक्षण है—

श्लोकार्थः—[यतः अजीवः अस्ति द्वेषा] अजीव दो प्रकारके हैं—[वर्णाद्यैः सहितः] वर्णादिसहित [तथा विरहितः] और वर्णादिरहित; [ततः] इसलिये [अमूर्तत्वम् उपास्य] अमूर्तत्वका आश्रय लेकर भी (अर्थात् अमूर्तत्वको जीवका लक्षण मानकर भी) [जीवस्य तत्त्वं] जीवके यथार्थ स्वरूपको [जगत् न पश्यति] जगत् नहीं देख सकता;—[इति आलोच्य] इसप्रकार परीक्षा करके [विवेचकैः] भेदज्ञानी पुरुषोंने [न अव्यापि अतिव्यापि वा] अव्यापि और अतिव्यापि दूषणोंसे रहित [चैतन्यम्] चेतनत्वको जीवका लक्षण कहा है [समुचितं] वह योग्य है । [व्यक्तं] वह चैतन्यलक्षण प्रगट है, [व्यञ्जित-जीव-तत्त्वम्] उसने जीवके यथार्थ स्वरूपको प्रगट किया है और [अचलं] वह अचल है—चलाचलता रहित, सदा विद्यमान है । [आलंब्यताम्] जगत् उसीका अवलम्बन करो ! (उससे यथार्थ जीवका ग्रहण होता है ।) । ४२ ।

१ अर्थात् किसी काल उत्पन्न नहीं हुआ । २ अर्थात् किसी काल जिसका विनाश नहीं । ३ अर्थात् जो कभी चैतन्यपनेसे अन्यरूप—चलाचल-नहीं होता । ४ अर्थात् जो स्वयं अपने आपसे ही जाना-जाता है । ५ अर्थात् छुपा हुआ नहीं ।

✽ वसन्ततिलका ✽

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयंगुल्लसंतम् ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥४३॥

नानट्यतां तथापि—

भावार्थः—निश्चयसे वर्णादिभाव—वर्णादिभावोंमें रागादिभाव अन्तर्हित हैं—जीवमें कभी व्याप्त नहीं होते इसलिये वे निश्चयसे जीवके लक्षण हैं ही नहीं; उन्हें व्यवहारसे जीवका लक्षण मानने पर भी अव्याप्ति नामक दोष आता है क्योंकि सिद्ध जीवोंमें वे भाव व्यवहारसे भी व्याप्त नहीं होते। इसलिये वर्णादिभावोंका आश्रय लेनेसे जीवका यथार्थस्वरूप जाना ही नहीं जाता।

यद्यपि अमूर्तत्व सर्व जीवोंमें व्याप्त है तथापि उसे जीवका लक्षण माननेपर अतिव्याप्ति नामक दोष आता है, कारण कि पाँच अजीव द्रव्योंमेंसे एक पुद्गलद्रव्यके अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये चार द्रव्य अमूर्त होनेसे, अमूर्तत्व जीवमें व्यापता है वैसे ही चार अजीव द्रव्योंमें भी व्यापता है; इसप्रकार अतिव्याप्ति दोष आता है। इसलिये अमूर्तत्वका आश्रय लेनेसे भी जीवका यथार्थ स्वरूप ग्रहण नहीं होता है।

चैतन्यलक्षण सर्व जीवोंमें व्यापता होनेसे अव्याप्तिदोषसे रहित है, और जीवके अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्यमें व्यापता न होनेसे अतिव्याप्तिदोषसे रहित है; और वह प्रगट है; इसलिये उसीका आश्रय ग्रहण करनेसे जीवके यथार्थ स्वरूपका ग्रहण हो सकता है। ४२।

अब, 'जब कि ऐसे लक्षणसे जीव प्रगट है तब भी अज्ञानी जनोको उसका अज्ञान क्यों रहता है ?'—इसप्रकार आचार्यदेव आश्चर्य तथा खेद प्रगट करते हैं:—

श्लोकार्थः—[इति लक्षणतः] यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षणके कारण [जीवाद अजीवम् विभिन्नं] जीवसे अजीव भिन्न है [स्वयम् गुल्लसन्तम्] उसे (अजीवको) अपने आप ही (—स्वतंत्रपने, जीवसे भिन्नपने) विलसित होता हुआ—परिणमित होता हुआ [ज्ञानी जनः] ज्ञानीजन [अनुभवति] अनुभव करते हैं, [तत्] तथापि [अज्ञानिनः] अज्ञानीको [निरवधि-प्रविजृम्भितः अयं मोहः तु] अमर्यादरूपसे फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्वपरके एकत्वकी भ्रान्ति) [कथम् नानटीति] क्यों नाचता है—[अहो बत] यह हमें महा आश्चर्य और खेद है ! ४३।

अब पुनः मोहका प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि 'यदि मोह नाचता है तो नाचो ? तथापि ऐसा ही है':—

* वसन्ततिलका *

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाटये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥४४॥

* मन्दाक्रान्ता *

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥४५॥

श्लोकार्थः—[अस्मिन् अनादिनि महति अविवेक-नाटये] इस अनादिकालीन महा अविवेकके नाटकमें अथवा नाचमें [वर्णादिमान् पुद्गलः एव नटति] वर्णादिमान् पुद्गल ही नाचता है, [न अन्यः] अन्य कोई नहीं; (अभेद ज्ञानमें पुद्गल ही अनेक प्रकारका दिखाई देता है, जीव अनेकप्रकारका नहीं है;) [च] और [अयं जीवः] यह जीव तो [रागादि-पुद्गल-विकार-विरुद्ध-शुद्ध-चैतन्यधातुमय-मूर्तिः] रागादिक पुद्गलविकारोंसे विलक्षण, शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है ।

भावार्थः—रागादिक चिद्विकारको (चैतन्यविकारोंको) देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना कि ये भी चैतन्य ही हैं, क्योंकि चैतन्यकी सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त हो तो चैतन्यके कहलायें। रागादि विकार सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त नहीं होते—मोक्षअवस्थामें उनका अभाव है। और उनका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है। इसलिये वे चेतन नहीं, जड़ हैं। चैतन्यका अनुभव निराकुल है, वही जीवका स्वभाव है ऐसा जानना। ४४।

अब, भेदज्ञानकी प्रवृत्तिके द्वारा यह ज्ञातृद्रव्य स्वयं प्रगट होता है इसप्रकार कलशमें महिमा प्रगट करके अधिकार पूर्ण करते हैं:—

श्लोकार्थः—[इत्थं] इसप्रकार [ज्ञान-क्रकच-कलना-पाटनं] ज्ञानरूपी करवतका जो वारम्बार अभ्यास है उसे [नाटयित्वा] नचाकर [यावत्] जहाँ [जीवाजीवौ] जीव और अजीव दोनों [स्फुट-विघटनं न एव प्रयातः] प्रगटरूपसे अलग नहीं हुए, [तावत्] वहाँ तो [ज्ञातृद्रव्यं] ज्ञातृद्रव्य, [प्रसभ-विकसत्-व्यक्त-चिन्मात्रशक्त्या] अत्यन्त विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्तिसे [विश्वं-व्याप्य] विश्वको व्याप्त करके, [स्वयम्] अपने आप ही [अतिरसात्] अतिवेगसे [उच्चैः] उन्नतया अर्थात् आत्यंतिकरूपसे [चकाशे] प्रकाशित हो उठा ।

भावार्थः—इस कलशका आशय दो प्रकारका है:—

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ ।

इति श्रीमद्मृतचंद्रहरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ जीवाजीव प्ररूपकः प्रथमोऽंकः ॥

उपरोक्त ज्ञानका अभ्यास करते करते जहाँ जीव और अजीव दोनों स्पष्ट भिन्न समझमें आये कि तत्काल ही आत्माका निर्विकल्प अनुभव हुआ—सम्यग्दर्शन हुआ। (सम्यग्दृष्टि आत्मा श्रुतज्ञानसे विश्वके समस्त भावोंको सत्तेपसे अथवा विस्तारसे जानता है और निश्चयसे विश्वको प्रत्यक्ष जाननेका उसका स्वभाव है; इसलिये यह कहा है कि वह विश्वको जानता है।) एक आशय तो इसप्रकार है।

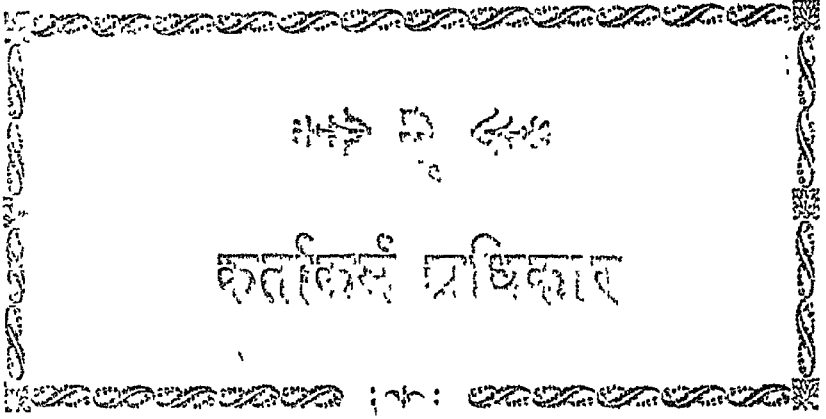
दूसरा आशय इसप्रकारसे है:—जीव-अजीवका अनादिकालीन संयोग केवल अलग होनेसे पूर्व अर्थात् जीवका मोक्ष होनेसे पूर्व, भेदज्ञानके भाते भाते अमुक दशा होनेपर निर्विकल्प धारा जर्मी—जिसमें केवल आत्माका अनुभव रहा; और वह श्रेणि अत्यन्त वेगसे आगे बढ़ते बढ़ते केवलज्ञान प्रगट हुआ। और फिर अघातियाकर्मोंका नाश होनेपर जीवद्रव्य अजीवसे केवल भिन्न हुआ। जीव-अजीवके भिन्न होनेकी यह रीति है। ४५।

टीका:—इसप्रकार जीव और अजीव अलग अलग होकर (रङ्गभूमिमेंसे) बाहर निकल गये।

भावार्थ:—जीवाजीवाधिकारमें पहले रङ्गभूमिस्थल कहकर उसके बाद टीकाकार आचार्यने ऐसा कहा था कि नृत्यके अखाडैमें जीव-अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं और दोनोंने एकत्वका स्वाँग रचा है। वहाँ, भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषने सम्यग्ज्ञानसे उन जीव अजीव दोनोंकी उनके लक्षणभेदसे परीक्षा करके दोनोंको पृथक् जाना इसलिये स्वाँग पूरा हुआ और दोनों अलग अलग होकर अखाडैसे बाहर निकल गये। इसप्रकार अलङ्कार पूर्वक वर्णन किया है।

जीव अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावै,
सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध भिन्न गहे निजभाव सुंदावै;
श्रीगुरुके उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावै,
ते जगमाँहि महन्त कहाय वसै शिव जाय सुखी नित थावै ।

इसप्रकार श्री समयसारकी (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परभागमकी) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीकामें प्रथम जीवाजीवाधिकार समाप्त हुआ।



अथ जीवाजीवावेव कर्तृकर्मवेपेण प्रविशतः ।

* मन्दाक्रान्ता *

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
 इत्यज्ञानां शमयदमितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ।
 ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं
 साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥४६॥

दोहा—कर्ताकर्मविभावकं, भेदि ज्ञानमय होय,
 कर्म नाशि शिवमें बसे, तिहें नमूँ, मद खोय ।

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब जीव-अजीव ही एक कर्ताकर्मके वेपमें प्रवेश करते हैं।' जैसे दो पुरुष परस्पर कोई एक स्वाँग करके नृत्यके अखाड़ेमें प्रवेश करें उसीप्रकार जीव-अजीव दोनों एक कर्ताकर्मका स्वाँग करके प्रवेश करते हैं इसप्रकार यहाँ टीकाकारने अलङ्कार किया है।

अब पहले, उस स्वाँगको ज्ञान यथार्थ जान लेता है उस ज्ञानकी महिमाका काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[इह] 'इस लोकमें [अहम् चिद्] मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो [एकः कर्ता] एक कर्ता हूँ और [अमी कोपादयः] यह त्रोवादि भाव [मे कर्म] मेरे कर्म हैं' [इति अज्ञानां कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्] ऐसी अज्ञानियोंके जो कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है उसे [अभितः शमयत्] सब ओरसे शमन करती हुई (-मिटती हुई) [ज्ञानज्योतिः] ज्ञानज्योति [स्फुरति] स्फुरायमान होती है। वह ज्ञान-ज्योति [परम-उदात्तम्] परम उदात्त है अर्थात् किसीके आधीन नहीं है, [अत्यन्तधीरं]

जाव ए वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोहूपि ।
 अणणी तावदु सो कोहाइसु वट्टदे जीवो ॥६६॥
 कोहाइसु वट्टं तस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी ।
 जीवस्सेवं बंधो भणितो खलु सव्वदरिसीहिं ॥७०॥

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि ।
 अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥६९॥
 क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति ।
 जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥७०॥

अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकारसे आकुलतारूप नहीं है और [निरुपधि-पृथग्द्रव्य-निर्भासि] परकी सहायताके बिना भिन्न भिन्न द्रव्योंको प्रकाशित करनेका उसका स्वभाव है इसलिये [विश्वम् साक्षात् कुर्वत्] वह समस्त लोकालोकको साक्षात् करती है—प्रत्यक्ष जानती है ।

भावार्थः—ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह, परद्रव्य तथा परभावोंके कर्तृत्वरूप अज्ञानको दूर करके, स्वयं प्रगट प्रकाशमान होता है । ४६ ।

अब, जबतक यह जीव आस्रवके और आत्माके विशेषको (अन्तरको) नहीं जाने तबतक वह अज्ञानी रहता हुआ, आस्रवोंमें स्वयं लीन होता हुआ, कर्मोंका बन्ध करता है यह गाथा द्वारा कहते हैंः—

गाथा ६९-७०

गाथार्थः—[जीवः] जीव [यावत्] जबतक [आत्मास्रवयोः द्वयोः अपि तु] आत्मा और आस्रव—इन दोनोंके [विशेषान्तरं] अन्तर और भेदको [न वेत्ति] नहीं जानता [तावत्] तबतक [सः] वह [अज्ञानी] अज्ञानी रहता हुआ [क्रोधादिषु] क्रोधादिक आस्रवोंमें [वर्तते] प्रवर्तता है; [क्रोधादिषु] क्रोधादिकमें [वर्तमानस्य तस्य] प्रवर्तमान उसके [कर्मणः] कर्मका [संचयः] संचय [भवति] होता है । [खलु] वास्तवमें [एवं] इसप्रकार [जीवस्य] जीवके [बंधः] कर्मोंका बन्ध [सर्वदर्शिभिः] सर्वज्ञदेवीने [भणितः] कहा है ।

रे आत्म आश्रवका जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं ।

क्रोधादिमें स्थिति होय है, अज्ञानी ऐसे जीवकी ॥६९॥

जीव वर्तता क्रोधादिमें, तब कर्म संचय होय है ।

सर्वज्ञने निश्चय कहा, यों बन्ध होता जीवके ॥७०॥

यथायमात्मा तादात्म्यसिद्धसंबंधयोरात्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशंकमात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेनाप्रतिपिद्धत्वाजानाति, तथा संयोगसिद्ध-संबंधयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्रवयोः स्वयमज्ञानेन विशेषमजानन् यावद्भेदं न पश्यति तावदशंक-मात्मतया क्रोधादौ वर्तते तत्र वर्तमानश्च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिपिद्धत्वेऽपि स्वभावभूतत्वाध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मृह्यति चेति । तदत्र योयमात्मा स्वयमज्ञानभवने ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता । यत्तु ज्ञानभवन-व्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनांतरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म । एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिः । एवमस्यात्मनः स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य तमेव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेव परिणममानं पौद्गलिकं कर्म संचयमुपयाति । एवं जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणसंबंधात्मा बन्धः सिध्येत् । स चानेकात्मकैकसंतानत्वेन निरस्तेतरेतराश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तम् ।

टीकाः—जैसे यह आत्मा, जिनके तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है ऐसे आत्मा और ज्ञानमें विशेष (अन्तर, भिन्न लक्षण) न होनेसे उनके भेदको (पृथक्त्वको) न देखता हुआ, निःशंकतया ज्ञानमें आत्मपनेसे प्रवर्तता है, और वहाँ (ज्ञानमें आत्मपनेसे) प्रवर्तता हुआ वह, ज्ञानक्रियाका स्वभावभूत होनेसे निषेध नहीं किया गया है इसलिये, जानता है—जाननेरूपमें परिणमित होता है, इसीप्रकार जबतक यह आत्मा, जिन्हें संयोगसिद्ध सम्बन्ध है ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवोंमें भी अपने अज्ञानभावसे, विशेष न जानता हुआ उनके भेदको नहीं देखता तबतक निःशंकतया क्रोधादिमें अपनेपनेसे प्रवर्तता है, और वहाँ (क्रोधादिमें अपनेपनेसे) प्रवर्तता हुआ वह, यद्यपि क्रोधादि क्रियाका परभावभूत होनेसे निषेध किया गया है तथापि उस स्वभावभूत होनेका उसे अध्यास होनेसे, क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, मोहरूप परिणमित होता है । अब यहाँ, जो यह आत्मा अपने अज्ञानभावसे, ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञाता-द्रष्टामात्र) अवस्थाका त्याग करके अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है वह कर्ता है; और ज्ञानभवनव्यापाररूप प्रवृत्तिसे भिन्न, जो क्रियमाणरूपसे अन्तरङ्गमें उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होते हैं, ऐसे क्रोधादिक वे, (उस कर्ताके) कर्म हैं । इसप्रकार अनादिकालीन अज्ञानसे होनेवाली यह (आत्माकी) कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है । इसप्रकार अपने अज्ञानके कारण कर्ताकर्मभावसे क्रोधादिमें प्रवर्तमान इस आत्माके, क्रोधादिकी प्रवृत्तिरूप परिणामको निमित्तमात्र करके स्वयं अपने भावसे ही परिणमित होता हुआ पौद्गलिक कर्म इकट्ठा होता है । इसप्रकार जीव और पुद्गलका, परस्पर अवगाह जिसका लक्षण है ऐसा सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है । अनेकात्मक होने पर भी (अनादि) एक प्रवाहपना होनेसे जिसमेंसे इतरेतराश्रय दोष दूर हो गया है ऐसा वह बन्ध, कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका निमित्त जो अज्ञान उसका निमित्त है ।

१ भवन = होना वह; परिणमना वह; परिणमन । २ क्रियमाणरूपसे = किया जाता वह—उसरूपसे ।

कदास्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरिति चेत्—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।

णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव ।

ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बन्धस्तस्य ॥७१॥

इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभावः । तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा, क्रोधादेर्भवनं क्रोधादिः । अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं, यतो यथा ज्ञानभवने

भावार्थः—यह आत्मा, जैसे अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमित होता है उसीप्रकार जबतक क्रोधादिरूप भी परिणमित होता है, ज्ञानमें और क्रोधादिमें भेद नहीं जानता तबतक उसके कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है; क्रोधादिरूप परिणमित होता हुआ वह स्वयं कर्ता है और क्रोधादि उसका कर्म है । और अनादि अज्ञानसे तो कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है, कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिसे बन्ध है और उस बन्धके निमित्तसे अज्ञान है; इसप्रकार अनादि संतान (प्रवाह) है, इसलिये उसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता ।

इसप्रकार जबतक आत्मा क्रोधादि कर्मका कर्ता होकर परिणमित होता है तबतक कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है और तबतक कर्मका बन्ध होता है ।

अब प्रश्न करता है कि इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव कब होता है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ७१

गाथार्थः—[यदा] जब [अनेन जीवेन] यह जीव [आत्मनः] आत्माका [तथा एव च] और [आस्रवाणां] आस्रवाणां [विशेषांतरं] अन्तर और भेद [ज्ञातं भवति] जानता है [तदा तु] तब [तस्य] उसे [बंधः न] बन्ध नहीं होता ।

टीका:—इस जगत्में वस्तु है वह (अपने) स्वभावमात्र ही है, और 'स्व' का भवन (होना) वह स्व-भाव है (अर्थात् अपना जो होना—परिणमना सो स्वभाव है); इसलिये निश्चयसे ज्ञानका होना—परिणमना सो आत्मा है और क्रोधादिका होना—परिणमना सो क्रोधादि है । तथा ज्ञानका जो होना—परिणमना है सो क्रोधादिका भी होना—परिणमना नहीं है, क्योंकि ज्ञानके होते (—परिणमनेके)

ये जीव ज्यों ही आश्रवोंका, त्यों ही अपने आत्मका ।

जाने विशेषांतर, तब ही बन्धन नहीं उसको कहा ॥७१॥

ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि; यत्तु क्रोधादेर्भवनं तत्र ज्ञानस्यापि भवनं; यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवन्तो विभाव्यन्ते न तथा ज्ञानमपि । इत्यात्मनः क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वम् । इत्येवमात्मात्मस्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्तते, तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबन्धोपि निवर्तते । तथा सति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधः सिध्येत् ।

कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति चेत्—

णादूण आस्रवाणं अशुचित्तं च विवरीयभावं च ।

दुःखस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च ।

दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥७२॥

समय-जैसे ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है उसीप्रकार क्रोधादिक भी होते हुए मालूम नहीं पड़ते; और क्रोधादिका जो होना—परिणमना वह ज्ञानका भी होना—परिणमना नहीं है, क्योंकि क्रोधादिके होनेके (—परिणमनेके) समय जैसे क्रोधादिक होते हुए मालूम पड़ते हैं वैसे ज्ञान भी होता हुआ मालूम नहीं पड़ता । इसप्रकार क्रोधादिके और आत्माके निश्चयसे एकवस्तुत्व नहीं है । इसप्रकार आत्मा और आस्रवोंका विशेष (—अन्तर) देखनेसे जब यह आत्मा उनका भेद (भिन्नता) जानता है तब इस आत्माके अनादि होने पर भी अज्ञानसे उत्पन्न हुई ऐसी (परमें) कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति निवृत्त होती है; उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञानके निमित्तसे होता हुआ पौद्गलिक द्रव्यकर्मका बन्ध भी निवृत्त होता है । ऐसा होने पर, ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध सिद्ध होता है ।

भावार्थः—क्रोधादिक और ज्ञान भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं; न तो ज्ञानमें क्रोधादि है और न क्रोधादिमें ज्ञान है, ऐसा उनका भेदज्ञान हो तब उनका एकत्वरूपका अज्ञान नाश होता है और अज्ञानके नाश हो जानेसे कर्मका बन्ध भी नहीं होता । इसप्रकार ज्ञानसे ही बन्धका निरोध होता है ।

अब पूछता है कि ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध कैसे होता है ? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ७२

गाथार्थः—[आस्रवाणाम्] आस्रवोंकी [अशुचित्वं च] अशुचिता और [विपरीतभावं च] विपरीतता तथा [दुःखस्य कारणानि इति] वे दुःखके कारण हैं ऐसा [ज्ञात्वा] जानकर [जीवः] जीव [ततो निवृत्तिं] उनसे निवृत्ति [करोति] करता है ।

अशुचिपना, विपरीतता ये आस्रवोंका ज्ञानके ।

अरु दुःखकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे ॥७२॥

जले ज्वालावत्कल्पत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचयः खल्व्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेवातिनिर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलभकत्वादत्यंतं शुचिरेव । जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्य-स्वभावाः खल्व्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्यस्वभाव एव । आकुलत्वोत्पादकत्वाद्दुःखस्य कारणानि खल्व्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद्दुःखस्याकारणमेव । इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेषु निवर्तते, तेभ्योऽनिवर्तमानस्य

टीका:—जलमें सेवाल (काई) है सो मल या मैल है, उस सेवालकी भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभवमें आते हैं इसलिये वे अशुचि हैं—अपवित्र हैं और भगवान् आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्रस्वभावरूप अनुभवमें आता है इसलिये अत्यन्त शुचि है—पवित्र है—उज्ज्वल है । आस्रवोंके जडस्वभावत्व होनेसे वे दूसरेके द्वारा जानने योग्य हैं (—क्योंकि जो जड़ हो वह अपनेको तथा परको नहीं जानता, उसे दूसरा ही जानता है—) इसलिये वे चैतन्यसे अन्य स्वभाववाले हैं; और भगवान् आत्मा तो, अपनेको सदा विज्ञानघनस्वभावपना होनेसे, स्वयं ही चेतक (—ज्ञाता) है (—स्वको और परको जानता है—) इसलिये वह चैतन्यसे अनन्य स्वभाववाला है (अर्थात् चैतन्यसे अन्य स्वभाववाला नहीं है) । आस्रव आकुलताके उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये दुःखके कारण हैं; और भगवान् आत्मा तो, सदा ही निराकुलता-स्वभावके कारण किसीका कार्य तथा किसीका कारण न होनेसे, दुःखका अकारण है (अर्थात् दुःखका कारण नहीं) । इसप्रकार विशेष (—अन्तर)को देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवोंके भेदको जानता है उसी समय क्रोधादि आस्रवोंसे निवृत्त होता है, क्योंकि उनसे जो निवृत्त नहीं है उसे आत्मा और आस्रवोंके पारमार्थिक (यथार्थ) भेदज्ञानकी सिद्धि ही नहीं हुई । इसलिये क्रोधादिक आस्रवोंसे निवृत्तिके साथ जो अविनाभावी है ऐसे ज्ञानमात्रसे ही, अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्मके बन्धका निरोध होता है ।

और, जो यह आत्मा और आस्रवोंका भेदज्ञान है सो अज्ञान है या ज्ञान ? यदि अज्ञान है तो आत्मा और आस्रवोंके अभेदज्ञानसे उसकी कोई विशेषता नहीं हुई । और यदि ज्ञान है तो वह आस्रवोंमें प्रवृत्त है या उनसे निवृत्त ? यदि आस्रवोंमें प्रवृत्त होता है तो भी आत्मा और आस्रवोंके अभेदज्ञानसे उसकी कोई विशेषता नहीं हुई । और यदि आस्रवोंसे निवृत्त है तो ज्ञानसे ही बन्धका निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा ? (सिद्ध हुआ ही कहलायेगा ।) ऐसा सिद्ध होनेसे अज्ञानका अंश ऐसे क्रियानयका-खण्डन हुआ । और यदि आत्मा और आस्रवोंका भेदज्ञान आस्रवोंसे निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है ऐसा सिद्ध होनेसे ज्ञानके अंश ऐसे (एकान्त) ज्ञाननयका भी खण्डन हुआ ।

पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः । ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिध्येत् । किं च यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानम् ? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः । ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्रवभ्यो निवृत्तम् ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदापि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः । आस्रवभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः । इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः । यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोऽपि निरस्तः ।

भावायः—आस्रव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःखके कारण हैं और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुखस्वरूप है । इसप्रकार लक्षणभेदसे दोनोंको भिन्न जानकर आस्रवोंसे आत्मा निवृत्त होता है और उसे कर्मका बन्ध नहीं होता । आत्मा और आस्रवोंका भेद जाननेपर भी यदि आत्मा आस्रवोंसे निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं, किन्तु अज्ञान ही है । यहाँ कोई प्रश्न करे कि अचिरत सम्यग्दृष्टिको मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंका तो आस्रव नहीं होता किन्तु अन्य प्रकृतियोंका तो आस्रव होकर बन्ध होता है; इसलिये उसे ज्ञानी कहना या अज्ञानी ? उसका समाधानः—सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी ही है क्योंकि वह अभिप्रायपूर्वकके आस्रवोंसे निवृत्त हुआ है । उसे प्रकृतियोंका जो आस्रव तथा बन्ध होता है वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है । सम्यग्दृष्टि होनेके बाद परद्रव्यके स्वामित्वका अभाव है; इसलिये, जबतक उसके चारित्रमोहका उदय है तबतक उसके उदयानुसार जो आस्रव-बन्ध होता है उसका स्वामित्व उसको नहीं है । अभिप्रायमें तो वह आस्रव-बन्धसे सर्वथा निवृत्त ही होना चाहता है । इसलिये वह ज्ञानी ही है ।

जो यह कहा है कि ज्ञानीको बन्ध नहीं होता उसका कारण इसप्रकार हैः—मिथ्यात्वसम्बन्धी बन्ध जो कि अनन्त संसारका कारण है वही यहाँ प्रधानतया विवक्षित है । अचिरत आदिसे जो बन्ध होता है वह अल्प स्थिति-अनुभागावाला है, दीर्घ संसारका कारण नहीं है; इसलिये वह प्रधान नहीं माना गया । अथवा तो ऐसा कारण है कि—ज्ञान बन्धका कारण नहीं है । जबतक ज्ञानमें मिथ्यात्वका उदय था तबतक वह अज्ञान कहलाता था और मिथ्यात्वके जानेके बाद अज्ञान नहीं किन्तु ज्ञान ही है । उसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है इसलिये ज्ञानीके बन्ध नहीं है; क्योंकि विकार जो कि बन्धरूप है और बन्धका कारण है, वह तो बन्धकी पंक्तिमें है, ज्ञानकी पंक्तिमें नहीं । इस अर्थका समर्थनरूप कथन आगे गाथाओंमें आयेगा ।

यहाँ कलशरूप काव्य कहते हैंः—

* मालिनी *

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादा-
निदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥४७॥

केन विधिनायमास्त्रवेभ्यो निवर्तत इति चेत्—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममञ्चो णाणदंसणसमग्गो ।
तम्मि ठिञ्चो तच्चित्तो सव्वे एण खयं णेमि ॥७३॥

श्लोकार्थः—[परपरिणतिम् उज्झत्] परपरिणतिको छोड़ता हुआ, [भेदवादान् खण्डयत्] भेदके कथनोंको तोड़ता हुआ, [इदम् अखण्डम् उच्चण्डम् ज्ञानम्] यह अखण्ड और अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान [उच्चैः उदितम्] प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है। [ननु] अहो ! [इह] ऐसे ज्ञानमें [कर्तृकर्मप्रवृत्तेः] (परद्रव्यके) कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका [कथम् अवकाशः] अवकाश कैसे हो सकता है ? [वा] तथा [पौद्गलः कर्मबन्धः] पौद्गलिक कर्मबन्ध भी [कथं भवति] कैसे हो सकता है ? (कदापि नहीं हो सकता ।)

(ज्ञेयोंके निमित्तसे तथा क्षयोपशमके विशेषसे ज्ञानमें जो अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे उनसे रहित ज्ञानमात्र आकार अब अनुभवमें आया इसलिये ज्ञानको 'अखण्ड' विशेषण दिया है। मतिज्ञानादि जो अनेक भेद कहे जाते थे उन्हें दूर करता हुआ उदयको प्राप्त हुआ है इसलिये 'भेदके कथनोंको तोड़ता हुआ' ऐसा कहा है। परके निमित्तसे रागादिरूप परिणमित होता था उस परिणतिको छोड़ता हुआ उदयको प्राप्त हुआ है इसलिये 'परपरिणतिको छोड़ता हुआ' ऐसा कहा है। परके निमित्तसे रागादिरूप परिणमित नहीं होता, बलवान है इसलिये 'अत्यन्त प्रचण्ड' कहा है।)

भाषार्थ—कर्मबन्ध तो अज्ञानसे हुई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिसे था। अब जब भेदभावको और परपरिणतिको दूर करके एकाकार ज्ञान प्रगट हुआ तब भेदरूप कारककी प्रवृत्ति मिट गई; तब फिर अब बन्ध किसलिये होगा ? अर्थात् नहीं होगा। ४७।

अब प्रश्न करता है कि यह आत्मा किस विधिसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है ? उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

मैं एक शुद्ध समत्व हीन रु, ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ ।
इसमें रहूँ स्थित लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ ॥७३॥

अहमेकः खलु शुद्धः निर्भयतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।
तस्मिन् स्थितश्चित्तः सर्वान् एतान् क्षयं नयामि ॥७३॥

अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षुण्णमनंतं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनंतनित्योदितविज्ञानघनस्वभाव-
भावत्वादेकः, सकलकारकप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः, पुद्गलस्वामिकस्य
क्रोधादिभाववैश्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमनान्निर्ममतः; चिन्मात्रस्य महसो
वस्तुस्वभावत एव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वाद् ज्ञानदर्शनसमग्रः, गगनादिवत्पारमार्थिको
वस्तुविशेषोऽस्मि । तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलमवतिष्ठमानः
सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचंचलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमानः स्वाज्ञानेनात्मन्युत्प्लव-
मानानेतान् भावानखिलानेव क्षययामीत्यात्मनि निश्चित्य चिरसंगृहीतमुक्तपोतपात्रः समुद्रावर्त इव
झगित्येवोद्वांतसमस्तविकल्पोऽकल्पितमचलितममलमात्मानमालंबमानो विज्ञानघनभूतः खल्वय-
मात्मास्त्रवेभ्यो निवर्तते ।

गाथा ७३

गाथार्थः—ज्ञानी विचार करता है किः—[खलु] निश्चयसे [ग्रहम्] मैं [एकः] एक हूँ,
[शुद्धः] शुद्ध हूँ, [निर्भयतः] ममतारहित हूँ, [ज्ञानदर्शनसमग्रः] ज्ञानदर्शनसे पूर्ण हूँ;
[तस्मिन् स्थितः] उस स्वभावमें रहता हुआ, [तच्चित्तः] उसमें (—उस चैतन्य-अनुभवमें) लीन
होता हुआ (मैं) [एतान्] इन [सर्वान्] क्रोधादिक सर्व आस्रवोंको [क्षयं] क्षयको [नयामि]
प्राप्त करता हूँ ।

टीकाः—मैं यह प्रत्यक्ष अखण्ड अनंत चिन्मात्र ज्योति आत्मा अनादि-अनन्त, नित्यउदयरूप,
विज्ञानघनस्वभावभावत्वके कारण एक हूँ; (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण-
स्वरूप) सर्व कारकोंके समूहकी प्रक्रियासे पारको प्राप्त जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपनेसे शुद्ध
हूँ; पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है ऐसे जो क्रोधादिभावोंका विश्वरूपत्व (अनेकरूपत्व) उसके स्वामीपनेरूप
स्वयं सदा ही नहीं परिणमता होनेसे ममतारहित हूँ; चिन्मात्र ज्योतिक (आत्माका), वस्तुस्वभावसे ही,
सामान्य और विशेषसे परिपूर्णता होनेसे, मैं ज्ञानदर्शनसे परिपूर्ण हूँ ।—ऐसा मैं आकाशादि द्रव्यकी भाँति
पारमार्थिक वस्तु विशेष हूँ । इसलिये अब मैं समस्त परद्रव्यप्रवृत्तिसे निवृत्तिसे इसी आत्मस्वभावमें निश्चल
रहता हुआ, समस्त परद्रव्यके निमित्तसे विशेषरूप चेतनमें होती हुई चञ्चल कल्लोलोंके निरोधसे इसको
ही (इस चैतन्यस्वरूपको ही) अनुभवन करता हुआ, अपने अज्ञानसे आत्मामें उत्पन्न होते हुए जो यह
क्रोधादिक भाव हैं उन सबका क्षय करता हूँ,—ऐसा आत्मामें निश्चय करके, जिसने बहुत समयसे पकड़े
हुए जहाजको छोड़ दिया है, ऐसे समुद्रके भँवरकी भाँति जिसने सर्व विकल्पोंको शीघ्र ही वमन कर दिया

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेति—

जीवणिबद्धा एए अध्रुव अणित्वा तथा अशरणा य ।
दुःखा दुःखफला ति य एादूण णिवत्तए तेहिं ॥७४॥

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च ।

दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः ॥७४॥

जुतुपादपवद्वध्यघातकस्वभावत्वाजीवनिबद्धाः खल्वास्रवाः, न पुनरविरुद्धस्वभावत्वा-
भावाजीव एव । अपस्माररयवद्वर्धमानहीयमानत्वादध्रुवाः खल्वास्रवाः, ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव ।
शीतलदाहज्वरावेशवत् क्रमेणोज्जृम्भमाणत्वादनित्याः खल्वास्रवाः, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो

है ऐसे, निर्विकल्प अचलित निर्मल आत्माका अवलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ, यह आत्मा
आस्रवोंसे निवृत्त होता है ।

भावार्थः—शुद्धनयसे ज्ञानीने आत्माका ऐसा निश्चय किया है कि—‘मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्यके
प्रति ममतारहित हूँ, ज्ञानदर्शनसे पूर्ण वस्तु हूँ।’ जब वह ज्ञानी आत्मा ऐसे अपने स्वरूपमें रहता हुआ
उसीके अनुभवरूप हो तब क्रोधादिक आस्रव क्षयको प्राप्त होते हैं । जैसे समुद्रके आवर्त (भँवर) ने बहुत
समयसे जहाजको पकड़ रखा हो और जब वह आवर्त शमन हो जाता है तब वह उस जहाजको छोड़ देता
है, इसीप्रकार आत्मा विकल्पोंके आवर्तको शमन करता हुआ आस्रवोंको छोड़ देता है ।

अब प्रश्न करता है कि ज्ञान होनेका और आस्रवोंकी निवृत्तिका समकाल (एककाल) कैसे है ?
उसके उत्तररूप गाथा कहते हैंः—

गाथा ७४

गाथार्थः—[एते] यह आस्रव [जीवनिबद्धाः] जीवके साथ निबद्ध हैं, [अध्रुवाः] अध्रुव
हैं [अनित्याः] अनित्य हैं [तथा च] तथा [अशरणाः] अशरण हैं, [च] और वे [दुःखानि]
दुःखरूप हैं, [दुःखफलाः] दुःख ही जिनका फल है ऐसे हैं,—[इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर ज्ञानी
[तेभ्यः] उनसे [निवर्तते] निवृत्त होता है ।

टीकाः—वृक्ष और लाखकी भाँति वध्य-घातकस्वभावपना होनेसे आस्रव जीवके साथ बंधे हुए
हैं, किन्तु अविरुद्धस्वभावत्वका अभाव होनेसे वे जीव ही नहीं हैं । (लाखके निमित्तसे पीपल आदि वृक्षका
नाश होता है । लाख घातक है और वृक्ष वध्य (घात होने योग्य) । इसप्रकार लाख और वृक्षका स्वभाव

ये सर्व जीवनिबद्ध, अध्रुव, शरणहीन, अनित्य हैं ।

ये दुःख, दुःखफल जानके इनसे निवर्तन जीव करे ॥७४॥

जीव एव । वीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत्त्रातुमशक्यत्वाद्दशरणाः खल्वास्रवाः, सशरणः स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव । नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद्दुःखानि खल्वास्रवाः, अदुःखं नित्यमेशानाकुलस्वभावो जीव एव । आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद्दुःखफलाः खल्वास्रवाः, अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाच्चीव एव । इति विकल्पानंतरमेव शिथिलितकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिग्भोग इव निर्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्तते, यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति । तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यग्मास्रवेभ्यो निवर्तते, तावदास्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वम् ।

एकदूसरेसे विरुद्ध है इसलिये लाख वृक्षके साथ मात्र बँधी हुई ही है; लाख स्वयं वृक्ष नहीं है । इसीप्रकार आस्रव घातक हैं और आत्मा वध्य है । इसप्रकार विरुद्ध स्वभाव होनेसे आस्रव स्वयं जीव नहीं हैं ।) आस्रव मृगीके वेगकी भाँति बढ़ते-घटते होनेसे अध्रुव हैं; चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है । आस्रव शीतदाहज्वरके आवेशकी भाँति अनुक्रमसे उत्पन्न होते हैं इसलिये अनित्य हैं; विज्ञानघन जिसका स्वभाव है ऐसा जीव ही नित्य है । जैसे कामसेवनमें वीर्य छूट जाता है उसी क्षण दारुण कामका संस्कार नष्ट हो जाता है; किसीसे नहीं रोका जा सकता, इसीप्रकार कर्मोदय छूट जाता है उसी क्षण आस्रव नाशको प्राप्त हो जाता है; रोका नहीं जा सकता, इसलिये वे (आस्रव) अशरण हैं; स्वयंरक्षित सहजचित्शक्तिरूपः जीव ही शरणसहित है । आस्रव सदा आकुल स्वभाववाले होनेसे दुःखरूप हैं; सदा निराकुल स्वभाववाला जीव ही अदुःखरूप अर्थात् सुखरूप है । आस्रव आगामी कालमें आकुलताको उत्पन्न करनेवाले ऐसे पुद्गल-परिणामके हेतु होनेसे दुःखफलरूप (दुःख जिसका फल है ऐसे) हैं; जीव ही समस्त पुद्गलपरिणामका अहेतु होनेसे अदुःखफल (दुःखफलरूप नहीं) है ।—ऐसा आस्रवोंका और जीवका भेदज्ञान होते ही (तत्काल ही) जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है ऐसा वह आत्मा, जिसमें बादल समूहकी रचना खण्डित हो गई है ऐसी दिशाके विस्तारकी भाँति अमर्याद जिसका विस्तार है ऐसा, सहजरूपसे विकासको प्राप्त चित्शक्तिसे ज्यों ज्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है त्यों त्यों आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है; और ज्यों ज्यों आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है त्यों त्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है; उतना विज्ञानघन-स्वभाव होता है जितना सम्यक् प्रकारसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है, और उतना आस्रवोंसे निवृत्त होता है जितना सम्यक् प्रकारसे विज्ञानघनस्वभाव होता है । इसप्रकार ज्ञानको और आस्रवोंकी निवृत्तिको समकालपना है ।

भावार्थः—आस्रवोंका और आत्माका जैसा ऊपर कहा है, तदनुसार भेद जानते ही, जिस जिस प्रकारसे जितने जितने अंशमें आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता है उस उस प्रकारसे उतने उतने अंशमें वह आस्रवोंसे निवृत्त होता है । जब सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव होता है तब समस्त आस्रवोंसे निवृत्त होता है । इसप्रकार ज्ञानका और आस्रवनिवृत्तिका एक काल है ।

* शार्दूलविक्रीडित *

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां

स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम् ।

अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं

ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥४८॥

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत्—

कम्मस्स य परिणामं एोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।

ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि एाणी ॥७५॥

यह आस्रवोंको दूर होनेका और संवर होनेका वर्णन गुणस्थानोंकी परिपाटीरूपसे तत्त्वार्थसूत्रकी टीका आदि सिद्धान्तशास्त्रोंमें है वहाँसे जानना । यहाँ तो सामान्य प्रकरण है इसलिये सामान्यतया कहा है ।

‘आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है’ इसका क्या अर्थ है ? उसका उत्तर:—‘आत्मा विज्ञान-घनस्वभाव होता जाता है अर्थात् आत्मा ज्ञानमें स्थित होता जाता है ।’ जबतक मिथ्यात्व हो तबतक ज्ञानको (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अधिक हो तो भी) अज्ञान कहा जाता है और मिथ्यात्वके जानेके बाद उसे (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प हो तो भी) विज्ञान कहा जाता है । ज्यों ज्यों वह ज्ञान अर्थात् विज्ञान स्थिर—घन होता जाता है त्यों त्यों आस्रवोंकी निवृत्ति होती जाती है और ज्यों ज्यों आस्रवोंकी निवृत्ति होती जाती है त्यों त्यों ज्ञान (विज्ञान) स्थिर—घन होता जाता है, अर्थात् आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप तथा आगेके कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[इति एवं] इसप्रकार पूर्वकथित विधानसे, [सम्प्रति] अद्युना (तत्काल) ही [परद्रव्यात्] परद्रव्यसे [परां निवृत्तं विरचय्य] उत्कृष्ट (सर्व प्रकारसे) निवृत्ति करके, [विज्ञानघनस्वभावम् परम् स्वं अभयात् आस्तिघ्नुवानः] विज्ञानघनस्वभावरूप केवल अपनेपर निर्भयतासे आरूढ़ होता हुआ अर्थात् अपना आश्रय करता हुआ (अथवा अपनेको निःशंकतया आस्तिक्यभावसे स्थिर करता हुआ), [अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशात्] अज्ञानसे उत्पन्न हुई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिके अभ्याससे उत्पन्न क्लेशोंसे [निवृत्तः] निवृत्त हुआ, [स्वयं ज्ञानीभूतः] स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, [जगतः साक्षी] जगतका साक्षी (ज्ञातादृष्टा), [पुराणः पुमान्] पुराण पुरुष (आत्मा) [इतः चकास्ति] अब यहाँसे प्रकाशमान होता है । ४८ ।

अब पूछते हैं कि—आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हो गया यह कैसे पहिचाना जाता है ? उसका चिह्न (लक्षण) कहिये । उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

जो कर्मका परिणाम, अरु नो कर्मका परिणाम है ।

सो नहिं करे जो, मात्र जाणे, वो हि आत्मा ज्ञानि है ॥७५॥

कर्मणश्च परिणामं नोऽकर्मणश्च तथैव परिणामम् ।

न करोत्यैनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥७५॥

यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणांतरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्शरसगंधवर्ण-
शब्दबंधसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोऽकर्मणः परिणामं च समस्तमपि
परमार्थतः पुद्गलपरिणामपुद्गलयोरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्पुद्गलद्रव्येण
कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्मनोर्घटकुंभ-
कारयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा, किं तु परमार्थतः
पुद्गलपरिणामज्ञानपुद्गलयोर्घटकुंभकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मपरि-
णामात्मनोर्घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं
व्याप्यमानत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोऽत्यंतविविक्तज्ञानीभूतो
ज्ञानी स्यात् । न चैवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामो व्याप्यः, पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसंबंधव्यवहारमात्रे
सत्यपि पुद्गलपरिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात् ।

भाषा ७५

गाथार्थः—[यः] जो [आत्मा] आत्मा [एनम्] इस [कर्मणः परिणामं च] कर्मके
परिणामको [तथा एव च] तथा [नोऽकर्मणः परिणामं] नोऽकर्मके परिणामको [न करोति]
नहीं करता किन्तु [जानाति] जानता है [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है ।

टीकाः—निश्चयसे मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदिरूपसे अन्तरङ्गमें उत्पन्न होता हुआ जो
कर्मका परिणाम, और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता आदिरूपसे बाहर
उत्पन्न होता हुआ जो नोऽकर्मका परिणाम, वह सब ही पुद्गलपरिणाम हैं । परमार्थसे, जैसे घड़ेके और
मिट्टीके व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्ताकर्मपना है उसीप्रकार पुद्गलपरिणामके और पुद्गलके
व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्ताकर्मपना है । पुद्गलद्रव्य स्वतंत्र व्यापक है इसलिये पुद्गल-
परिणामका कर्ता है और पुद्गलपरिणाम उस व्यापकसे स्वयं व्याप्त होनेके कारण कर्म है । इसलिये
पुद्गलद्रव्यके द्वारा कर्ता होकर कर्मरूपसे किया जानेवाला जो समस्त कर्म-नोऽकर्मरूप पुद्गलपरिणाम है
उसे जो आत्मा, पुद्गलपरिणामको और आत्माको घट और कुम्हारकी भाँति व्याप्यव्यापकभावके
अभावके कारण कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि होनेसे, परमार्थसे करता नहीं है, परन्तु (मात्र) पुद्गलपरिणामके
ज्ञानको (आत्माके) कर्मरूपसे करता हुआ अपने आत्माको जानता है, वह आत्मा (कर्म-नोऽकर्मसे)
अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है । (पुद्गलपरिणामका ज्ञान आत्माका कर्म किसप्रकार है ?
सो समझते हैं—) परमार्थसे पुद्गलपरिणामके ज्ञानको और पुद्गलको घट और कुम्हारकी भाँति
व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ता-कर्मपनेकी असिद्धि है और जैसे घड़े और मिट्टीके व्याप्यव्यापक-

* शार्दूलविक्रीडित *

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नेवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४९॥

भावका सद्भाव होनेसे कर्ता-कर्मपना है। उसीप्रकार आत्मपरिणाम और आत्माके व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्ता-कर्मपना है। आत्मद्रव्य स्वतंत्र व्यापक होनेसे आत्मपरिणामका अर्थात् पुद्गल-परिणामके ज्ञानका कर्ता है और पुद्गलपरिणामका ज्ञान उस व्यापकसे स्वयं व्याप्य होनेसे कर्म है। और इसप्रकार (ज्ञाता पुद्गलपरिणामका ज्ञान करता है इसलिये) ऐसा भी नहीं है कि पुद्गलपरिणाम ज्ञाताका व्याप्य है; क्योंकि पुद्गल और आत्माके ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धका व्यवहार मात्र होनेपर भी पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त है ऐसा ज्ञान ही ज्ञाताका व्याप्य है। (इसलिये वह ज्ञान ही ज्ञाताका कर्म है।)

अब इसी अर्थका समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेत्] व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूपमें ही होती है, [अतदात्मनि अपि न एव] अतत्स्वरूपमें नहीं ही होती। और [व्याप्यव्यापकभावसंभवम् ऋते] व्याप्यव्यापकभावके संभवके बिना [कर्तृकर्मस्थितिः का] कर्ताकर्मकी स्थिति कैसी? अर्थात् कर्ताकर्मकी स्थिति नहीं ही होती। [इति उद्दाम-विवेक-घस्मर-महोभारेण] ऐसे प्रबल विवेकरूप, और सबको ग्रासीभूत करनेके स्वभाववाले ज्ञानप्रकाशके भारसे [तमः भिन्दन्] अज्ञानांधकारको भेदता हुआ [सः एषः पुमान्] यह आत्मा [ज्ञानीभूय] ज्ञानस्वरूप होकर, [तदा] उस समय [कर्तृत्वशून्यः लसितः] कर्तृत्वरहित हुआ शोभित होता है।

भावार्थः—जो सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त होता है सो तो व्यापक है और कोई एक अवस्थाविशेष वह (उस व्यापकका) व्याप्य है। इसप्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही है। जो द्रव्यका आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है वही पर्यायका आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है। ऐसा होनेसे द्रव्य पर्यायमें व्याप्त होता है और पर्याय द्रव्यके द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसी व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूपमें ही (अभिन्न सत्तावाले पदार्थमें ही) होती है; अतत्स्वरूपमें (जिनकी सत्ता-सत्त्व भिन्न भिन्न है ऐसे पदार्थोंमें) नहीं ही होती। जहाँ व्याप्यव्यापकभाव होता है वहीं कर्ताकर्मभाव होता है; व्याप्यव्यापकभावके बिना कर्ताकर्मभाव नहीं होता। जो ऐसा जानता है वह पुद्गल और आत्माके कर्ताकर्मभाव नहीं हैं ऐसा जानता है। ऐसा जानने पर वह ज्ञानी होता है, कर्ताकर्मभावसे रहित होता है और ज्ञातादृष्टा—जगतका साक्षीभूत—होता है ॥४६॥

पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति

चेत्—

णवि परिणमदि ए गिह्मदि उप्पज्जदि ए परद्रव्यपज्जाए ।

एाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकर्मं अण्येयविहं ॥७६॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।

ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मनिक्रविधम् ॥७६॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णाता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिका-

अब यह प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्मको जाननेवाले जीवके पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ७६

गाथार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविधम्] अनेक प्रकारके [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निश्चयसे [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्यकी पर्यायमें [न अपि परिणमति] परिणामित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता [न उत्पद्यते] और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता ।

टीका:—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला पुद्गलका परिणामस्वरूप कर्म (कर्ताका कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणामन करता हुआ और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस पुद्गल-परिणामको करता है । इसप्रकार पुद्गलद्रव्यसे किये जानेवाले पुद्गलपरिणामको ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, घड़ेको ग्रहण करती है, घड़ेके रूपमें परिणामित होती है और घड़ेके रूपमें उत्पन्न होती है उसीप्रकार, ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले) परद्रव्यके परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणामित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता । इसलिये, यद्यपि

बहुधाँति पुद्गलकर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे ।

परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं उपजे ॥७६॥

कलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्य च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वीणस्य पुद्गलकर्म जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ।

स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्—

एवि परिणमदि ए गिह्णादि उत्पज्जदि ण परद्रव्यपज्जाए ।

एाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणोयविहं ॥७७॥

ज्ञानी पुद्गलकर्मको जानता है तथापि, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्य-परिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है ।

भावार्थः—जीव पुद्गलकर्मको जानता है तथापि उसे पुद्गलके साथ कर्ताकर्मपना नहीं है ।

सामान्यतया कर्ताका कर्म तीन प्रकारका कहा जाता है—निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य । कर्ताके द्वारा, जो पहले न हो ऐसा नवीन कुछ उत्पन्न किया जाये सो कर्ताका निर्वर्त्य कर्म है । कर्ताके द्वारा, पदार्थमें विकार—परिवर्तन करके जो कुछ किया जाये वह कर्ताका विकार्य कर्म है । कर्ता, जो नया उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है वह कर्ताका प्राप्य कर्म है ।

जीव पुद्गलकर्मको नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि चेतन जड़को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? इसलिये पुद्गलकर्म जीवका निर्वर्त्य कर्म नहीं है । जीव पुद्गलमें विकार करके उसे पुद्गलकर्मरूप परिणामन नहीं करा सकता क्योंकि चेतन जड़को कैसे परिणमित कर सकता है ? इसलिये पुद्गलकर्म जीवका विकार्य कर्म भी नहीं है । परमार्थसे जीव पुद्गलको ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिकको कैसे ग्रहण कर सकता है ? इसलिये पुद्गलकर्म जीवका प्राप्य कर्म भी नहीं है । इसप्रकार पुद्गलकर्म जीवका कर्म नहीं है और जीव उसका कर्ता नहीं है । जीवका स्वभाव ज्ञाता है इसलिये ज्ञानरूप परिणामन करता हुआ स्वयं पुद्गलकर्मको जानता है; इसलिये पुद्गलकर्मको जाननेवाले ऐसे जीवका परके साथ कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है ? नहीं ही हो सकता ।

अत्र प्रश्न करता है कि अपने परिणामको जाननेवाले ऐसे जीवका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैंः—

बहुभाँति निज परिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे ।

परद्रव्यपर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे, नहिं उपजे ॥७७॥

ज्ञापि परिष्कमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्यायि ।

ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वरूपपरिणाममनेकविधम् ॥७७॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णाता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वीणस्य स्वपरिणामं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ।

पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्—

टीका ७७

गाथार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविधम्] अनेक प्रकारके [स्वरूपपरिणामम्] अपने परिणामको [जानन्नपि] जानता हुआ भी [खलु] निश्चयसे [परद्रव्यपर्यायि] परद्रव्यकी पर्यायमें [न अपि परिष्कमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उस-रूप उत्पन्न नहीं होता ।

टीकाः—प्राप्य, विकार्यं और निर्वर्त्यं ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला आत्माका परिणामस्वरूप जो कर्म (कर्ताका कार्य), उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणामन करता हुआ और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस आत्मपरिणामको करता है । इसप्रकार आत्माके द्वारा किये जानेवाले आत्मपरिणामको ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर, घड़ेको ग्रहण करती है, घड़ेके रूपमें परिणामित होती है और घड़ेके रूपमें उत्पन्न होती है उसीप्रकार, ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्यके परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणामित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता । इसलिये, यद्यपि ज्ञानी अपने परिणामको जानता है तथापि, प्राप्य, विकार्यं और निर्वर्त्यं ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है ।

भावार्थः—जैसा ७६ वीं गाथामें कहा है तदनुसार यहाँ भी जान लेना । वहाँ 'पुद्गलकर्मको जानता हुआ ज्ञानी' ऐसा कहा था उसके स्थान पर यहाँ 'अपने परिणामको जानता हुआ ज्ञानी' ऐसा कहा है—इतना अन्तर है ।

अब प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाले ऐसे जीवका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैंः—

एषि परिणमदि ए गिह्मदि उप्पज्जदि ण परद्वयपज्जाए ।
एषी जाणंतो वि हु पुद्गलकर्मफलमणंतं ॥७८॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।

ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतम् ॥७८॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यातेषु व्याप्य तद् गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यातेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ।

गाथा ७८

गाथार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी [पुद्गलकर्मफलम्] पुद्गलकर्मका फल [अनंतम्] जो कि अनन्त है उसे [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] परमार्थसे [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्यकी पर्यायरूप [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उसरूप उत्पन्न नहीं होता ।

टीका:—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफल-स्वरूप जो कर्म (कर्ताका कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणामन करता हुआ और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलको करता है । इसप्रकार पुद्गलद्रव्यके द्वारा किये जानेवाले सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलको ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, घड़ेको ग्रहण करती है, घड़ेके रूपमें परिणमित होती है और घड़ेके रूपमें उत्पन्न होती है उसीप्रकार, ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले) ऐसे परद्रव्यके परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणमित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता । इसलिये, यद्यपि ज्ञानी सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मके फलको जानता है तथापि, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है ।

पुद्गलकर्मका फल अनन्ता, ज्ञानि जन जाना करे ।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे, नहिं उपजे ॥७८॥

जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः
किं भवति किं न भवतीति चेत्—

एष्वि परिणमदि ण गिह्णदि उत्पज्जदि ण परद्ववपज्जाए ।

पुग्गलद्रव्वं पि तहा परिणमह सएहिं भावेहिं ॥७६॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।

पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकर्मभावैः ॥७९॥

यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानत्पुद्गलद्रव्यं स्वयमंतर्व्यापकं
भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा
परिणमति न तथोत्पद्यते च, किं तु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म
स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च ।
ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं
स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः ।

भावार्थः—जैसा कि ७६ वीं गाथामें कहा गया था तदनुसार यहाँ भी जान लेना । वहाँ 'पुद्गल-
कर्मको जाननेवाला ज्ञानी' कहा था और यहाँ उसके बदलेमें 'पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाला ज्ञानी'
ऐसा कहा है—इतना विशेष है ।

अब प्रश्न करता है कि जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको नहीं
जाननेवाले ऐसे पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ? इसका उत्तर कहते हैंः—

गाथा ७९

गाथार्थः—[तथा] इसप्रकार [पुद्गलद्रव्यम् अपि] पुद्गलद्रव्य भी [परद्रव्यपर्याये]
परद्रव्यके पर्यायरूप [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं
करता और [न उत्पद्यते] उस-रूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह [स्वकर्म भावैः] अपने ही
भावोंसे (—भावरूपसे) [परिणमति] परिणमन करता है ।

टीकाः—जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, घड़ेको
ग्रहण करती है, घड़ेरूप परिणमित होती है और घड़ेरूप उत्पन्न होती है उसीप्रकार जीवके परिणामको,
अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य स्वयं परद्रव्यके

इस भाँति पुद्गलद्रव्य भी, निज भावसे ही परिणमे ।

परद्रव्यपर्यायों न प्रणमै, नहिं ग्रहे, नहिं उत्पजे ॥७९॥

* स्रग्धरा *

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलव्याप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमंतः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकाति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५०॥

परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणामित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता; परन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसे जो व्याप्यलक्षणवाले अपने स्वभावरूप कर्म (कर्ताके कार्य) में (वह पुद्गलद्रव्य) स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, उसीको ग्रहण करता है, उसी-रूप परिणामित होता है और उसी-रूप उत्पन्न होता है । इसलिये जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे नहीं करता होनेसे, उस पुद्गलद्रव्यको जीवके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है ।

भावार्थः—कोई ऐसा समझे कि पुद्गल जो कि जड़ है और किसीको नहीं जानता उसका जीवके साथ कर्ताकर्मपना होगा, परन्तु ऐसा भी नहीं है । पुद्गलद्रव्य जीवको उत्पन्न नहीं कर सकता, परिणामित नहीं कर सकता तथा ग्रहण नहीं कर सकता इसलिये उसका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है । परमार्थसे किसी भी द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी तो [इमां स्वपरपरिणतिं] अपनी और परकी परिणतिको [जानन् अपि] जानता हुआ प्रवर्तता है [च] और [पुद्गलः अपि अजानन्] पुद्गलद्रव्य अपनी तथा परकी परिणतिको न जानता हुआ प्रवर्तता है; [नित्यम् अत्यन्त-भेदात्] इसप्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होनेसे (दोनों भिन्नद्रव्य होनेसे), [अन्तः] वे दोनों परस्पर अन्तरङ्गमें [व्याप्तृव्याप्यत्वम्] व्याप्यव्यापकभावको [कलयितुम् असहौ] प्राप्त होनेमें असमर्थ हैं । [अनयोः कर्तृकर्मभ्रममतिः] जीव-पुद्गलके कर्ताकर्मभाव है ऐसी भ्रमबुद्धि [अज्ञानात्] अज्ञानके कारण [तावत् भाति] वहाँ-तक भासित होती है कि [यावत्] जहाँतक [विज्ञानार्चिः] (भेदज्ञान करनेवाली) विज्ञानज्योति [क्रकचवत् अदयं] करवतकी भाँति निर्दयतासे (उग्रतासे) [सद्यः भेदम् उत्पाद्य] जीव-पुद्गलका तत्काल भेद उत्पन्न करके [न चकास्ति] प्रकाशित नहीं होती ।

भावार्थः—भेदज्ञान होनेके बाद, जीव और पुद्गलमें कर्ताकर्मभाव है ऐसी बुद्धि नहीं रहती; क्योंकि जबतक भेदज्ञान नहीं होता तबतक अज्ञानसे कर्ताकर्मभावकी बुद्धि होती है ।

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योऽन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि न तयोः कर्तृकर्मभाव
इत्याह—

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गला परिणमन्ति ।
पुद्गलकर्मणिमित्तं तद्देव जीवो हि परिणमइ ॥८०॥
णवि कुब्बइ कर्मगुणे जीवो कर्मं तद्देव जीवगुणे ।
अणणोरणणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोखहं पि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुद्गलकर्मकयाणं ए दु कत्ता सव्वभावानां ॥८२॥

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमन्ति ।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥८०॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान् ।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥८१॥
एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन ।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥८२॥

यद्यपि जीवके परिणाम और पुद्गलके परिणामके अन्योन्य (परस्पर) निमित्तमात्रता है तथापि
उनके कर्ताकर्मपना नहीं है ऐसा अब कहते हैं :—

गाथा ८०-८२

गाथार्थः—[पुद्गलाः] पुद्गल [जीवपरिणामहेतुं] जीवके परिणामके निमित्तसे [कर्मत्वं]
कर्मरूपमें [परिणमन्ति] परिणमित होते हैं, [तथा एव] तथा [जीवः अपि] जीव भी
[पुद्गलकर्मनिमित्तं] पुद्गलकर्मके निमित्तसे [परिणमति] परिणमन करता है । [जीवः] जीव

जीवभावहेतु पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे ।
पुद्गलकर्मकेनिमित्तसे, यह जीव भी त्यों परिणमे ॥८०॥
जीव कर्मगुण करता नहीं, नहिं जीवगुण कर्म हि करे ।
अन्योन्यके हि निमित्तसे, परिणाम दोनोंके बने ॥८१॥
इस हेतुसे आत्मा हुआ. कर्ता स्वयं निज भाव ही ।
पुद्गलकर्मकृत सर्व भावोंका कभी कर्ता नहीं ॥८२॥

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमन्ति पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवोऽपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेऽपि जीवपुद्गलयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावज्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोऽपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवेनेनैव द्वयोरपि परिणामः । ततः कारणान्मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीवः स्वभावस्य कर्ता कदाचित्स्यात्, मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तृमशक्यत्वात्पुद्गलभावानां तु कर्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः ।

ततः स्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्ताभोग्यभावश्च—

[कर्मगुणान्] कर्मके गुणोंको [न अयि करोति] नहीं करता [तथा एव] उसी तरह [कर्म] कर्म [जीवगुणान्] जीवके गुणोंको नहीं करता; [तु] परन्तु [अन्योन्यनिमित्तेन] परस्पर निमित्तसे [द्वयोः अपि] दोनोंके [परिणामं] परिणाम [जानीहि] जानो । [एतेन कारणेन तु] इस कारणसे [घात्मा] आत्मा [स्वकेन] अपने ही [भावेन] भावसे [कर्ता] कर्ता (कहा जाता) है [तु] परन्तु [पुद्गलकर्मकृतानां] पुद्गलकर्मसे किये गये [सर्वभावानाम्] समस्त भावोंका [कर्ता न] कर्ता नहीं है ।

टीका:—जीवपरिणामको निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्मको निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं—इसप्रकार जीवके परिणामके और पुद्गलके परिणामके परस्पर हेतुत्वका उल्लेख होनेपर भी जीव और पुद्गलमें परस्पर व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे जीवको पुद्गलपरिणामोंके साथ और पुद्गलकर्मको जीवपरिणामोंके साथ कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि होनेसे, मात्र निमित्तनैमित्तिकभावका निषेध न होनेसे, परस्पर निमित्तमात्र होनेसे ही दोनोंके परिणाम (होता) है । इसलिये, जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है (अर्थात् जैसे मिट्टी ही घड़ा बनाती है) उसीप्रकार अपने भावसे अपना भाव किया जाता है इसलिये, जीव अपने भावका कर्ता कदाचित् होता है, परन्तु जैसे मिट्टीसे कपड़ा नहीं किया जा सकता उसीप्रकार अपने भावसे परभावका किया जाना अशक्य है इसलिये (जीव) पुद्गलभावोंका कर्ता तो कदापि नहीं हो सकता यह निश्चय है ।

भावार्थ:—जीवके परिणामके और पुद्गलके परिणामके परस्पर मात्र निमित्तनैमित्तिकपना है तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है । परके निमित्तसे जो अपने भाव हुए उनका कर्ता तो जीवको अज्ञान-दशामें कदाचित् कह भी सकते हैं, परन्तु जीव परभावका कर्ता कदापि नहीं है ।

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जीवको अपने ही परिणामोंके साथ कर्ताकर्मभाव और भोक्ताभोग्य-भाव (भोक्ताभोग्यपना) है ऐसा अब कहते हैं:—

निश्चयनयस्य एवं ज्ञात्वा अप्याणमेव हि करोति ।
वेदयति पुणो तं चैव ज्ञाण ज्ञात्वा तु ज्ञात्वाणं ॥८३॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानयेव हि करोति ।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानम् ॥८३॥

यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयोः समीरसंचरणासंचरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्य-
व्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यातेषूत्तरंगनिस्त-
रंगावस्थे व्याप्योत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्,
यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुत्तरंगं निस्तरंगं
त्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्; तथा ससंसारनिःसंसारावस्थयोः

गाथा ८३

गाथार्थः—[निश्चयनयस्य] निश्चयनयका [एवम्] ऐसा मत है कि [आत्मा] आत्मा
[आत्मानम् एव हि] अपनेको ही [करोति] करता है [तु पुनः] और फिर [आत्मा]
आत्मा [तं च एव आत्मानम्] अपनेको ही [वेदयते] भोगता है ऐसा हे शिष्य ! तू [जानीहि]
जान ।

टीकाः—जैसे उत्तरंग^१ और निस्तरंग^२ अवस्थाओंको हवाका चलना और न चलना निमित्त
होने पर भी हवा और समुद्रको व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि है इसलिये,
समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्ग अवस्थामें आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर
उत्तरंग अथवा निस्तरंग ऐसा अपनेको करता हुआ स्वयं एकको ही करता हुआ प्रतिभासित होता है परन्तु
अन्यको करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; और फिर जैसे वही समुद्र, भाव्यभावकभावके अभावके
कारण परभावका परके द्वारा अनुभवन अशक्य होनेसे, अपनेको उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्गरूप अनुभवन
करता हुआ स्वयं एकको ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है परन्तु अन्यको अनुभव करता हुआ
प्रतिभासित नहीं होता; इसीप्रकार संसारयुक्त और निःसंसार अवस्थाओंको पुद्गलकर्मके विपाकका
सम्भव (होना; उत्पत्ति) और असम्भव (न होना) निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म और जीवको
व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि है इसलिये, जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर

१. उत्तरंग—जिसमें तरंगें उठती हैं ऐसा; तरंगवाला ।

२. निस्तरंग—जिसमें तरंगें विलय हो गई हैं ऐसा; बिना तरंगोंका ।

आत्मा करे निजको हि ये, संतव्य निश्चयनयद्विका ।

अरु भोगता निजको हि आत्मा, शिष्य यों तू जानना ॥८३॥

पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वा-
सिद्धौ जीव एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषु ससंसारनिःसंसारावस्थे व्याप्य ससंसारं
निःसंसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत्, तथायमेव च भाव्यभावक-
भावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वात्ससंसारं निःसंसारं वात्मानमनुभवन्नात्मान-
मेकमेवानुभवन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत् ।

अथ व्यवहारं दर्शयति—

व्यवहारस्य तु आदा पुद्गलकर्मं करेइ णेयविहं ।

तं चैव पुणो वेयइ पुद्गलकर्मं अणेयविहं ॥८४॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम् ।

तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मनिकविधम् ॥८४॥

संसारयुक्त अथवा निःसंसार अवस्थामें आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर संसारयुक्त अथवा संसाररहित
ऐसा अपनेको करता हुआ अपनेको एकको ही करता हुआ प्रतिभासित हो परन्तु अन्यको करता हुआ
प्रतिभासित न हो; और फिर उसीप्रकार यही जीव, भाव्यभावकभावके अभावके कारण परभावका परके
द्वारा अनुभवन अशक्य है इसलिये, संसारसहित अथवा संसाररहित अपनेको अनुभव करता हुआ
अपनेको एकको ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो परन्तु अन्यको अनुभव करता हुआ प्रतिभासित
न हो।

भावार्थः—आत्माके परद्रव्य-पुद्गलकर्मके निमित्तसे संसारयुक्त और संसाररहित अवस्था है।
आत्मा उस अवस्थारूपसे स्वयं ही परिणामित होता है इसलिये वह अपना ही कर्ता-भोक्ता है; पुद्गलकर्मका
कर्ता-भोक्ता तो कदापि नहीं है।

अव व्यवहार वतलाते हैं:—

गाथा ८४

गाथार्थः— [व्यवहारस्य तु] व्यवहारनयका यह मत है कि [आत्मा] आत्मा [नैकविधम्]
अनेक प्रकारके [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [करोति] करता है [पुनः च] और [तद् एव]
उसी [अनेकविधम्] अनेक प्रकारके [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [वेदयते] भोगता है।

आत्मा करे बहुभाँति पुद्गलकर्म-मत व्यवहारका ।

धरु वो हि पुद्गलकर्म, आत्मा नैकविधमय भोगता ॥८४॥

यथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानु-
भूयमाने च वहिव्याप्यव्यापकभावेन कलशसंभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां
तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति
तावद्वचवहारः, तथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन
पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च वहिव्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्मसंभवानुकूलं परिणामं
कुर्वाणः पुद्गलकर्मविपाकसंपादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानु-
भवंश्च जीवः पुद्गलकर्मं करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोऽस्ति तवद्वचवहारः ।

अर्थेनं दूषयति—

टोकाः—जैसे, भीतर व्याप्यव्यापकभावसे मिट्टी घड़ेको करती है और भाव्यभावकभावसे मिट्टी
ही घड़ेको भोगती है तथापि, बाह्यमें, व्याप्यव्यापकभावसे घड़ेकी उत्पत्तिमें अनुकूल ऐसे (इच्छारूप और
हाथ आदिकी क्रियारूप अपने) व्यापारको करता हुआ तथा घड़ेके द्वारा किये गये पानीके उपयोगसे
उत्पन्न तृप्तिको (अपने तृप्तभावको) भाव्यभावकभावके द्वारा अनुभव करता हुआ—भोगता हुआ कुम्हार
घड़ेका कर्ता है और भोक्ता है ऐसा लोगोंका अनादिसे रूढ़ व्यवहार है; उसीप्रकार, भीतर व्याप्यव्यापक-
भावसे पुद्गलद्रव्य कर्मको करता है और भाव्यभावकभावसे पुद्गलद्रव्य ही कर्मको भोगता है तथापि,
बाह्यमें, व्याप्यव्यापकभावसे अज्ञानके कारण पुद्गलकर्मके होनेमें अनुकूल (अपने रागादिक)
परिणामोंको करता हुआ और पुद्गलकर्मके विपाकसे उत्पन्न हुई विषयोंकी निकटतासे उत्पन्न (अपनी)
सुखदुःखरूप परिणतिको भाव्यभावकभावके द्वारा अनुभव करता हुआ—भोगता हुआ जीव पुद्गलकर्मको
करता है और भोगता है ऐसा अज्ञानियोंका अनादि संसारसे प्रसिद्ध व्यवहार है ।

भावार्थः—पुद्गलकर्मको परमार्थसे पुद्गलद्रव्य ही करता है; जीव तो पुद्गलकर्मकी उत्पत्तिके
अनुकूल अपने रागादिक परिणामोंको करता है। और पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्मको भोगता है; तथा
जीव तो पुद्गलकर्मके निमित्तसे होनेवाले अपने रागादिक परिणामोंको भोगता है। परन्तु जीव और
पुद्गलका ऐसा निमित्तनैमित्तिकभाव देखकर अज्ञानीको ऐसा भ्रम होता है कि जीव पुद्गलकर्मको करता
है और भोगता है। अनादि अज्ञानके कारण ऐसा अनादि कालसे प्रसिद्ध व्यवहार है ।

परमार्थसे जीव—पुद्गलकी प्रवृत्ति भिन्न होने पर भी, जबतक भेदज्ञान न हो तबतक बाहरसे
उनकी प्रवृत्ति एकसी दिखाई देती है। अज्ञानीको जीव पुद्गलका भेदज्ञान नहीं होता इसलिये वह ऊपरी
दृष्टिसे जैसा दिखाई देता है वैसा मान लेता है; इसलिये वह यह मानता है कि जीव पुद्गलकर्मको करता
है और भोगता है। श्री गुरु भेदज्ञान कराकर, परमार्थ जीवका स्वरूप बताकर, अज्ञानीके इस प्रतिभासको
व्यवहार कहते हैं ।

अब इस व्यवहारको दूषण देते हैं—

जदि पुद्गलकर्ममिणं कुव्वदि तं चैव वेदयदि आदा ।
दोकिरियाविदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं ॥८५॥

यदि पुद्गलकर्मदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा ।

द्विक्रियाव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतम् ॥८५॥

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नः । ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततोऽयं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजंत्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात् ।

भाष्या ८५

भाष्यार्थः—[यदि] यदि [आत्मा] आत्मा [इदं] इस [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [करोति] करे [च] और [तद् एव] उसीको [वेदयते] भोगे तो [सः] वह आत्मा [द्विक्रियाव्यतिरिक्तः] दो क्रियाओंसे अभिन्न [प्रसजति] ठहरे ऐसा प्रसंग आता है—[जिनावमतं] जो कि जिनदेवको सम्मत नहीं है ।

टीकाः—पहले तो, जगतमें जो क्रिया है सो सब ही परिणामस्वरूप होनेसे वास्तवमें परिणामसे भिन्न नहीं है (—परिणाम ही है) ; परिणाम भी परिणामीसे (द्रव्यसे) भिन्न नहीं है क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है (—भिन्न भिन्न दो वस्तु नहीं है) । इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) जो कुछ क्रिया है वह सब ही क्रियावानसे (द्रव्यसे) भिन्न नहीं है । इसप्रकार, वस्तुस्थितिसे ही (वस्तुकी ऐसी ही मर्यादा होनेसे) क्रिया और कर्ताकी अभिन्नता सदा ही प्रगट होनेसे, जैसे जीव व्याप्यव्यापकभावसे अपने परिणामको करता है और भाव्यभावकभावसे उसीका अनुभव करता है—भोगता है उसीप्रकार यदि व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्मको भी करे और भाव्यभावकभावसे उसीको भोगे तो वह जीव, अपनी और परकी एकत्रित हुई दो क्रियाओंसे अभिन्नताका प्रसंग आने पर स्व-परका परस्पर विभाग अस्त (नाश) हो जानेसे, अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्माका अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टिताके कारण सर्वज्ञके मतसे बाहर है ।

पुद्गलकर्म जीव जो करे, उनको हि जो जीव भोगवे ।

जिनको असंमत द्विक्रियासे एकरूप आत्मा हुवे ॥८५॥

कृतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत्—

जग्हा दु अन्नभावं पुद्गलभावं च दो वि कुर्वन्ति ।

तेण दु मिच्छादिद्वी दौकिरियावादिणो हुन्ति ॥८६॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वन्ति ।

तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवन्ति ॥८६॥

यतः किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वन्तमात्मानं मन्यन्ते द्विक्रियावादिनस्ततस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धांतः । मा चैकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणामः क्रियमाणः प्रतिभातु । यथा किल कुलालः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः कलशकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकायाः कलशपरिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया

भावार्थः—दो द्रव्योंकी क्रिया भिन्न ही है । जड़की क्रियाको चेतन नहीं करता और चेतनकी क्रियाको जड़ नहीं करता । जो पुरुष एक द्रव्यको दो क्रियायें करता हुआ मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्यकी क्रियाओंको एक द्रव्य करता है ऐसा मानना जिनेन्द्र भगवानका मत नहीं है ।

अब पुनः प्रश्न करता है कि दो क्रियाओंका अनुभव करनेवाला मिथ्यादृष्टि कैसे है ? उसका समाधान करते हैं:—

गाथा ८६

गाथार्थः—[यस्मात् तु] क्योंकि [आत्मभावं] आत्माके भावको [च] और [पुद्गलभावं] पुद्गलके भावको—[द्वौ अपि] दोनोंको [कुर्वन्ति] आत्मा करते हैं ऐसा वे मानते हैं [तेन तु] इसलिये [द्विक्रियावादिनः] एक द्रव्यके दो क्रियाओंका होना माननेवाले [मिथ्यादृष्टयः] मिथ्यादृष्टि [भवन्ति] हैं ।

टीकाः—निश्चयसे द्विक्रियावादी यह मानते हैं कि आत्माके परिणामको और पुद्गलके परिणामको स्वयं (आत्मा) करता है इसलिये वे मिथ्यादृष्टि ही हैं ऐसा सिद्धान्त है । एक द्रव्यके द्वारा दो द्रव्योंके परिणाम किये गये प्रतिभासित न हों । जैसे कुम्हार घड़ेकी उत्पत्तिमें अनुकूल अपने (इच्छारूप और हस्तादिकी क्रियारूप) व्यापारपरिणामको जो कि अपनेसे अभिन्न है और अपनेसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियासे किया जाता है उसे—करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु घड़ा बनानेके

जीवभाव पुद्गलभाव—दोनों भावको आत्मा करे ।

इससे हि मिथ्यादृष्टि, ऐसे द्विक्रियावादी हुवे ॥८६॥

परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति; तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलम-
ज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं
कुर्वाणः प्रतिभातु, मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य
परिणामं पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः
प्रतिभातु ।

(आर्या)

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।

या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

अहंकारसे भरा हुआ होने पर भी (वह कुम्हार) अपने व्यापारके अनुरूप मिट्टीके घट-परिणामको—
जो कि मिट्टीसे अभिन्न है और मिट्टीसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियासे किया जाता है उसे—करता हुआ
प्रतिभासित नहीं होता; इसीप्रकार आत्मा भी अज्ञानके कारण पुद्गलकर्मरूप परिणामके अनुकूल अपने
परिणामको—जो कि अपनेसे अभिन्न है और अपनेसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियासे किया जाता है उसे—
करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु पुद्गलके परिणामको करनेके अहंकारसे भरा हुआ होने पर भी (वह
आत्मा) अपने परिणामके अनुरूप पुद्गलके परिणामको—जो कि पुद्गलसे अभिन्न है और पुद्गलसे
अभिन्न परिणतिमात्र क्रियासे किया जाता है उसे—करता हुआ प्रतिभासित न हो ।

भाषार्थः—आत्मा अपने ही परिणामको करता हुआ प्रतिभासित हो; पुद्गलके परिणामको
करता हुआ कदापि प्रतिभासित न हो । आत्माकी और पुद्गलकी—दोनोंकी क्रिया एक आत्मा ही करता
है ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं । जड़-चेतनकी एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्योंके पलट जानेसे सबका लोप
हो जायगा—यह महादोष उत्पन्न होगा ।

अब इसी अर्थका समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैंः—

दशोकायः—[यः परिणमति स कर्ता] जो परिणमित होता है सो कर्ता है, [यः परिणामः
भवेत्तु तत् कर्म] (परिणमित होनेवालेका) जो परिणाम है सो कर्म है [तु] और [या परिणतिः
सा क्रिया] जो परिणति है सो क्रिया है; [त्रयम् अपि] यह तीनों, [वस्तुतया भिन्नं न] वस्तुरूपसे
भिन्न नहीं हैं ।

भाषार्थः—द्रव्यदृष्टिसे परिणाम और परिणामीका अभेद है और पर्यायदृष्टिसे भेद है । भेददृष्टिसे
तो कर्ता, कर्म और क्रिया यह तीन कहे गये हैं किन्तु यहाँ अभेददृष्टिसे परमार्थतः यह कहा गया है कि
कर्ता, कर्म और क्रिया—तीनों ही एक द्रव्यकी अभिन्न अवस्थायें हैं, प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं ।५१।

पुनः कहते हैं किः—

(आर्या)

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।

एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥५२॥

(आर्या)

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।

उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

(आर्या)

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।

नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

श्लोकार्थः—[एकः परिणमति सदा] वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, [एकस्य सदा परिणामः जायते] एकके ही सदा परिणाम होते हैं (अर्थात् एक अवस्थासे अन्य अवस्था एककी ही होती है) और [एकस्य परिणतिः स्यात्] एककी ही परिणति—क्रिया होती है; [यतः] क्योंकि [अनेकम् अपि एकम् एव] अनेकरूप होनेपर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है ।

भावार्थः—एक वस्तुकी अनेक पर्याये होती हैं; उन्हें परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है । वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदिसे भिन्न भिन्न प्रतिभासित होती हैं तथापि एक वस्तु ही हैं, भिन्न नहीं हैं; ऐसा ही भेदाभेदस्वरूप वस्तुका स्वभाव है । ५२ ।

और कहते हैं किः—

श्लोकार्थः—[न उभौ परिणमतः खलु] दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, [उभयोः परिणामः न प्रजायेत] दो द्रव्योंका एक परिणाम नहीं होता और [उभयोः परिणतिः न स्यात्] दो द्रव्योंकी एक परिणति—क्रिया नहीं होती; [यतः] क्योंकि जो [अनेकम् सदा अनेकम् एव] अनेक द्रव्य हैं सो सदा अनेक ही हैं, वे बदलकर एक नहीं हो जाते ।

भावार्थः—जो दो वस्तुएँ हैं वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेशभेदवाली ही हैं । दोनों एक होकर परिणमित नहीं होतीं, एक परिणामको उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक क्रिया नहीं होती—ऐसा नियम है । यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्व द्रव्योंका लोप हो जाये । ५३ ।

पुनः इस अर्थको दृढ़ करते हैंः—

श्लोकार्थः—[एकस्य हि द्वौ कर्तारौ न स्तः] एक द्रव्यके दो कर्ता नहीं होते, [च] और [एकस्य द्वे कर्मणी न] एक द्रव्यके दो कर्म नहीं होते [च] तथा [एकस्य द्वे क्रिये न] एक द्रव्यकी दो क्रियाएँ नहीं होती; [यतः] क्योंकि [एकम् अनेकं न स्यात्] एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता ।

* शार्दूलविक्रीडित *

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५४॥

* अनुष्टुभ् *

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

भावार्थः—इस प्रकार उपरोक्त श्लोकमें निश्चयनयसे अथवा शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे वस्तुस्थितिका नियम कहा है । ५४ ।

आत्माके अनादिसे परद्रव्यके कर्ताकर्मपनेका अज्ञान है यदि वह परमार्थनयके ग्रहणसे एक बार भी विलयको प्राप्त हो जाये तो फिर न आये, अब ऐसा कहते हैं—

श्लोकार्थः—[इह] इस जगत्में मोही [मोहिनाम्] (अज्ञानी) जीवोंका [परं ग्रहम्-कुर्वे] 'परद्रव्यको मैं करता हूँ' [इति महाहंकाररूपं तमः] ऐसा परद्रव्यके कर्तृत्वका महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार—[ननु उच्चकैः दुर्वारं] जो अत्यन्त दुर्निवार है वह—[आसंसारतः एव धावति] अनादि संसारसे चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि—[ग्रहो] ग्रहो ! [भूतार्थपरिग्रहेण] परमार्थनयका अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनयका ग्रहण करनेसे [यदि] यदि [तत् एकवारं विलयं व्रजेत्] वह एक बार भी नाशको प्राप्त हो [तत्] तो [ज्ञानघनस्य आत्मनः] ज्ञानघन आत्माको [भूयः] पुनः [बन्धनम् किं भवेत्] बन्धन कैसे हो सकता है ? (जीव ज्ञानघन है इसलिये यथार्थ ज्ञान होनेके बाद ज्ञान कहाँ जा सकता है ? और जब ज्ञान नहीं जाता तब फिर अज्ञानसे बन्ध कैसे हो सकता है ?)

भावार्थः—यहाँ तात्पर्य यह है कि—अज्ञान तो अनादिसे ही है परन्तु परमार्थनयके ग्रहणसे, दर्शनमोहका नाश होकर, एक बार यथार्थ ज्ञान होकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो पुनः मिथ्यात्व न आये। मिथ्यात्वके न आनेसे मिथ्यात्वका बन्ध भी न हो। और मिथ्यात्वके जानेके बाद संसारका बन्धन कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता अर्थात् मोक्ष ही होता है ऐसा जानना चाहिये। ५५ ।

अब पुनः विशेषतापूर्वक कहते हैं—

श्लोकार्थः—[आत्मा] आत्मा तो [सदा] सदा [आत्मभावान्] अपने भावोंको [करोति] करता है और [परः] परद्रव्य [परभावान्] परके भावोंको करता है; [हि] क्योंकि जो [आत्मनः भावाः] अपने भाव हैं सो तो [आत्मा एव] आप ही है और जो [परस्य ते] परके भाव हैं सो [परः एव] पर ही है (यह नियम है) । ५६ ।

मिथ्यात्वं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेद अण्णाणं ।
अविरदि जीवो मोहो कौधादीया इमे भावा ॥८७॥

मिथ्यात्वं अपुनद्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानम् ।

अविरत्तियोगो मोहः क्रौधाद्या इमे भावाः ॥८७॥

मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरदवर्जोवार्जोवाभ्यां भाव्यमानत्वाजीवाजीवौ । तथाहि—यथा नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूर एव, यथा च नीलहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण मुकुरदेन भाव्यमाना मुकुरद एव; तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः स्वद्रव्य-स्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव, तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाश्चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव ।

(परद्रव्यके कर्ताकर्मपनेकी मान्यताको अज्ञान कहकर यह कहा है कि जो ऐसा मानता है सो मिथ्यादृष्टि है; यहाँ आशंका उत्पन्न होती है कि—यह मिथ्यात्वादि भाव क्या वस्तु हैं ? यदि उन्हें जीवका परिणाम कहा जाये तो पहले रागादि भावोंको पुद्गलका परिणाम कहा था उस कथनके साथ विरोध आता है; और यदि उन्हें पुद्गलका परिणाम कहा जाये तो जिनके साथ जीवको कोई प्रयोजन नहीं है उनका फल जीव क्यों प्राप्त करे ? इस आशंकाको दूर करनेके लिये अब गायत्रा कहते हैं—);

गायत्रा ८७

गायार्थः—[पुनः] और, [मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्व कहा है वह—[द्विविधः] दो प्रकारका है—[जीवः अजीवः] एक जीवमिथ्यात्व और दूसरा अजीवमिथ्यात्व; [तथा एव] और इसीप्रकार [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरतिः] अविरति, [योगः] योग, [मोहः] मोह तथा [क्रौधाद्याः] क्रौधादि कषाय—[इमे भावाः] यह (सर्व) भाव जीव और अजीवके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं ।

टोकाः—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव हैं वे प्रत्येक, मयूर और दर्पणकी भाँति, अजीव और जीवके द्वारा भाये जाते हैं इसलिये वे अजीव भी हैं और जीव भी हैं । इसे दृष्टान्तसे समझते हैं—जैसे गहरा नीला, हरा, पीला आदि (वर्णरूप) भाव जो कि मोरके अपने स्वभावसे मोरके द्वारा भाया जाता है (होता है) वह मोर ही है और (दर्पणमें प्रतिबिम्बरूपसे दिखाई देनेवाला) गहरा

* गायत्रा ८६ में द्विक्रियावादीको मिथ्यादृष्टि कहा था उनके साथ सम्बन्ध करनेके लिये यहाँ 'पुनः' शब्द है ।

मिथ्यात्व जीव अजीव दोविध, उभयविध अज्ञान है ।

अविरमण, योग र मोह अरु क्रौधादि उभय प्रकार है ॥८७॥

काविह जीवाजीवाविति चेत्—

पुद्गलकर्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणामज्जीवं ।

उवओगो अणणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥८८॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः ।

उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥८८॥

नीला, हरा, पीला इत्यादि भाव जो कि (दर्पणकी) स्वच्छताके विकारमात्रसे दर्पणके द्वारा भाया जाता है वह दर्पण ही है; इसीप्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि अजीवके अपने द्रव्यस्वभावसे अजीवके द्वारा भाये जाते हैं वे अजीव ही हैं और मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि चैतन्यके विकारमात्रसे जीवके द्वारा भाये जाते हैं वे जीव हैं ।

भावार्थः—पुद्गलके परमाणु पौद्गलिक मिथ्यात्वादि कर्मरूपसे परिणमित होते हैं। उस कर्मका विपाक (उदय) होने पर उसमें जो मिथ्यात्वादि स्वाद उत्पन्न होता है वह मिथ्यात्वादि अजीव हैं; और कर्मके निमित्तसे जीव विभावरूप परिणमित होता है वे विभाव परिणाम चेतनके विकार हैं इसलिये वे जीव हैं ।

यहाँ यह समझना चाहिये कि—मिथ्यात्वादि कर्मकी प्रकृतियाँ पुद्गलद्रव्यके परमाणु हैं। जीव उपयोगस्वरूप है। उसके उपयोगकी ऐसी स्वच्छता है कि पौद्गलिक कर्मका उदय होने पर उसके उदयका जो स्वाद आवे उसके आकार उपयोग हो जाता है। अज्ञानीको अज्ञानके कारण उस स्वादका और उपयोगका भेदज्ञान नहीं है इसलिये वह स्वादको ही अपना भाव समझता है। जब उनका भेदज्ञान होता है अर्थात् जीवभावको जीव जानता है और अजीव भावको अजीव जानता है तब मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है।

अब प्रश्न करता है कि मिथ्यात्वादिको जीव और अजीव कहा है सो वे जीव मिथ्यात्वादि और अजीव मिथ्यात्वादि कौन हैं ? उसका उत्तर कहते हैं—

गाथा ८८

गाथार्थः—[मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्वं, [योगः] योग, [अविरतिः] अविरति और [अज्ञानम्] अज्ञान [अजीवः] अजीव है सो तो [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म है; [च] और जो [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरतिः] अविरति और [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्वं [जीवः] जीव है [तु] वह [उपयोगः] उपयोग है ।

मिथ्यात्वं अरु अज्ञान आदि अजीव, पुद्गलकर्म है ।

अज्ञान अरु अविरमण अरु मिथ्यात्वं जीव, उपयोग है ॥८८॥

यः खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तदमूर्तच्चैतन्यपरिणामादन्यत् मूर्तं पुद्गलकर्म, यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि जीवः स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः ।

मिथ्यादर्शनादिचैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत्—

उपयोगस्त इणार्हं परिणामा त्तिणिण मोहयुक्तस्त ।

मिच्छतां अण्णाणं अविरतिभाषो य एायवो ॥८६॥

उपयोगस्यानादयः परिणामादयो मोहयुक्तस्य ।

मिथ्यात्वज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ॥८९॥

उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वन्तर्भूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः । स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोऽपि प्रभवन् दृष्टः । यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाः स्वरूपपरिणाम-

टीकाः—निश्चयसे जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं वे तो, अमूर्तिक चैतन्यपरिणामसे अन्य मूर्तिक पुद्गलकर्म हैं; और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जीव हैं वे, मूर्तिक पुद्गलकर्मसे अन्य चैतन्य परिणामके विकार हैं ।

अब पुनः प्रश्न करता है कि—मिथ्यादर्शनादि चैतन्यपरिणामका विकार कहाँसे हुआ ? इसका उत्तर गायामें कहते हैंः—

गाथा ८९

गाथार्थः—[मोहयुक्तस्य] अनादिसे मोहयुक्त होनेसे [उपयोगस्य] उपयोगके [अनादयः] अनादिसे लेकर [त्रयः परिणामाः] तीन परिणाम हैं; वे [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अज्ञानम्] अज्ञान [च अविरतिभावः] और अविरतिभाव (ऐसे तीन) [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—यद्यपि निश्चयसे अपने निजरससे ही सर्व वस्तुओंकी अपने स्वभावभूत स्वरूप-परिणाममें सामर्थ्य है, तथापि (आत्माका) अनादिसे अन्य-वस्तुभूत मोहके साथ संयोग होनेसे, आत्माके उपयोगका, मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिके भेदसे तीन प्रकारका परिणामविकार है । उपयोगका वह परिणामविकार, स्फटिककी स्वच्छताके परिणामविकारकी भाँति, परके कारण (—परकी उपाधिसे) उत्पन्न

है मोहयुत उपयोगका परिणाम तीन अनादिका ।

—मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव ये त्रय जानना ॥८९॥

समर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकांचनपात्रोपाश्रययुक्तत्वाचीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टस्तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वंतरभूत-मोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टव्यः ।

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति—

एषु य उवञ्चो गो त्रिविहो शुद्धो णिरंजणो भावो ।

जं सो करोदि भावं उवञ्चो गो तस्स सो कता ॥६०॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजणो भावः ।

यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥९०॥

होता दिखाई देता है। इसी बातको स्पष्ट करते हैं—जैसे स्फटिककी स्वच्छताकी स्वरूप-परिणामनमें (अपने उज्वलतारूप स्वरूपमें परिणामन करनेमें) सामर्थ्य होने पर भी, कदाचित् (स्फटिकके) काले, हरे और पीले, तमाल, केल और सोनेके पात्ररूपी आधारका संयोग होनेसे स्फटिककी स्वच्छताका काला, हरा और पीला ऐसे तीन प्रकारका परिणामविकार दिखाई देता है, उसीप्रकार (आत्माके) अनादिसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति जिसका स्वभाव है, ऐसे अन्य-वस्तुभूत मोहका संयोग होनेसे आत्माके उपयोगका, मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे तीन प्रकारका परिणामविकार समझना चाहिये।

भावार्थः—आत्माके उपयोगमें यह तीन प्रकारका परिणामविकार अनादि कर्मके निमित्तसे है। ऐसा नहीं है कि पहले यह शुद्ध ही था और अब इसमें नया परिणामविकार हो गया है। यदि ऐसा हो तो सिद्धोंके भी नया परिणामविकार होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये यह समझना चाहिये कि वह अनादिसे ही है।

अब आत्माके तीन प्रकारके परिणामविकारका कर्तृत्व बतलाते हैं—

गाथा ९०

गाथार्थः—[एतेषु च] अनादिसे ये तीन प्रकारके परिणामविकार होनेसे, [उपयोगः] आत्माका उपयोग—[शुद्धः] यद्यपि (शुद्धनयसे) शुद्ध, [निरंजनः] निरंजन [भावः] (एक) भाव है तथापि—[त्रिविधः] तीन प्रकारका होता हुआ [सः उपयोगः] वह उपयोग [यं] जिस [भावस्] (विकारी) भावको [करोति] स्वयं करता है [तस्य] उस भावका [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है।

इससे हि है उपयोग त्रयविध, शुद्ध निर्मल भाव जो ।

जो भाव कुछ भी वह करे, उस भावका कर्ता बने ॥९०॥

अथैवमयमनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरति-
भावेषु परिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः शुद्धनिरंजनानादिनिधनवस्तुसर्वस्व-
भूतचिन्मात्रभावत्वेनैकविधोऽप्यशुद्धसांजनानेकभावत्वमापद्यमानस्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः
कर्तृत्वसुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य तस्य किलोपयोगः
कर्ता स्यात् ।

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमती-
त्याह—

जं कुणइ भावमादा कर्ता सो होदि तस्स भावस्स ।

कस्मत्तं परिणमहे तस्मिह सयं पुग्गलं दव्वं ॥९१॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य ।

कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यम् ॥९१॥

टीका:—इसप्रकार अनादिसे अन्यवस्तुभूत मोहके साथ संयुक्तताके कारण अपनेमें उत्पन्न होनेवाले जो यह तीन मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभावरूप परिणामविकार हैं उनके निमित्तसे (-कारणसे)
—यद्यपि परमार्थसे तो उपयोग शुद्ध, निरंजन, अनादिनिधन वस्तुके सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रभावपनेसे एक प्रकारका है तथापि—अशुद्ध, सांजन, अनेकभावताको प्राप्त होता हुआ तीन प्रकारका होकर, स्वयं अज्ञानी होता हुआ कर्तृत्वको प्राप्त, विकाररूप परिणमित होकर जिस जिस भावको अपना करता है उस उस भावका वह उपयोग कर्ता होता है ।

भावार्थः—पहले कहा था कि जो परिणमित होता है सो कर्ता है । यहाँ अज्ञानरूप होकर उपयोग परिणमित हुआ इसलिये जिस भावरूप वह परिणमित हुआ उस भावका उसे कर्ता कहा है । इसप्रकार उपयोगको कर्ता जानना चाहिये । यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे आत्मा कर्ता नहीं है, तथापि उपयोग और आत्मा एक वस्तु होनेसे अशुद्धद्रव्यार्थिकनयसे आत्माको भी कर्ता कहा जाता है ।

अब, यह कहते हैं कि जब आत्माके तीन प्रकारके परिणामविकारका कर्तृत्व होता है तब पुद्गलद्रव्य अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होता है ।

भाषा ९१

गाथार्थः—[आत्मा] आत्मा [यं भावम्] जिस भावको [करोति] करता है [तस्य भावस्य] उस भावका [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है; [तस्मिन्] उसके कर्ता

जो भाव जीव करे स्वयं, उस भावका कर्ता बने ।

उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्व रूपहि परिणमे ॥९१॥

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्ता स्यात्, साधकवत् । तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते । तथाहि—यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणममानो ध्यानस्य कर्ता स्यात्, तस्मिंस्तु ध्यानभावे सकलसाध्य-भावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यन्ते विषव्याप्तयो, विहंब्यन्ते योषितो, ध्वंस्यन्ते बंधाः तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेनात्मना परिणम-मानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्ता स्यात्, तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यात्मानं कर्तारमन्तरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते ।

अज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह—

होने पर [पुद्गलं द्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [स्वयं] अपने आप [कर्मत्वं] कर्मरूप [परिणमते] परिणमित होता है ।

टीका:—आत्मा स्वयं ही उसरूप परिणमित होनेसे जिस भावको वास्तवमें करता है उसका वह—साधककी (मंत्र साधनेवालेकी) भाँति—कर्ता होता है; वह (आत्माका भाव) निमित्तभूत होने पर, पुद्गलद्रव्य कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होता है । इसी बातको स्पष्टतया समझाते हैं:—जैसे साधक उस प्रकारके ध्यानभावसे स्वयं ही परिणमित होता हुआ ध्यानका कर्ता होता है और वह ध्यानभाव समस्त साध्यभावोंको (साधकके साधने योग्य भावोंको) अनुकूल होनेसे निमित्तमात्र होने पर, साधकके कर्ता हुए बिना (सर्पादिकका) व्याप्त विष स्वयमेव उत्तर जाता है, स्त्रियाँ स्वयमेव विहम्बनाको प्राप्त होती हैं और बंधन स्वयमेव टूट जाते हैं; इसीप्रकार यह आत्मा अज्ञानके कारण मिथ्यादर्शनादिभावरूप स्वयं ही परिणमित होता हुआ मिथ्यादर्शनादिभावका कर्ता होता है और वह मिथ्यादर्शनादिभाव पुद्गलद्रव्यको (कर्मरूप परिणमित होनेमें) अनुकूल होनेसे निमित्तमात्र होनेपर, आत्माके कर्ता हुए बिना पुद्गलद्रव्य मोहनीय आदि कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं ।

भावार्थ:—आत्मा तो अज्ञानरूप परिणमित होता है, किसीके साथ ममत्व करता है, किसीके साथ राग करता है, और किसीके साथ द्वेष करता है; उन भावोंका स्वयं कर्ता होता है । उन भावोंके निमित्तमात्र होने पर, पुद्गलद्रव्य स्वयं अपने भावसे ही कर्मरूप परिणमित होता है । परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव मात्र है । कर्ता तो दोनों अपने अपने भावके हैं यह निश्चय है ।

अब, यह तात्पर्य कहते हैं कि अज्ञानसे ही कर्म उत्पन्न होता है:—

परमप्पाणं कुर्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो ।
अज्ञानमयो जीवो कर्मणां कारको होदि ॥९२॥

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः ।

अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥९२॥

अयं क्लिष्टज्ञानेनात्मा परात्मनोः परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं च परं कुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति । तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यनेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्तं तथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमित्तुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत एषोऽहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणाः कर्ता प्रतिभाति ।

वाथा ९२

वाथार्थः—[परम्] जो परको [आत्मानं] अपनेरूप [कुर्वन्] करता है [च] और [आत्मानम् अपि] अपनेको भी [परं] पर [कुर्वन्] करता है, [सः] वह [अज्ञानमयः जीवः] अज्ञानमय जीव [कर्मणां] कर्मोंका [कारकः] कर्ता [भवति] होता है ।

टीकाः—यह आत्मा अज्ञानसे अपना और परका परस्पर भेद (अन्तर) नहीं जानता हो तब वह परको अपनेरूप और अपनेको पररूप करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ कर्मोंका कर्ता प्रतिभासित होता है । यह स्पष्टतासे समझाते हैंः—जैसे शीत-उष्णका अनुभव करानेमें समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण आत्मासे सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होनेवाला उस प्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यन्त भिन्न है, इसीप्रकार ऐसा अनुभव करानेमें समर्थ ऐसी राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण आत्मासे सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होनेवाला उस प्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यन्त भिन्न है । जब आत्मा अज्ञानके कारण उस राग-द्वेष-सुख-दुःखादिका और उसके अनुभवका परस्पर विशेष नहीं जानता हो तब

परको करे निजरूप अहं, निज आत्मको भी पर करे ।

अज्ञानमय ये जीव ऐसा, कर्मका कारक बने ॥९२॥

ज्ञानात् न कर्म प्रभवतीत्याह—

परमप्पाणमकुब्बं अप्पाणं पि य परं अकुब्बंतो ।

सो णाममज्जो जीवो कम्मणामकारणो होदि ॥६३॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन् ।

स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥९३॥

एकत्वके अध्यासके कारण, शीत-उष्णकी भाँति (अर्थात् जैसे शीत-उष्णरूपसे आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसीप्रकार) जिस रूप आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है ऐसे रागद्वेषसुखदुःखादिरूप अज्ञानात्माके द्वारा परिणमित होता हुआ (परिणमित होना मानता हुआ), ज्ञानका अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं रागी हूँ (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ)' इत्यादि विधिसे रागादि कर्मका कर्ता प्रतिभासित होता है ।

भावार्थः—रागद्वेषसुखदुःखादि अवस्था पुद्गलकर्मके उदयका स्वाद है; इसलिये वह, शीत-उष्णताकी भाँति, पुद्गलकर्मसे अभिन्न है और आत्मासे अत्यन्त भिन्न है । अज्ञानके कारण आत्माको उसका भेदज्ञान न होनेसे वह यह जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है; क्योंकि ज्ञानकी स्वच्छताके कारण रागद्वेषादिका स्वाद, शीत-उष्णताकी भाँति, ज्ञानमें प्रतिविम्बित होने पर, मानों ज्ञान ही रागद्वेष होगया हो इसप्रकार अज्ञानीको भासित होता है । इसलिये वह यह मानता है कि 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ' इत्यादि । इसप्रकार अज्ञानी जीव रागद्वेषादिका कर्ता होता है ।

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानसे कर्म उत्पन्न नहीं होताः—

गाथा ९३

गाथार्थः—[परम्] जो परको [आत्मानम्] अपनेरूप [अकुब्बन्] नहीं करता [च] श्रीर [आत्मानम् अपि] अपनेको भी [परम्] पर [अकुब्बन्] नहीं करता [सः] वह [ज्ञानमयः जीवः] ज्ञानमय जीव [कम्मणाम्] कर्मोंका [अकारकः भवति] अकर्ता होता है अर्थात् कर्ता नहीं होता ।

परको नहीं निजरूप अरु, निज आत्मको नहीं पर करे ।

यह ज्ञानमय आत्मा अकारक कर्मका ऐसे बने ॥९३॥

अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनोः परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति परमात्मानमकुर्वन्नात्मानं च परमकुर्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणामकर्ता प्रतिभाति । तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकाच्छीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना मनामप्यपरिणममानो ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोऽहं जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापि रागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्याकर्ता प्रतिभाति ।

टीका:—यह आत्मा जब ज्ञानसे परका और अपना परस्पर विशेष (अन्तर) जानता है तब परको अपनेरूप और अपनेको पर नहीं करता हुआ, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ कर्मोंका अकर्ता प्रतिभासित होता है । इसीको स्पष्टतया समझते हैं:—जैसे शीत-उष्णका अनुभव करानेमें समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण आत्मासे सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होनेवाला उस प्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यन्त भिन्न है, उसीप्रकार वैसा अनुभव करानेमें समर्थ ऐसी रागद्वेषसुखदुःखादिरूप पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण आत्मासे सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होनेवाला उस प्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यन्त भिन्न है । जब ज्ञानके कारण आत्मा उस रागद्वेषसुखदुःखादिका और उसके अनुभवका परस्पर अन्तर जानता है तब, वे एक नहीं किन्तु भिन्न हैं ऐसे विवेक (भेद-ज्ञान) के कारण, शीत-उष्णकी भाँति (जैसे शीत-उष्णरूप आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसीप्रकार) जिनके रूपमें आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है ऐसे रागद्वेषसुखदुःखादिरूपसे अज्ञानात्माके द्वारा किञ्चित्मात्र परिणमित न होता हुआ, ज्ञानका ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं (रागको) जानता ही हूँ, रागी तो पुद्गल है (अर्थात् राग तो पुद्गल करता है)' इत्यादि विधिसे, ज्ञानसे विरुद्ध समस्त रागादि कर्मका अकर्ता प्रतिभासित होता है ।

भावार्थ:—जब आत्मा रागद्वेषसुखदुःखादि अवस्थाको ज्ञानसे भिन्न जानता है अर्थात् 'जैसे शीत-उष्णता पुद्गलकी अवस्था है उसीप्रकार रागद्वेषादि भी पुद्गलकी अवस्था है' ऐसा भेदज्ञान होता है, तब अपनेको ज्ञाता जानता है और रागादिरूप पुद्गलको जानता है । ऐसा होनेपर, रागादिका कर्ता आत्मा नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है ।

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत्—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोऽहं ।

कर्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥६४॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम् ।

कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥९४॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्य-परिणामः परात्मनोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य भाव्यभावक-भावापन्नयोश्चेतनाचेतनयोः सामान्याधिकरणेनानुभवनात्क्रोधोऽहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पा-दयति; ततोऽयमात्मा क्रोधोऽहमिति भ्रांत्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सविकारश्चैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् । एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिशान्यान्यप्यूहानि ।

अब यह प्रश्न करता है कि अज्ञानसे कर्म कैसे उत्पन्न होता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि:—

गाथा ९४

गाथार्थः— [त्रिविधः] तीन प्रकारका [एषः] यह [उपयोगः] उपयोग [अहम् क्रोधः] 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा [आत्मविकल्पं] अपना विकल्प [करोति] करता है; इसलिये [सः] आत्मा [तस्य उपयोगस्य] उस उपयोगरूप [आत्मभावस्य] अपने भावका [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है ।

टीका:—वास्तवमें यह सामान्यतया अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकारका सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, परके और अपने अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष रति (लीनता)से स्व-परके समस्त भेदको छिपाकर, भाव्यभावकभावको प्राप्त चेतन और अचेतनका सामान्य अधिकरणसे (—मानों उनका एक आधार हो इसप्रकार) अतुभव करनेसे, 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिये 'मैं क्रोध हूँ' ऐसी भ्रान्तिके कारण जो सविकार (विकारयुक्त) है ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सविकार चैतन्यपरिणाम-रूप अपने भावका कर्ता होता है । इसीप्रकार 'क्रोध' पदको बदलकर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शनके सोलह सूत्र व्याख्यानरूपसे लेना चाहिये; और इस उपदेशसे दूसरे भी विचार करना चाहिये ।

'मैं क्रोध' आत्मविकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे ।

तव जीव उस उपयोगरूप, जीवभावका कर्ता बने ॥९४॥

त्रिविधो एषुवश्रोगो अल्पविद्युष्यं करेह धर्माई ।

कर्ता तस्सुवश्रोगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥६५॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम् ।

कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥९५॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परस्परमविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपहृत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः समानाधिकरण्येनानुभवनाद्धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति; ततोऽयमात्मा धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमिति भ्रांत्या सोपाधिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् ।

भाषार्थः—अज्ञानरूप अर्थात् मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकारका जो सविकार चैतन्यपरिणाम है वह अपना और परका भेद न जानकर 'मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ' इत्यादि मानता है; इसलिये अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सविकार चैतन्यपरिणामका कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है ।

अब इसी बातको विशेषरूपसे कहते हैं:—

श्लोका ९५

भाषार्थः—[त्रिविधः] तीन प्रकारका [एषः] यह [उपयोगः] उपयोग [धर्मादिकम्] 'मैं धर्मास्तिकाय आदि हूँ' ऐसा [आत्मविकल्पं] अपना विकल्प [करोति] करता है; इसलिये [सः] आत्मा [तस्य उपयोगस्य] उस उपयोगरूप [आत्मभावस्य] अपने भावका [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है ।

टीकाः—वास्तवमें यह सामान्यरूपसे अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरति रूप तीन प्रकारका सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, परके और अपने अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष रति (लीनता)से स्व-परके समस्त भेदको छिपाकर, ज्ञेयज्ञायकभावको प्राप्त ऐसे स्व-परका सामान्य अधिकरणसे अनुभव करनेसे, 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिये, 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं

'मैं धर्म आदि' विकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे ।

तय जीव उस उपयोगरूप, जीवभावका कर्ता बने ॥९५॥ -

ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम्—

एवं पराणि द्रव्याणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।

अप्पाणं अवि य परं करेइ अणणाणभावेण ॥६६॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु ।

आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥९६॥

यत्किल क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मोऽहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मानमपि परद्रव्यीकरोत्येवमात्मा, तदयमशेषवस्तुसंबंधविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्यधातुमयोऽप्यज्ञानादेव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्मभावस्य कर्ता प्रतिभातीत्यात्मनो भूताविष्टध्यानाविष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम् । तथा हि—यथा खलु भूताविष्टोऽ-

काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ' ऐसी भ्रान्तिके कारण जो सोपाधिक (उपाधियुक्त) है ऐसे चैतन्यपरिणामको परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सोपाधिक चैतन्यपरिणामरूप अपने भावका कर्ता होता है ।

भावार्थः—धर्मादिके विकल्पके समय जो, स्वयं शुद्ध चैतन्यमात्र होनेका भान न रखकर, धर्मादिके विकल्पमें एकाकार हो जाता है वह अपनेको धर्मादिद्रव्यरूप मानता है ।

इसप्रकार, अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम अपनेको धर्मादिद्रव्यरूप मानता है इसलिये अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सोपाधिक चैतन्यपरिणामका कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है ।

“इसलिये कर्तृत्वका मूल अज्ञान सिद्ध हुआ” यह अब कहते हैंः—

गाथा ९६

गाथार्थः—[एवं तु] इसप्रकार [मंदबुद्धिः] अज्ञानी [अज्ञानभावेन] अज्ञानभावसे [पराणि द्रव्याणि] पर द्रव्योंको [आत्मानं] अपनेरूप [करोति] करता है [अपि च] और [आत्मानम्] अपनेको [परं] पर [करोति] करता है ।

टोकाः—वास्तवमें इसप्रकार, 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादिकी भाँति और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ' इत्यादिकी भाँति आत्मा परद्रव्योंको अपनेरूप करता है और अपनेको भी परद्रव्यरूप करता है; इसलिये यह आत्मा, यद्यपि समस्त वस्तुओंके सम्बन्धसे रहित अनन्त शुद्ध चैतन्यधातुमय है तथापि, अज्ञानके कारण ही सविकार और सोपाधिक किये गये चैतन्य परिणामवाला होनेसे उस प्रकारके अपने भावका कर्ता

यह मंदबुद्धि जीव यों, परद्रव्यको निजरूप करे ।

इस भाँतिसे निज आत्मको, अज्ञानसे पररूप करे ॥९६॥

ज्ञानाद्भूतात्मानावेकीकुर्वन्मानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टभनिर्भरभयंकरारंभगंभीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माप्यज्ञानादेव भाव्यभावकौ परात्मानावेकी-कुर्वन्विकारानुभूतिमात्रभावकानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरम्भितचैतन्यपरिणामविकार-तया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति । यथा वाऽपरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कश्चिन्महिष-ध्यानाविष्टोऽज्ञानान्महिषात्मानावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रङ्गविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्प्रच्युतमानुषो-चितापवरकद्वारविनिस्सरणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माऽप्यज्ञानाद् ज्ञेयज्ञायकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नोद्गन्द्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाशकाल-पुद्गलजीवांतरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथैन्द्रियविषयीकृतरूपिपदार्थतिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्च्छितपरामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ।

प्रतिभासित होता है। इसप्रकार, भूताविष्ट (जिसके शरीरमें भूत प्रविष्ट हो ऐसे) पुरुषकी भाँति और ध्यानाविष्ट (ध्यान करनेवाले) पुरुषकी भाँति, आत्माके कर्तृत्वका मूल अज्ञान सिद्ध हुआ। यह प्रगट दृष्टान्तसे समझते हैं—जैसे भूताविष्ट पुरुष अज्ञानके कारण भूतको और अपनेको एक करता हुआ, अमनुष्योचित विशिष्ट चेष्टाओंके अवलम्बन सहित भयंकर आरम्भ (कार्य) से युक्त अमानुषिक व्यवहारवाला होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है; इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञानके कारण ही भाव्य-भावकरूप परको और अपनेको एक करता हुआ, अविकार अनुभूतिमात्र भावकके लिये अनुचित विचित्र भाव्यरूप क्रोधादि विकारोंसे मिश्रित चैतन्यपरिणामविकारवाला होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है।

जैसे अपरीक्षक आचार्यके उपदेशसे मैंसेका ध्यान करता हुआ कोई भोला पुरुष अज्ञानके कारण मैंसेको और अपनेको एक करता हुआ, मैं गगनस्पर्शी सीगाँवाला बड़ा मैंसा हूँ' ऐसे अध्यासके कारण मनुष्योचित मकानके द्वारमेंसे बाहर निकलनेसे च्युत होता हुआ उसप्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है; इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञानके कारण ज्ञेयज्ञायकरूप परको और अपनेको एक करता हुआ, 'मैंपरद्रव्य हूँ' ऐसे अध्यासके कारण मनके विषयभूत किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवके द्वारा (अपनी) शुद्ध चैतन्यधातु रुकी होनेसे तथा इन्द्रियोंके विषयरूप किये गये रूपी पदार्थोंके द्वारा (अपना) केवल बोध (-ज्ञान) ढँका हुआ होनेसे और मृतक शरीरके द्वारा परम अष्टरूप विज्ञानघन (स्वयं) मूर्च्छित हुआ होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थः—यह आत्मा अज्ञानके कारण, अचेतन कर्मरूप भावकके क्रोधादि भाव्यको चेतन भावकके साथ एकरूप मानता है; और वह, जब ज्ञेयरूप धर्मादिद्रव्योंको भी ज्ञायकके साथ एकरूप मानता है। इसलिये वह सविकार और सोपाधिक चैतन्यपरिणामका कर्ता होता है।

ततः स्थितमेतद् ज्ञानान्नश्यति कर्तृत्वम्—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिञ्चयविद्दहिं परिकहिदो ।

एवं खलु जो जाएदि सो मुञ्चदि सब्बकत्तित्तं ॥६७॥

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्धिः परिकथितः ।

एवं खलु यो जानाति सो मुञ्चति सर्वकर्तृत्वम् ॥९७॥

येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति, यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति ततः स खल्वकर्ता प्रतिभाति । तथा हि—इहायमात्मा किलाज्ञानी सन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मृद्रितभेदसंवेदनशक्तिरनादित एव स्यात्; ततः परात्मानावेकत्वेन जानाति; ततः क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति; ततो निर्विकल्पादकृतका देकस्माद्विज्ञानधनात्प्रभ्रष्टो वारम्भारमनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति । ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिध्यता प्रत्येकस्वादस्वादनेनोन्मृद्रितभेदसंवेदनशक्तिः स्यात्;

यहाँ, क्रोधादिके साथ एकत्वकी मान्यतासे उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझानेके लिये भूताविष्ट पुरुषका दृष्टान्त दिया है और धर्मादिक अन्यद्रव्योंके साथ एकत्वकी मान्यतासे उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझानेके लिये ध्यानाविष्ट पुरुषका दृष्टान्त दिया है।

‘इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानसे कर्तृत्वका नाश होता है’ यही अब कहते हैं:—

गाथा ९७

गाथार्थः—[एतेन तु] इसलिये [निश्चयविद्भिः] निश्चयके जाननेवाले ज्ञानियोंने [सः आत्मा] उस आत्माको [कर्ता] कर्ता [परिकथितः] कहा है—[एवं खलु] ऐसा निश्चयसे [यः] जो [जानाति] जानता है [सः] वह (ज्ञानी होता हुआ) [सर्वकर्तृत्वम्] सर्वकर्तृत्वको [मुञ्चति] छोड़ता है ।

टोकाः—क्योंकि यह आत्मा अज्ञानके कारण परके और अपने एकत्वका आत्मविकल्प करता है इसलिये वह निश्चयसे कर्ता प्रतिभासित होता है—जो ऐसा जानता है वह समस्त कर्तृत्वको छोड़ देता है इसलिये वह निश्चयसे अकर्ता प्रतिभासित होता है । इसे स्पष्ट समझते हैं:—

इस हेतुसे परमार्थविद्, कर्ता कहें इस आत्मको ।

यह ज्ञान जिसको होय, वो छोड़े सकल कर्तृत्वको ॥९७॥

ततोऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसांतरविविक्तात्यंतमयुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसाः
 कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं ज्ञानात्वेन परात्मानौ जानाति;
 ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति क्रोधोऽहमित्यादिविकल्प-
 मात्मनो मनागपि न करोति; ततः समस्तमपि कर्तृत्वमपास्यति; ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो
 जानन् एवास्ते; ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यंतमकर्ता प्रतिभाति ।

वह आत्मा अज्ञानी होता हुआ, अज्ञानके कारण अनादि संसारसे लेकर मिश्रित स्वादका स्वादन
 —अनुभवन होनेसे (अर्थात् पुद्गलकर्मका और अपने स्वादका एकमेकरूपसे मिश्र अनुभव होनेसे),
 जिसकी भेदसंवेदन (भेदज्ञान) की शक्ति संकुचित होगई है ऐसा अनादिसे ही है; इसलिये वह स्व-परको
 एकरूप जानता है; इसीलिये 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प करता है; इसलिये निर्विकल्प, अकृत्रिम,
 एक-विज्ञानघन (स्वभाव) से भ्रष्ट होता हुआ वारम्बार अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता
 प्रतिभासित होता है ।

और जब आत्मा ज्ञानी होता है तब, ज्ञानके कारण ज्ञानके प्रारम्भसे लेकर पृथक् पृथक् स्वादका
 अनुभवन होनेसे (पुद्गलकर्मका और अपने स्वादका एकरूप नहीं किन्तु भिन्न-भिन्नरूप अनुभवन
 होनेसे), जिसकी भेदसंवेदनशक्ति प्रगट होगई है ऐसा होता है; इसलिये वह जानता है कि "अनादिनिधन,
 निरन्तर स्वादमें आनेवाला, समस्त अन्य रसोंसे विलक्षण (भिन्न), अत्यन्त मधुर चैतन्य रस ही एक
 जिसका रस है ऐसा आत्मा है और कषायें उससे भिन्न रसवाली हैं; उनके साथ जो एकत्वका विकल्प
 करना है वह अज्ञानसे है"; इसप्रकार परको और अपनेको भिन्नरूप जानता है; इसलिये 'अकृत्रिम,
 (नित्य), एक ज्ञान ही मैं हूँ किन्तु कृत्रिम (अनित्य), अनेक जो क्रोधादिक हैं वह मैं नहीं हूँ' ऐसा
 जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प किञ्चित्मात्र भी नहीं करता; इसलिये समस्त कर्तृत्वको
 छोड़ देता है; अतः सदा ही उदासीन अवस्थावाला होता हुआ मात्र जानता ही रहता है; और इसलिये
 निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है ।

भावार्थः—जो परद्रव्यके और परद्रव्यके भावोंके कर्तृत्वको अज्ञान जानता है वह स्वयं कर्ता क्यों
 बनेगा ? यदि अज्ञानी बना रहना हो तो परद्रव्यका कर्ता बनेगा । इसलिये ज्ञान होनेके बाद परद्रव्यका कर्तृत्व
 नहीं रहता ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

* वसन्ततिलका *

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धचा
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥५७॥

* शार्दूलविक्रीडित *

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः ॥५८॥

श्लोकार्थः—[किल] निश्चयसे [स्वयं ज्ञानं भवन् अपि] स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी [अज्ञानतः तु] अज्ञानके कारण [यः] जो जीव, [सतृणाभ्यवहारकारी] घासके साथ एकमेक हुये सुन्दर भोजनको खानेवाले हाथी आदि पशुओंकी भाँति, [रज्यते] राग करता है (रागका और अपना मिश्र स्वाद लेता है) [असौ] वह, [दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धचा] श्रीखंडके खट्टे-मीठे स्वादकी अति लोलुपतासे [रसालम् पीत्वा] श्रीखण्डको पीता हुआ भी [गां दुग्धम् दोग्धि इव नूनम्] स्वयं गायका दूध पी रहा है ऐसा माननेवाले पुरुषके समान है ।

भावार्थः—जैसे हाथीको घासके और सुन्दर आहारके भिन्न स्वादका भान नहीं होता उसीप्रकार अज्ञानीको पुद्गलकर्मका और अपने भिन्न स्वादका भान नहीं होता; इसलिये वह एकाकाररूपसे रागादिमें प्रवृत्त होता है । जैसे श्रीखण्डका स्वादलोलुप पुरुष, श्रीखण्डके स्वादभेदको न जानकर, श्रीखंडके स्वादको मात्र दूधका स्वाद जानता है उसीप्रकार अज्ञानी जीव स्व-परके मिश्र स्वादको अपना स्वाद समझता है । ५७ ।

अज्ञानसे ही जीव कर्ता होता है इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[अज्ञानात्] अज्ञानके कारण [मृगतृष्णिकां जलधिया-] मृगमरीचिकामें जलकी बुद्धि होनेसे [मृगाः पातुं धावन्ति] हिरण उसे पीनेको दौड़ते हैं; [अज्ञानात्] अज्ञानके कारण ही [तमसि रज्जौ भुजाध्यासेन] अन्धकारमें पड़ी हुई रस्सीमें सर्पका अध्यास होनेसे [जनाः द्रवन्ति] लोग (भयसे) भागते हैं; [च] और (इसीप्रकार) [अज्ञानात्] अज्ञानके कारण [अमी] ये जीव; [वातोत्तरङ्गाब्धिवत्] पवनसे तरंगित समुद्रकी भाँति; [विकल्पचक्रकरणात्] विकल्पोंके समूहको करनेसे—[शुद्धज्ञानमयाः अपि] यद्यपि वे स्वयं शुद्धज्ञानमय हैं तथापि—[आकुलाः] आकुलित होते हुए [स्वयम्] अपने आप ही [कर्त्रीभवन्ति] कर्ता होते हैं ।

* वसन्ततिलका *

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
 जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम् ।
 चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
 जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥५९॥

* मन्दाक्रान्ता *

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
 ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
 ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
 क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावम् ॥६०॥

भावार्थः—अज्ञानसे क्या क्या नहीं होता ? हिरण्य बालूकी चमकको जल समझकर पीने दौड़ते हैं और इसप्रकार वे खेद खिन्न होते हैं। अन्धेरेमें पड़ी हुई रस्सीको सर्प मानकर लोग उससे डरकर भागते हैं। इसीप्रकार यह आत्मा, पवनसे लुब्ध हुये तरंगित समुद्रकी भाँति, अज्ञानके कारण अनेक विकल्प करता हुआ लुब्ध होता है और इसप्रकार—यद्यपि परमार्थसे वह शुद्धज्ञानघन है तथापि—अज्ञानसे कर्ता होता है। ५८।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानसे आत्मा कर्ता नहीं होता :—

श्लोकार्थः—[हंसः वाःपयसोः इव] जैसे हंस दूध और पानीके विशेष (अन्तर)को जानता है उसीप्रकार [यः] जो जीव [ज्ञानात्] ज्ञानके कारण [विवेचकतया] विवेकवाला (भेदज्ञानवाला) होनेसे [परात्मनोः तु] परके और अपने [विशेषम्] विशेषको [जानाति] जानता है [सः] वह (जैसे हंस मिश्रित हुये दूध और पानीको अलग करके दूधको ग्रहण करता है उसीप्रकार) [अचलं चैतन्यधातुम्] अचल चैतन्यधातुमें [सदा] सदा [अधिरूढः] आरूढ़ होता हुआ (उसका आश्रय लेता हुआ) [जानीत एव हि] मात्र जानता ही है, [किञ्चन अपि न करोति] किञ्चित् मात्र भी कर्ता नहीं होता (अर्थात् ज्ञाता ही रहता है, कर्ता नहीं होता) ।

भावार्थः—जो स्व-परके भेदको जानता है वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। ५९।

अब, यह कहते हैं कि जो कुछ ज्ञात होता है वह ज्ञानसे ही होता हैः—

श्लोकार्थः—[ज्वलन-पयसोः औष्ण्य-शैत्य-व्यवस्था] (गर्म पानीमें) अग्निकी उष्णताका और पानीकी शीतलताका भेद, [ज्ञानात् एव] ज्ञानसे ही प्रगट होता है। [लवणस्वादभेदव्युदासः] व्यंजनके स्वादसे नमकके स्वादकी सर्वथा भिन्नता [ज्ञानात् एव उल्लसति] ज्ञानसे ही प्रगट होती है।

* अनुष्टुम् *

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥६१॥

* अनुष्टुम् *

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

तथा हि—

व्यवहारेण तु श्लाघा करेदि घटपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्पाणि य णोकम्पाणीह विविहाणि ॥६३॥

[स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः च क्रोधादेः भिदा] निज रससे विकसित होती हुई नित्य चैतन्यधातुका और क्रोधादि भावका भेद, [कर्तृ भावम् भिन्दती] कर्तृत्वको (-कर्तापनके भावको) भेदता हुआ, [ज्ञानात् एव प्रभवति] ज्ञानसे ही प्रगट होता है । ६० ।

अब, अज्ञानी भी अपने ही भावको करता है किन्तु पुद्गलके भावको कभी नहीं करता—इस अर्थका, आगेकी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[एवं] इसप्रकार [अंजसा] वास्तवमें [आत्मानम्] अपनेको [अज्ञानं ज्ञानम् अपि] अज्ञानरूप या ज्ञानरूप [कुर्वन्] करता हुआ [आत्मा आत्मभावस्य कर्ता स्यात्] आत्मा अपने ही भावका कर्ता है, [परभावस्य] परभावका (पुद्गलके भावोंका) कर्ता तो [क्वचित् न] कदापि नहीं है । ६१ ।

इसी बातको दृढ़ करते हुये कहते हैं कि:—

श्लोकार्थः—[आत्मा ज्ञानं] आत्मा ज्ञानस्वरूप है, [स्वयं ज्ञानं] स्वयं ज्ञान ही है; [ज्ञानात् अन्यत् किम् करोति] वह ज्ञानके अतिरिक्त अन्य क्या करे ? [आत्मा परभावस्य कर्ता] आत्मा परभावका कर्ता है [अयं] ऐसा मानना (तथा कहना) सो [व्यवहारिणाम् मोहः] व्यवहारी जीवोंका मोह (अज्ञान) है । ६२ ।

अब कहते हैं कि व्यवहारी जन ऐसा कहते हैं:—

घट-पट-रथादिक वस्तुएँ, कर्मादि अरु सब इन्द्रियें ।
नोकर्म विधविध जगतमें, आत्मा करे व्यवहारसे ॥९८॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि ।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥९८॥

व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादिपरद्रव्यात्मक बहिःकर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमंतःकर्मापि करोत्यविशेषादित्यस्ति व्यामोहः ।

स न सन्—

जदि सो परद्रव्याणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।

जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥६६॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।

यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥९९॥

गाथा ९८

गाथार्थः—[व्यवहारेण तु] व्यवहारसे अर्थात् व्यवहारी जन मानते हैं कि [इह] जगतमें [आत्मा] आत्मा [घटपटरथान् द्रव्याणि] घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओंको [च] और [करणानि] इन्द्रियोंको, [विविधानि] अनेक प्रकारके [कर्माणि] क्रोधादि द्रव्यकर्मोंको [च नोकर्माणि] और शरीरादिक नोकर्मोंको [करोति] करता है ।

टीकाः—जिससे अपने (इच्छारूप) विकल्प और (हस्तादिकी क्रियारूप) व्यापारके द्वारा यह आत्मा घट आदि परद्रव्यस्वरूप बाह्यकर्मको करता हुआ (व्यवहारीजनोंको) प्रतिभासित होता है इसलिये उसीप्रकार (आत्मा) क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप समस्त अन्तरंग कर्मको भी—(उपरोक्त) दोनों कर्म परद्रव्यस्वरूप हैं इसलिये उनमें अन्तर न होनेसे—करता है, ऐसा व्यवहारी जनोंका व्यामोह (भ्रांति, अज्ञान) है ।

भावार्थः—घट-पट, कर्म-नोकर्म इत्यादि परद्रव्योंको आत्मा करता है ऐसा मानना सो व्यवहारी जनोंका व्यवहार या अज्ञान है ।

अब यह कहते हैं कि व्यवहारी जनोंकी यह मान्यता यथार्थ नहीं हैः—

गाथा ९९

गाथार्थः—[यदि च] यदि [सः] आत्मा [परद्रव्याणि] परद्रव्योंको [कुर्यात्] करे तो वह [नियमेन] नियमसे [तन्मयः] तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय [भवेत्] हो जाये; [यस्मात्

परद्रव्यको जीव जो करे, तो जरूर वो तन्मय बने ।

पर वो नहीं तन्मय हुआ, इससे न कर्त्ता जीव है ॥९९॥

यदि खल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्यथानुप-
पत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात्; न च द्रव्यांतरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोऽस्ति । ततो
व्याप्यव्यापकभावेन न तस्य कर्तास्ति ।

निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न कर्तास्ति—

जीवो ए करेदि घटं एव पटं एव सेसगे दब्धे ।

जोगुवञ्चोगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि ।

योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥१००॥

न तन्मयः] किन्तु तन्मय नहीं है [तेन] इसलिये [सः] वह [तेषां] उनका [कर्ता] कर्ता
[न भवति] नहीं है ।

टीकाः—यदि निश्चयसे यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्मको करे तो, अन्य किसी प्रकारसे परिणाम-
परिणामी भाव न बन सकनेसे, वह (आत्मा) नियमसे तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये; परन्तु वह
तन्मय नहीं है, क्योंकि कोई द्रव्य अन्यद्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्यके नाशकी आपत्ति (दोष) आ
जायेगा । इसलिये आत्मा व्याप्त-व्यापकभावसे परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता नहीं है ।

भावायः—यदि एक द्रव्यका कर्ता दूसरा द्रव्य हो तो दोनों द्रव्य एक हो जायें, क्योंकि कर्ता-
कर्मभाव अथवा परिणाम-परिणामीभाव एक द्रव्यमें ही हो सकता है । इसीप्रकार यदि एक द्रव्य दूसरे
द्रव्यरूप हो जाये, तो उस द्रव्यका ही नाश हो जाये यह बड़ा दोष आ जायेगा । इसलिये एक द्रव्यको
दूसरे द्रव्यका कर्ता कहना उचित नहीं है ।

अब यह कहते हैं कि आत्मा (व्याप्यव्यापकभावसे ही नहीं किन्तु) निमित्तनैमित्तिकभावसे भी
कर्ता नहीं हैः—

गाथा १००

गाथायः—[जीवः] जीव [घटं] घटको [न करोति] नहीं करता, [पटं न एव]
पटको नहीं करता, [शेषकानि] शेष कोई [द्रव्याणि] द्रव्योंको [न एव] नहीं करता; [च]
परन्तु [योगोपयोगौ] जीवके योग और उपयोग [उत्पादकौ] घटादिको उत्पन्न करनेवाले निमित्त
हैं [तयोः] उनका [कर्ता] कर्ता [भवति] जीव होता है ।

जीव नहिं करे घट पट नहीं, नहिं शेष द्रव्यों जीव करे ।

उपयोगयोग निमित्तकर्ता, जीव तत्कर्ता बने ॥१००॥

यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुपपन्नत्वात् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति, नित्यकर्तृत्वानुपपन्नानिमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात् । अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ । योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्ताऽस्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात् ।

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्—

जे पुण्ड्रद्वयानं परिणामां होंति एणञ्जावरणा ।

ए करेदि ताणि आदा जी जाणदि सो हवदि एणी ॥१०१॥

टीका:—वास्तवमें जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म हैं उन्हें आत्मा व्याप्यव्यापकभावसे नहीं करता क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयताका प्रसंग आ जाये; तथा वह निमित्तनैमित्तिकभावसे भी (उनको) नहीं करता क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्यकर्तृत्वका (सर्व अवस्थाओंमें कर्तृत्व होनेका) प्रसंग आजायेगा । अनित्य (जो सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त नहीं होते ऐसे) योग और उपयोग ही निमित्तरूपसे उसके (—परद्रव्यस्वरूप कर्मके) कर्ता हैं । (रागादिविकारयुक्त चैतन्यपरिणामरूप) अपने विकल्पको और (आत्मप्रदेशोंके चलनरूप) अपने व्यापारको कदाचित् अज्ञानसे करनेके कारण योग और उपयोगका तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता तो (निमित्तरूपसे भी कदापि) नहीं है ।

भावार्थ:—योग अर्थात् आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्दन (चलन) और उपयोग अर्थात् ज्ञानका कषायोंके साथ उपयुक्त होना—जुड़ना । यह योग और उपयोग घटादिक और क्रोधादिकके निमित्त हैं इसलिये उन्हें घटादिक तथा क्रोधादिकका निमित्तकर्ता कहा जावे परन्तु आत्माको तो उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता । आत्माको संसार-अवस्थामें अज्ञानसे मात्र योग-उपयोगका कर्ता कहा जा सकता है ।

तात्पर्य यह है कि—द्रव्यदृष्टिसे कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कर्ता नहीं है; परन्तु पर्यायदृष्टिसे किसी द्रव्यकी पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्यकी पर्यायकी निमित्त होती है इसलिये इस अपेक्षासे एक द्रव्यके परिणाम अन्य द्रव्यके परिणामोंके निमित्तकर्ता कहलाते हैं । परमार्थसे द्रव्य अपने ही परिणामोंका कर्ता है, अन्यके परिणामका अन्यद्रव्य कर्ता नहीं होता ।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है:—

ज्ञानावरणादादिक संभी, पुद्रलं दरव परिणाम हैं ।

करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानता वो ज्ञानि है ॥१०१॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवन्ति ज्ञानावरणानि ।

न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥१०१॥

ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामवत्पुद्गलद्रव्यव्याप्त-
त्वेन भवन्तो ज्ञानावरणानि भवन्ति तानि तदस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी, किन्तु
यथा स गोरसाध्यक्षस्तद्दर्शनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभवद्वद्याप्य पश्यत्येव तथा पुद्गलद्रव्यपरिणाम-
निमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्वद्याप्य जानात्येव ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् । एवमेव च
ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्यासाद्दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रां-
तरायसूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोऽकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसन-
स्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात्—

गाथा १०१

गाथार्थः—[ये] जो [ज्ञानावरणानि] ज्ञानावरणादिक [पुद्गलद्रव्याणां] पुद्गलद्रव्योंके
[परिणामाः] परिणाम [भवन्ति] हैं [तानि] उन्हें [यः आत्मा] जो आत्मा [न करोति]
नहीं करता परन्तु [जानाति] जानता है [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है ।

टीकाः—जैसे दूध-दही जो कि गोरसके द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरसके मीठे-खट्टे
परिणाम हैं, उन्हें गोरसका तदस्थ दृष्टा पुरुष करता नहीं है, इसीप्रकार ज्ञानावरणादिक जो कि वास्तवमें
पुद्गलद्रव्योंके द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले पुद्गलद्रव्योंके परिणाम हैं, उन्हें ज्ञानी करता नहीं है;
किन्तु जैसे वह गोरसका दृष्टा, स्वतः (देखनेवालेसे) व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरस-परिणामके
दर्शनमें व्याप्त होकर, मात्र देखता ही है, इसीप्रकार ज्ञानी, स्वतः (जाननेवालेसे) व्याप्त होकर उत्पन्न
होनेवाला, पुद्गलद्रव्य-परिणाम जिसका निमित्त है ऐसे ज्ञानमें व्याप्त होकर, मात्र जानता ही है ।
इसप्रकार ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है ।

और इसीप्रकार 'ज्ञानावरण' पद पलटकर कर्म-सूत्रका (कर्मकी गाथाका) विभाग करके कथन
करनेसे दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके सात सूत्र, तथा उनके साथ
मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोऽकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और
स्पर्शनके सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना; और इसीप्रकार इस उपदेशसे अन्य भी विचार लेना ।

अब यह कहते हैं कि अज्ञानी भी परद्रव्यके भावका कर्ता नहीं हैः—

जं भावं सुहृमसुहं करोदि आदा स तस्स खलु कर्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स हु वेदगो अत्पा ॥१०२॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्स खलु कर्ता ।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥१०२॥

इह खल्वनादेरज्ञानात्परमात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मंदतीव्रस्वादाभ्यामचलितविज्ञानघनैकस्वादस्याप्यात्मनः स्वादं सिंदानः शुभमशुभं वा यो यं भावमज्ञानरूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद्भवति कर्ता, स भावोपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो व्याप्यत्वाद्भवति कर्म; स एव चात्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वाद्भवत्यनुभविता, स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वाद्भवत्यनुभाव्यः । एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् ।

गाथा १०२

गाथार्थः—[आत्मा] आत्मा [यं] जिस [शुभम् अशुभम्] शुभ या अशुभ [भावं] (अपने) भावको [करोति] करता है [तस्य] उस भावका [सः] वह [खलु] वास्तवमें [कर्ता] कर्ता होता है, [तत्] वह (भाव) [तस्य] उसका [कर्म] कर्म [भवति] होता है [सः आत्मा तु] और वह आत्मा [तस्य] उसका (उस भावरूप कर्मका) [वेदकः] भोक्ता होता है ।

टीकाः—अपना अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वाद होनेपर भी इस लोकमें जो यह आत्मा अनादिकालीन अज्ञानके कारण परके और अपने एकत्वके अध्याससे मंद और तीव्र स्वादयुक्त पुद्गलकर्मके विपाककी दो दशाओंके द्वारा अपने (विज्ञानघनरूप) स्वादको भेदता हुआ अज्ञानरूप शुभ या अशुभ भावको करता है, वह आत्मा उस समय तन्मयतासे उस भावका व्यापक होनेसे उसका कर्ता होता है और वह भाव भी उस समय तन्मयतासे उस आत्माका व्याप्य होनेसे उसका कर्म होता है; और वही आत्मा उस समय तन्मयतासे उस भावका भावक होनेसे उसका अनुभव करनेवाला (भोक्ता) होता है और वह भाव भी उस समय तन्मयतासे उस आत्माका भाव्य होनेसे उसका अनुभाव्य (भोग्य) होता है । इसप्रकार अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं है ।

जो भाव जीव करे शुभाशुभ उस हि का कर्ता बने ।

उसका बने वो कर्म, आत्मा उस हि का वेदक बने ॥१०२॥

न च परभावः केनापि कर्तुं पायैत—

जो जम्हि गुणे द्रव्ये सो अरणम्हि दु ए संक्रमदि द्रव्ये ।
सो अरणमसंक्रतो कह तं परिणामए द्रव्यं ॥१०३॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिन्स्तु न संक्रामति द्रव्ये ।

सोऽन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम् ॥१०३॥

इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिदात्मन्यचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः; स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तते न पुनः द्रव्यांतरं गुणांतरं वा संक्रामेत । द्रव्यांतरं गुणांतरं वाऽसंक्रामंश्च कथं त्वन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत् ? अतः परभावः केनापि न कर्तुं पायैत ।

भावार्थः—पुद्गलकर्मका उदय होनेपर, ज्ञानी उसे जानता ही है अर्थात् वह ज्ञानका ही कर्ता होता है और अज्ञानी अज्ञानके कारण कर्मोदयके निमित्तसे होनेवाले अपने अज्ञानरूप शुभाशुभ भावोंका कर्ता होता है । इसप्रकार ज्ञानी अपने ज्ञानरूप भावका और अज्ञानी अपने अज्ञानरूप भावका कर्ता है; परभावका कर्ता तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी नहीं है ।

अब यह कहते हैं कि परभावको कोई (द्रव्य) नहीं कर सकता:—

गाथा १०३

गाथार्थः—[यः] जो वस्तु (अर्थात् द्रव्य) [यस्मिन् द्रव्ये] जिस द्रव्यमें और [गुणे] गुणमें वर्तती है [सः] वह [अन्यस्मिन् तु] अन्य [द्रव्ये] द्रव्यमें तथा गुणमें [न संक्रामति] संक्रमणको प्राप्त नहीं होती (बदलकर अन्यमें नहीं मिल जाती); [अन्यत् असंक्रान्तः] अन्यरूपसे संक्रमणको प्राप्त न होती हुई [सः] वह (वस्तु), [तत् द्रव्यम्] अन्य वस्तुको [कथं] कैसे [परिणामयति] परिणामन करा सकती है ।

टीका:—जगत्में जो कोई जितनी वस्तु जिस किसी जितने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्यमें और गुणमें निज रससे ही अनादिसे ही वर्तती है वह, वास्तवमें अचलित वस्तुस्थितिकी मर्यादाको तोड़ना अशक्य होनेसे, उसीमें (अपने उतने द्रव्य-गुणमें ही) वर्तती है परन्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमणको प्राप्त नहीं होती; और द्रव्यान्तर या गुणांतररूप संक्रमणको प्राप्त न होती हुई वह, अन्य वस्तुको

जो द्रव्य जो गुण-द्रव्यमें, परद्रव्यरूप न संक्रमे ।

अनसंक्रमा किसभाँति वह परद्रव्य प्रणमावे अरे ॥१०३॥

अतः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता—

द्रव्यगुणस्य य आदा ए कुण्दि पुद्गलमयस्मि कर्मस्मिह ।

तं उभयमकुर्वन्तो तस्मि कर्हं तस्त सो कर्ता ॥१०४॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।

तदुभयमकुर्वन्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥१०४॥

यथा खलु मृण्मये कलशकर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतर-संक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाथचे स कलशकारः, द्रव्यांतरसंक्रम-मंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभाति । तथा पुद्गलमये ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्तद्रव्यमात्मगुणं चात्मा न खल्वाधचे; द्रव्यांतरसंक्रम-मंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वाच्चदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात् ? ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता ।

कैसे परिणमित करा सकती है ? (कभी नहीं करा सकती ।) इसलिये परभाव किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता ।

भावार्थः—जो द्रव्यस्वभाव है उसे कोई भी नहीं बदल सकता, यह वस्तुकी मर्यादा है ।

उपरोक्त कारणसे आत्मा वास्तवमें पुद्गलकर्मका अकर्ता सिद्ध हुआ, यह कहते हैंः—

गाथा १०४

गाथार्थः—[आत्मा] आत्मा [पुद्गलमये कर्मणि] पुद्गलमय कर्ममें [द्रव्यगुणस्य च] द्रव्यको तथा गुणको [न करोति] नहीं करता; [तस्मिन्] उसमें [तद् उभयम्] उन दोनोंको [अकुर्वन्] न करता हुआ [सः] वह [तस्य कर्ता] उसका कर्ता [कथं] कैसे हो सकता है ?

टोकाः—जैसे—मिट्टीमय घटरूपी कर्म जो कि मिट्टीरूपी द्रव्यमें और मिट्टीके गुणमें निजरससे ही वर्तता है उसमें कुम्हार अपनेको या अपने गुणको डालता या मिलाता नहीं है क्योंकि (किसी वस्तुका) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूपमें संक्रमण होनेका वस्तुस्थितिसे ही निषेध है; द्रव्यान्तररूपमें (अन्यद्रव्यरूपमें) संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तुको परिणमित करना अशक्य होनेसे, अपने द्रव्य और गुण—दोनोंको उस घटरूपी कर्ममें न डालता हुआ वह कुम्हार परमार्थसे उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता । इसीप्रकार

आत्मा करे नहीं द्रव्य—गुण पुद्गलमयी कर्मों विषै ।

इन उभयको उनमें न करता, क्यों हि तत्कर्त्ता बने ॥१०४॥

अतोन्यस्तूपचारः—

जीवमिह हेतुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।

जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामम् ।

जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥१०५॥

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादिनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्त्रिमित्तभूतेना-
ज्ञानभावेन परिणमनान्निमिचीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति
निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः । स तूपचार एव न तु
परमार्थः ।

—पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म जो कि पुद्गलद्रव्यमें और पुद्गलके गुणोंमें निज रससे ही वर्तता है उसमें आत्मा अपने द्रव्यको या अपने गुणको वास्तवमें ढालता या मिलाता नहीं है क्योंकि (किसी वस्तुका) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूपमें संक्रमण होना अशक्य है; द्रव्यान्तररूपमें संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तुको परिणमित करना अशक्य होनेसे, अपने द्रव्य और गुण-दोनोंको ज्ञानावरणादि कर्मोंमें न ढालता हुआ वह आत्मा परमार्थसे उसका कर्ता कैसे हो सकता है ? (कभी नहीं हो सकता ।) इसलिये वास्तवमें आत्मा पुद्गलकर्मोंका अकर्ता सिद्ध हुआ ।

इसलिये इसके अतिरिक्त अन्य—अर्थात् आत्माको पुद्गलकर्मका कर्ता कहना सो—उपचार है, अब यह कहते हैं:—

गाथा १०५

गाथार्थः—[जीवे] जीव [हेतुभूते] निमित्तभूत होने पर [बंधस्य तु] कर्मबन्धका [परिणामम्] परिणाम होता हुआ [दृष्ट्वा] देखकर, [जीवेन] जीवने [कर्म कृतं] कर्म किया इसप्रकार [उपचारमात्रेण] उपचारमात्रसे [भण्यते] कहा जाता है ।

टीका:—इस लोकमें वास्तवमें आत्मा स्वभावसे पौद्गलिक कर्मका निमित्तभूत न होनेपर भी, अनादि अज्ञानके कारण पौद्गलिक कर्मको निमित्तरूप होते हुवे अज्ञानभावमें परिणमता होनेसे निमित्तभूत होनेपर, पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है, इसलिये 'पौद्गलिक कर्म आत्माने किया' ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभावसे भ्रष्ट, विकल्पपरायण अज्ञानियोंका विकल्प है; वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं ।

जीव हेतुभूत हुआ अरे ! परिणाम देख जु बंधका ।

उपचारमात्र कहाय यों यह कर्म आत्माने किया ॥१०५॥

कथमिति चेत्—

योधैर्हि कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोको ।

व्यवहारेण तह कृतं ज्ञानावरणादि जीवने ॥१०६॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः ।

व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवने ॥१०६॥

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणम-
मानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो, न परमार्थः । तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन
स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयम-
परिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्मैत्युपचारो, न परमार्थः ।

भावार्थः—कदाचित् होनेवाले निमित्तनैमित्तिकभावमें कर्ताकर्मभाव कहना सो उपचार है ।

अब, यह उपचार कैसे है सो दृष्टान्त द्वारा कहते हैंः—

गाथा १०६

गाथार्थः—[योधैः] योद्धाओंके द्वारा [युद्धे कृते] युद्ध किये जानेपर, [राज्ञा कृतम्]
राजाने युद्ध किया [इति] इसप्रकार [लोकः] लोक [जल्पते] (व्यवहारसे) कहते हैं [तथा]
उसीप्रकार [ज्ञानावरणादि] ज्ञानावरणादि कर्म [जीवने कृतं] जीवने किया [व्यवहारेण]
ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है ।

टीकाः—जैसे युद्धपरिणाममें स्वयं परिणमते हुवे योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जानेपर, युद्धपरिणाममें
स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले राजामें 'राजाने युद्ध किया' ऐसा उपचार है, परमार्थ नहीं है; इसीप्रकार
ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमते हुवे पुद्गलद्रव्यके द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जानेपर,
ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले आत्मामें 'आत्माने ज्ञानावरणादि कर्म
किया, ऐसा उपचार है, परमार्थ नहीं है ।

भावार्थः—योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जानेपर भी उपचारसे यह कहा जाता है कि 'राजाने युद्ध
किया,' इसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्यके द्वारा किये जानेपर भी उपचारसे यह कहा जाता है
कि 'जीवने कर्म किये' ।

योद्धा करें जहाँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहें ।

त्यों जीवने ज्ञानावरण आदिक किये व्यवहारसे ॥१०६॥

अत एतस्स्थितम्—

उत्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिरहदि य ।

आदा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारणयस्स वक्तव्वं ॥१०७॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च ।

आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारणयस्य वक्तव्यम् ॥१०७॥

अयं खल्व्वात्मा न गृह्णाति न परिणमयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापक-
भावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म । यत्तु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि
प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयति उत्पादयति करोति बध्नाति
चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ।

कथमिति चेत्—

अब कहते हैं कि उपरोक्त हेतुसे यह सिद्ध हुआ कि:—

गीथा १०७

गाथार्थः—[आत्मा] आत्मा [पुद्गलद्रव्यम्] पुद्गलद्रव्यको [उत्पादयति] उत्पन्न
करता है, [करोति च] करता है, [बध्नाति] बाँधता है, [परिणामयति] परिणामन कराता है
[च] और [गृह्णाति] ग्रहण करता है—यह [व्यवहारणयस्य] व्यवहारणयका [वक्तव्यम्]
कथन है !

टोकाः—यह आत्मा वास्तवमें, व्याप्यव्यापकभावके अभावके कारण, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—
ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक (—पुद्गलद्रव्यस्वरूप) कर्मको ग्रहण नहीं करता, परिणामित नहीं करता; उत्पन्न
नहीं करता, और न उसे करता है न बाँधता है; तथा व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेपर भी, “प्राप्य,
विकार्य और निर्वर्त्य—पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मको आत्मा ग्रहण करता है, परिणामित करता है, उत्पन्न करता
है, करता है और बाँधता है”—ऐसा जो विकल्प वास्तवमें उपचार है ।

भावार्थः—व्याप्यव्यापकभावके बिना कर्तृत्वकर्मत्व कहना सो उपचार है; इसलिये आत्मा
पुद्गलद्रव्यको ग्रहण करता है, परिणामित करता है, उत्पन्न करता है इत्यादि कहना सो उपचार है ।

अब यहाँ प्रश्न करता है कि यह उपचार कैसे है ? उसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

उपजावता, प्रणमावता, ग्रहता, अवरु बांधे, करे ।

पुद्गलद्रव्यको आत्मा—व्यवहारणयवक्तव्य है ॥१०७॥

जह राया ब्रह्महारा दोषगुणोत्पादगोति आलविदो ।

तह जीवो ब्रह्महारा द्रव्यगुणोत्पादगो भणितो ॥१०८॥

यथा राजा व्यवहाराद् दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः ।

तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥१०८॥

यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापक-
भावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्पुपचारः; तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत
एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको जीव इत्युपचारः ।

गाथा १०८

गाथार्थः—[यथा] जैसे [राजा] राजाको [दोषगुणोत्पादकः इति] प्रजाके दोष और
गुणोंको उत्पन्न करनेवाला [व्यवहारात्] व्यवहारसे [आलपितः] कहा है, [तथा] उसीप्रकार
[जीवः] जीवको [द्रव्यगुणोत्पादकः] पुद्गलद्रव्यके द्रव्य-गुणोंको उत्पन्न करनेवाला [व्यवहारात्]
व्यवहारसे [भणितः] कहा गया है ।

टीकाः—जैसे प्रजाके गुणदोषोंमें और प्रजामें व्याप्यव्यापकभाव होनेसे स्व-भावसे ही (प्रजाके
अपने भावसे ही) उन गुणदोषोंकी उत्पत्ति होनेपर भी—यद्यपि उन गुणदोषोंमें और राजामें व्याप्यव्या-
पकभावका अभाव है तथापि—यह उपचारसे कहा जाता है कि 'उनका उत्पादक राजा है'; इसीप्रकार
पुद्गलद्रव्यके गुणदोषोंमें और पुद्गलद्रव्यमें व्याप्यव्यापकभाव होनेसे स्व-भावसे ही (पुद्गलद्रव्यके
अपने भावसे ही) उन गुणदोषोंकी उत्पत्ति होनेपर भी—यद्यपि गुणदोषोंमें और जीवमें व्याप्यव्यापक-
भावका अभाव है तथापि—'उनका उत्पादक जीव है' ऐसा उपचार किया जाता है ।

भावार्थः—जगत्में कहा जाता है कि 'यथा राजा तथा प्रथा' । इस कहावतसे प्रजाके गुणदोषोंका
उत्पन्न करनेवाला राजा कहा जाता है । इसीप्रकार पुद्गलद्रव्यके गुणदोषोंको उत्पन्न करनेवाला जीव कहा
जाता है । परमार्थदृष्टिसे देखा जाये तो यह यथार्थ नहीं, किन्तु उपचार है ।

अब आगेकी गाथाका सूचक कान्य कहते हैंः—

गुणदोषउत्पादक क्हा ज्यों भूपकी व्यवहारसे ।

त्यों द्रव्यगुणउत्पन्नकर्त्ता, जीव क्हा व्यवहारसे ॥१०८॥

* वसन्ततिलका *

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
 कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव ।
 एतर्हि तीव्ररयमोहनिवहणाय
 संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥६३॥

सामरणपञ्चया खलु चउरो भणति बंधकत्तारो ।
 मिच्छतं अविरमणं कसायजोगा य वोद्भव्या ॥१०९॥
 तेसिं पुणो वि य इमो भणितो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
 मिच्छादिद्विआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥
 एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा ।
 ते जदि करंति कम्मं ए वि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥

श्लोकार्थः—[यदि पुद्गलकर्म जीवः न एव करोति] 'यदि पुद्गलकर्मको जीव नहीं करता [तर्हि] तो फिर [तत् कः कुरुते] उसे कौन करता है ?' [इति अभिशङ्कया एव] ऐसी आशंका करके, [एतर्हि] अब [तीव्र-रय-मोह-निवहणाय] तीव्र वेगवाले मोहका (कर्तृत्वकर्मत्वके अज्ञानका) नाश करनेके लिये, यह कहते हैं कि—[पुद्गलकर्मकर्तृ सङ्गीत्यंते] 'पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है'; [शृणुत] इसलिये (हे ज्ञानके इच्छुक पुरुषों !) इसे सुनो । ६३ ।

अब यह कहते हैं कि पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है:—

सामान्य प्रत्यय चार, निश्चय बंधके कर्ता कहे ।
 -मिथ्यात्व अह अविरमण, योगरूपाय वे ही जानने ॥१०९॥
 फिर उनहिंका दर्शा दिया, यह भेद तेर प्रकारका ।
 -मिथ्यात्व गुणस्थानादि स्ते, जो चरमभेद सयोगिका ॥११०॥
 पुद्गलकर्मके उदयसे, उत्पन्न इससे अजीव वे ।
 वे जो करें कर्मां भले, भोक्ता भि नहीं जीवद्रव्य है ॥१११॥

गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वन्ति पञ्चया जम्हा ।
तस्माज्जीवोऽकर्त्ता गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि ॥११२॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यन्ते बंधकर्तारः ।

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥१०९॥

तेषां पुनरपि चार्यं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।

मिथ्यादृष्ट्यादिः यावत् सयोगिनश्चरमान्तः ॥११०॥

एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात् ।

ते यदि कुर्वन्ति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥१११॥

गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात् ।

तस्माज्जीवोऽकर्त्ता गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि ॥११२॥

श्लोका १०९-११२

श्लोकार्थः—[चत्वारः] चार [सामान्यप्रत्ययाः] सामान्य प्रत्यय [खलु] निश्चयसे [बंधकर्तारः] बन्धके कर्ता [भण्यन्ते] कहे जाते हैं, वे— [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अविरमणं] अविरमण [च] तथा [कषाययोगौ] कषाय और योग [बोद्धव्याः] जानना । [पुनः अपि च] और फिर [तेषां] उनका, [अयं] यह [त्रयोदशविकल्पः] तेरह प्रकारका [भेदः तु] भेद [भणितः] कहा गया है—[मिथ्यादृष्ट्यादिः] मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान) से लेकर [सयोगिनः चरमान्तः] यावत् सयोगकेवली (गुणस्थान) के चरम समय पर्यंतका [एते] यह (प्रत्यय अथवा गुणस्थान) [खलु] जो कि निश्चयसे [अचेतनाः] अचेतन हैं [यस्मात्] क्योंकि [पुद्गलकर्मोदयसंभवाः] पुद्गलकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं [ते] वे [यदि] यदि [कर्म] कर्म [कुर्वन्ति] करते हैं तो भले करें; [तेषां] उनका (कर्मका) [वेदकः अपि] भोक्ता भी [आत्मा न] आत्मा नहीं है । [यस्मात्] क्योंकि [एते] यह [गुणसंज्ञिताः तु] 'गुण' नामक [प्रत्ययाः] प्रत्यय [कर्म] कर्म [कुर्वन्ति] करते हैं [तस्मात्] इसलिये [जीवः] जीव तो [अकर्त्ता] कर्मका अकर्त्ता है [च] और [गुणाः] 'गुण' ही [कर्माणि] कर्मको [कुर्वन्ति] करते हैं ।

१ प्रत्यय = कर्मबन्धके कारण अर्थात् आत्मव ।

परमार्थसे 'गुण' नामके, प्रत्यय करें हुए कर्म की ।

तिससे अकर्त्ता जीव है, गुणस्थान करते कर्मको ॥११२॥

पुद्गलकर्मणः किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ तद्विशेषाः मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धस्य सामान्यहेतुतया चत्वारः कर्तारः; ते एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तास्त्रयोदश कर्तारः । अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पादत्यन्तमचेतनाः संतस्त्रयोदश कर्तारः केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव, किं जीवस्यात्राप्राप्तितम् ? अथायं तर्कः—पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीवः स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति । स किलाविवेकः, यतो न खल्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोपि, कथं पुनः पुद्गलकर्मणः कर्ता नाम ? अथैतदायातम् यतः पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्य-प्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विशेषप्रत्यया गुणशब्दवाच्याः केवला एव कुर्यति कर्माणि, ततः पुद्गलकर्मणामकर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तारः । ते तु पुद्गलद्रव्यमेव । ततः स्थितं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ ।

न च जीवप्रत्यययोरेकत्वम्—

टीकाः—वास्तवमें पुद्गलकर्मका, पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है; उसके विशेष-मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बन्धके सामान्य हेतु होनेसे चार कर्ता हैं; उन्हींके भेद करने पर मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह कर्ता हैं । अब, जो पुद्गलकर्मके विपाकके प्रकार होनेसे अत्यन्त अचेतन हैं ऐसे यह तेरह कर्ता ही मात्र व्याप्यव्यापकभावसे यदि कुछ भी पुद्गलकर्मको करें तो भले करें; इसमें जीवका क्या आया ? (कुछ भी नहीं ।)

यहाँ यह तर्क है कि 'पुद्गलमय मिथ्यात्वादिको भोगता हुआ, जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्मको करता है ।' (इसका समाधान यह है कि:—) यह तर्क वास्तवमें अविवेक है, क्योंकि भाव्यभावकभावका अभाव होनेसे आत्मा निश्चयसे पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादिका भोक्ता भी नहीं है, तब फिर पुद्गलकर्मका कर्ता कैसे हो सकता है ? इसलिये यह सिद्ध हुआ कि—जो पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्यप्रत्ययोंके भेदरूप तेरह विशेषप्रत्यय हैं जो कि 'गुण' शब्दसे (गुणस्थान नामसे) कहे जाते हैं वही मात्र कर्मोंको करते हैं, इसलिये जीव पुद्गलकर्मोंका अकर्ता है, किन्तु 'गुण' ही उनके कर्ता हैं; और वे 'गुण' तो पुद्गलद्रव्य ही हैं; इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्मका, पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है ।

भावार्थः—शास्त्रोंमें प्रत्ययोंको बन्धका कर्ता कहा गया है । गुणस्थान भी विशेष प्रत्यय ही हैं इसलिये ये गुणस्थान बन्धके कर्ता हैं अर्थात् पुद्गलकर्मके कर्ता हैं । और मिथ्यात्वादि सामान्य प्रत्यय या गुणस्थानरूप विशेष प्रत्यय अचेतन पुद्गलद्रव्यमय ही हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्मका कर्ता है; जीव नहीं । जीवको पुद्गलकर्मका कर्ता-मानना अज्ञान है ।

अब यह कहते हैं कि—जीव और उन प्रत्ययोंमें एकत्व नहीं है:—

जह जीवस्स अणुणुवञ्चोमो कौहो वि तह जदि अणरणो ।
 जीवस्साजीवस्स य एवमणरणत्तयावरणं ॥११३॥
 एवमिह जो हु जीवो सो चैव तु णियमदो तहाऽजीवो ।
 अणुणुवत्ते दोसो एच्चयणोक्कम्मकम्माणं ॥११४॥
 इह दे अणणो कौहो अणुवञ्चोमपपो हवदि चेदा ।
 जह कौहो तह एच्चय कम्म णोक्कम्ममवि अणणं ॥११५॥

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः ।
 जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ॥११३॥
 एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाऽजीवः ।
 अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोर्कर्मकर्मणाम् ॥११४॥
 अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।
 यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोर्कर्मोप्यन्यत् ॥११५॥

शाखा ११३-११५

गाथार्थः—[यथा] जैसे [जीवस्य] जीवके [उपयोगः] उपयोग [अनन्यः] अनन्य
 अर्थात् एकरूप है [तथा] उसीप्रकार [यदि] यदि [क्रोधः अपि] क्रोध भी [अनन्यः] अनन्य हो
 तो [एवम्] इसप्रकार [जीवस्य] जीवके [च] और [अजीवस्य] अजीवके [अनन्यत्वम्]
 अनन्यत्व [आपन्नम्] आ गया । [एवम् च] और ऐसा होनेसे, [इह] इस जगत्में [यः तु]

उपयोग ज्योंही अनन्य जीवका, क्रोध त्योंही जीवका ।
 तो दोष आवे जीव त्योंही अजीवके एकत्वका ॥११३॥
 यों जगत्में जो जीव वे हि अजीव भी निश्चय हुवे ।
 नोर्कर्म, प्रत्यय, कर्मके एकत्वमें भी दोष वे ॥११४॥
 जो क्रोध यों हैं अन्य, जीव उपयोगव्यात्मक अन्य हैं ।
 तो क्रोधवत् नोर्कर्म, प्रत्यय, कर्म भी सब अन्य हैं ॥११५॥

यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जडः क्रोधोप्यनन्य एवेति प्रतिपत्तिस्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमयत्वापत्तिः । तथा सति तु य एव जीवः स एवाजीव इति द्रव्यांतरलुप्तिः । एवं प्रत्ययनोर्कर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्व-प्रतिपत्तावयमेव दोषः । अथैतद्दोषभयादन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभावः क्रोधः इत्यभ्युपगमः तर्हि यथोपयोगात्मनो जीवादन्यो जडस्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोर्कर्मकर्माण्य-प्यन्यान्येव जडस्वभावत्वाविशेषात् । नास्ति जीवप्रत्यययोरेकत्वम् ।

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिषिष्यं प्रति —

जो [जीवः] जीव है [सः एव] वही [नियमतः] नियमसे [तथा] उसीप्रकार [अजीवः] अजीव सिद्ध हुआ; (दोनोंके अनन्यत्व होनेमें यह दोष आया;) [प्रत्ययनोर्कर्मकर्मणाम्] प्रत्यय, नोर्कर्म और कर्मके [एकत्वे] एकत्वमें भी [अयम् दोषः] यही दोष आता है । [अथ] अब यदि (इस दोषके भयसे) [ते] तेरे मतमें [क्रोधः] क्रोध [अन्यः] अन्य है और [उपयोगात्मकः] उपयोग स्वरूप [चेतयिता] आत्मा [अन्यः] अन्य [भवति] है, तो [यथा क्रोधः] जैसे क्रोध है [तथा] वैसे ही [प्रत्ययाः] प्रत्यय, [कर्म] कर्म [नोर्कर्म अपि] और नोर्कर्म भी [अन्यत्] आत्मासे अन्य ही हैं ।

टीकाः—जैसे जीवके उपयोगमयत्वके कारण जीवसे उपयोग अनन्य (अभिन्न) है उसीप्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य ही है यदि ऐसी प्रतिपत्ति की जाये, तो चिद्रूप (जीव) और जड़के अनन्यत्वके कारण जीवके उपयोगमयताकी भाँति जड़ क्रोधमयता भी आ जायेगी । और ऐसा होने पर जो जीव है वही अजीव सिद्ध होगा,—इसप्रकार अन्य द्रव्यका लोप हो जायेगा । इसीप्रकार प्रत्यय, नोर्कर्म और कर्म भी जीवसे अनन्य हैं ऐसी प्रतिपत्तिमें भी यही दोष आता है । इसलिये यदि इस दोषके भयसे यह स्वीकार किया जाये कि उपयोगात्मक जीव अन्य ही है और जडस्वभाव क्रोध अन्य ही है, तो जैसे उपयोगात्मक जीवसे जडस्वभाव क्रोध अन्य है उसीप्रकार प्रत्यय, नोर्कर्म और कर्म भी अन्य ही हैं क्योंकि उनके जडस्वभावत्वमें अन्तर नहीं है (अर्थात् जैसे क्रोध जड़ है उसीप्रकार प्रत्यय, नोर्कर्म और कर्म भी जड़ हैं) । इसप्रकार जीव और प्रत्ययमें एकत्व नहीं है ।

भावार्थः—मिथ्यात्वादि आस्रव तो जडस्वभाव हैं और जीव चैतन्यस्वभाव है । यदि जड़ और चेतन एक हो जायें तो भिन्न द्रव्योंके लोप होनेका महा दोष आता है । इसलिये निश्चयनयका यह सिद्धांत है कि आस्रव और आत्मामें एकत्व नहीं है ।

अव सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति पुद्गलद्रव्यका परिणामस्वभावत्व सिद्ध करते हैं (अर्थात् सांख्यमतवाले प्रकृति और पुरुषको अपरिणामी मानते हैं उन्हें समझते हैं) :—

१ प्रतिपत्ति = प्रतीति, प्रतिपादन । २ चिद्रूप = जीव ।

जीवै ए सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
 जइ पुग्गलदब्बमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
 कम्मइयवग्गणासु य अप्परिणमंतीसु कम्मभावेण ।
 संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥
 जीवो परिणामयदे पुग्गलदब्बाणि कम्मभावेण ।
 ते सयय परिणमंते क्हं ए परिणामयदि चेदा ॥११८॥
 अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दब्बं ।
 जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥
 णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पुग्गलं दब्बं ।
 तह तं णाणावरणाइपरिणदं सुणसु तच्चेव ॥१२०॥

गाथा ११६-१२०

गाथार्थः—[इदम् पुद्गलद्रव्यम्] यह पुद्गलद्रव्य [जीवे] जीवमें [स्वयं] स्वयं [बद्धं न] नहीं बँधा [कर्मभावेन] और कर्मभावसे [स्वयं] स्वयं [न परिणमते] नहीं परिणमता [यदि]

१ गाणी इत्यपि पाठः ।

जीवमें स्वयं नहीं बद्ध, अरु- नहीं कर्मभावों परिणमे ।
 तो वो हि पुद्गलद्रव्य थी, परिणमनहीन बने अरे ! ॥११६॥
 जो वर्गणा कार्माणकी, नहीं कर्मभावों परिणमे ।
 संसार का हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ! ॥११७॥
 जो कर्मभावों परिणमावे जीव पुद्गलद्रव्यको ।
 क्यों जीव उसको परिणमावे, स्वयं नहीं परिणमत जो ? ॥११८॥
 स्वयमेव पुद्गलद्रव्य अरु, जो कर्मभावों परिणमे ।
 जीव परिणमावे कर्मको, कर्मत्वमें-मिथ्या बने ॥११९॥
 पुद्गलद्रव जो कर्मपरिणत, नियमसे कर्म हि बने ।
 ज्ञानावरणइत्यादिपरिणत वोहि तुम जानो उसे ॥१२०॥

जीवे न स्वयं वद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन ।

यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥११६॥

कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन ।

संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥११७॥

जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन ।

तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता ॥११८॥

अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलं द्रव्यम् ।

जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥११९॥

नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलं द्रव्यम् ।

तथा तद्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव ॥१२०॥

यदि ऐसा माना जाये [तदा] तो वह [अपरिणामी] अपरिणामी [भवति] सिद्ध होता है; [च] और [कार्मणवर्गणासु] कार्मणवर्गणाएँ [कर्मभावेन] कर्मभावसे [अपरिणममानासु] नहीं परिणमती होनेसे, [संसारस्य] संसारका [अभावः] अभाव [प्रसजति] सिद्ध होता है [वा] अथवा [सांख्यसमयः] सांख्य मतका प्रसंग आता है ।

और [जीवः] जीव [पुद्गलद्रव्याणि] पुद्गलद्रव्योंको [कर्मभावेन] कर्मभावसे [परिणामयति] परिणामता है ऐसा माना जाये तो यह प्रश्न होता है कि [स्वयम् अपरिणममानानि] स्वयं नहीं परिणमती हुई [तानि] उन वर्गणाओंको [चेतयिता] चेतन आत्मा [कथं नु] कैसे [परिणामयति] परिणामन करा सकता ? [अथ] अथवा यदि [पुद्गलम् द्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [स्वयमेव हि] अपने आप ही [कर्मभावेन] कर्मभावसे [परिणमते] परिणामन करता है ऐसा माना जाये, तो [जीवः] जीव [कर्म] कर्मको अर्थात् पुद्गलद्रव्यको [कर्मत्वम्] कर्मरूप [परिणामयति] परिणामन कराता है [इति] यह कथन [मिथ्या] मिथ्या सिद्ध होता है ।

[नियमात्] इसलिये जैसे नियमसे [कर्मपरिणतं] कर्मरूप (कतकि कार्यरूपसे) परिणमित [पुद्गलम् द्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [कर्म चैव] कर्म ही [भवति] है [तथा] इसीप्रकार [ज्ञानावरणादियपरिणतं] ज्ञानावरणादिरूप परिणमित [तत्] पुद्गलद्रव्य [तत् चैव] ज्ञानावरणादि ही है [जानीत] ऐसा जानो ।

यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमवद्भं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणमयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः । किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणमयितुं पार्येत; न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत; न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु । तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात् । इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वम् ।

• उपजाति •

स्थितेत्यविधना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥६४॥

टीका:—यदि पुद्गलद्रव्य जीवमें स्वयं न वैधकर कर्मभावसे स्वयमेव परिणमता न हो, तो वह अपरिणामी ही सिद्ध होगा। और ऐसा होनेसे, संसारका अभाव होगा। (क्योंकि यदि पुद्गलद्रव्य कर्मरूप नहीं परिणमे तो जीव कर्मरहित सिद्ध होवे; तब फिर संसार किसका ?) यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि "जीव पुद्गलद्रव्यको कर्मभावसे परिणमाता है इसलिये संसारका अभाव नहीं होगा," तो उसका निराकरण दो पक्षोंको लेकर इस प्रकार किया जाता है कि:—क्या जीव स्वयं अपरिणमते हुए पुद्गलद्रव्यको कर्मभावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुको ? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुको दूसरेके द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता, क्योंकि (वस्तुमें) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। (इसलिये प्रथम पक्ष असत्य है।) और स्वयं परिणमते हुको अन्य परिणमाने वालेकी अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखती। (इसलिये दूसरा पक्ष भी असत्य है।) अतः पुद्गलद्रव्य परिणमनस्वभाववाला स्वयमेव हो। ऐसा होनेसे, जैसे घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है उसी प्रकार, जड़ स्वभाववाले ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म है। इसप्रकार पुद्गलद्रव्यका परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[इति] इसप्रकार [पुद्गलस्य] पुद्गलद्रव्यकी [स्वभावभूता परिणामशक्तिः] स्वभावभूत परिणमनशक्ति [खलु अविधना स्थिता] निर्विघ्न सिद्ध हुई। और [तस्यां स्थितायां] उसके सिद्ध होने पर, [सः आत्मनः यम् भावं करोति] पुद्गलद्रव्य अपने जिस भावको करता है [तस्य सः एव कर्ता] उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

जीवस्य परिणामित्वं साधयति—

ए सयं बद्धो कर्ममे ए सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
 जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥१२१॥
 अपरिणमंतमिह सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
 संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥
 पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
 तं सयमपरिणमंतं कहं ए परिणामयदिकोहो ॥१२३॥
 अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
 कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥
 कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
 माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

भावार्थः—सर्वं द्रव्य परिणामनस्वभाववाले हैं इसलिये वे अपने अपने भावके स्वयं ही कर्ता हैं ।
 पुद्गलद्रव्य भी अपने जिस भावको करता है उसका वह स्वयं ही कर्ता है । ६४ ।

अब जीवका परिणामित्व सिद्ध करते हैं:—

नहिं बद्धकर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे ।
 तो जीव यह तुझ मतविषै परिणमनहीन बने अरे ॥१२१॥
 क्रोधादिभावों जो स्वयं नहिं जीव आप हि परिणमे ।
 संसारका हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ॥१२२॥
 जो क्रोध-पुद्गलकर्म-जीवको, परिणमावे क्रोधमें ।
 क्यों क्रोध उसको परिणमावे जो स्वयं नहिं परिणमे ॥१२३॥
 अथवा स्वयं जीव क्रोधभावों परिणमे-तुझ बुद्धिसे ।
 तो क्रोध जीवको परिणमावे क्रोधमें-मिथ्या बने ॥१२४॥
 क्रोधोपयोगी क्रोध, जीव, मानोपयोगी मान है ।
 मायोपयुत माया अवरु लोभोपयुत लोभ हि बने ॥१२५॥

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः ।

यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥१२१॥

अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः ।

संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥१२२॥

पुद्गलकर्म क्रोधी जीवं परिणामयति क्रोधत्वम् ।

तं स्वयमपरिणममानं कथं तु परिणामयति क्रोधः ॥१२३॥

अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः ।

क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥१२४॥

क्रोधीपयुक्तः क्रोधी मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।

मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥१२५॥

गाथा १२१-१२५

गाथार्थः—सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति आचार्यं कहते हैं कि हे भाई ! [एषः] यह [जीवः] जीव [कर्मणि] कर्ममें [स्वयं] स्वयं [बद्धः न] नहीं बँधा है और [क्रोधादिभिः] क्रोधादिभावसे [स्वयं] स्वयं [न परिणमते] नहीं परिणमता [यदि तव] यदि तेरा यह मत है [तदा] तो वह (जीव) [अपरिणामी] अपरिणामी [भवति] सिद्ध होता है; [जीवे] और जीव [स्वयं] स्वयं [क्रोधादिभिः भावैः] क्रोधादिभावरूप [अपरिणममाने] नहीं परिणमता होनेसे, [संसारस्य] संसारका [अभावः] अभाव [प्रसजति] सिद्ध होता है [वा] अथवा [सांख्यसमयः] सांख्य मतका प्रसंग आता है ।

[पुद्गलकर्म क्रोधः] और पुद्गलकर्म जो क्रोध है वह [जीवं] जीवको [क्रोधत्वम्] क्रोधरूप [परिणामयति] परिणमन कराता है ऐसा तू माने तो यह प्रश्न होता है कि [स्वयम् अपरिणममानं] स्वयं नहीं परिणमते हुए [तं] उस जीवको [क्रोधः] क्रोध [कथं नु] कैसे [परिणामयति] परिणमन करा सकता है ? [अथ] अथवा यदि [आत्मा] आत्मा [स्वयम्] अपने आप [क्रोधभावेन] क्रोधभावसे [परिणमते] परिणमता है [एषा ते बुद्धिः] ऐसी तेरी बुद्धि हो, तो [क्रोधः] क्रोध [जीवं] जीवको [क्रोधत्वम्] क्रोधरूप [परिणामयति] परिणमन कराता है [इति] यह कथन [मिथ्या] मिथ्या सिद्ध होता है ।

यदि कर्मणि स्वयमबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा स किलापरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः । किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणमयितुं पार्येत; न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत; न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु । तथा सति गरुडध्यानपरिणतः साधकः स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोगः स एव स्वयं क्रोधादिः स्यात् । इति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वम् ।

इसलिये यह सिद्धान्त है कि [क्रोधोपयुक्तः] क्रोधमें उपयुक्त (अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकार परिणमित हुआ है ऐसा) [आत्मा] आत्मा [क्रोधः] क्रोध ही है, [मानोपयुक्तः] मानमें उपयुक्त आत्मा [मानः एव] मान ही है, [मायोपयुक्तः] मायामें उपयुक्त आत्मा [मायाः] माया है [च] और [लोभोपयुक्तः] लोभमें उपयुक्त आत्मा [लोभः] लोभ [भवति] है ।

टीका:—यदि जीव कर्ममें स्वयं न बँधता हुआ क्रोधादिभावमें स्वयमेव नहीं परिणमता हो तो वह वास्तवमें अपरिणामी ही सिद्ध होगा । और ऐसा होनेसे संसारका अभाव होगा । यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि “पुद्गलकर्म जो क्रोधादिक हैं वे जीवको क्रोधादिभावरूप परिणामते हैं इसलिये संसारका अभाव नहीं होता,” तो उसका निराकरण दो पक्ष लेकर इसप्रकार किया जाता है कि:—पुद्गलकर्म क्रोधादिक है वह स्वयं अपरिणमते हुए जीवको क्रोधादिभावरूप परिणामता है या स्वयं परिणमते हुएको ? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुएको परके द्वारा नहीं परिणामाया जा सकता; क्योंकि (वस्तुमें) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता । और स्वयं परिणमते हुएको तो अन्य परिणामानेवालेकी अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखती । (इसप्रकार दोनों पक्ष असत्य हैं ।) इसलिये जीव परिणमनस्वभाववाला स्वयमेव हो । ऐसा होनेसे, जैसे, गरुडके ध्यानरूप परिणमित मंत्रसाधक स्वयं गरुड है उसीप्रकार, अज्ञानस्वभावयुक्त क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है ऐसा जीव ही स्वयं क्रोधादि है । इसप्रकार जीवका परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ ।

भावार्थ:—जीव परिणामस्वभाव है । जब अपना उपयोग क्रोधादिरूप परिणमता है तब स्वयं क्रोधादिरूप ही होता है ऐसा जानना ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

उपजाति

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
 स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
 तस्यां स्थितायां स करोति भावं
 यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६५॥

तथा हि—

जं कृणादि भावमादा कला सो होदि तस्स कम्मस्स ।
 णाणस्स स णाणमञ्जो अणणाणमञ्जो अणाणस्स ॥१२६॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः ।

ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥१२६॥

श्लोकार्थः—[इति] इसप्रकार [जीवस्य] जीवकी [स्वभावभूता परिणामशक्तिः] स्वभावभूत परिणामनशक्ति [निरन्तराया स्थिता] निर्विघ्न सिद्ध हुई । [तस्यां स्थितायां] यह सिद्ध होने पर, [सः स्वस्य यं भावं करोति] जीव अपने जिस भावको करता है [तस्य एव सः कर्ता भवेत्] उसका वह कर्ता होता है ।

भावार्थः—जीव भी परिणामी है; इसलिये स्वयं जिस भावरूप परिणामता है उसका कर्ता होता है । ६५ ।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानमय भावका और अज्ञानी अज्ञानमय भावका कर्ता है—

गाथा १२६

गाथार्थः—[आत्मा] आत्मा [यं भावम्] जिस भावको [करोति] करता है [तस्य कर्मणः] उस भावरूप कर्मका [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है; [ज्ञानिनः] ज्ञानीको तो [सः] वह भाव [ज्ञानमयः] ज्ञानमय है और [अज्ञानिनः] अज्ञानीको [अज्ञानमयः] अज्ञानमय है ।

जिस भावको आत्मा करे, कर्ता बने उस कर्मका ।

वो ज्ञानमय है ज्ञानिका, अज्ञानमय अज्ञानिका ॥१२६॥

एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोऽपि यमेव भावमात्मनः करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत । स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वात् ज्ञानमय एव स्यात् । अज्ञानिनः तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्ज्ञानमय एव स्यात् ।

किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याह—

अज्ञानमयो भावो अज्ञानिणो कुण्दि तेण कर्माणि ।

ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥१२७॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि ।

ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥१२७॥

टीका:—इसप्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है तथापि अपने जिस भावको करता है उस भावका ही—कर्मत्वको प्राप्त हुएका ही—कर्ता वह होता है (अर्थात् वह भाव आत्माका कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है) । वह भाव ज्ञानीको ज्ञानमय ही है क्योंकि उसे सम्यक् प्रकारसे स्वपरके विवेकसे (सर्व परद्रव्यभावोंसे) भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदयको प्राप्त हुई है । और वह भाव अज्ञानीको तो अज्ञानमय ही है क्योंकि उसे सम्यक् प्रकारसे स्वपरका विवेक न होनेसे भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त अस्त होगई है ।

भावार्थ:—ज्ञानीको तो स्वपरका भेदज्ञान हुआ है इसलिये उसके अपने ज्ञानमय भावका ही कर्तृत्व है; और अज्ञानीको स्वपरका भेदज्ञान नहीं है इसलिये उसके अज्ञानमय भावका ही कर्तृत्व है ।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानमय भावसे क्या होता है और अज्ञानमय भावसे क्या होता है:—

माथा १२७

माथार्थ:—[अज्ञानिनः] अज्ञानीके [अज्ञानमयः] अज्ञानमय [भावः] भाव है [तेन] इसलिये वह [कर्माणि] कर्मोंको [करोति] करता है, [ज्ञानिनः तु] और ज्ञानीके तो [ज्ञानमयः] ज्ञानमय (भाव) है [तस्मात् तु] इसलिये ज्ञानी [कर्माणि] कर्मोंको [न करोति] नहीं करता ।

अज्ञानमय अज्ञानिका, जिससे करे वो कर्म को ।

पर ज्ञानमय है ज्ञानिका, जिससे करे नहि कर्म वो ॥१२७॥

अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद्-
ज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिंस्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्टः पराभ्यां
रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहंकारः स्वयं किलैषोऽहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति-
च, तस्माद्ज्ञानमयभावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि । ज्ञानिनस्तु सम्यक्-
स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद् ज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिंस्तु सति
स्वपरयोर्नात्त्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया
स्वरसत एव निवृत्ताहंकारः- स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च-रुष्यति, तस्माद्
ज्ञानमयभावात् ज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानमकुर्वन् करोति कर्माणि ।

टीकाः—अज्ञानीके, सम्यक् प्रकारसे स्वपरका विवेक न होनेके कारण भिन्न आत्माकी ख्याति
अत्यन्त अस्त हो गई होनेसे, अज्ञानमय भाव ही होता है, और उसके होनेसे, स्वपरके एकत्वके अध्यासके
कारण ज्ञानमात्र ऐसे निजमेंसे (आत्मस्वरूपमेंसे) भ्रष्ट हुआ, पर ऐसे रागद्वेषके साथ एक होकर जिसके
अहंकार प्रवर्त्त रहा है ऐसा स्वयं 'यह मैं वास्तवमें रागी हूँ, द्वेषी हूँ (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ, द्वेष
करता हूँ)' इसप्रकार (मानता हुआ) रागी और द्वेषी होता है, इसलिये अज्ञानमय भावके कारण
अज्ञानी अपनेको पर ऐसे रागद्वेषरूप करता हुआ कर्मोंको करता है ।

ज्ञानीके तो, सम्यक् प्रकारसे स्वपरविवेकके द्वारा भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदयको प्राप्त
हुई होनेसे ज्ञानमय भाव ही होता है; और ऐसा होने पर, स्वपरके भिन्नत्वके विज्ञानके कारण ज्ञानमात्र
ऐसे निजमें सुनिविष्ट (सम्यक् प्रकारसे स्थित) हुआ, पर ऐसे रागद्वेषसे भिन्नत्वके कारण निजरससे ही
जिसका अहंकार निवृत्त हुआ है ऐसा स्वयं वास्तवमें मात्र जानता ही है, रागी और द्वेषी नहीं होता
(अर्थात् रागद्वेष करता नहीं) इसलिये ज्ञानमय भावके कारण ज्ञानी अपनेको पर ऐसे रागद्वेषरूप न
करता हुआ कर्मोंको नहीं करता ।

भावार्थः—इस आत्माके क्रोधादिक मोहनीय कर्मकी प्रकृतिका (अर्थात् रागद्वेषका) उदय आने
पर, अपने उपयोगमें उसका रागद्वेषरूप मलिन स्वाद् आता है । अज्ञानीके स्वपरका भेदज्ञान न होनेसे
वह यह मानता है कि "यह रागद्वेषरूप मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है—वही मैं हूँ ।" इसप्रकार
रागद्वेषमें अहंबुद्धि करता अज्ञानी अपनेको रागीद्वेषी करता है; इसलिये वह कर्मोंको करता है ।
इसप्रकार अज्ञानमय भावसे कर्मबन्ध होता है ।

ज्ञानीके भेदज्ञान होनेसे वह ऐसा जानता है कि "ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग है वही मेरा स्वरूप है—
वही मैं हूँ; रागद्वेष कर्मोंका रस है, वह मेरा स्वरूप नहीं है ।" इसप्रकार रागद्वेषमें अहंबुद्धि न करता हुआ
ज्ञानी अपनेको रागद्वेषी नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है; इसलिये वह कर्मोंको नहीं करता । इसप्रकार
ज्ञानमय भावसे कर्मबन्ध नहीं होता । -

(आर्या)

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।

अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥६६॥

णाणमया भावाञ्चो णाणमञ्चो चैव जायए भावो ।

जम्हा तम्हा णाणिस्स सब्बे भावा हु णाणमया ॥१२८॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चैव जायए भावो ।

जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अण्णाणिस्स ॥१२९॥

ज्ञानमयाद्भावाद् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।

यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥१२८॥

अज्ञानमयाद्भावाद्ज्ञानश्चैव जायते भावः ।

यस्मात्तस्माद्भावा अज्ञानमया अज्ञानिनः ॥१२९॥

अत्र आगेकी गाथाके अर्थका सूचक काव्य कहते हैं ।

इलोकार्थः—[ज्ञानिनः कुतः ज्ञानमयः एव भावः भवेत्] यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानीको ज्ञानमय भाव ही क्यों होता है [पुनः] और [अन्यः न] अन्य (अज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होता ? [अज्ञानिनः कुतः सर्वः अयम् अज्ञानमयः] तथा अज्ञानीके सभी भाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं तथा [अन्यः न] अन्य (ज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होते ? । ६६ ।

इसी प्रश्नके उत्तररूप गाथा कहते हैंः—

गाथा १२८-१२९

गाथार्थः—[यस्मात्] क्योंकि [ज्ञानमयात् भावात् च] ज्ञानमय भावमेंसे [ज्ञानमयः एव] ज्ञानमय ही [भावः] भाव [जायते] उत्पन्न होता है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानिनः] ज्ञानियोंके [सर्वे भावाः] समस्त भाव [खलु] वास्तवमें [ज्ञानमयाः] ज्ञानमय ही होते हैं । [च] और, [यस्मात्] क्योंकि [अज्ञानमयात् भावात्] अज्ञानमय भावमेंसे [अज्ञानः एव] अज्ञानमय ही

ज्यों ज्ञानमय को भावमेंसे ज्ञानभाव हि उपजते ।

यों नियत ज्ञानीजीवके सब भाव ज्ञानमयी बनें ॥१२८॥

अज्ञानमय को भावसे, अज्ञानभाव हि उपजे ।

इस हेतुसे अज्ञानिके, अज्ञानमय भाव हि बने ॥१२९॥

यतो ह्यज्ञानमयाद्वावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽप्यज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानोऽ-
ज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्व एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः । यतश्च ज्ञानमयाद्वावाद्यः
कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽपि ज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्वे एव
ज्ञानमया ज्ञानिनो भावाः ।

* अनुष्टुप् *

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।

सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥६७॥

अथैतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते—

[भावः] भाव [जायते] उत्पन्न होता है [तस्मात्] इसलिये [अज्ञानिनः] अज्ञानियोंके [भावाः]
भाव [अज्ञानमयाः] अज्ञानमय ही होते हैं ।

टीकाः—वास्तवमें अज्ञानमय भावमेंसे जो कोई भी भाव होता है वह सब ही अज्ञानमयताका
उल्लंघन न करता हुआ अज्ञानमय ही होता है, इसलिये अज्ञानियोंके सभी भाव अज्ञानमय होते हैं । और
ज्ञानमय भावमेंसे जो कोई भी भाव होता है वह सब ही ज्ञानमयताका उल्लंघन न करता हुआ ज्ञानमय
ही होता है, इसलिये ज्ञानियोंके सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं :—

भावार्थः—ज्ञानीका परिणामन अज्ञानीके परिणामनसे भिन्न ही प्रकारका है । अज्ञानीका परिणामन
अज्ञानमय और ज्ञानीका ज्ञानमय है; इसलिये अज्ञानीके क्रोध, मान, व्रत, तप इत्यादि समस्त भाव
अज्ञानजातिका उल्लंघन न करनेसे अज्ञानमय ही हैं और ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानजातिका उल्लंघन न
करनेसे ज्ञानमय ही हैं ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[ज्ञानिनः] ज्ञानीके [सर्वे भावाः] समस्त भाव [ज्ञान निर्वृत्ताः हि] ज्ञानसे
रचित [भवन्ति] होते हैं [तु] और [अज्ञानिनः] अज्ञानीके [सर्वे अपि ते] समस्त भाव [अज्ञान-
निर्वृत्ताः] अज्ञानसे रचित [भवन्ति] होते हैं । ६७ ।

अब इसी अर्थको दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं:—

कण्यमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।
 अयमयया भावादो जह जायंते तु कड्यादी ॥१३०॥
 अरणाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
 एणस्सि द्दु एणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

कनकमयाद्भावाजायंते कुंडलादयो भावाः ।

अयोमयकाद्भावाद्यथा जायंते तु कटकादयः ॥१३०॥

अज्ञानमया भावा अज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते ।

ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवंति ॥१३१॥

यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कार्याणां
 जांबूनदमयाद्भावाजांबूनदजातिमनतिवर्तमाना जांबूनदकुण्डलादय एव भावा भवेयुर्न पुनः
 कालायसवलयादयः, कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमानाः कालायसवलयादय एव
 भवेयुर्न पुनर्जांबूनदकुण्डलादयः । तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानु-

गाथा १३०-१३१

गाथार्थः—[यथा] जैसे [कनकमयात् भावात्] स्वर्णमय भावमेंसे [कुण्डलादयः भावाः]
 स्वर्णमय कुण्डल इत्यादि भाव [जायन्ते] होते हैं [तु] और [अयोमयकात् भावात्] लोहमय
 भावमेंसे [कटकादयः] लोहमय कड़ा इत्यादि भाव [जायन्ते] होते हैं, [तथा] उसीप्रकार
 [अज्ञानिनः] अज्ञानियोंके (अज्ञानमय भावमेंसे) [बहुविधाः अपि] अनेक प्रकारके [अज्ञानमयाः
 भावाः] अज्ञानमय भाव [जायन्ते] होते हैं [तु] और [ज्ञानिनः] ज्ञानियोंके (ज्ञानमय भावमेंसे)
 [सर्वे] सभी [ज्ञानमयाः भावाः] ज्ञानमय भाव [भवन्ति] होते हैं ।

टीकाः—जैसे पुद्गल स्वयं परिणामस्वभावी है तथापि, कारण जैसे कार्य होते हैं इसलिये,
 सुवर्णमय भावमेंसे सुवर्णजातिका उल्लंघन न करते हुए सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव ही होते हैं किन्तु
 लौहमय कड़ा इत्यादि भाव नहीं होते, और लौहमय भावमेंसे, लौहजातिको उल्लंघन न करते हुये लौहमय
 कड़ा इत्यादि भाव ही होते हैं किन्तु सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव नहीं होते; इसीप्रकार जीव स्वयं

ज्यों कनकमय को भावमेंसे, कुण्डलादिक उपजे ।

पर लोहमय को भावसे, कटकादि भावो नीपजे ॥१३०॥

त्यों भाव बहुविध उपजे, अज्ञानमय अज्ञानिके ।

पर ज्ञानिके तो सर्व भावहि, ज्ञानमय निश्चय बने ॥१३१॥

विधायित्वादेव कार्याणां अज्ञानिनः स्वयमज्ञानमयाद्वावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा
अप्यज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनर्ज्ञानमयः, ज्ञानिनश्च स्वयं ज्ञानमयाद्वावाज्ज्ञानजातिमनति-
वर्तमानाः सर्वे ज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनरज्ञानमयाः ।

परिणामस्वभावी होने पर भी, कारण जैसे ही कार्य होनेसे, अज्ञानीके—जो कि स्वयं अज्ञानमय भाव हैं उसके—अज्ञानमय भावोंमेंसे, अज्ञानजातिका उल्लंघन न करते हुए अनेक प्रकारके अज्ञानमय भाव ही होते हैं किन्तु ज्ञानमय भाव नहीं होते, तथा ज्ञानीके—जो कि स्वयं ज्ञानमय भाव हैं उसके—ज्ञानमय भावोंमेंसे, ज्ञानकी जातिका उल्लंघन न करते हुए समस्त ज्ञानमय भाव ही होते हैं किन्तु अज्ञानमय भाव नहीं होते ।

भावायं:—'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस न्यायसे जैसे लोहेमेंसे लौहमय कड़ा इत्यादि वस्तुएँ होती हैं और सुवर्णमेंसे सुवर्णमय आभूषण होते हैं, इसी प्रकार अज्ञानी स्वयं अज्ञानमय भाव होनेसे उसके (अज्ञानमय भावमेंसे) अज्ञानमय भाव ही होते हैं और ज्ञानी स्वयं ज्ञानमय भाव होनेसे उसके (ज्ञानमय भावमेंसे) ज्ञानमय भाव ही होते हैं ।

अज्ञानीके शुभाशुभ भावोंमें आत्मवृद्धि होनेसे उसके समस्त भाव अज्ञानमय ही हैं ।

अविरत सम्यकृष्टि (-ज्ञानी)के यद्यपि चारित्रमोहके उदय होने पर क्रोधादिक भाव प्रवर्तते हैं तथापि उसके उन भावोंमें आत्मवृद्धि नहीं है, वह उन्हें परके निमित्तसे उत्पन्न उपाधि मानता है । उसके क्रोधादिक कर्म उदयमें आकर खिर जाते हैं—वह भविष्यका ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसार परिभ्रमण बढ़े; क्योंकि (ज्ञानी) स्वयं उद्यमी होकर क्रोधादिभावरूप परिणामता नहीं है यद्यपि उदयकी बलवत्तासे परिणामता है तथापि ज्ञातृत्वका उल्लंघन करके परिणामता नहीं है; ज्ञानीका स्वामित्व निरन्तर ज्ञानमें ही वर्तता है इसलिये वह क्रोधादिभावोंका अन्य ज्ञेयोंकी भाँति ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं । इसप्रकार ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं ।

अब आगेकी गाथाका सूचक अर्थरूप श्लोक कहते हैं:—

* सम्यकृष्टिकी रुचि सर्वदा शुद्धात्मद्रव्यके प्रति ही होती है; उनको कभी रागद्वेषादि भावोंकी रुचि नहीं होती, उसको जो रागद्वेषादि भाव होते हैं वे भाव, यद्यपि उसकी स्वयंकी निर्बलतासे ही एवं उसके स्वयंके अपराधसे ही होते हैं, फिर भी वे रुचिपूर्वक नहीं होते इस कारण उन भावोंको 'कर्मकी बलवत्तासे होनेवाले भाव' कहनेमें आता है, इससे ऐसा नहीं समझना कि 'जड़ द्रव्यकर्म आत्माके ऊपर लेशमात्र—भी जोर कर सकते हैं,' परन्तु ऐसा समझना कि 'विकारी भावोंके होने पर भी सम्यकृष्टि महात्माकी शुद्धात्मद्रव्यरुचिमें किंचित् भी कमी नहीं है, मात्र चारित्र्यादि सम्बन्धी निर्बलता है—ऐसा आशय वतलानेके लिये ऐसा कहा है ।' जहाँ जहाँ 'कर्मकी बलवत्ता,' 'कर्मकी जबरदस्ती,' 'कर्मका जोर' इत्यादि कथन होते वहाँ वहाँ ऐसा आशय समझना ।

अतुद्भुम्

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।

द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥६८॥

अज्ञानमयस्य स उदयो जा जीवाणं अतच्च उच्यते ।

मिच्छतस्स दु उदयो जीवस्स असद्वहाणत्तं ॥१३२॥

उदयो असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।

जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदयो ॥१३३॥

तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।

सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥

एदेषु हेतुभूदेषु कम्मइयवग्गाणागयं जं तु ।

परिणमदे अट्टविहं णाणावरणादिभावोहिं ॥१३५॥

श्लोकार्थः—[अज्ञानी] अज्ञानी [अज्ञानमयभावानाम् भूमिकाम्] (अपने) अज्ञानमय भावोंकी भूमिकामें [व्याप्य] व्याप्त होकर [द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानाम्] (आगामी) द्रव्यकर्मके निमित्त (अज्ञानादि) भावोंके [हेतुताम् एति] हेतुत्वको प्राप्त होता है (अर्थात् द्रव्यकर्मके निमित्तरूप भावोंका हेतु बनता है) । ६८ ।

इसी अर्थको पाँच गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

जो तत्त्वका अज्ञान जीवके, उदय वो अज्ञानका ।

अप्रतीत तत्त्वकी जीवके जो, उदय वो मिथ्यात्वका ॥१३२॥

जीवका जो अविरतभाव है, वो उदय अनसंयम हि का ।

जीवका कलुष उपयोग जो, वो उदय जान कषायका ॥१३३॥

शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तन रूप जो चेष्टा हि का ।

उत्साह करते जीवके वो उदय जानो योगका ॥१३४॥

जब होय हेतुभूत ये तब स्कंध जो कामाणके ।

वे अष्टविध ज्ञानावरणइत्यादिभावों परिणमे ॥१३५॥

तं क्लृप्तं जीवनिबद्धं कर्महयवर्गणागतं जडया ।
तद्वयाद्बुद्धोद्दिहेद् जीवो परिणामभावात् ॥१३६॥

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः ।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्धानत्वम् ॥१३२॥
उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणम् ।
यस्तु क्लृप्तोपयोगो जीवानां स कषायोदयः ॥१३३॥
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः ।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा ॥१३४॥
एतेषु हेतुभूतेषु कर्मणवर्गणागतं यत्तु ।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥१३५॥
तत्क्लृप्तं जीवनिबद्धं कर्मणवर्गणागतं यदा ।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानाम् ॥१३६॥

गाथा १३२-१३६

गाथार्थः—[जीवानाम्] जीवोंके [या] जो [अतत्त्वोपलब्धिः] तत्त्वका अज्ञान है
(-वस्तुस्वरूपसे अयथार्थ-विपरीतज्ञान) [सः] वह [अज्ञानस्य] अज्ञानका [उदयः] उदय है [तु]
और [जीवस्य] जीवके [अश्रद्धानत्वम्] जो (तत्त्वका) अश्रद्धान है वह [मिथ्यात्वस्य]
मिथ्यात्वका [उदयः] उदय है; [तु] और [जीवानां] जीवोंके [यद्] जो [अविरमणम्] अविरमण
अर्थात् अत्यागभाव है वह [असंयमस्य] असंयमका [उदयः] उदय [भवेत्] है [तु] और [जीवानां]
जीवोंके [यः] जो [क्लृप्तोपयोगः] मलिन (ज्ञातृत्वकी स्वच्छतासे रहित) उपयोग है [सः] वह
[कषायोदयः] कषायका उदय है; [तु] तथा [जीवानां] जीवोंके [यः] जो [शोभनः प्रशोभनः
वा] शुभ या अशुभ [कर्तव्यः विरतिभावः वा] प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप [चेष्टोत्साहः] (मनवचनकाया-
आश्रित) चेष्टाका उत्साह है [तं] उसे [योगोदयं] योगका उदय [जानीहि] जानो ।

कर्मणवर्गणारूप वे जड़, बंध पावें जीवमें ।

आत्मा हि जीव परिणाम भावोंका तभी हेतु बने ॥१३६॥

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः । मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदयाः कर्महेतवस्तन्मयाश्चत्वारो भावाः । तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः, अविरमण-रूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः, क्लृप्तोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः, शुभाशुभप्रवृत्ति-निवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः । अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यदा स्यात्तदा जीवः स्वयमेवाज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति ।

[एतेषु] इनको (उदयोंको) [हेतुभूतेषु] हेतुभूत होनेपर [यद् तु] जो [कर्मणवर्गणागतं] कर्मणवर्गणागत (कर्मणवर्गणारूप) पुद्गलद्रव्य [ज्ञानावरणादिभावंः अष्टविधं] ज्ञानावरणादिभावरूपसे आठ प्रकार [परिणमते] परिणमता है, [तद् कर्मणवर्गणागतं] वह कर्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य [यदा] जब [खलु] वास्तवमें [जीवनिबद्धं] जीवमें बँधता है [तदा तु] तब [जीवः] जीव [परिणामभावानाम्] (अपने अज्ञानमय) परिणामभावोंका [हेतुः] हेतु [भवति] होता है ।

टीका:—तत्त्वके अज्ञानरूपसे (वस्तुस्वरूपकी अन्यथा उपलब्धिरूपसे) ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ अज्ञानका उदय है । मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके उदय—जो कि (नवीन) कर्मोंके हेतु हैं वे अज्ञानमय चार भाव हैं । तत्त्वके अश्रद्धानरूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ मिथ्यात्वका उदय है; अविरमणरूपसे (अत्यागभावरूपसे) ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ असंयमका उदय है; क्लृप्त (मलिन) उपयोगरूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ कषायका उदय है; शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्तिके व्यापाररूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ योगका उदय है । यह पौद्गलिक मिथ्यात्वादिके उदय हेतुभूत होनेपर जो कर्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभावसे आठ प्रकार स्वयमेव परिणमता है, वह कर्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीवमें निबद्ध होवे तब स्वयमेव अज्ञानसे स्वपरके एकत्वके अध्यासके कारण तत्त्व-अश्रद्धान आदि अपने अज्ञानमय परिणामभावोंका हेतु होता है ।

भावार्थ:—अज्ञानभावके भेदरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगके उदय पुद्गलके परिणाम हैं और उनका स्वाद अतत्त्वश्रद्धानादिरूपसे ज्ञानमें आता है । वे उदय निमित्तभूत होनेपर, कर्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमते हैं और जीवके साथ बँधते हैं; और उससमय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभावसे अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमता है और इसप्रकार अपने अज्ञानमय भावोंका कारण स्वयं ही होता है ।

मिथ्यात्वादिका उदय होना, नवीन पुद्गलोंका कर्मरूप परिणमना तथा बँधना, और जीवका अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमना—यह तीनों ही एक समयमें ही होते हैं; सब स्वतंत्रतया अपने आप ही परिणमते हैं, कोई किसीका परिणमन नहीं कराता ।

जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः—

जह् जीवेण सह चिद्य पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामो ।
 एवं पुद्गलजीवा हु दो वि कर्मत्वमावण्णा ॥१३७॥
 एकस्स हु परिणामो पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेण ।
 ता जीवभावहेतूहिं विणा कर्मस्स परिणामो ॥१३८॥

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः ।
 एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥१३७॥
 एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन ।
 तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥१३८॥

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि पुद्गलद्रव्यका परिणाम जीवसे भिन्न ही है—

गाथा १३७-१३८

गाथायं—[यदि] यदि [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यका [जीवेन सह चैव] जीवके साथ ही [कर्मपरिणामः] कर्मरूप परिणाम होता है—ऐसा माना जाये तो [एवं] इसप्रकार [पुद्गलजीवौ द्वौ अपि] पुद्गल और जीव दोनों [खलु] वास्तवमें [कर्मत्वम् आपन्नौ] कर्मत्वको प्राप्त हो जायें । [तु] परन्तु [कर्मभावेन] कर्मभावसे [परिणामः] परिणाम तो [पुद्गलद्रव्यस्य एकस्य] पुद्गलद्रव्यके एकके ही होता है [तत्] इसलिये [जीवभावहेतुभिः विना] जीवभावरूप निमित्तसे रहित ही अर्थात् भिन्न ही [कर्मणः] कर्मका [परिणामः] परिणाम है ।

जो कर्मरूप परिणाम, जीवके साथ पुद्गलका बने ।
 तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावें अरे ! ॥१३७॥
 पर कर्मभावों परिणामन है, एक पुद्गलद्रव्यके ।
 जीवभावहेतूसे अलग, तब, कर्मके परिणाम हैं ॥१३८॥

यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन सहैव कर्मपरिणामो भवतीति वितर्कः, तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिः । अथ चैकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवन्ति कर्मत्वपरिणामः, ततो रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः ।

पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणामः—

जीवस्स दु कम्मेषु य सह परिणामा हु होंति रागादी ।

एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावणणा ॥१३६॥

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।

ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥१४०॥

टीका:—यदि पुद्गलद्रव्यके, कर्मपरिणामके निमित्तभूत ऐसे रागादि-अज्ञानपरिणामसे परिणत जीवके साथ ही (अर्थात् दोनों मिलकर ही), कर्मरूप परिणाम होता है, ऐसा तर्क उपस्थित किया जावे तो, जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दीका—दोनोंका लाल रंगरूप परिणाम होता है उसीप्रकार, पुद्गल और जीवद्रव्य—दोनोंके कर्मरूप परिणामकी आपत्ति आजावे । परन्तु एक पुद्गलद्रव्यके ही कर्मस्वरूप परिणाम तो होता है; इसलिये जीवका रागादिअज्ञान परिणाम जो कि कर्मका निमित्त है उससे भिन्न ही पुद्गलकर्मका परिणाम है ।

भावार्थः—यदि यह माना जाये कि पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य दोनों मिलकर कर्मरूप परिणामते हैं तो दोनोंके कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो । परन्तु जीव तो कभी भी जड़ कर्मरूप नहीं परिणाम सकता; इसलिये जीवका अज्ञानपरिणाम जो कि कर्मका निमित्त है उससे अलग ही पुद्गलद्रव्यका कर्मपरिणाम है ।

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि जीवका परिणाम पुद्गल द्रव्यसे भिन्न ही है:—

जीवके कर्मके साथ ही, जो भाव रागादिक बने ।

तो कर्म अरु जीव उभय ही, रागादिपन पावें अरे ॥१३९॥

पर परिणमन रागादिरूप तो, होत है जीव एकके ।

इससे हि कर्मोदयनिमित्तसे, अलग जीव परिणाम है ॥१४०॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवन्ति रागादयः ।
 एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥१३९॥
 एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः ।
 तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ॥१४०॥

यदि जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामो भवतीति वितर्कः, तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरपि रागाद्यज्ञानपरिणामापत्तिः । अथ चैकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः, ततः पुद्गलकर्मविपाकाद्वेतोः पृथग्भूतो एव जीवस्य परिणामः ।

किमात्मनि वद्वस्पृष्टं किमवद्वस्पृष्टं कर्मेति नयविभागेनाह—

गाथा १३९-१४०

गाथार्थः—[जीवस्य तु] यदि जीवके [कर्मणा च सह] कर्मके साथ ही [रागादयः परिणामाः] रागादि परिणाम [खलु भवन्ति] होते हैं (अर्थात् दोनों मिलकर रागादिरूप परिणामते हैं) ऐसा माना जाये [एवं] तो इसप्रकार [जीवः कर्म च] जीव और कर्म [द्वे अपि] दोनों [रागादित्वम् आपन्ने] रागादिभावको प्राप्त हो जायें [तु] परन्तु [रागादिभिः परिणामः] रागादि-भावसे परिणाम तो [जीवस्य एकस्य] जीवके एकके ही [जायते] होता है [तत्] इसलिये [कर्मोदयहेतुभिः विना] कर्मोदयरूप निमित्तसे रहित ही अर्थात् भिन्न ही [जीवस्य] जीवका [परिणामः] परिणाम है ।

टीकाः—यदि जीवके, रागादि-अज्ञानपरिणामके निमित्तभूत उदयागत पुद्गलकर्मके साथ ही (दोनों एकत्रित होकर ही), रागादि-अज्ञानपरिणाम होता है—ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो, जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दीका—दोनोंका लाल रंगरूप परिणाम होता है उसीप्रकार, जीव और पुद्गलकर्म दोनोंके रागादि-अज्ञानपरिणामकी आपत्ति आ जाये, परन्तु एक जीवके ही रागादि-अज्ञान-परिणाम तो होता है; इसलिये पुद्गलकर्मका उदय जो कि जीवके रागादि-अज्ञानपरिणामका निमित्त है उससे भिन्न ही जीवका परिणाम है ।

भावार्थः—यदि यह माना जाये कि जीव और पुद्गलकर्म मिलकर रागादिरूप परिणामते हैं तो दोनोंके रागादिरूप परिणाम सिद्ध हों । किन्तु पुद्गलकर्म तो रागादिरूप (जीवरागादिरूप) कभी नहीं परिणाम सकता; इसलिये पुद्गलकर्मका उदय जो कि रागादिपरिणामका निमित्त है उससे भिन्न ही जीवका परिणाम है ।

अत्र यहाँ नयविभागेसे यह कहते हैं कि 'आत्मामें कर्म वद्वस्पृष्ट है या अवद्वस्पृष्ट है'—

जीवे कर्मं बद्धं पुट्टं चेदि व्यवहारण्यभणितं ।

सुद्वण्यस्स दु जीवे अबद्धपुट्टं हवइ कम्मं ॥१४१॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम् ।

शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥१४१॥

जीवपुद्गलकर्मणोरेकबंधपर्यायत्वेन तदात्वे व्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहार-
नयपक्षः । जीवपुद्गलकर्मणोरेकद्रव्यत्वेनात्यंतव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं कर्मेति निश्चयनयपक्षः ।

ततः किम्—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण ण्यपक्खं ।

पक्खातिककंतो पुण भरणदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

गाथा १४१

गाथार्थः—[जीवे] जीवमें [कर्म] कर्म [बद्धं] (उसके प्रदेशोंके साथ) बंधा हुआ है [च]
तथा [स्पृष्टं] स्पर्शित है [इति] ऐसा [व्यवहारनयभणितम्] व्यवहारनयका कथन है [तु] और
[जीवे] जीवमें [कर्म] कर्म [अबद्धस्पृष्टं] अबद्ध और अस्पर्शित [भवति] है ऐसा [शुद्धनयस्य]
शुद्धनयका कथन है ।

टीकाः—जीवको और पुद्गलकर्मको एकबंधपर्यायपनेसे देखने पर उनमें उस कालमें भिन्नताका
अभाव है इसलिये जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट है ऐसा व्यवहारनयका पक्ष है । जीवको तथा पुद्गलकर्मको
अनेकद्रव्यपनेसे देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नता है इसलिये जीवमें कर्म अबद्धस्पृष्ट है, यह निश्चयनयका
पक्ष है । १४१ ।

किन्तु इससे क्या ? जो आत्मा उन दोनों नयपक्षोंको पार कर चुका है वही समयसार है,—यह
अब गाथा द्वारा कहते हैंः—

है कर्म जीवमें बद्धस्पृष्ट—जु कथन यह व्यवहारका ।

पर बद्धस्पृष्ट न कर्म जीवमें—कथन है नय शुद्धका ॥१४१॥

है कर्म जीवमें बद्ध वा अनबद्ध ये नयपक्ष है ।

पर पक्षसे अतिक्रान्त भाषित, वो समयका सार है ॥१४२॥

कर्म बद्धमवद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षम् ।

पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥१४२॥

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवेऽवद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोऽपि हि नयपक्षः । य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रांतः स्वयं निर्विकल्पैक विज्ञानधनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति । तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽवद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यस्तु जीवेऽवद्धं कर्मेति विकल्पयति सोऽपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यः पुनर्जीवे बद्धमवद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन् न विकल्पमतिक्रामति । ततो य एव समस्तनय-पक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति । य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विंदति ।

गाथा १४२

गाथार्थः—[जीवे] जीवमें [कर्म] कर्म [बद्धम्] बद्ध है अथवा [अवद्धं] अवद्ध है—[एवं तु] इसप्रकार तो [नयपक्षम्] नयपक्ष [जानीहि] जानो; [पुनः] किन्तु [यः] जो [पक्षातिक्रांतः] पक्षातिक्रांत (पक्षको उल्लंघन करने वाला) [भण्यते] कहलाता है [सः] वह [समयसारः] समयसार (अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व) है ।

टीकाः—‘जीवमें कर्म बद्ध है’ ऐसा जो विकल्प तथा ‘जीवमें कर्म अवद्ध है,’ ऐसा जो विकल्प वे दोनों नयपक्ष हैं । जो उस नयपक्षका अतिक्रम करता है (—उसे उल्लंघन कर देता है, छोड़ देता है); वही समस्त विकल्पोंका अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प, एक विज्ञानधनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है । यहाँ (विशेष समझाया जाता है कि)—जो ‘जीवमें कर्म बद्ध है’ ऐसा विकल्प करता है वह ‘जीवमें कर्म अवद्ध है’ ऐसे एक पक्षका अतिक्रम करता हुआ भी विकल्पका अतिक्रम नहीं करता, और जो ‘जीवमें कर्म अवद्ध है’ ऐसा विकल्प करता है वह भी ‘जीवमें कर्म बद्ध है’ ऐसे एक पक्षका अतिक्रम करता हुआ भी विकल्पका अतिक्रम नहीं करता; और जो यह विकल्प करता है कि ‘जीवमें कर्म बद्ध है और अवद्ध भी है’ वह दोनों पक्षका अतिक्रम न करता हुआ, विकल्पका अतिक्रम नहीं करता । इसलिये जो समस्त नय पक्षका अतिक्रम करता है वही समस्त विकल्पका अतिक्रम करता है; जो समस्त विकल्पका अतिक्रम करता है वही समयसारको प्राप्त करता है—उसका अनुभव करता है ।

भावार्थः—जीव कर्मसे ‘बंधा हुआ है’ तथा ‘नहीं बंधा हुआ है’—यह दोनों नयपक्ष हैं । उनमेंसे किसीने बंधपक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया; किसीने अवन्धपक्ष लिया, तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया; और किसीने दोनों पक्ष लिये तो उसने भी पक्षरूप विकल्पका ही ग्रहण किया । परन्तु ऐसे विकल्पोंको छोड़कर जो कोई भी पक्षको ग्रहण नहीं करता वही शुद्ध पदार्थका स्वरूप जानकर

यद्येवं तर्हि को हि नाम नयपक्षसंन्यासभावानां न नाटयति ?

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्ता-
स्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥६९॥

* उपजाति *

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिचिदेव ॥७०॥

उस-रूप समयसारको—शुद्धात्माको—प्राप्त करता है। नयपक्षको ग्रहण करना राग है, इसलिये समस्त नयपक्षको छोड़नेसे वीतराग समयसार हुआ जाता है।

अब, 'यदि ऐसा है तो नयपक्षके त्यागकी भावनाको वास्तवमें कौन नहीं नचायेगा ?' ऐसा कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव नयपक्षके त्यागकी भावना वाले २३ कलशरूप काण्य कहते हैं:—

इलोकार्थः—[ये एव] जो [नयपक्षपातं मुक्त्वा] नयपक्षपातको छोड़कर [स्वरूपगुप्ताः] (अपते) स्वरूपमें गुप्त होकर [नित्यम्] सदा [निवसन्ति] निवास करते हैं [ते एव] वे ही, [विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः] जिनका चित्त विकल्पजालसे रहित शान्त होगया है ऐसे होते हुए, [साक्षात् अमृतं पिबन्ति] साक्षात् अमृतका पान करते हैं।

भावार्थः—जबतक कुछ भी पक्षपात रहता है तब तक चित्तका क्षोभ नहीं मिटता। जब नयोंका सब पक्षपात दूर हो जाता है तब वीतराग दशा होकर स्वरूपकी श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूपमें प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुखका अनुभव होता है। ६९।

अब २० कलशों द्वारा नयपक्षका विशेष वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो ऐसे समस्त नयपक्षोंको छोड़ देता है वह तत्त्ववेत्ता (तत्त्वज्ञानी) स्वरूपको प्राप्त करता है:—

इलोकार्थः—[बद्धः] जीव कर्मसे बँधा हुआ है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] नहीं बँधा हुआ है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूपका ज्ञाता) पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर

* उपजाति *

एकस्य मूढो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७१॥

(उपजाति)

एकस्य रक्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७२॥

[चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभवमें आता है) ।

भावार्थः—इस ग्रन्थमें पहलेसे ही व्यवहारनयको गौण करके और शुद्धनयको मुख्य करके कथन किया गया है । चैतन्यके परिणाम परनिमित्तसे अनेक होते हैं उन सबको आचार्यदेव पहलेसे ही गौण कहते आये हैं और उन्होंने जीवको शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है । इसप्रकार जीव-पदार्थको शुद्ध, नित्य, अभेद चैतन्यमात्र स्थापित करके अब कहते हैं कि—जो इस शुद्धनयका भी पक्षपात (विकल्प) करेगा वह भी उस शुद्ध स्वरूपके स्वादको प्राप्त नहीं करेगा । अशुद्धनयकी तो बात ही क्या है ? किन्तु यदि कोई शुद्धनयका भी पक्षपात करेगा तो पक्षका राग नहीं मिटेगा इसलिये वीतरागता प्रगट नहीं होगी । पक्षपातको छोड़कर चिन्मात्र स्वरूपमें लीन होने पर ही समयसारको प्राप्त किया जाता है । इसलिये शुद्धनयको जानकर, उसका भी पक्षपात छोड़कर शुद्ध स्वरूपका अनुभव करके, स्वरूपमें प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतराग दशा प्राप्त करनी चाहिये । ७० ।

श्लोकार्थः—[मूढः] जीव मूढ (मोही) है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] वह मूढ नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभवमें आता है) । ७१ ।

श्लोकार्थः—[रक्तः] जीव रागी है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है, और [न तथा] वह रागी नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके

* उपजाति *

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७३॥

* उपजाति *

एकस्य कर्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७४॥

* उपजाति *

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७५॥

सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ७२ ।

श्लोकार्थः—[दुष्टः] जीव द्वेषी है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव द्वेषी नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ७३ ।

श्लोकार्थः—[कर्ता] जीव कर्ता है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव कर्ता नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ७४ ।

श्लोकार्थः—[भोक्ता] जीव भोक्ता है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव भोक्ता नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप

* उपजाति *

एकस्य जीवो न तथा परस्य
चित्ति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७६॥

* उपजाति *

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य
चित्ति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७७॥

* उपजाति *

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य
चित्ति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७८॥

जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ७५ ।

श्लोकार्थः—[जीवः] जीव जीव है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव जीव नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ७६ ।

श्लोकार्थः—[सूक्ष्मः] जीव सूक्ष्म है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव सूक्ष्म नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ७७ ।

श्लोकार्थः—[हेतुः] जीव हेतु (कारण) है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव हेतु (कारण) नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति]

* उपजाति *

एकस्य कार्यं न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥

* उपजाति *

एकस्य भावो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥

* उपजाति *

एकस्य चैको न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥

चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ७८ ।

श्लोकार्थः—[कार्यं] जीव कार्य है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव कार्य नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ७९ ।

श्लोकार्थः—[भावः] जीव भाव है (अर्थात् भावरूप है) [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव भाव नहीं (अर्थात् अभावरूप है) [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ८० ।

श्लोकार्थः—[एकः] जीव एक है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है [च] और [न तथा] जीव एक नहीं है (—अनेक है) [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार

* उपजाति *

एकस्य सांतो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥

* उपजाति *

एकस्य नित्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥

* उपजाति *

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥

[चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं ।
[यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्]
चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ८१ ।

श्लोकार्थः—[सांतः] जीव सांत (—अन्त सहित) है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव सांत नहीं [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ८२ ।

श्लोकार्थः—[नित्यः] जीव नित्य है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव नित्य नहीं [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ८३ ।

श्लोकार्थः—[वाच्यः] जीव वाच्य (अर्थात् वचनसे कहा जा सके ऐसा) है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव वाच्य (—वचनगोचर) नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका

* उपजाति *

एकस्य नाना न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥

* उपजाति *

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥

* उपजाति *

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥

पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ८४ ।

श्लोकार्थः—[नाना] जीव नानारूप है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव नानारूप नहीं [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ८५ ।

श्लोकार्थः—[चेत्यः] जीव चेत्य (-जाननेयोग्य) है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव चेत्य नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ८६ ।

श्लोकार्थः—[दृश्यः] जीव दृश्य (-देखनेयोग्य) है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव दृश्य नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति]

* उपजाति *

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य
चित्ति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥

* उपजाति *

एकस्य भातो न तथा परस्य
चित्ति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥

चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ८७ ।

श्लोकार्थः—[वेद्यः] जोव वेद्य (-वेदनेयोग्य, ज्ञातहोनेयोग्य) है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव वेद्य नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चित्ति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी-च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ८८ ।

श्लोकार्थः—[भातः] जीव 'भात' (प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष) है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव 'भात' नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चित्ति] चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयोंके [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है । ८९ ।

भावार्थः—बद्ध अवद्ध, मूढ़ अमूढ़, रागी अरागी, द्वेषी अद्वेषी, कर्ता अकर्ता, भोक्ता अभोक्ता, जीव अजीव, सूक्ष्म स्थूल, कारण अकारण, कार्य अकार्य, भाव अभाव, एक अनेक, सान्त अनन्त, नित्य अनित्य, वाच्य अवाच्य, नाना अनाना, चेत्य अचेत्य, दृश्य अदृश्य, वेद्य अवेद्य, भात अभात इत्यादि नयोंके पक्षपात हैं । जो पुरुष नयोंके कथनानुसार यथायोग्य विवक्षापूर्वक तत्त्वका—वस्तुस्वरूपका निर्णय करके नयोंके पक्षपातको छोड़ता है उसे चित्स्वरूप जीवका चित्स्वरूपरूप अनुभव होता है ।

* वसन्ततिलका *

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अंतर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥९०॥

* रथोद्धता *

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥

पक्षातिक्रान्तस्य किं स्वरूपमिति चेत्—

जीवमें अनेक साधारण धर्म हैं परन्तु चित्त्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है इसलिये उसे मुख्य करके यहाँ जीवको चित्त्वरूप कहा है । ८६ ।

अब उपरोक्त २० कलशोंके कथनका उपसंहार करते हैं:—

श्लोकार्थः—[एव] इसप्रकार [स्वेच्छा-समुच्छलद्-अनल्प-विकल्प-जालाम्] जिसमें बहुतसे विकल्पोंका जाल अपने आप उठता है ऐसी [महतीं] बड़ी [नय-पक्ष-कक्षाम्] नयपक्षकक्षामको (नयपक्षकी भूमिको) [व्यतीत्य] उल्लंघन करके (तत्त्ववेत्ता) [अंतः बहिः] भीतर और बाहर [समरसैकरसस्वभावं] समता-रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे [अनुभूतिमात्रम् एकम् स्वं भावम्] अनुभूतिमात्र एक अपने भावको (—स्वरूपको) [उपयाति] प्राप्त करता है । ९० ।

अब नयपक्षकी त्यागकी भावनाका अन्तिम काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[पुष्कल-उत्-चल-विकल्प-वीचिभिः उच्छलत्] विपुल, महान, चंचल विकल्परूपी तरंगोंके द्वारा उड़ते हुए [इदम् एवम्-कृत्स्नम्-इन्द्रजालम्] इस समस्त इन्द्रजालको [यस्य विस्फुरणम् एव] जिसका स्फुरण मात्र ही [तत्क्षणं] तत्क्षण [अस्यति] उड़ा देता है [तत् चिन्महः अस्मि] वह चिन्मात्र तेजःपुंज मैं हूँ ।

भावार्थः—चैतन्यका अनुभव होने पर समस्त नयोंका विकल्परूपी इन्द्रजाल उसी क्षण विलयको प्राप्त होता है; ऐसा चित्रप्रकाश मैं हूँ । ९१ ।

‘पक्षातिक्रान्तका स्वरूप क्या है ?’ इसके उत्तरस्वरूप गाया कहते हैं:—

दोगह वि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो ।

ण तु नयपक्षं गिरहदि किंचि वि णयपक्षपरिहीणो ॥१४३॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः ।

न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः ॥१४३॥

यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति, न तु सततशुद्धसितसहजविमलसकलकेवलज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, तथा किल यः श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः क्षयोपशमविजृम्भित-श्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेपि परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति, न तु खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुषानित्योदितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघन-भूतत्वात् श्रुतज्ञानात्मकसमस्तांतर्बाहिर्जल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरी-भूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्रः समयसारः ।

गाथा १४३

गाथार्थः—[नयपक्षपरिहीनः] नयपक्षसे रहित जीव, [समयप्रतिबद्धः] समयसे प्रतिबद्ध होता हुआ (अर्थात् चित्स्वरूप आत्माका अनुभव करता हुआ), [द्वयोः अपि] दोनों ही [नययोः] नयोंके [भणितं] कथनको [केवलं तु] मात्र [जानाति] जानता ही है [तु] परन्तु [नयपक्षं] नयपक्षको [किंचित् अपि] किंचित् मात्र भी [न गृह्णाति] ग्रहण नहीं करता ।

टीकाः—जैसे केवली भगवान, विश्वके साक्षीपनके कारण, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनयपक्षोंके स्वरूपको ही मात्र जानते हैं परन्तु, निरन्तर प्रकाशमान सहज, विमल, सकल केवलज्ञानके द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होनेसे, श्रुतज्ञानकी भूमिका की अतिक्रान्तताके द्वारा (अर्थात् श्रुतज्ञानकी भूमिकाको पार कर चुकनेके कारण) समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुवे होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते, इसीप्रकार जो (श्रुतज्ञानी आत्मा), क्षयोपशमसे जो उत्पन्न होते हैं ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होनेपर भी परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होनेसे, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार निश्चयनयपक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानते हैं परन्तु, अति तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टिसे ग्रहण

नयद्वयकथन जाने हि केवल समयमें प्रतिबद्ध जी ।

नयपक्ष कुछ भी नहीं ग्रहे, नयपक्षसे परिहीन वो ॥१४३॥

स्वागता

चित्स्वभावभरभावितभावा-

भाषभावपरमार्थतयैकम् ।

बंधपद्धतिमपास्य समस्तां

चेतये समयसारमपारम् ॥९२॥

पक्षातिक्रान्त एव समयसार इत्यवतिष्ठते—

किये गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय समयसे प्रतिबद्धताके द्वारा (अर्थात् चैतन्यमय आत्माके अनुभवन द्वारा) अनुभवके समय स्वयं ही विज्ञानघन हुवे होनेसे, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा वहिर्जल्परूप विकल्पोंकी भूमिकाकी अतिक्रान्तताके द्वारा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुवे होनेसे, किसी भी नय पक्षको ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तवमें समस्त विकल्पोंसे अति पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है ।

भावार्थः—जैसे केवली भगवान सदा नयपक्षके स्वरूपके साक्षी (ज्ञाताद्रष्टा) हैं उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षोंसे रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभवन करते हैं तब वे नयपक्षके स्वरूपके ज्ञाता ही हैं, यदि एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये तो मिथ्यात्वके साथ मिला हुआ राग होता है; प्रयोजनवश एक नयको प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके अतिरिक्त मात्र चारित्रमोहका राग रहता है; और जब नयपक्षको छोड़कर वस्तुस्वरूपको मात्र जानते ही हैं तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवलीकी भाँति वीतराग जैसे ही होते हैं ऐसा जानना ।

अब इस कलशमें यह कहते हैं कि वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है :—

श्लोकार्थः—[चित्स्वभाव-भर-भावित-भाव-अभाव-भाव परमार्थतया एकम्] चित्स्वभावके पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य किये जाते हैं, ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप है इसलिये जो एक है ऐसे [अपारम् समयसारम्] अपार समयसारको मैं, [समस्तां बंधपद्धतिम्] समस्त बंधपद्धतिको [अपास्य] दूर करके अर्थात् कर्मोदयसे होनेवाले सर्व भावोंको छोड़कर, [चेतये] अनुभव करता हूँ ।

भावार्थः—निर्विकल्प अनुभव होने पर, जिसके केवलज्ञानादि गुणोंका पार नहीं है ऐसे समय-साररूपी परमात्माका अनुभव ही वर्तता है, 'मैं अनुभव करता हूँ' ऐसा भी विकल्प नहीं होता—ऐसा जानना ॥६२॥

अब यह कहते हैं कि नियमसे यह सिद्ध है कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है :—

सम्यग्दर्शनस्यैव एतौ लब्धवित्ति एवैरि वदन्तम् ।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो जो सो समयसारो ॥१४४॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेव लभत इति केवलं व्यपदेशम् ।

सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ॥१४४॥

अयमेक एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते । यः खल्वखिलनयपक्षाच्छुण्णतया विश्रान्तसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः । यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टंभेन ज्ञानस्वभाव-मात्मानं निश्चित्य ततः खल्व्वात्मख्यातये परख्यातिहेतून्खिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधार्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः, तथा नानाविधनयपक्षालम्बनेनानेकविकल्पैराकुलयन्तीः श्रुतज्ञान-बुद्धीरप्यवधार्य श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्त्यन्तमविकल्पो भूत्वा ज्ञागित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवंतमादिमध्यांतविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरंतमिवाखंडप्रति-भासमयमनंतं विज्ञानधनं परमात्मानं समयसारं विदन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव ।

गाथा १४४

गाथार्थः—[यः] जो [सर्वनयपक्षरहितः] सर्व नयपक्षोंसे रहित [भणितः] कहा गया है [सः] वह [समयसारः] समयसार है; [एषः] इसी (—समयसारको ही) [केवलं] केवल [सम्यग्दर्शनज्ञानम्] सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान [इति] ऐसी [व्यपदेशम्] संज्ञा (नाम) [लभते] मिलती है, (नामोंके भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है ।)

टीकाः—वास्तवमें समस्त नयपक्षोंके द्वारा खण्डित न होनेसे जिसका समस्त विकल्पोंका व्यापार रूक गया है, ऐसा समयसार है; वास्तवमें इस एकको ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका नाम प्राप्त है । (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसारसे अलग नहीं है, एक ही है ।)

प्रथम, श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करके, और फिर आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये, पर पदार्थकी प्रसिद्धिकी कारणभूत इन्द्रियों द्वारा और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियोंको मर्यादामें लेकर जिसने मतिज्ञान—तत्त्वको (—मतिज्ञानके स्वरूपको) आत्मसन्मुख किया है, तथा जो नानाप्रकारके नयपक्षोंके आलम्बनसे होनेवाले अनेक विकल्पोंके द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञानकी बुद्धियोंको भी मर्यादामें लाकर श्रुतज्ञान—तत्त्वको भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प

सम्यक्त्व और सुज्ञानकी, जिस एकको संज्ञा मिले ।

नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वो समयका सार है ॥१४४॥

* शार्दूलविक्रीडित *

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥९३॥

* शार्दूलविक्रीडित *

दूरं भूरिविकल्पजालगहने आम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेश विवेकनिम्नगमनानीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥९४॥

रहित होकर, तत्काल निजरससे ही प्रगट होता हुआ, आदि-मध्य और अन्तसे रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मारूप समयसारका जब आत्मा अनुभव करता है तब उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है इसलिये समयसार ही सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है ।

भाषार्थः—पहले आत्माका आगमज्ञानसे ज्ञानस्वरूप निश्चय करके फिर इन्द्रिय-बुद्धिरूप मतिज्ञानको ज्ञानमात्रमें ही मिलाकर, तथा श्रुतज्ञानरूपी नयोंके विकल्पोंको मिटाकर श्रुतज्ञानको भी निर्विकल्प करके, एक अखण्ड प्रतिभासका अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' के नामको प्राप्त करता है; सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान कहीं अनुभवसे भिन्न नहीं हैं ।

अत्र, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[नयानां पक्षैः विना] नयोंके पक्षोंसे रहित, [अचलं अविकल्पभावम्] अचल निर्विकल्पभावको [आक्रामन्] प्राप्त होता हुआ [यः समयस्य सारः भाति] जो समयका (आत्माका) सार प्रकाशित करता है [सः एषः] वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा)—[निभृतैः स्वयम् आस्वाद्यमानः] जो कि निभृत (निश्चल, आत्मलीन) पुरुषोंके द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है (—अनुभवमें आता है) वह—[विज्ञान-एक-रसः भगवान्] विज्ञान ही जिसका एक रस है ऐसा भगवान है, [पुण्यः पुराणः पुमान्] पवित्र पुराण पुरुष है; चाहे [ज्ञानं दर्शनम् अपि अयं] ज्ञान कहो या दर्शन वह यही (समयसार) ही है; [अथवा किम्] अधिक क्या कहें ? [यत् किञ्चन अपि अयम् एकः] जो कुछ है सो यह एक ही है (—मात्र भिन्न भिन्न नामसे कहा जाता है) । ९३ ।

अत्र यह कहते हैं कि यह आत्मा ज्ञानसे च्युत हुआ था सो ज्ञानमें ही आ मिलता हैः—

श्लोकार्थः—[तोयवत्] जैसे पानी अपने समूहसे च्युत होता हुआ दूर गहन वनमें बह रहा हो उसे दूरसे ही ढालवाले मार्गके द्वारा अपने समूहकी ओर बल पूर्वक मोड़ दिया जाये; तो फिर वह पानी,

* अनुष्टुम् *

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।

न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥९५॥

पानीको पानीके समूहकी ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर, अपने समूहमें आ मिलता है; इसीप्रकार [अर्थ] यह आत्मा [निज-श्रोत्रात् च्युतः] अपने विज्ञानघनस्वभावसे च्युत होकर [भूरि-विकल्प-जाल-गहने दूरं भ्राम्यन्] प्रचुर विकल्पजालोंके गहन वनमें दूर परिभ्रमण कर रहा था उसे [दूरात् एव] दूरसे ही [विवेक-निम्न-गमनात्] विवेकरूपी ढालवाले मार्गद्वारा [निज-श्रोत्रं बलात् नीतः] अपने विज्ञानघनस्वभावकी ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया; इसलिये [तद्-एक-रसिनाम्] केवल विज्ञानघनके ही रसिक पुरुषोंको [विज्ञान-एक-रसः आत्मा] जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभवमें आता है ऐसा वह आत्मा, [आत्मानम् आत्मनि एव आहरन्] आत्माको आत्मामें खींचता हुआ (अर्थात् ज्ञान ज्ञानको खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर), [सदा गतानुगतताम् आयाति] सदा विज्ञानघनस्वभावमें आ मिलता है ।

भावार्थः—जैसे पानी, अपने पानीके निवासस्थलसे किसी मार्गसे बाहर निकलकर वनमें अनेक स्थानों पर वह निकले; और फिर किसी ढालवाले मार्गद्वारा, ज्योंका त्यों अपने निवास-स्थानमें आ मिले; इसीप्रकार आत्मा भी मिथ्यात्वके मार्गसे स्वभावसे बाहर निकलकर विकल्पोंके वनमें भ्रमण करता हुआ किसी भेदज्ञानरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा स्वयं ही अपनेको खींचता हुआ अपने विज्ञानघनस्वभावमें आ मिलता है । ६४ ।

अब कर्ताकर्म अधिकारका उपसंहार करते हुए, कुछ कलशरूप काव्य कहते हैं, उनमेंसे प्रथम कलशमें कर्ता और कर्मका संक्षिप्त स्वरूप कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[विकल्पकः परं कर्ता] विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है और [विकल्पः केवलम् कर्म] विकल्प ही केवल कर्म है; (अन्य कोई कर्ता-कर्म नहीं है;) [सविकल्पस्य] जो जीव विकल्पसहित है उसका [कर्तृकर्मत्वं] कर्ताकर्मपना [जातु] कभी [नश्यति न] नष्ट नहीं होता ।

भावार्थः—जबतक विकल्पभाव है तबतक कर्ताकर्मभाव है; जब विकल्पका अभाव हो जाता है तब कर्ताकर्मभावका भी अभाव हो जाता है । ६५ ।

अब कहते हैं कि जो करता है सो करता ही है, और जो जानता है सो जानता ही है—

• रथोद्धता •

यः करोति स करोति केवलं
यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्
यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥९६॥

• इन्द्रवज्रा •

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्ति करोतिश्च ततो विभिन्ने
ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥९७॥

श्लोकार्थः—[यः करोति सः केवलं करोति] जो करता है सो मात्र करता ही है [तु] और [यः वेत्ति सः तु केवलम् वेत्ति] जो जानता है सो मात्र जानता ही है; [यः करोति सः क्वचित् न हि वेत्ति] जो करता है वह कभी जानता नहीं [तु] और [यः वेत्ति सः क्वचित् न करोति] जो जानता है वह कभी करता नहीं ।

भावार्थः—जो कर्ता है वह ज्ञाता नहीं और जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं । ९६ ।

इसीप्रकार अब यह कहते हैं कि करने और जाननेरूप दोनों क्रियाएँ भिन्न हैंः—

श्लोकार्थः—[करोतौ अन्तः ज्ञप्तिः न हि भासते] करनेरूप क्रियाके भीतर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती [च] और [ज्ञप्तौ अन्तः करोतिः न भासते] जाननेरूप क्रियाके भीतर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती; [ततः ज्ञप्तिः करोतिः च विभिन्ने] इसलिये ज्ञप्तिक्रिया और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न हैं; [च ततः इति स्थितं] इससे यह सिद्ध हुआ कि [ज्ञाता कर्ता न] जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है ।

भावार्थः—जब आत्मा इसप्रकार परिणामन करता है कि 'मैं परद्रव्यको करता हूँ' तब तो वह कर्ताभावरूप परिणामनक्रियाके करनेसे अर्थात् 'करोति' क्रियाके करनेसे कर्ता ही है और जब वह इसप्रकार परिणामन करता है कि 'मैं परद्रव्यको जानता हूँ' तब ज्ञाताभावरूप परिणामन करनेसे अर्थात् ज्ञप्तिक्रियाके करनेसे ज्ञाता ही है ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि अविरत-सम्यक्दृष्टि आदिको जबतक चारित्रमोहका उदय रहता है तबतक वह कृपायरूप परिणामन करता है इसलिये उसका वह कर्ता कहलाता है या नहीं ? उसका समाधानः—अविरत सम्यक्दृष्टि इत्यादिके श्रद्धा-ज्ञानमें परद्रव्यके स्वामित्वरूप कर्तृत्वका अभिप्राय नहीं

* शार्दूलविक्रीडित *

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
 द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।
 ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
 नेपथ्ये वत नानटीति रभसा मोहस्तथात्येप किम् ॥९८॥

अथवा नानट्यतां तथापि—

है; जो कषायरूप परिणामन है वह उदयकी *ब्रलवत्ताके कारण है; वह उसका ज्ञाता है; इसलिये उसके अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व नहीं है। निमित्तकी बलवत्तासे होनेवाले परिणामनका फल किंचित् होता है वह संसारका कारण नहीं है। जैसे वृक्षकी जड़ काट देनेके बाद वह वृक्ष कुछ समय तक रहे अथवा न रहे—प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है, इसीप्रकार यहाँ भी समझना। ६७।

पुनः इसी बातको दृढ़ करते हैं:—

श्लोकार्थः—[कर्ता कर्मणि नास्ति, कर्म तत् अपि नियतं कर्तरि नास्ति] निश्चयसे न तो कर्ता कर्ममें है, और न कर्म कर्तामें ही है—[यदि द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते] यदि इसप्रकार परस्पर दोनोंका निषेध किया जाये [तदा कर्तृकर्मस्थितिः का] तो कर्ता-कर्मकी क्या स्थिति होगी ? (अर्थात् जीवपुद्गलके कर्ताकर्मपन कदापि नहीं हो सकेगा।) [ज्ञाता ज्ञातरि, कर्म सदा कर्मणि] इसप्रकार ज्ञाता सदा ज्ञातामें ही है और कर्म सदा कर्ममें ही है [इति वस्तुस्थितिः व्यक्ता] ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है [तथापि वत] तथापि अरे ! [नेपथ्ये एषः मोहः किम् रभसा नानटीति] नेपथ्यमें यह मोह क्यों अत्यन्त वेगपूर्वक नाच रहा है ? (इसप्रकार आचार्यको खेद और आश्चर्य होता है।)

भावार्थः—कर्म तो पुद्गल है, जीवको उसका कर्ता कहना असत्य है। उन दोनोंमें अत्यन्त भेद है, न तो जीव पुद्गलमें है और न पुद्गल जीवमें; तब फिर उनमें कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है ? इसलिये जीव तो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, वह पुद्गलकर्मोंका कर्ता नहीं है; और पुद्गलकर्म हैं वे पुद्गल ही हैं; ज्ञाताका कर्म नहीं है। आचार्यदेवने खेदपूर्वक कहा है कि—इसप्रकार प्रगट भिन्न द्रव्य हैं तथापि 'में कर्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है' इसप्रकार अज्ञानीका यह मोह (अज्ञान) क्यों नाच रहा ?। ६८।

अब यह कहते हैं कि यदि मोह नाचता है तो भले नाचे, तथापि वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही है:—

* देवो गाथा १३१ के भावार्थके नीचेका फुटनोट।

* मन्दाक्रान्ता *

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥९९॥

इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रांतौ ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां सप्रयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ कर्तृकर्मप्ररूपकः
द्वितीयोऽंकः ॥

श्लोकार्थः—[अचलं] अचल, [व्यक्तं] व्यक्त और [चित्-शक्तीनां निकर-भरतः अत्यन्त-
गंभीरम्] चित्शक्तियोंके (—ज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंके) समूहके भारसे अत्यन्त गंभीर [एतत्
ज्ञानज्योतिः] यह ज्ञानज्योति [अन्तः] अन्तरंगमें [उच्चैः] उग्रतासे [तथा ज्वलितम्] ऐसी
जाज्वल्यमान हुई कि—[यथा कर्ता कर्ता न भवति] आत्मा अज्ञानमें कर्ता होता था सो अब वह कर्ता
नहीं होता और [कर्म कर्म अपि न एव] अज्ञानके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप होता था सो वह कर्मरूप नहीं
होता; [यथा ज्ञानं ज्ञानं भवति च] और ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है तथा [पुद्गलः पुद्गलः अपि]
पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है ।

भावार्थः—जब आत्मा ज्ञानी होता है तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमित होता है, पुद्गलकर्मका
कर्ता नहीं होता; और पुद्गल पुद्गल ही रहता है, कर्मरूप परिणमित नहीं होता । इसप्रकार यथार्थ ज्ञान
होने पर दोनों द्रव्योंके परिणमनमें निमित्तनैमित्तिकभाव नहीं होता । ऐसा ज्ञान सम्यक्दृष्टिके होता है । ६६।

टीकाः—इसप्रकार जीव और अजीव कर्ताकर्मका वेष त्यागकर बाहर निकल गये ।

भावार्थः—जीव और अजीव दोनों कर्ता-कर्मका वेष धारण करके एक होकर रंगभूमिमें प्रविष्ट
हुए थे । जब सम्यक्दृष्टिने अपने यथार्थ दर्शक ज्ञानसे उन्हें भिन्न भिन्न लक्षणसे यह जान लिया कि वे एक
नहीं किन्तु दो अलग अलग हैं, तब वे वेषका त्याग करके रंगभूमिसे बाहर निकल गये । बहुरूपियाकी
ऐसी प्रवृत्ति होती है कि जबतक देखनेवाले उसे पहिचान नहीं लेते तबतक वह अपनी चेष्टाएँ किया करता
है, किन्तु जब कोई यथार्थरूपसे पहिचान लेता है तब वह निज रूपको प्रगट करके चेष्टा करना छोड़
देता है । इसीप्रकार यहाँ भी समझना ।

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वगैँ करता सो,
ताकरि बंधन आन तगूँ फल ले सुखदुःख भवाश्रमवासो;
ज्ञान भये करता न बनै तब बन्ध न होय खुलै परपासो,
आतममाहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहै निति थासो ।

॥ द्वितीय कर्ताकर्म अधिकार समाप्तः ॥



पुण्य-पाप अधिकार

अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति—

* द्रुतविलंबित *

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो
द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं
स्वयमुदेत्यवबोधसुधास्रवः ॥१००॥

—::: दोहा :::—

पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर् मानि ।

शुद्ध आतमा जिन लब्धो, नमूँ चरण हित जानि ॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्य-पापरूपसे प्रवेश करता है ।

जैसे नृत्यमंच पर एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखाकर नाच रहा हो तो उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है, इसीप्रकार यद्यपि कर्म एक ही है तथापि वह पुण्य-पापके भेदसे दो प्रकारके रूप धारण करके नाचता है उसे, सम्यक्दृष्टिका यथार्थज्ञान एकरूप जान लेता है । उस ज्ञानकी महिमाका काव्य इस अधिकारके प्रारम्भमें टीकाकार आचार्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[अथ] अथ (कर्ताकर्म अधिकारके पश्चात्), [शुभ-प्रशुभ-भेदतः] शूभ और अशूभके भेदसे [द्वितयतां गतम् तत् कर्म] द्वित्वको प्राप्त उस कर्मको [ऐक्यम् उपानयन्] एकरूप

* मन्दाक्रान्ता *

एको दूरात्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपद्दुरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥

कम्मसुहं कुशीलं सुहकम्मं चापि जाणह सुशीलं ।

कह तं होदि सुशीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

करता हुआ, [ग्लपित-निभंर-मोहरजा] जिसने अत्यन्त मोहरजको दूर कर दिया है ऐसा [अग्र्यं अवबोध-सुधाप्लवः] यह (प्रत्यक्ष-अनुभवोचर) ज्ञानसुधांशु (सम्यक्ज्ञानरूपी चन्द्रमा) [स्वयम्] स्वयं [उदेति] उदयको प्राप्त होता है ।

भावार्थः—अज्ञानसे एक ही कर्म दो प्रकार दिखाई देता था उसे सम्यक्ज्ञानने एक प्रकारका वताया है । ज्ञान पर जो मोहरूप रज चढ़ी हुई थी उसे दूर कर देनेसे यथार्थ ज्ञान प्रगट हुआ है; जैसे बादल या कुहरेके पटलसे चन्द्रमाका यथार्थ प्रकाश नहीं होता किन्तु आवरणके दूर होने पर वह यथार्थ प्रकाशमान होता है, इसीप्रकार यहाँ भी समझना चाहिये ।१००।

अब पुण्य-पापके स्वरूपका दृष्टान्तरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—(शूद्राके पेटसे एक ही साथ जन्मको प्राप्त दो पुत्रोंमेंसे एक ब्राह्मणके यहाँ और दूसरा उसी शूद्राके यहाँ पला उनमेंसे) [एकः] एक तो [ब्राह्मणत्वं-अभिमानात्] 'मैं ब्राह्मण हूँ' इसप्रकार ब्राह्मणत्वके अभिमानसे [दूरात्] दूरसे ही [मदिरां] मदिराका [त्यजति] त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता; तब [अन्यः] दूसरा [अहम् स्वयम् शूद्रः इति] 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर [नित्यं] नित्य [तथा एव] मदिरासे ही [स्नाति] स्नान करता है अर्थात् उसे पवित्र मानता है । [एतौ द्वौ अपि] यद्यपि वे दोनों [शूद्रिकायाः उदरात् युगपद् निर्गतौ] शूद्राके पेटसे एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं इसलिये [साक्षात् शूद्रौ] (परमार्थतः) दोनों साक्षात् शूद्र हैं, [अपि च] तथापि वे [जातिभेद-भ्रमेण] जातिभेदके भ्रम सहित [चरतः] प्रवृत्ति (आचरण) करते हैं । (इसीप्रकार पुण्य और पापके सम्बन्धमें समझना चाहिये ।)

है कर्म अशुभ कुशील अरु जानो सुशील शुभकर्मको !

किस रीत होय सुशील जो संसारमें दाखिल करे ? ॥१४५॥

कर्म अशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीथ सुशीलम् ।

कथं तद्भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥१४५॥

शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात्, शुभाशुभपुद्गलपरिणाममयत्वे सति स्वभावभेदात्, शुभाशुभफलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात्, शुभाशुभमोक्षबन्धमार्गाश्रितत्वे सत्याश्रय-भेदात् चैकमपि कर्म किञ्चिच्छुभं किञ्चिदशुभमिति केषांचित्किल पक्षः । स तु सप्रतिपक्षः । तथाहि—शुभोऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलज्ञानमयत्वादेकः, तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं

भावार्थः—पुण्य-पाप दोनों विभावपरिणतिसे उत्पन्न हुए हैं इसलिये दोनों बन्धरूप ही हैं । व्यवहारदृष्टिसे भ्रमवश उनकी प्रवृत्ति भिन्न भिन्न भासित होनेसे, वे अच्छे और बुरे रूपसे दो प्रकार दिखाई देते हैं । परमार्थदृष्टि तो उन्हें एकरूप ही, बन्धरूप ही, बुरा ही जानती है । १०१।

अथ शुभाशुभ कर्मके स्वभावका वर्णन गायामें करते हैं :—

गाथा १४५

गाथार्थः—[अशुभं कर्म] अशुभ कर्म [कुशीलं] कुशील है (-बुरा है) [अपि च] और [शुभकर्म] शुभ कर्म [सुशीलम्] सुशील है (-अच्छा है) ऐसा [जानीथ] तुम जानते हो ! (किन्तु) [तत्] वह [सुशीलं] सुशील [कथं] कैसे [भवति] हो सकता है [यत्] जो [संसारं] (जीवको) संसारमें [प्रवेशयति] प्रवेश कराता है ?

टीकाः—किसी कर्ममें शुभ जीवपरिणाम निमित्त होनेसे और किसीमें अशुभ जीवपरिणाम निमित्त होनेसे कर्मके कारणोंमें भेद होता है; कोई कर्म शुभ पुद्गलपरिणाममय और कोई अशुभ पुद्गल-परिणाममय होनेसे कर्मके स्वभावमें भेद होता है; किसी कर्मका शुभ फलरूप और किसीका अशुभ फलरूप विपाक होनेसे कर्मके अनुभवमें (-स्वादमें) भेद होता है; कोई कर्म (शुभ (-अच्छे) मोक्षमार्गके) आश्रित होनेसे और कोई कर्म अशुभ (-बुरे) बन्धमार्गके आश्रित होनेसे कर्मके आश्रयमें भेद होता है । (इसलिये) यद्यपि (वास्तवमें) कर्म एक ही है तथापि कई लोगोंका ऐसा पक्ष है कि कोई कर्म शुभ है और कोई अशुभ है । परन्तु वह (पक्ष) प्रतिपक्ष सहित है । वह प्रतिपक्ष (अर्थात् व्यवहारपक्षका निषेध करनेवाला निश्चयपक्ष) इसप्रकार है :—

शुभ या अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होनेसे एक हैं; और उनके एक होनेसे कर्मके कारणोंमें भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है । शुभ या अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होनेसे एक है; उसके एक होनेसे कर्मके स्वभावमें भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है । शुभ या अशुभ फलरूप होनेवाला विपाक केवल पुद्गलमय होनेसे एक है; उसके एक होनेसे कर्मके अनुभवमें (-स्वादमें) भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है । शुभ (-अच्छे) मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और अशुभ (-बुरे)

कर्म । शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वादेकः, तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म । शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकः, तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेकं कर्म । शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादानेकौ, तदानेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्ध-मार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म ।

बन्धमार्ग केवल पुद्गलमय है इसलिये वे अनेक (-भिन्न भिन्न, दो) हैं; और उनके अनेक होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय-बन्धमार्गके ही आश्रित होनेसे कर्मके आश्रयमें भेद नहीं है; इसलिये कर्म एक ही है ।

भावार्थः—कोई कर्म तो अरहन्तादिमें भक्ति-अनुराग, जीवोंके प्रति अनुकम्पाके परिणाम और मन्द कषायसे चित्तकी उज्वलता इत्यादि शुभ परिणामोंके निमित्तसे होते हैं और कोई कर्म तीव्र क्रोधादिक अशुभ लेश्या, निर्दयता विषयासक्ति, और देव, गुरु आदि पूज्य पुरुषोंके प्रति विनयभावसे नहीं प्रवर्तना इत्यादि अशुभपरिणामोंके निमित्तसे होते हैं; इसप्रकार हेतु भेद होनेसे कर्मके शुभ और अशुभ दो भेद हो जाते हैं । सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र—इन कर्मोंके परिणामों (-प्रकृति) इत्यादिमें तथा चार घातीयकर्म, असातावेदनीय, अशुभ-आयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र—इन कर्मोंके परिणामोंमें भेद है; इसप्रकार स्वभावभेद होनेसे कर्मोंके शुभ और अशुभ दो भेद हैं । किसी कर्मके फलका अनुभव सुखरूप और किसीका दुःखरूप है; इसप्रकार अनुभवका भेद होनेसे कर्मके शुभ और अशुभ दो भेद हैं । कोई कर्म मोक्षमार्गके आश्रित है और कोई कर्म बन्धमार्गके आश्रित है; इसप्रकार आश्रयका भेद होनेसे कर्मके शुभ और अशुभ दो भेद हैं । इसप्रकार हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय—ऐसे चार प्रकारसे कर्ममें भेद होनेसे कोई कर्म शुभ और कोई अशुभ है, ऐसा कुछ लोगोंका पक्ष है ।

अब इस भेदपक्षका निषेध किया जाता है:—जीवके शुभ और अशुभ परिणाम दोनों अज्ञानमय हैं इसलिये कर्मका हेतु एक अज्ञान ही है; अतः कर्म एक ही है । शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम दोनों पुद्गलमय ही हैं इसलिये कर्मका स्वभाव एक पुद्गलपरिणामरूप ही है; अतः कर्म एक ही है । सुख-दुःखरूप दोनों अनुभव पुद्गलमय ही हैं इसलिये कर्मका अनुभव एक पुद्गलमय ही है; अतः कर्म एक ही है । मोक्षमार्ग और बन्धमार्गमें, मोक्षमार्ग तो केवल जीवके परिणाममय ही है और बन्धमार्ग केवल पुद्गलके परिणाममय ही है इसलिये कर्मका आश्रय मात्र बन्धमार्ग ही है (अर्थात् कर्म एक बन्धमार्गके आश्रयसे ही होता है—मोक्षमार्गमें नहीं होता); अतः कर्म एक ही है ।

इसप्रकार कर्मके शुभाशुभ भेदके पक्षको गौण करके उसका निषेध किया है; क्योंकि यहाँ अभेदपक्ष प्रधान है, और यदि अभेदपक्षसे देखा जाये तो कर्म एक ही है—दो नहीं ।

अब इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

* उपजाति *

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ॥१०२॥

अथोभयं कर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति—

सौवर्णिक्यं पि णियलं बन्धदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बन्धदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कृतं कर्म ॥१४६॥

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम् ।

बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥१४६॥

शुभमशुभं च कर्माविशेषेणैव पुरुषं बध्नाति बन्धत्वाविशेषात् कांचनकालायसनिगलवत् ।

अथोभयं कर्म प्रतिषेधयति—

श्लोकार्थः—[हेतु-स्वभाव-अनुभव-आश्रयाणां] हेतु. स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारोंका [सदा अपि] सदा ही [अभेदात्] अभेद होनेसे [न हि कर्मभेदः] कर्ममें निश्चयसे भेद नहीं है; [तद् समस्तं स्वयं] इसलिये, समस्त कर्म स्वयं [खलु] निश्चयसे [बन्धमार्ग-आश्रितम्] बन्धमार्गके आश्रित हैं और [बन्धहेतुः] बन्धका कारण हैं, अतः [एकम् इष्टं] कर्म एक ही माना गया है—उसे एक ही मानना योग्य है । १०२ ।

अब यह सिद्ध करते हैं कि—दोनों—शुभाशुभकर्म, बिना किसी अन्तरके बन्धके कारण हैं—

गाथा १४६

गाथार्थः—[यथा] जैसे [सौवर्णिकम्] सोनेकी [निगलं] वेड़ी [अपि] भी [पुरुषम्] पुरुषको [बध्नाति] बाँधती है और [कालायसम्] लोहेकी [अपि] भी बाँधती है, [एवं] इसीप्रकार [शुभम् वा अशुभम्] शुभ तथा अशुभ [कृतं कर्म] किया हुआ कर्म [जीवं] जीवको [बध्नाति] (अविशेषतया) बाँधता है ।

टीका:—जैसे सोनेकी और लोहेकी वेड़ी बिना किसी भी अन्तरके पुरुषको बाँधती है क्योंकि बन्धनभावकी अपेक्षासे उनमें कोई अन्तर नहीं है, इसीप्रकार शुभ और अशुभ कर्म बिना किसी भी अन्तरके पुरुषको (जीवको) बाँधते हैं क्योंकि बन्धभावकी अपेक्षासे उनमें कोई अन्तर नहीं है ।

अब दोनों कर्मोंका निषेध करते हैं:—

ज्यों लोहकी त्यों कनककी जंजीर जकड़े पुरुषको ।

इस रीतसे शुभ या अशुभ कृत, कर्म बाँधे जीवको ॥१४६॥

तम्हा दु कुशीलेहिं य रायं मा कुणह मा व संसर्गं ।
साहीणो हि विणासो कुशीलसंसर्गरायेण ॥१४७॥

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां च रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम् ।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ॥१४७॥

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोर-
मकरेणुकुट्टनीरागसंसर्गवत् ।

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टान्तेन समर्थयते—

जह एाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसर्गं रायकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसर्गं सहावरया ॥१४९॥

गाथा १४७

गाथार्थः—[तस्मात् तु] इसलिये [कुशीलाभ्यां] इन दोनों कुशीलौके साथ [रागं] राग [मा कुरुत] मत करो [वा] अथवा [संसर्गम् च] संसर्ग भी [मा] मत करो [हि] क्योंकि [कुशीलसंसर्गरागेण] कुशीलके साथ संसर्ग और राग करनेसे [स्वाधीनः विनाशः] स्वाधीनताका नाश होता है (अर्थात् अपने द्वारा ही अपना घात होता है) ।

टीकाः—जैसे कुशील—मनोरम और अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनीके साथ (हाथीका) राग और संसर्ग बन्ध (बन्धन)का कारण होता है, उसीप्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्ग बन्धके कारण होनेसे, शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्गका निषेध किया गया है ।

अब, भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं ही दृष्टांतपूर्वक यह समर्थन करते हैं कि दोनों कर्म निषेध्य हैंः—

इससे करो नहिं राग वा संसर्ग उभय कुशीलका ।
इस कुशीलके संसर्गसे है, नाश तुझ स्वातंत्र्यका ॥१४७॥
जिस भाँति कोई पुरुष, कुत्सितशील जनको जानके ।
संसर्ग उसके साथ त्योंही, राग करना परितजे ॥१४८॥
यों कर्मप्रकृति शील और स्वभाव कुत्सित जानके ।
निज भावमें रत राग अरु संसर्ग उसका परिहरे ॥१४९॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जन्मं विज्ञाय ।
 वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ॥१४८॥
 एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा ।
 वर्जयति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभाववृत्ताः ॥१४९॥

यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बंधाय उपसर्पन्तीं चटुलमुखीं मनोरमामनोरमां
 वा करेणुकुट्टनीं तच्चतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तथा सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति, तथा
 किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बंधाय उपसर्पन्तीं मनोरमामनोरमां वा सर्वमपि कर्मप्रकृतिं
 तच्चतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तथा सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति ।

अथोभयं कर्म बन्धहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति—

गाथा १४८-१४९

गाथार्थः—[यथा नाम] जैसे [कोऽपि पुरुषः] कोई भी पुरुष [कुत्सितशीलं] कुशील अर्थात्
 खराब स्वभाववाले. [जन्मं] पुरुषको. [विज्ञाय.] जानकर. [तेन समकं]. उसके साथ [संसर्गं च
 रागकरणं] संसर्ग और राग करना [वर्जयति] छोड़ देता है, [एवम् एव च] इसीप्रकार
 [स्वभाववृत्ताः] स्वभावमें रत पुरुषः [कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं.] कर्मप्रकृतिके शील-स्वभावको [कुत्सितं]
 कुत्सित अर्थात् खराब [ज्ञात्वा.] जानकर [तत्संसर्गं] उसके साथ [संसर्गं] [वर्जयति.] छोड़ देते हैं
 [परिहरंति च] और राग छोड़ देते हैं।

टीकाः—जैसे कोई जंगलका कुशल हाथी अपने बन्धनके लिये निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली
 मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपीं कुट्टनीको परमार्थतः दुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं
 करता, इसीप्रकार आत्मा अरागी-ज्ञानी होता हुआ अपने बन्धनके लिये समीप आती हुई (उदयमें आती
 हुई) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ)—सभी कर्मप्रकृतियोंको परमार्थतः दुरी जानकर उनके साथ
 राग तथा संसर्ग नहीं करता ।

भावार्थः—हाथीको पकड़नेके लिये हथिनी रखी जाती है, हाथी कामान्ध होता हुआ उस
 हथिनीरूपी कुट्टनीके साथ राग तथा संसर्ग करता है इसलिये वह पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुःख
 भोगता है, जो हाथी चतुर होता है वह उस हथिनीके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता, इसीप्रकार
 अज्ञानी जीव कर्मप्रकृतिको अच्छा समझकर उसके साथ राग तथा संसर्ग करते हैं इसलिये वे बन्धमें
 पड़कर पराधीन बनकर संसारके दुःख भोगते हैं, और जो ज्ञानी होता है वह उसके साथ कभी भी राग
 तथा संसर्ग नहीं करता ।

अब, आगमसे यह सिद्ध करते हैं कि दोनों कर्म बन्धनके कारण हैं और निषेध हैंः—

रक्तो बन्धदि कर्मं मुञ्चदि जीवो विरागसंपन्नो ।

एसो जिणोपदेशो तस्मात् कर्मसु मा रज्ज ॥१५०॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसंप्राप्तः ।

एषो जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व ॥१५०॥

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतैत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयंकर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति च ।

* स्वागता *

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्

बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।

तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं

ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

गाथा १५०

गाथार्थः—[रक्तः जीवः] रागी जीव [कर्म] कर्म [बध्नाति] बाँधता है [विरागसंप्राप्तः] और वैराग्यको प्राप्त जीव [मुच्यते] कर्मसे छूटता है—[एषः] यह [जिनोपदेशः] जिनेन्द्र भगवानका उपदेश है; [तस्मात्] इसलिये (हे भव्य जीव !) तू [कर्मसु] कर्मोंमें [मा रज्यस्व] प्रीति—राग मंत कर ।

टीकाः—“रक्त अर्थात् रागी अवश्य कर्म बाँधता है, और विरक्त अर्थात् विरागी ही कर्मसे छूटता है” ऐसा जो यह आगमवचन है सो, सामान्यतया रागीपनकी निमित्तताके कारण शुभाशुभ दोनों कर्मोंको अविशेषतया बन्धके कारणरूप सिद्ध करता है और इसलिये दोनों कर्मोंका निषेध करता है ।

इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[यद्] क्योंकि [सर्वविदः] सर्वज्ञदेव [सर्वम् अपि कर्म] समस्त (शुभाशुभ) कर्मको [अविशेषात्] अविशेषतया [बन्धसाधनम्] बन्धका साधन (कारण) [उच्यन्ति] कहते हैं [तेन] इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने) [सर्वम् अपि तत् प्रतिषिद्धं] समस्त कर्मका निषेध किया है और [ज्ञानम् एव शिवहेतुः विहितं] ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है ॥१०३॥

जीव रागी बाँधे कर्मको, वैराग्यगत मुक्ती लहे ।

—ये जिनप्रभू उपदेश है नहीं रक्त हो तू कर्मसे ॥१५०॥

* शिखरिणी *

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
 प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।
 तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
 स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति—

परमद्वी खलु समञ्ची सुद्धी जी केवली सुणी एणी ।
 तम्हि द्विदा सहाये सुणियो पावति एिन्वाणं ॥१५१॥

जब कि समस्त कर्मोंका निषेध कर दिया गया तब फिर मुनियोंको किसकी शरण रही सो अब कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[सुकृतदुरिते सर्वस्मिन् कर्मणि किल निषिद्धे-] शुभ-आचरणरूप कर्म और अशुभ-आचरणरूप कर्म—ऐसे समस्त कर्मोंका निषेध कर देने पर [नैष्कर्म्ये प्रवृत्ते] निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्थामें प्रवर्तमान, [मुनयः खलु अशरणाः न सन्ति]-मुनिजन कहीं-अशरण-नहीं हैं; [तदा] (क्योंकि) जब निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होती है तब [ज्ञाने प्रतिचरितम् ज्ञानं हि] ज्ञानमें आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ—परिणामन करता हुआ ज्ञान ही [एषां] उन मुनियोंको [शरणां] शरण है; [एते] वे [तत्र निरताः] उस ज्ञानमें लीन होते हुए [परमम् अमृतं] परम अमृतका [स्वयं] स्वयं [विन्दन्ति] अनुभव करते हैं—स्वाद लेते हैं ।

भावार्थः—किसीको यह शंका हो सकती है कि—जब सुकृत और दुष्कृत—दोनोंको निषेध कर दिया गया है तब फिर मुनियोंको कुछ भी करना शेष नहीं रहता, इसलिये वे किसके आश्रयसे या किस-आलम्बनके द्वारा मुनित्वका पालन कर सकेंगे ? आचार्यदेवने उसके समाधानार्थ कहा है कि:—समस्त कर्मोंका त्याग होजाने पर ज्ञानका महा शरण है। उस ज्ञानमें लीन होनेपर सर्व आकृलतासे रहित परमानन्दका भोग होता है—जिसके स्वादको ज्ञानी ही जानते हैं। अज्ञानी कषायी जीव कर्मोंको ही सर्वत्र जानकर उन्हींमें लीन हो रहे हैं, वे ज्ञानानन्दके स्वादको नहीं जानते। १०४ ।

अब, यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान मोक्षका कारण है:—

परमार्थ है निश्चय, समय, शुध, कैवली, मुनि, ज्ञानि है ।

तिष्ठे जु उसहि स्वभाव मुनिवर, मोक्षकी प्राप्ती करै ॥१५१॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी ।

तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥१५१॥

ज्ञानं हि मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोरबंधहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः । तच्च सकलकर्मादिजात्यंतरविविक्तचिजातिमात्रः परमार्थ आत्मेति यावत् । स तु युगपदेकीभाव-प्रवृत्तज्ञानगमनमयतया समयः, सकलनयपक्षासंकीर्णैकज्ञानतया शुद्धः, केवलचिन्मात्रवस्तुतया केवली, मननमात्रभावतया मुनिः, स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी, स्वस्य भवनमात्रतया स्वभावः, स्वतश्चितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति शब्दभेदेऽपि न च वस्तुभेदः ।

अथ ज्ञानं विधापयति—

गाथा १५१

गाथार्थः—[खलु] निश्चयसे [यः] जो [परमार्थः] परमार्थ (परम पदार्थ) है, [समयः] समय है, [शुद्धः] शुद्ध है, [केवली] केवली है, [मुनिः] मुनि है, [ज्ञानी] ज्ञानी है, [तस्मिन् स्वभावे] उस स्वभावमें [स्थिताः] स्थित [मुनयः] मुनि [निर्वाणं] निर्वाणको [प्राप्नुवन्ति] प्राप्त होते हैं ।

टीकाः—ज्ञान मोक्षका कारण है, क्योंकि वह शुभाशुभ कर्मोंके बन्धका कारण नहीं होनेसे उसके इसप्रकार मोक्षका कारणपना वनता है । वह ज्ञान, समस्त कर्म आदि अन्य जातियोंसे भिन्न चैतन्य-जातिमात्र परमार्थ (—परम पदार्थ) है—आत्मा है । वह (आत्मा) एक ही साथ एकरूपसे प्रवर्तमान ज्ञान और गमन (परिणमन) स्वरूप होनेसे समय है, समस्त नयपक्षोंसे अभिश्रित एक ज्ञानस्वरूप होनेसे शुद्ध है, केवल चिन्मात्र वस्तुस्वरूप होनेसे केवली है, केवल मननमात्र (ज्ञानमात्र) भावस्वरूप होनेसे मुनि है, स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होनेसे ज्ञानी है, 'स्व' का 'भवनमात्रस्वरूप' होनेसे स्वभाव है अथवा स्वतः चैतन्यका भवनमात्रस्वरूप होनेसे सद्भाव है (क्योंकि जो स्वतः होता है वह सत्-स्वरूप ही होता है) । इसप्रकार शब्दभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है (यद्यपि नाम भिन्न भिन्न हैं तथापि वस्तु एक ही है) ।

भावार्थः—मोक्षका उपादान तो आत्मा ही है । परमार्थसे आत्माका ज्ञानस्वभाव है; जो ज्ञान है सो आत्मा है और आत्मा है सो ज्ञान है । इसलिये ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहना योग्य है ।

अब, यह बतलाते हैं कि आगममें भी ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा हैः—

भवन—होना;

परमदुग्धिं दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई ।
तं सर्वं बालतवं बालवदं विंति सब्बण्हू ॥१५२॥

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति ।

तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं विंदति सर्वज्ञाः ॥१५२॥

ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानशून्यस्याज्ञानकृतयोर्व्रततपःकर्मणोः
बंधहेतुत्वाद्बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् ।

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबंधहेतू नियमयति—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।

परमदुग्धाहिरा जे णिग्वाणं ते ए विंदंति ॥१५३॥

गाथा १५२

गाथार्थः—[परमार्थे तु] परमार्थमें [अस्थितः] अस्थित [यः] जो जीव [तपः करोति]
तप करता है [च] और [व्रतं धारयति] व्रत धारण करता है, [तत्सर्वं] उसके उन सब तप और
व्रतको [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [बालतपः] बालतप और [बालव्रतं] बालव्रत [विंदंति] कहते हैं ।

टीकाः—आगममें भी ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है (ऐसा सिद्ध होता है); क्योंकि जो
जीव परमार्थभूत ज्ञानसे रहित है उसके, अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, तप आदि कर्म बन्धके कारण हैं
इसलिये उन कर्मोंको 'बाल' संज्ञा देकर उनका निषेध किया जानेसे ज्ञान ही मोक्षका कारण सिद्ध
होता है ।

भावार्थः—ज्ञानके बिना किये गये तप, व्रतादिको सर्वज्ञदेवने बालतप तथा बालव्रत (अज्ञानतप
तथा अज्ञानव्रत) कहा है, इसलिये मोक्षका कारण ज्ञान ही है ।

अब यह कहते हैं कि ज्ञान ही मोक्षका हेतु है और अज्ञान ही बन्धका हेतु है यह नियम हैः—

परमार्थमें नहिं तिष्ठकर, जो तप करें व्रतको धरें ।

तप सर्व उसका बाल अह, व्रत बाल जिनवरने कहे ॥१५२॥

व्रतनियमको धारे भले, तपशीलको भी आचरे ।

परमार्थसे जो बाह्य बो, निर्वाणप्राप्ती नहिं करे ॥१५३॥

व्रतनियमान् धारयन्तः शीलानि तथा तपश्च कुर्वन्तः ।

परमार्थवाह्या ये निर्वाणं ते न विदन्ति ॥१५३॥

ज्ञानमेव मोक्षहेतुः, तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृति-
शुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात् । अज्ञानमेव बंधहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां
बहिर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात् ।

* शिखरिणी *

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं

शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।

अतोऽन्यद्वंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्

ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥

गाथा १५३

गाथार्थः—[व्रतनियमान्] व्रत और नियमोंको [धारयन्तः] धारण करते हुए भी [तथा]
तथा [शीलानि च तपः] शील और तप [कुर्वन्तः] करते हुए भी [ये] जो [परमार्थवाह्याः]
परमार्थमें वाह्य हैं (अर्थात् परम पदार्थरूप ज्ञानका-ज्ञानस्वरूप आत्माका जिसको श्रद्धान नहीं है)
[ते] वे [निर्वाणं] निर्वाणको [विदन्ति] प्राप्त नहीं होते ।

टीकाः—ज्ञान ही मोक्षका हेतु है; क्योंकि ज्ञानके अभावमें स्वयं ही अज्ञानरूप होनेवाले
अज्ञानियोंके अन्तरंगमें व्रत, नियम, शील तप इत्यादि शुभ कर्मोंका सद्भाव होने पर भी मोक्षका अभाव
है । अज्ञान ही बन्धका कारण है; क्योंकि उसके अभावमें स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियोंके वाह्य
व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ कर्मोंका असद्भाव होने पर भी मोक्षका सद्भाव है ।

भावार्थः—ज्ञानरूप परिणामन ही मोक्षका कारण है और अज्ञानरूप परिणामन ही बन्धका कारण
है; व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ भावरूप शुभ कर्म कहीं मोक्षके कारण नहीं हैं; ज्ञानरूप
परिणामित ज्ञानीके वे शुभ कर्म न होने पर भी वह मोक्षको प्राप्त करता है; तथा अज्ञानरूप परिणामित
अज्ञानीके वे शुभ कर्म होनेपर भी, वह बन्धको प्राप्त करता है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[यत् एतद् ध्रुवम् अचलम् ज्ञानात्मा भवनम् आभाति] जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा
ध्रुवरूपसे और अचलरूपसे ज्ञानस्वरूप होता हुआ—परिणामता हुआ भासित होता है, [अयं शिवस्य
हेतुः] वही मोक्षका हेतु है, [यतः] क्योंकि [तत् स्वयम् अपि शिवः इति] वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप
है; [अतः अन्यत्] उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है [बन्धस्य] वह बन्धका हेतु है [यतः] क्योंकि

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति—

परमद्वुबाहिरा जे ते अण्णण्ण पुरणमिच्छति ।

संसारगमणहेतुं वि मोक्षहेतुं अजाणंता ॥१५४॥

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छन्ति ।

संसारगमनहेतुमपि मोक्षहेतुमजानन्तः ॥१५४॥

इह खलु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसंभावितात्मलाभं मोक्षमभिलषन्तोऽपि तद्वेतुभूतं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवनमात्रमैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं सामायिकं प्रतिज्ञायामि दुरंतकर्मचक्रोत्तरणकलीवतया परमार्थभूतज्ञानानुभवनमात्रं सामायिकमात्मस्वभाव-

[तत् स्वयम् अपि बन्धः इति] वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है । [ततः] इसलिये आगममें [ज्ञानात्मस्व भवनम्] ज्ञानस्वरूप होनेका (—ज्ञानस्वरूप परिणमित होनेका) अर्थात् [अनुभूतिः हि] अनुभूति करनेका ही [विहितम्] विधान है । १०५ ।

अब फिर भी, पुण्यकर्मके पक्षपातीको समझानेके लिये उसका दोष बतलाते हैं:—

शार्था १५४

गाथार्थः—[ये] जो [परमार्थबाह्याः] परमार्थसे बाह्य हैं [ते] वे [मोक्षहेतुम्] मोक्षके हेतुको [अजानन्तः] न जानते हुए—[संसारगमनहेतुम् अपि] संसारगमनका हेतु होने पर भी— [अज्ञानेन] अज्ञानसे [पुण्यम्] पुण्यको (मोक्षका हेतु समझकर) [इच्छन्ति] चाहते हैं ।

टीका:—समस्त कर्मके पक्षका नाश करनेसे उत्पन्न होनेवाले (निजस्वरूपकी प्राप्ति) आत्मलाभ-स्वरूप मोक्षको इस जगत्में कितने ही जीव चाहते हुए भी, मोक्षकी कारणभूत सामायिककी—जो (सामायिक) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञानकी भवनमात्र है, एकाग्रतालक्षणा-युक्त है, और समयसारस्वरूप है—उसकी प्रतिज्ञा लेकर भी, दुरंत कर्मचक्रको पार करनेकी नपुंसकताके कारण परमार्थभूत ज्ञानके अनुभवनमात्र सामायिकस्वरूप आत्मस्वभावको न प्राप्त होते हुए, जिनके अत्यन्त स्थूल संक्लेशपरिणामरूप कर्म निवृत्त हुए हैं और अत्यन्त स्थूल विद्युद्धपरिणामरूप कर्म प्रवर्त रहे हैं ऐसे वे, कर्मके अनुभवके गुरुत्व-लघुत्वकी प्राप्तिमात्रसे ही सन्तुष्ट चित्त होते हुए भी, स्वयं स्थूल लक्षवाले होकर (संक्लेशपरिणामको छोड़ते हुए भी) समस्त कर्मकारणको मूलत्वे नहीं उखाड़ते । इसप्रकार वे, स्वयं अपने अज्ञानसे केवल अशुभकर्मको ही बन्धका कारण मानकर, व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ

परमार्थबाहिर जीवगण, जिनें न हेतु मोक्षका ।

अज्ञानसे वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसारका ॥१५४॥

मलभमानाः प्रतिनिवृत्तस्थूलतमसंक्लेशपरिणामकर्मतया प्रवृत्तमानस्थूलतमविशुद्धपरिणामकर्माणः कर्मानुभवगुलाघवप्रतिपत्तिमात्रसंतुष्टचेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकांडमनुन्मूलयंतः स्वयम-ज्ञानादशुभकर्म केवलं बंधहेतुमध्यास्य च व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्म बंधहेतुमप्यजानंतो मोक्षहेतुमभ्युपगच्छन्ति ।

अथ परमार्थमोक्षहेतुस्तेषां दर्शयति—

जीवादीसद्दृष्टं सम्मत्तं तेसिमधिगमो एषाणं
रागादीपरिहरणं चरणं एषो दु मोक्षपथो ॥१५५॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम् ।

रागादिपरिहरणं चरणं एषस्तु मोक्षपथः ॥१५५॥

कर्मोंको बन्धका कारण होने पर भी उन्हें बन्धका कारण न जानते हुए मोक्षके कारणरूपमें अंगीकार करते हैं,—मोक्षके कारणरूपमें उनका आश्रय करते हैं ।

भावार्थः—कितने ही अज्ञानीजन दीक्षा लेते समय सामायिककी प्रतिज्ञा लेते हैं, परन्तु सूक्ष्म ऐसे आत्मस्वभावकी श्रद्धा, लक्ष्य तथा अनुभव न कर सकनेसे, स्थूल लक्ष्यवाले वे जीव स्थूल संक्लेश-परिणामोंको छोड़कर ऐसे ही स्थूल विशुद्धपरिणामोंमें (शुभ परिणामोंमें) प्रसन्न होते हैं । (संक्लेशपरिणामं तथा विशुद्धपरिणाम दोनों अत्यन्त स्थूल हैं; आत्मस्वभाव ही सूक्ष्म है ।) इसप्रकार वे—यद्यपि वास्तविकतया सर्वकर्मरहित आत्मस्वभावका अनुभवन ही मोक्षका कारण है तथापि—कर्मानुभवके अल्प-बहुत्वको ही बन्ध-मोक्षका कारण मानकर व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मोंका मोक्षके हेतुके रूपमें आश्रय करते हैं ।

अब जीवोंको परमार्थ (वास्तविक) मोक्षका कारण बतलाते हैंः—

गाथा १५५

गाथार्थः—[जीवादिश्रद्धानं] जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व है, [तेषां अधिगमः] उन जीवादि पदार्थोंका अधिगम [ज्ञानम्] ज्ञान है और [रागादिपरिहरणं] रागादिका त्याग [चरणं] चारित्र्य है;—[एषः तु] यही [मोक्षपथः] मोक्षका मार्ग है ।

जीवादिका श्रद्धान समकित, ज्ञान उसका ज्ञान है ।

रागादि-वर्जन चरित है, अरु ये हि युक्ती पंथ है ॥१५५॥

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम् । जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम् । रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम् । तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम् । ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः ।

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिषेधयति—

मौक्तूण णिच्छयद्दुं व्यवहारेण विदुसा पवट्टंति ।

परमदुयस्सिदाण दु जदीण कम्मस्वओ विहिओ ॥१५६॥

श्रुत्वा निश्चयार्थं व्यवहारेण विद्वांसः प्रवर्तते ।

परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः ॥१५६॥

टीकाः—मोक्षका कारण वास्तवमें सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उसमें, सम्यक्दर्शन तो जीवादि पदार्थोंके श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञानका होना—परिणमन करना है; जीवादि पदार्थोंके ज्ञानस्वभावरूप ज्ञानका होना—परिणमन करना ज्ञान है; रागादिके त्यागस्वभावरूप ज्ञानका होना—परिणमन करना सो चारित्र है। अतः इसप्रकार सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक ज्ञानका ही भवन (-परिणमन) है। इसलिये ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्षका कारण है।

भावार्थः—आत्माका असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है। और इस प्रकरणमें ज्ञानको ही प्रधान करके विवेचन किया है। इसलिये 'सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है' यह कहकर ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है। ज्ञान है वह अमेद विवक्षामें आत्मा ही है—ऐसा कहनेमें कुछ भी विरोध नहीं है, इसीलिये टीकामें कई स्थानोंपर आचार्यदेवने ज्ञानस्वरूप आत्माको 'ज्ञान' शब्दसे कहा है।

अब, परमार्थ मोक्षकारणसे अन्य जो कर्म उनका निषेध करते हैंः—

याथा १५६

गाथार्थः—[निश्चयार्थं] निश्चयनयके विषयको [मुक्त्वा] छोड़कर [विद्वांसः] विद्वान् [व्यवहारेण] व्यवहारके द्वारा [प्रवर्तते] प्रवर्तते हैं; [तु] परन्तु [परमार्थम् आश्रितानां] परमार्थके (-आत्मस्वरूपके) आश्रित [यतीनां] यतीश्वरोंके ही [कर्मक्षयः] कर्मोंका नाश [विहितः] आगममें कहा गया है। (केवल व्यवहारमें प्रवर्तन करनेवाले पण्डितोंके कर्मक्षय नहीं होता ।)

विद्वान् जन भूतार्थं तज, व्यवहारमें वर्तन करे ।

पर कर्मनाश विधान तो, परमार्थ—आश्रित संतके ॥१५६॥

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिनमोक्ष हेतुः स सर्वोऽपि प्रतिसिद्धः, तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्, परमार्थमोक्ष-हेतोरेवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात् ।

* अनुष्टुम् *

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।

एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥

* अनुष्टुम् *

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।

द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

टीका:—कुल्ल लोग परमार्थ मोक्षहेतुसे अन्य, जो व्रत, तप इत्यादि शुभकर्मस्वरूप मोक्षहेतु मानते हैं, उस समस्तहीका निषेध क्रिया गया है; क्योंकि वह (मोक्षहेतु) अन्य द्रव्यके स्वभाववाला (पुद्गलस्वभाववाला) है इसलिये उसके स्व-भावसे ज्ञानका भवन (होना) नहीं बनता,—मात्र परमार्थ मोक्षहेतु ही एक द्रव्यके स्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) है इसलिये उसके स्वभावके द्वारा ज्ञानका भवन (होना) बनता है ।

भावाय:—क्योंकि आत्माका मोक्ष होता है इसलिये उसका कारण भी आत्मस्वभावी ही होना चाहिये । जो अन्य द्रव्यके स्वभाववाला है उससे आत्माका मोक्ष कैसे हो सकता है ? शुभ कर्म पुद्गलस्वभाववाले हैं इसलिये उनके भवनसे परमार्थ आत्माका भवन नहीं बन सकता; इसलिये वे आत्माके मोक्षके कारण नहीं होते । ज्ञान आत्मस्वभावी है इसलिये उसके भवनसे आत्माका भवन बनता है; अतः वह आत्माके मोक्षका कारण होता है । इसप्रकार ज्ञान ही वास्तविक मोक्षहेतु है ।

अब इसी अर्थके कलशरूप दो श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[एकद्रव्यस्वभावत्वात्] ज्ञान एकद्रव्यस्वभावी (-जीवस्वभावी-) होनेसे [ज्ञानस्वभावेन] ज्ञानके स्वभावसे [सदा] सदा [ज्ञानस्य भवनं वृत्तं] ज्ञानका भवन बनता है; [तत्] इसलिये [तद् एव मोक्षहेतुः] ज्ञान ही मोक्षका कारण है । १०६ ।

श्लोकार्थः—[द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्] कर्म अन्यद्रव्यस्वभावी (-पुद्गलस्वभावी-) होनेसे [कर्मस्वभावेन] कर्मके स्वभावसे [ज्ञानस्य भवनं न हि वृत्तं] ज्ञानका भवन नहीं बनता; [तत्] इसलिये [कर्म मोक्षहेतुः न] कर्म मोक्षका कारण नहीं है । १०७ ।

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

* अनुष्टुभ् *

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।

मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वाच्चनिषिध्यते ॥१०८॥

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानकरणं साधयति—

वत्थस्स सैदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।

मिच्छत्तमलोच्छरणं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७॥

वत्थस्स सैदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।

अण्णाणमलोच्छरणं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८॥

वत्थस्स सैदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।

कसायमलोच्छरणं तह चारित्तं पि णायव्वं ॥१५९॥

श्लोकार्थः—[मोक्षहेतुतिरोधानात्] कर्म मोक्षके कारणोंका तिरोधान करनेवाला है, और [स्वयम् एव बन्धत्वात्] वह स्वयं ही बन्धस्वरूप है [च] तथा [मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्] मोक्षके कारणोंका तिरोधायिभावस्वरूप (तिरोधानकर्ता) है इसीलिये [तत् निषिध्यते] उसका निषेध किया गया है । १०८ ।

अब पहले, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म मोक्षके कारणोंका तिरोधान करनेवाला है:—

मलमिलनलिप्तं जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यो वत्तका ।

मिध्यात्वमलके लैपसे, सम्पत्त त्यों ही जानना ॥१५७॥

मलमिलनलिप्तं जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यो वत्तका ।

अज्ञानमलके लैपसे, सद्ज्ञान त्यों ही जानना ॥१५८॥

मलमिलनलिप्तं जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यो वत्तका ।

चारित्र पावे नाश लिप्त कषायमलसे जानना ॥१५९॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।

मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यम् ॥१५७॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।

अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यम् ॥१५८॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।

कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यम् ॥१५९॥

ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन मिथ्यात्वनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्न-
त्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः
स्वभावः परभावेनाज्ञाननाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्र-
स्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन कषायनाम्ना
कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् ।
अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिषिद्धम् ।

गाथा १५७-१५९

गाथार्थः—[यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्रका [श्वेतभावः] श्वेतभाव [मलमेलनासक्तः]
मैलके मिलनेसे लिप्त होता हुआ [नश्यति] नष्ट हो जाता है—तिरोभूत हो जाता है, [तथा]
उसीप्रकार [मिथ्यात्वमलावच्छन्नं] मिथ्यात्वरूपी मैलसे व्याप्त होता हुआ—लिप्त होता हुआ
[सम्यक्त्वं खलु] सम्यक्त्व वास्तवमें तिरोभूत होता है [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिये । [यथा]
जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्रका [श्वेतभावः] श्वेतभाव [मलमेलनासक्तः] मैलके मिलनेसे लिप्त होता हुआ
[नश्यति] नाशको प्राप्त होता है—तिरोभूत हो जाता है, [तथा] उसीप्रकार [अज्ञानमलावच्छन्नं]
अज्ञानरूपी मैलसे व्याप्त होता हुआ—लिप्त होता हुआ [ज्ञानं भवति] ज्ञान तिरोभूत हो जाता है
[ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिये । [यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्रका [श्वेतभावः] श्वेतभाव
[मलमेलनासक्तः] मैलके मिलनेसे लिप्त होता हुआ [नश्यति] नाशको प्राप्त होता है—तिरोभूत हो
जाता है, [तथा] उसीप्रकार [कषायमलावच्छन्नं] कषायरूपी मैलसे व्याप्त—लिप्त होता हुआ
[चारित्रम् अपि] चारित्र भी तिरोभूत हो जाता है [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिये ।

टीकाः—ज्ञानका सम्यक्त्व जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है वह, परभावस्वरूप मिथ्यात्व
नामक कर्मरूपी मैलके द्वारा व्याप्त होनेसे, तिरोभूत होजाता है—जैसे परभावस्वरूप मैलसे व्याप्त हुआ
श्वेत वस्त्रका स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है । ज्ञानका ज्ञान जो कि मोक्षका कारणरूप

अथ कर्मणः स्वयं बन्धत्वं साधयति—

सो सव्वणाएदरिसी कम्मएएण णियेणावच्छरणो ।

संसारसमावण्णो ए विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः ।

संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वम् ॥१६०॥

स्वभाव है वह, परभावस्वरूप अज्ञान नामक कर्ममलके द्वारा व्याप्त होनेसे तिरोभूत हो जाता है—जैसे परभावस्वरूप मैलसे व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्रका स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है। ज्ञानका चारित्र जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है वह, परभावस्वरूप कषाय नामक कर्ममलके द्वारा व्याप्त होनेसे तिरोभूत होता है—जैसे परभावस्वरूप मैलसे व्याप्त हुआ श्वेतवस्त्रका स्वभावभूत श्वेत स्वभाव तिरोभूत हो जाता है। इसलिये मोक्षके कारणका (-सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्रका-) तिरोधान करनेवाला होनेसे कर्मका निषेध किया गया है।

भावार्थः—सम्यक्दर्शन-ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है। ज्ञानका सम्यक्स्वरूप परिणामन मिथ्यात्वकर्मसे तिरोभूत होता है; ज्ञानका ज्ञानरूप परिणामन अज्ञानकर्मसे तिरोभूत होता है; और ज्ञानका चारित्ररूप परिणामन कषायकर्मसे तिरोभूत होता है। इसप्रकार मोक्षके कारणभावोंको कर्म तिरोभूत करता है इसलिये उसका निषेध किया गया है।

अब, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है—

गाथा १६०

भावार्थः—[सः] वह आत्मा [सर्वज्ञानदर्शी] (स्वभावसे) सर्वको जानने-देखनेवाला है तथापि [निजेन कर्मरजसा] अपने कर्ममलसे [अवच्छन्नः] लिप्त होता हुआ—व्याप्त होता हुआ [संसार समापन्नः] संसारको प्राप्त हुआ वह [सर्वतः] सब प्रकारसे [सर्वं] सर्वको [न विजानाति] नहीं जानता।

यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छादसे।

संसारप्राप्त, न जानता वो सर्वको सब रीतसे ॥१६०॥

यतः स्वयमेव ज्ञानतया विश्वसामान्यविशेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्तमानकर्ममलावच्छन्नत्वादेव बन्धावस्थायां सर्वतः सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते, ततो नियतं स्वयमेव कर्मैव बन्धः । अतः स्वयं बन्धत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम् ।

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति—

सम्भक्तपङ्क्तिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरैहि परिकहियं ।

तत्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्टि त्ति णायव्वो ॥१६१॥

णाणस्स पङ्क्तिबद्धं अण्णाणं जिणवरैहि परिकहियं ।

तत्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥

टीका:—जो स्वयं ही ज्ञान होनेके कारण विश्वको (—सर्व पदार्थोंको) सामान्यविशेषतया जाननेके स्वभाववाला है, ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादि कालसे अपने पुरुषार्थके अपराधसे प्रवर्तमान कर्ममलके द्वारा लिप्त या व्याप्त होनेसे ही, बन्ध-अवस्थामें सर्वप्रकारसे सम्पूर्ण अपनेको अर्थात् सर्व प्रकारसे सर्व ज्ञेयोंको जाननेवाले अपनेको न जानता हुआ, इसप्रकार प्रत्यक्ष अज्ञानभावसे (—अज्ञानदशामें) रह रहा है; इससे यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप हैं । इसलिये, स्वयं बन्धस्वरूप होनेसे कर्मका निषेध किया गया है ।

भावार्थ:—यहाँ भी 'ज्ञान' शब्दसे आत्मा समझना चाहिये । ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य स्वभावसे तो सबको जानने-देखनेवाला है परन्तु अनादिसे स्वयं अपराधी होनेके कारण कर्मोंसे आच्छादित है, इसलिये वह अपने सम्पूर्ण स्वरूपको नहीं जानता; यों अज्ञानदशामें रह रहा है । इसप्रकार केवलज्ञानस्वरूप अथवा मुक्तस्वरूप आत्मा कर्मोंसे लिप्त होनेसे अज्ञानरूप अथवा बद्धरूप वर्तता है, इसलिये यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप हैं । अतः कर्मोंका निषेध किया गया है ।

अब, यह बतलाते हैं कि कर्म मोक्षके कारणके तिरोधायिभावस्वरूप (अर्थात् मिथ्यात्वादि भावस्वरूप) हैं:—

सम्यक्त्वप्रतिबन्धक करम, मिथ्यात्व जिनवरने कहा ।

उसके उदयसे जीव मिथ्यात्वी बने यह जानना ॥१६१॥

त्यों ज्ञानप्रतिबन्धक करम, अज्ञान जिनवरने कहा ।

उसके उदयसे जीव अज्ञानी बने यह जानना ॥१६२॥

चारित्र्यपडिणिबद्धं कसायं जिणवरैहि परिकथियं ।
तस्योदयेण जीवो अचरितो होदि णायव्वो ॥१६३॥

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितम् ।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥१६१॥
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितम् ।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥१६२॥
चारित्र्यप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः ।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्र्यो भवति ज्ञातव्यः ॥१६३॥

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वम् । ज्ञानस्य-मोक्षहेतोः स्वभावस्य-प्रतिबन्धकं किलाज्ञानं, तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानित्वम् । चारित्र्यस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकः किल कषायः, स तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्र्यत्वम् । अतः स्वयं-मोक्षहेतुतिरोधायि-भावत्वात्कर्म-प्रतिषिद्धम् ।

गाथा १६१-१६३

गाथार्थः—[सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं] सम्यक्त्वको रोकनेवाला [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व है ऐसा [जिनवरैः] जिनवरोंने [परिकथितम्] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदयसे [जीवः] जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि होता है [इति ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये । [ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं] ज्ञानको रोकनेवाला [अज्ञानं] अज्ञान है ऐसा [जिनवरैः] जिनवरोंने [परिकथितम्] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदयसे [जीवः] जीव [अज्ञानी] अज्ञानी [भवति] होता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये । [चारित्र्यप्रतिनिबद्धः] चारित्र्यको रोकनेवाला [कषायः] कषाय है ऐसा [जिनवरैः] जिनवरोंने [परिकथितः] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदयसे [जीवः] जीव [अचारित्र्यः] अचारित्र्यवान [भवति] होता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये ।

टोकाः—सम्यक्त्व जो कि मोक्षके कारणरूप स्वभाव है उसे रोकनेवाला मिथ्यात्व है; वह (मिथ्यात्व) तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ही ज्ञानके मिथ्यादृष्टिपना होता है । ज्ञान जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है उसे रोकनेवाला अज्ञान है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ही ज्ञानके

चारित्र्यप्रतिबन्धक कर्म, जिनने कषायोंको कहा ।

उसके उदयसे जीव चारितहीन हो यह जानना ॥१६३॥

* शार्दूलविक्रीडित *

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥

अज्ञानीपना होता है। चारित्र जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है उसे रोकनेवाली कषाय है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ही ज्ञानके अचारित्रपना होता है। इसलिये, स्वयं मोक्षके कारणका तिरोधायिभावस्वरूप होनेसे कर्मका निषेध किया गया है।

भावार्थः—सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षके कारणरूप भाव हैं उनसे विपरीत मिथ्यात्वादि भाव हैं; कर्म मिथ्यात्वादि भाव-स्वरूप हैं। इसप्रकार कर्म मोक्षके कारणभूत भावोंसे विपरीत भाव-स्वरूप हैं।

पहले तीन गाथाओंमें कहा था कि कर्म मोक्षके कारणरूप भावोंका—सम्यक्त्वादिका घातक है। बादकी एक गाथामें यह कहा है कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। और इन अन्तिम तीन गाथाओंमें कहा है कि कर्म मोक्षके कारणरूप भावोंसे विरोधी भावस्वरूप है—मिथ्यात्वादिवस्वरूप है। इसप्रकार यह बताया है कि कर्म मोक्षके कारणका घातक है, बन्धस्वरूप है और बन्धका कारणस्वरूप है, इसलिये निषिद्ध है।

अशुभ कर्म तो मोक्षका कारण है ही नहीं, प्रत्युत बाधक ही है; इसलिये निषिद्ध ही है; परन्तु शुभ कर्म भी कर्म सामान्यमें आजाता है इसलिये वह भी बाधक ही है इसलिये निषिद्ध ही है ऐसा समझना चाहिये।

अब इस अर्थका कलशरूप कान्य कहते हैं :—

श्लोकार्थः—[मोक्षार्थिना इदं समस्तम् अपि तत् कर्म एव संन्यस्तव्यम्] मोक्षार्थीको यह समस्त ही कर्ममात्र त्याग करने योग्य है। [संन्यस्ते सति तत्र पुण्यस्य पापस्य वा किल का कथा] जहाँ समस्त कर्मोंका त्याग किया जाता है फिर वहाँ पुण्य या पापकी क्या बात है ? (कर्ममात्र त्याज्य है तब फिर पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है—ऐसी बातको अवकाश ही कहाँ है ? कर्म सामान्यमें दोनों आगये हैं।) [सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुः भवन्] समस्त कर्मका त्याग होने पर, सम्यक्त्वादि अपने स्वभावरूप होनेसे—परिणामन करनेसे मोक्षका कारणभूत होता हुआ, [नैष्कर्म्य-प्रतिबद्धम् उद्धतरसं] निष्कर्म अवस्थाके साथ जिसका उद्धत (उत्कट) रस प्रतिबद्ध है ऐसा [ज्ञानं] ज्ञान, [स्वयं] अपने आप [धावति] दौड़ा चला आता है।

भावार्थः—कर्मको दूर करके, अपने सम्यक्त्वादिस्वभावरूप परिणामन करनेसे मोक्षका कारणरूप होनेवाला ज्ञान अपने आप प्रगट होता है, तब फिर उसे कौन रोक सकता है ? । १०६ ।

* शार्दूलविकीर्णित *

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिज्ञानस्य सम्यक् न सा
 कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
 किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्
 मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

अब आशंका उत्पन्न होती है कि—जबतक अविरत सम्यक्दृष्टि इत्यादिके कर्मका उदय रहता है तबतक ज्ञान मोक्षका कारण कैसे हो सकता है ? और कर्म तथा ज्ञान दोनों (—कर्मके निमित्तसे होने-वाली शुभाशुभ परिणति तथा ज्ञानपरिणति) एक ही साथ कैसे रह सकते हैं ? इसके समाधानार्थ काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थः—[यावत्] जबतक [ज्ञानस्य कर्मविरतिः] ज्ञानकी कर्मविरति [सा सम्यक् पाकम् न उपैति] भलीभांति परिपूर्णताको प्राप्त नहीं होती [तावत्] तबतक [कर्मज्ञानसमुच्चयः अपि विहितः न काचित् क्षतिः] कर्म और ज्ञानका एकत्रितपना शास्त्रमें कहा है; उसके एकत्रित रहनेमें कोई भी क्षति या विरोध नहीं है। [किन्तु] किन्तु [अत्र अपि] यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मामें [अवशतः यत् कर्म समुल्लसति] अवशाने जो कर्म प्रगट होता है [तत् बन्धाय] वह तो बन्धका कारण है, और [एकम् एव परमं ज्ञानं स्थितम्] जो एक परम ज्ञान है वह एक ही [मोक्षाय] मोक्षका कारण है—[स्वतः विमुक्तं] जो कि स्वतः विमुक्त है (अर्थात् तीनोंकाल परद्रव्य-भावोंसे भिन्न है।)

भावार्थः—जबतक यथाख्यात चारित्र नहीं होता तबतक सम्यक्दृष्टिके दो धाराएँ रहती हैं,—शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। इन दोनोंके एक साथ रहनेमें कोई भी विरोध नहीं है। जैसे मिथ्या-ज्ञान और सम्यक्ज्ञानके परस्पर विरोध है वैसे कर्मसामान्य और ज्ञानके विरोध नहीं हैं।) ऐसी स्थितिमें कर्म अपना कार्य करता है, और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंशमें शुभाशुभ कर्मधारा है उतने अंशमें कर्मबन्ध होता है और जितने अंशमें ज्ञानधारा है उतने अंशमें कर्मका नाश होता जाता है। विषय कषायके विकल्प या त्रत नियमके विकल्प—अथवा शुद्ध स्वरूपका विचार तक भी—कर्मबन्धका कारण है; शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्षका कारण है ॥११०॥

अब कर्म और ज्ञानका नयविभाग बतलाते हैं :—

शार्दूलविक्रीडित

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यन्

मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमंदोद्यमाः ।

विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं

ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ॥१११॥

श्लोकार्थः—[कर्मनयावलम्बनपराः मग्नाः] कर्मनयके आलम्बनमें तत्पर (कर्मनयके पक्षपाती) पुरुष डूबे हुए हैं [यत्] क्योंकि [ज्ञानं न जानन्ति] वे ज्ञानको नहीं जानते । [ज्ञाननय-एषिणः प्रपि मग्नाः] ज्ञाननयके इच्छुक (पक्षपाती) पुरुष भी डूबे हुए हैं [यत्] क्योंकि [अति स्वच्छन्दमन्द-उद्यमाः] वे स्वच्छन्दतासे अत्यन्त मन्द-उद्यमी हैं (वे स्वरूपप्राप्तिका पुरुषार्थ नहीं करते, प्रमादी हैं और विषयकषायमें वर्तते हैं) । [ते विश्वस्य उपरि तरन्ति] वे जीव विश्वके ऊपर तरते हैं [ये स्वयं सततं ज्ञानं भवन्तः कर्म न कुर्वन्ति] जो कि स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए—परिणामते हुए कर्म नहीं करते [च] और [जातु प्रमादस्य वशं न यांति] कभी भी प्रमादवश भी नहीं होते (स्वरूपमें उद्यमी रहते हैं) ।

भावार्थः—यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्रायका निषेध किया है क्योंकि सर्वथा एकान्त अभिप्राय ही मिथ्यात्व है ।

कितने ही लोग परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्माको तो जानते नहीं और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्ररूप क्रियाकाण्डके आडम्बरको मोक्षका कारण जानकर उसमें तत्पर रहते हैं—उसका पक्षपात करते हैं । ऐसे कर्मनयके पक्षपाती लोग—जो कि ज्ञानको तो नहीं जानते और कर्मनयमें ही खेदखिन्न हैं वे—संसारमें डूबते हैं ।

और कितने ही लोग आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं जानते तथा सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियोंके उपदेशसे अथवा अपने आप ही अन्तरंगमें ज्ञानका स्वरूप मिथ्या प्रकारसे कल्पित करके उसमें पक्षपात करते हैं । वे अपनी परिणतिमें किंचित्मात्र भी परिवर्तन हुए बिना अपनेको सर्वथा अवन्ध मानते हैं और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्रके क्रियाकाण्डको निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं । ऐसे ज्ञाननयके पक्षपाती लोग जो कि स्वरूपका कोई पुरुषार्थ नहीं करते और शुभ परिणामोंको छोड़कर स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायोंमें वर्तते हैं वे भी संसारसमुद्रमें डूबते हैं ।

मोक्षमार्गी जीव ज्ञानरूप परिणामित होते हुए शुभाशुभ कर्मोंको (अर्थात् शुभाशुभभावोंको) हेय जानते हैं और शुद्ध परिणतिको ही उपादेय जानते हैं । वे मात्र अशुभ कर्मोंको ही नहीं किन्तु शुभ कर्मोंको भी छोड़कर, स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये निरन्तर उद्यमी रहते हैं—वे सम्पूर्ण स्वरूपस्थित होने तक पुरुषार्थ

* मन्दाक्रान्ता *

भेदोन्मादं भ्रमरसभरात्नाटयत्पीतमोहं

मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।

हेलोन्मीलत्परमकलयाम् सार्धमारब्धकेलि

ज्ञानज्योतिः क्वलिततमः प्रोज्ज्वम्भे भरेण ॥११२॥

करते ही रहते हैं। जबतक, पुरुषार्थकी अपूर्णताके कारण, शुभाशुभ परिणामोंसे छूटकर स्वरूपमें सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता तबतक—यद्यपि स्वरूपस्थिरताका आन्तरिक-आलम्बन तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है तथापि—आन्तरिक-आलम्बन लेनेवालेको जो बाह्य आलम्बनरूप होते हैं ऐसे (शुद्ध स्वरूपके विचार आदि) शुभ परिणामोंमें वे जीव हेयबुद्धिसे प्रवर्तते हैं, किन्तु शुभ कर्मोंको निरर्थक मानकर उन्हें छोड़कर स्वच्छन्दतया अशुभ कर्मोंमें प्रयुक्त होनेकी बुद्धि कभी नहीं होती। ऐसे एकान्त अभिप्राय रहित जीव कर्मोंका नाश करके, संसारसे निवृत्त होते हैं। १११।

अब पुण्य-पाप अधिकारको पूर्ण करते हुए आचार्य्यदेव ज्ञानकी महिमा करते हैं:—

श्लोकार्थः—[पीतमोहं] मोहरूपी मदिराके पीनेसे, [भ्रम-रस-भरात्] भ्रमरसके भारसे (अतिशयपनेसे) [भेदोन्मादं-नाटयत् तत् सकलम् अपि कर्म] शुभाशुभ कर्मके भेदरूपी उन्मादको जो नचाता है ऐसे समस्त कर्मको [बलेन] अपने बलद्वारा [मूलोन्मूलं कृत्वा] समूल उखाड़कर [ज्ञानज्योतिः भरेण प्रोज्ज्वम्भे] अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति प्रगट हुई। वह ज्ञानज्योति ऐसी है कि जिसने [क्वलिततमः] अज्ञानरूपी अन्धकारका शास कर लिया है अर्थात् जिसने अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश कर दिया है, [हेला-उन्मिलत्] जो लीलामात्रसे (-सहज पुरुषार्थसे) विकसित होती जाती है और [परमकलया सार्धम् आरब्धकेलि] जिसने परम कला अर्थात् केवलज्ञानके साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है (जबतक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है तबतक ज्ञानज्योति केवलज्ञानके साथ शुद्धनयके बलसे परोक्ष क्रीड़ा करती है, केवलज्ञान होनेपर साक्षात् होती है।)

भावार्थः—आपको (ज्ञानज्योतिको) प्रतिबन्धक कर्म (भावकर्म) जो कि शुभाशुभ भेदरूप होकर नाचता था और ज्ञानको भुला देता था उसे अपनी शक्तिसे उखाड़कर ज्ञानज्योति सम्पूर्ण सामर्थ्य सहित प्रकाशित हुई। वह ज्ञानज्योति अथवा ज्ञानकला केवलज्ञानरूपी परमकलाका अंश है तथा वह केवलज्ञानके सम्पूर्ण स्वरूपको जानती है और उस ओर प्रगति करती है, इसलिये यह कहा है कि 'ज्ञानज्योतिने केवलज्ञानके साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है।' ज्ञानकला सहजरूपसे विकासको प्राप्त होती जाती है और अन्तमें वह परमकला अर्थात् केवलज्ञान हो जाती है। ११२।

इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रांतम् ।

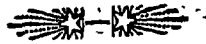
इति श्रीमद्भूतचन्द्रहरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पुण्यपापप्ररूपकः
तृतीयोक्तः ॥

टीकाः—पुण्य-पापरूपसे दो पात्रोंके रूपमें नाचनेवाला कर्म एक पात्ररूप होकर (रंगभूमिमेंसे)
वाहर निकल गया ।

भावार्थः—यद्यपि कर्म सामान्यतया एक ही है तथापि उसने पुण्य-पापरूपी दो पात्रोंका स्वांग
धारण करके रंगभूमिमें प्रवेश किया था । जब उसे ज्ञानने यथार्थतया एक जान लिया तब वह एक पात्ररूप
होकर रंगभूमिसे वाहर निकल गया, और नृत्य करना बन्द कर दिया ।

आश्रय, कारण, रूप, सवादसुं भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे,
पुण्य रू पाप शुभाशुभभावनि बन्ध भये सुखदुःखकरा रे ।
ज्ञान भये दोउ एक, लखै बुध आश्रय आदि समान विचारे,
बन्धके कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे ।

॥ तृतीय पुण्य-पाप-अधिकार समाप्तः ॥





आस्रव अधिकार

अथ प्रविशत्यास्रवः ।

* द्रुतविलंबित *

अथ महामदनिर्भरमन्थरं

समररंगपरागतमास्रवम् ।

अयमुदारगभीरमहोदयो

जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥११३॥

—:: दोहा ::—

द्रव्यास्रवतै भिन्न ह्यै, भावास्रव करि नास ।

भये सिद्ध परमात्मा, नमूँ तितहिँ, सुख आस ॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि—‘अथ आस्रव प्रवेश करता है’ । जैसे नृत्यसंच पर नृत्यकार स्वाँग धारण कर प्रवेश करता है उसीप्रकार यहाँ आस्रवका स्वाँग है । उस स्वाँगको यथार्थतया जाननेवाला सम्यक्ज्ञान है उसकी महिमारूप मंगल करते हैं:—

श्लोकार्थः—[अथ] अथ [समरसरङ्गपरागतम्] समररंगणमें आये हुए, [महामदनिर्भरमन्थरं] महामदसे भरे हुए मदोन्मत्त [आस्रवम्] आस्रवको [अयम् दुर्जयबोधधनुर्धरः] यह दुर्जय ज्ञान-धनुर्धर [जयति] जीत लेता है, [उदारगभीरमहोदयः] जिसका (—ज्ञानरूपी बाणावलीका) महान् उदय उदार है (अर्थात् आस्रवको जोतनेके लिये जितना पुरुषार्थ चाहिये उतना वह पूरा करता है) और गम्भीर है, (अर्थात् लज्जस्थ जीव जिसका पार नहीं पा सकते) ।

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति—

मिच्छत्तं अविरमणं कषायजोगा य स्रणसण्णा दु ।
 बहुविधभेया जीवे तस्सेव अणणपरिणामा ॥१६४॥
 णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
 तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

मिध्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु ।
 बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥१६४॥
 ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवति ।
 तेषामपि भवति जीवश्च रागद्वेषादिभावकरः ॥१६५॥

भावार्थः—यहाँ आस्रवने नृत्यमंच पर प्रवेश किया है। नृत्यमें अनेक रसोंका वर्णन होता है इसलिये यहाँ रसवत् अलंकारके द्वारा ज्ञांत रसमें वीर रसको प्रधान करके वर्णन किया है कि 'ज्ञानरूपी धनुर्धर आस्रवको जीतता है।' समस्त विश्वको जीतकर मदोन्मत्त हुआ आस्रव संग्रामभूमिमें आकर खड़ा हो गया; किन्तु ज्ञान तो उससे भी अधिक बलवान योद्धा है इसलिये वह आस्रवको जीत लेता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्तमें कर्मोंका नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है। ज्ञानका ऐसा सामर्थ्य है। ११३।

अब आस्रवका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा १६४-१६५

गाथार्थः—[मिध्यात्वम्] मिध्यात्व, [अविरमणं] अविरमण, [कषाययोगौ च] कषाय और योग—यह आस्रव [संज्ञासंज्ञाः तु] संज्ञ (चेतनके विकार) भी हैं और असंज्ञ (पुद्गलके विकार) भी हैं। [बहुविधभेदाः] विविध भेदवाले संज्ञ आस्रव—[जीवे] जो कि जीवमें उत्पन्न होते हैं वे—[तस्य एव] जीवके ही [अनन्यपरिणामाः] अनन्य परिणाम हैं। [ते तु] और असंज्ञ आस्रव [ज्ञानावरणाद्यस्य कर्मणः] ज्ञानावरणादि कर्मके [कारणं] कारण (निमित्त) [भवति] होते हैं [च] और [तेषाम् अपि] उनका भी (असंज्ञ आस्रवोंके भी कर्मबन्धका निमित्त होनेमें) [रागद्वेषादिभावकरः जीवः] रागद्वेषादि भाव करनेवाला जीव [भवति] कारण (निमित्त) होता है।

मिध्यात्व अविरत अरु कषायें, योग संज्ञ असंज्ञ हैं।
 ये विविध भेद जु जीवमें, जीवके अनन्य हि भाव हैं ॥१६४॥
 अरु वे हि ज्ञानावरणआदिक, कर्मके कारण बनें।
 उनका भि कारण जीव बने, जो रागद्वेषादिक करे ॥१६५॥

रागद्वेषमोहा आस्रवाः इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः, अजडत्वे सति चिदाभासाः । मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्किलास्रवाः । तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तं अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः । तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वात् रागद्वेषमोहा एवास्रवाः । ते चाज्ञानिन एव भवन्तीति अर्थादेवापद्यते ।

अथ ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति—

णत्थि दु आस्रवबंधो सम्मादिट्टिस्स आस्रवणिरोहो ।

संतै पुण्वणिवद्धे जाणदि सो ते अबंधन्तो ॥१६६॥

टीकाः—इस जीवमें राग, द्वेष और मोह—यह आस्रव अपने परिणामके कारणसे होते हैं इसलिये वे जड़ न होनेसे चिदाभास हैं (—अर्थात् जिसमें चैतन्यका आभास है ऐसे हैं, चिद्विकार हैं) ।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—यह पुद्गलपरिणाम, ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मके आस्रवणके निमित्त होनेसे, वास्तवमें आस्रव हैं; और उनके (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामोंके) कर्म—आस्रवणके निमित्तत्वके निमित्त रागद्वेषमोह हैं—जो कि अज्ञानमय आत्मपरिणाम हैं । इसलिये (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामोंके) आस्रवणके निमित्तत्वके निमित्तभूत होनेसे राग—द्वेष—मोह ही आस्रव हैं । और वे तो (—रागद्वेषमोह) अज्ञानीके ही होते हैं यह अर्थमेंसे ही स्पष्ट ज्ञात होता है । (यद्यपि गायामें यह स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहा है तथापि गायार्थके ही अर्थमेंसे यह आशय निकलता है ।)

भावार्थः—ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवणका (—आगमनका) निमित्तकारण तो मिथ्यात्वादि-कर्मके उदयरूप पुद्गल—परिणाम हैं, इसलिये वे वास्तवमें आस्रव हैं । और उनके कर्मास्रवणके निमित्तभूत होनेका निमित्त जीवके रागद्वेषमोहरूप (अज्ञानमय) परिणाम हैं इसलिये रागद्वेषमोह ही आस्रव हैं । उन रागद्वेषमोहको चिद्विकार भी कहा जाता है । वे रागद्वेषमोह जीवकी अज्ञान—अवस्थामें ही होते हैं । मिथ्यात्व सहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है । इसलिये मिथ्यादृष्टिके अर्थात् अज्ञानीके ही रागद्वेषमोहरूप आस्रव होते हैं ।

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानीके उन आस्रवोंका (भावास्रवोंका) अभाव हैः—

सद्दृष्टिको आस्रव नहीं, नहीं बन्ध, आस्रवरोध है ।

नहिं बाँधता जाने हि पूर्वनिबद्ध जो सत्ताविषै ॥१६६॥

नास्ति त्वास्रवबन्धः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः ।

संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यवधन् ॥१६६॥

यतो हि ज्ञानिनो ज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः परस्परविरोधिनोऽवश्यमेव निरुध्यन्ते, ततोऽज्ञानमयानां भावानां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रवनिरोधः । अतो ज्ञानी नास्रवनिमित्तानि पुद्गलकर्माणि बध्नाति, नित्यमेवाकर्तृकत्वान्नवानि न बध्न्न् सदवस्थानि पूर्ववद्धानि ज्ञानस्वभावत्वात्केवलमेव जानाति ।

गाथा १६६

गाथार्थः—[सम्यग्दृष्टेः तु] सम्यग्दृष्टिके [आस्रवबन्धः] आस्रव जिसका निमित्त है ऐसा बन्ध [नास्ति] नहीं है, [आस्रवनिरोधः] (क्योंकि) आस्रवका (भावास्रवका) निरोध है; [तानि] नवीन कर्मोंको [अबधन्] नहीं बाँधता हुआ [सः] वह, [संति] सत्तामें रहे हुए [पूर्वनिबद्धानि] पूर्ववद्ध कर्मोंको [जानाति] जानता ही है ।

टीकाः—वास्तवमें ज्ञानीके ज्ञानमय भावोंसे अज्ञानमय भाव अवश्य ही निरुद्ध—अभावरूप होते हैं क्योंकि परस्पर विरोधी भाव एकसाथ नहीं रह सकते; इसलिये अज्ञानमय भावरूप राग-द्वेष मोह जो कि आस्रवभूत (आस्रवस्वरूप) हैं उनका निरोध होनेसे, ज्ञानीके आस्रवका निरोध होता ही है । इसलिये ज्ञानी, आस्रव जिनका निमित्त है ऐसे (ज्ञानावरणादि) पुद्गलकर्माँको नहीं बाँधता,—सदा अकर्तृत्व होनेसे नवीन कर्मोंको न बाँधता हुआ सत्तामें रहे हुए पूर्ववद्ध कर्मोंको, स्वयं ज्ञानस्वभाववान् होनेसे, मात्र जानता ही है । (ज्ञानीका ज्ञान ही स्वभाव है, कर्तृत्न नहीं; यदि कर्तृत्व हो तो कर्मोंको बाँधे, ज्ञातृत्व होनेसे कर्म बन्ध नहीं करता ।)

भावार्थः—ज्ञानीके अज्ञानमय भाव नहीं होते, और अज्ञानमय भाव न होनेसे (अज्ञानमय) रागद्वेषमोह अर्थात् आस्रव नहीं होते और आस्रव न होनेसे नवीन बन्ध नहीं होता । इसप्रकार ज्ञानी सदा ही अकर्ता होनेसे नवीन कर्म नहीं बाँधता और जो पूर्ववद्ध कर्म सत्तामें विद्यमान हैं उनका मात्र ज्ञाता ही रहता है ।

अनिरतसम्यक्दृष्टिके भी अज्ञानमय रागद्वेषमोह नहीं होता । जो मिथ्यात्व सहित रागादि होता है वही अज्ञानके पक्षमें माना जाता है, सम्यक्त्व सहित रागादिक अज्ञानके पक्षमें नहीं है । सम्यक्दृष्टिके सदा ज्ञानमय परिणामन ही होता है । उसको चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे जो रागादि होता है उसका स्वामित्व उसके नहीं है; वह रागादिको रोग समान जानकर प्रवर्तता है और अपनी शक्तिके अनुसार उन्हें काटता जाता है । इसलिये ज्ञानीके जो रागादि होता है वह विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा ही है । वह आगामी सामान्य संसारका बन्ध नहीं करता, मात्र अल्प स्थिति—अनुभागवाला बन्ध करता है । ऐसे अल्प बन्धको यहाँ नहीं गिना है ।

अथ रागद्वेषमोहानामास्रवत्वं नियमयति—

भावो रागादिजुहो जीवेण कदो हु बंधगो भणितो ।

रागादिविप्रमुक्तो अबंधगो जाणमो एवरि ॥१६७॥

भावो रागादियुतो जीवेन कृतस्तु बंधको भणितः ।

रागादिविप्रमुक्तो अबंधको ज्ञायकः केवलम् ॥१६७॥

इह खलु रागद्वेषमोहसंपर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कांतोपलसंपर्कज इव कालायसस्रुचीं, कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति । तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कांतोपलविवेकज इव कालायसस्रुचीं, अकर्मकरणौत्सुक्यमात्मानं स्वभावेनैव स्थापयति । ततो रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वाद्बंधकः । तदसंकीर्णस्तु स्वभावोद्भासकत्वात्केवलं ज्ञायक एव, न मनागपि बंधकः ।

इसप्रकार ज्ञानीके आस्रव न होनेसे बन्ध नहीं होता ।

अब, रागद्वेषमोह ही आस्रव है ऐसा नियम करते हैं:—

आथा १६७

गार्थः—[जीवेन कृतः] जीवकृत [रागादियुतः] रागादियुक्त [भावः तु] भाव [बंधकः भणितः] बन्धक (नवीन कर्मोंका बन्ध करनेवाला) कहा गया है । [रागादिविप्रमुक्तः] रागादिसे रहित भाव [अबंधकः] बंधक नहीं है, [केवलम् ज्ञायकः] वह मात्र ज्ञायक ही है ।

टीका:—जैसे लोहचुम्बक-पाषाणके साथ संसर्गसे (लोहेकी सुईमें) उत्पन्न हुआ भाव लोहेकी सुईको (गति करनेके लिये) प्रेरित करता है उसीप्रकार रागद्वेषमोहके साथ मिश्रित होनेसे (आत्मामें) उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव ही आत्माको कर्म करनेके लिये प्रेरित करता है, और जैसे लोहचुम्बक-पाषाणके असंसर्गसे (सुईमें) उत्पन्न हुआ भाव लोहेकी सुईको (गति न करनेरूप) स्वभावमें ही स्थापित करता है उसीप्रकार रागद्वेषमोहके साथ मिश्रित नहीं होनेसे (आत्मामें) उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव, जिसे कर्म करनेकी उत्सुकता नहीं है (अर्थात् कर्म करनेका जिसका स्वभाव नहीं है) ऐसे आत्माको स्वभावमें ही स्थापित करता है; इसलिये रागादिके साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्वमें प्रेरित करता है अतः वह बन्धक है और रागादिके साथ अमिश्रित भाव स्वभावका प्रकाशक होनेसे मात्र ज्ञायक ही है, किंचित्मात्र भी बन्धक नहीं है ।

रागादियुत जो भाव जीवकृत उसहिकी बन्धक कहा ।

रागादिसे प्रविशुक्त ज्ञायक मात्र, बंधक नहीं रहा ॥१६७॥

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसंभवं दर्शयति—

पक्के फलमिह पडिण्ण जह ए फलं बज्झए पुणो विट्ठे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिण्ण पुणोदयमुवेई ॥१६८॥

पक्के फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृत्तैः ।

जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥१६८॥

यथा खलु पक्वं फलं वृंतात्सकृद्विश्लिष्टं सत् न पुनर्वृत्तसंबन्धमुपैति तथा कर्मोदयजो भावो जीवभावात्सकृद्विश्लिष्टः सन् न पुनर्जीवभावमुपैति । एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः संभवति ।

भावार्थः—रागादिके साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव ही बन्धका कर्ता है, और रागादिके साथ अमिश्रित ज्ञानमय भाव बन्धका कर्ता नहीं है,—यह नियम है ।

अब, रागादिके साथ अमिश्रित भावकी उत्पत्ति बतलाते हैं:—

गाथा १६८

गाथार्थः—[यथा] जैसे [पक्वे फले] पके हुए फलके [पतिते] गिरने पर [पुनः] फिरसे [फलं] वह फल [वृत्तैः] उस डंठलके साथ [न बध्यते] नहीं जुड़ता, उसीप्रकार [जीवस्य] जीवके [कर्मभावे] कर्मभाव [पतिते] खिर जानेपर वह [पुनः] फिरसे [उदयम् न उपैति] उत्पन्न नहीं होता (अर्थात् वह कर्मभाव जीवके साथ पुनः नहीं जुड़ता) ।

टीकाः—जैसे पका हुआ फल एक बार डंठल से गिर जाने पर फिर वह उसके साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता, इसीप्रकार कर्मोदयसे उत्पन्न होनेवाला भाव जीवभावसे एकबार अलग होने पर फिर जीवभावको प्राप्त नहीं होता । इसप्रकार रागादिके साथ न मिला हुआ ज्ञानमयभाव उत्पन्न होता है ।

भावार्थः—यदि ज्ञान एकबार (अप्रतिपाती भावसे) रागादिकसे भिन्न परिणमित हो तो वह पुनः कभी भी रागादिके साथ मिश्रित नहीं होता । इसप्रकार उत्पन्न हुआ, रागादिके साथ न मिला हुआ ज्ञानमय भाव सदा रहता है । फिर जीव अस्थिरतारूपसे रागादिमें युक्त होता है वह निश्चयदृष्टिसे युक्तता है ही नहीं और उसके जो अल्प बंध होता है वह भी निश्चयदृष्टिसे बंध है ही नहीं, क्योंकि अबद्धरूपसे परिणामन निरंतर वर्तता ही रहता है । तथा उसे मिथ्यात्वके साथ रहनेवाली प्रकृतियोंका

फल पक्व खिरता, वृत्त सह संबंध फिर पाता नहीं ।

त्यों कर्मभाव खिरा, पुनः जीवमें उदय पाता नहीं ॥१६८॥

* शालिनी *

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान्
एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥११४॥

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावं दर्शयति—

पृथ्वीपिण्डसमाणा पुण्ड्रिणिवद्वा तु पञ्चया तस्स ।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स ॥१६६॥
पृथ्वीपिण्डसमानाः पूर्वनिवद्वास्तु प्रत्ययास्तस्य ।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥१६९॥

बन्ध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसारका कारण नहीं हैं; मूलसे कटे हुए वृक्षके हरे पत्तोंके समान वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखनेयोग्य हैं ।

अब, 'ज्ञानमय भाव ही भावास्रवका अभाव है' इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[जीवस्य] जीवका [यः] जो [रागद्वेषमोहैः विना] रागद्वेषमोह रहित, [ज्ञाननिवृत्तः एव भावः] ज्ञानसे ही रचित भाव [स्यात्] है और [सर्वान् द्रव्यकर्मास्रव-ओघान् रुन्धन्] जो सर्व द्रव्यकर्मके आस्रव समूहको (—अर्थात् थोकबंध द्रव्यकर्मके प्रवाहको) रोकनेवाला है, [एषः सर्व-भावास्रवाणाम् अभावः] वह (ज्ञानमय) भाव सर्व भावास्रवके अभावस्वरूप है ।

भावार्थः—मिथ्यात्व रहित भाव ज्ञानमय है । वह ज्ञानमय भाव रागद्वेषमोह रहित है और द्रव्यकर्मके प्रवाहको रोकनेवाला है; इसलिये वह भाव ही भावास्रवके अभावस्वरूप है ।

संसारका कारण मिथ्यात्व ही है; इसलिये मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिका अभाव होनेपर, सर्व भावास्रवोंका अभाव हो जाता है यह यहाँ कहा गया है । ११४ ।

अब, यह बतलाते हैं कि ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है—

गाथा १६९

गाथार्थः—[तस्य ज्ञानिनः] उस ज्ञानीके [पूर्वनिवद्वाः तु] पूर्वबद्ध [सर्वे अपि] समस्त [प्रत्ययाः] प्रत्यय [पृथ्वीपिण्डसमानाः] मिट्टीके ढेलेके समान हैं [तु] और [ते] वे [कर्मशरीरेण] (मात्र) कर्मण, शरीरके साथ [बद्धाः] बंधे हुए हैं ।

जो सर्व पूर्वनिवद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानिके ।

वे पृथ्वीपिण्ड समान हैं, कर्मणशरीर निवद्ध हैं ॥१६९॥

ये खलु पूर्वमज्ञानेन वद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्रवभूताः प्रत्ययाः, ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीर्षिडसमानाः । ते तु सर्वेऽपि स्वभावत एव कार्माणशरीरेणैव संबद्धा, न तु जीवेन । अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्रवाभावो ज्ञानिनः ।

* उपजाति *

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो

द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।

ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो

निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

टीका:—जो पहले अज्ञानसे बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, वे अन्यद्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन पुद्गलपरिणामवाले हैं इसलिये ज्ञानीके लिये मिट्टीके ढेलेके समान हैं (—जैसे मिट्टी आदि पुद्गलस्कन्ध हैं वैसे ही यह प्रत्यय हैं); वे तो समस्त ही, स्वभावसे ही मात्र कार्मण शरीरके साथ बँधे हुए हैं—सम्बन्धयुक्त हैं, जीवके साथ नहीं; इसलिये ज्ञानीके स्वभावसे ही द्रव्यास्रवका अभाव सिद्ध है ।

भावार्थ:—ज्ञानीके जो पहले अज्ञानदशामें बँधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं वे तो मिट्टीके ढेलेकी भाँति पुद्गलमय हैं इसलिये वे स्वभावसे ही अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप जीवसे भिन्न हैं । उनका बन्ध अथवा संबन्ध पुद्गलमय कार्मणशरीरके साथ ही है, चिन्मय जीवके साथ नहीं । इसलिये ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव तो स्वभावसे ही है । (और ज्ञानीके भावास्रवका अभाव होनेसे, द्रव्यास्रव नवीन कर्मोंके आस्रवणके कारण नहीं होते इसलिये इस दृष्टिसे भी ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है ।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[भावास्रव-अभावम् प्रपन्नः] भावास्रवोंके अभावको प्राप्त और [द्रव्यास्रवेभ्यः स्वतः एव भिन्नः] द्रव्यास्रवोंसे तो स्वभावसे ही भिन्न [अयं ज्ञानी] ज्ञानी—[सदा ज्ञानमय-एक-भावः] जो कि सदा एक ज्ञानमय भाववाला है—[निरास्रवः] निरास्रव ही है, [एकः ज्ञायकः एव] मात्र एक ज्ञायक ही है ।

भावार्थ:—ज्ञानीके रागद्वेषमोहस्वरूप भावास्रवका अभाव हुआ है और वह द्रव्यास्रवसे तो सदा ही स्वयमेव भिन्न ही है क्योंकि द्रव्यास्रव पुद्गलपरिणामस्वरूप है और ज्ञानी चैतन्यस्वरूप है । इसप्रकार ज्ञानीके भावास्रव तथा द्रव्यास्रवका अभाव होनेसे वह निरास्रव ही है । ११५ ।

कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्—

चतुर्विह अण्येयभेदं बंधंते एणदंसणगुणेहिं ।

समए समए जम्हा तेण अबंधो ति जाणी दु ॥१७०॥

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नंति ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम् ।

समये समये यस्मात् तेनाबंध इति जानी तु ॥१७०॥

ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव । यत्तु तस्यापि द्रव्यप्रत्ययाः
प्रतिसमयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म बध्नंति, तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतुः ।

कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति चेत्—

जम्हा दु जहणणादो जाणगुणादो पुणो वि परिणमदि ।

अणणत्तं एणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानी निरास्रव कैसे है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा १७०

गाथार्थः—[यस्मात्] क्योंकि [चतुर्विधाः] चार प्रकारके द्रव्यास्रव [ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम्]
ज्ञानदर्शनगुणोंके द्वारा [समये समये] समय समय पर [अनेकभेदं] अनेक प्रकारका कर्म [बध्नंति]
बाँधते हैं [तेन] इसलिये [जानो तु] जानी तो [अबंधः इति] अबन्ध है ।

टीका:—पहले, ज्ञानी तो आस्रवभावकी भावनाके अभिप्रायके अभावके कारण निरास्रव ही है,
परन्तु जो उसे भी द्रव्यप्रत्यय प्रति समय अनेक प्रकारका पुद्गलकर्म बाँधते हैं, वहाँ ज्ञानगुणका
परिणामन ही कारण है ।

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानगुणका परिणामन बंधका कारण कैसे है ? उसके उत्तरकी गाथा
कहते हैं:—

चतुर्विधास्रव समय समय जु, ज्ञानदर्शन गुणहिसे ।

बहु भेद बाँधे कर्म, इससे ज्ञानि बंधक नाहिं है ॥१७०॥

जो ज्ञानगुणकी जघनतामें, वर्तता गुण ज्ञानका ।

फिर फिर प्रणमता अन्यरूप जु, उसहिसे बंधक कहा ॥१७१॥

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते ।

अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः ॥१७१॥

ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः तावत् तस्यातर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्य-
तयास्ति परिणामः । स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव
स्यात् ।

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्—

दंसण्णाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।

णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मण विविहेण ॥१७२॥

गाथा १७१

गाथार्थः—[यस्मात् तु] क्योंकि [ज्ञानगुणः] ज्ञानगुण, [जघन्यात् ज्ञानगुणात्]
जघन्य ज्ञानगुणके कारण [पुनरपि] फिरसे भी [अन्यत्वं] अन्यरूपसे [परिणमते] परिणमन
करता है, [तेन तु] इसलिये [सः] वह (ज्ञानगुण) [बंधकः] कर्मोंका बन्धक [भणितः]
कहा गया है ।

टीकाः—जबतक ज्ञानगुणका जघन्य भाव है (-क्षायोपशमिक भाव है) तबतक वह (ज्ञानगुण)
अन्तर्मुहूर्तमें विपरिणामको प्राप्त होता है इसलिये पुनः पुनः उसका अन्यरूप परिणमन होता है । वह
(ज्ञानगुणका जघन्य भावसे परिणमन), यथाख्यातचारित्र-अवस्थाके नीचे अवश्यम्भावी रागका सद्भाव
होनेसे, बन्धका कारण ही है ।

भावार्थः—क्षायोपशमिकज्ञान एक ज्ञेय पर अंतर्मुहूर्त ही ठहरता है, फिर वह अवश्य ही अन्य
ज्ञेयको अवलम्बता है; स्वरूपमें भी वह अंतर्मुहूर्त ही टिक सकता है, फिर वह विपरिणामको प्राप्त
होता है । इसलिये ऐसा अनुमान भी हो सकता है कि सम्यक्दृष्टि आत्मा सविकल्प दशामें हो या
निर्विकल्प अनुभवदशामें हो—उसे यथाख्यातचारित्र-अवस्था होनेसे पूर्व अवश्य ही रागभावका सद्भाव
होता है; और राग होनेसे बंध भी होता है । इसलिये ज्ञानगुणके जघन्य भावको बन्धका हेतु कहा
गया है ।

अब पुनः प्रश्न होता है कि—यदि ऐसा है (अर्थात् ज्ञानगुणका जघन्य भाव बन्धका कारण है)
तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैंः—

चारित्र, दर्शन, ज्ञान तीन, जघन्य भाव जु परिणमे ।

उससे हि ज्ञानी विविध पुद्गलकर्मसे बंधात है ॥१७२॥

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन ।

ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥१७२॥

यो हि ज्ञानी स 'बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किंतु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं परयति जानात्यनुचरति तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वककलंकविपाक-सद्भावात् पुद्गलकर्मबंधः स्यात् । अतस्तावज्ज्ञानं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो भावस्तावान् दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च सम्यग्भवति । ततः साक्षात् ज्ञानीभूतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात् ।

गाथा १७२

गाथार्थः—[यत्] क्योंकि [दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [जघन्यभावेन] जघन्य भावसे [परिणमते] परिणमन करते हैं [तेन तु] इसलिये [ज्ञानी] ज्ञानी [विविधेन] अनेक प्रकारके [पुद्गलकर्मणा] पुद्गलकर्मसे [बध्यते] बंधता है ।

टीकाः—जो वास्तवमें ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक (इच्छापूर्वक) रागद्वेषमोहरूपी आस्रवभावोंका अभाव है, इसलिये वह निरास्रव ही है । परन्तु वहाँ इतना विशेष है कि—वह ज्ञानी जबतक ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट भावसे देखने, जानने और आचरण करनेमें अशक्त वर्तता हुआ जघन्य भावसे ही ज्ञानको देखता, जानता और आचरण करता है तबतक उसे भी, जघन्यभावकी अन्यथा अनुपपत्तिके द्वारा (जघन्य भाव अन्य प्रकारसे नहीं बनता इसलिये) जिसका अनुमान हो सकता है ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकके विपाकका सद्भाव होनेसे, पुद्गलकर्मका बन्ध होता है । इसलिये तबतक ज्ञानको देखना, जानना और आचरण करना चाहिये जबतक ज्ञानको जितना पूर्ण भाव है उतना देखने, जानने और आचरणमें भली भाँति आजाये । तबसे लेकर साक्षात् ज्ञानी होता हुआ (वह आत्मा) सर्वथा निरास्रव ही होता है ।

भावार्थः—ज्ञानीके बुद्धिपूर्वक (अज्ञानमय) रागद्वेषमोहका अभाव होनेसे वह निरास्रव ही है । परन्तु जबतक क्षायोपशमिक ज्ञान है तबतक वह ज्ञानी ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट भावसे न तो देख सकता है, न जान सकता है और न आचरण कर सकता है; किन्तु जघन्य भावसे देख सकता है, जान सकता है और आचरण कर सकता है; इससे यह ज्ञात होता है कि उस ज्ञानीके अभी अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकका

१. बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालंब्य प्रवर्तते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवति । अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवलमोहोदयनिमित्ताश्चे तु स्वानुभवगोचर-त्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः ।

* शार्दूलविक्रीडित *

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिदन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णां भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

विपाक (चारित्रमोहसम्बन्धी रागद्वेष) विद्यमान है और इससे उसके बंध भी होता है। इसलिये उसे यह उपदेश है कि—जबतक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक निरंतर ज्ञानका ही ध्यान करना चाहिये, ज्ञानको ही देखना चाहिये, ज्ञानको ही जानना चाहिये और ज्ञानका ही आचरण करना चाहिये। इसी मार्गसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रका परिणामन बढ़ता जाता है और ऐसा करते करते केवलज्ञान प्रगट होता है। जत्र केवलज्ञान प्रगटता है तबसे आत्मा साक्षात् ज्ञानी है और सर्व प्रकारसे निरास्रव है।

जबतक क्षायोपशमिक ज्ञान है तबतक अबुद्धिपूर्वक (चारित्रमोहका) राग होने पर भी, बुद्धिपूर्वक रागके अभावकी अपेक्षासे ज्ञानीके निरास्रवत्व कहा है और अबुद्धिपूर्वक रागका अभाव होनेपर तथा केवलज्ञान प्रगट होनेपर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है। यह, विवक्षाकी विचित्रता है। अपेक्षासे समझनेपर यह सर्व कथन यथार्थ है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

हलोकार्थः—[आत्मा यदा ज्ञानी स्यात् तदा] आत्मा जब ज्ञानी होता है तब, [स्वयं] स्वयं [निजबुद्धिपूर्वम् समग्रं रागं] अपने समस्त बुद्धिपूर्वक रागको [अनिशं] निरन्तर [संन्यस्यन्] छोड़ता हुआ अर्थात् न करता हुआ, [अबुद्धिपूर्वम्] और जो अबुद्धिपूर्वक राग है [तं अपि] उसे भी [जेतुं] जीतनेके लिये [वारम्बारम्] वारम्बार [स्वशक्तिं स्पृशन्] (ज्ञानानुभवनरूप) स्वशक्तिको स्पर्श करता हुआ और (इसप्रकार) [सकलां परवृत्तिम् एव उच्छिदन्] समस्त परवृत्तिको-परपरिणतिको-उखाड़ता हुआ [ज्ञानस्य पूर्णां भवन्] ज्ञानके पूर्णभावरूप होता हुआ, [हि] वास्तवमें [नित्यनिरास्रवः भवति] सदा निरास्रव है।

भावार्थः—ज्ञानीने समस्त रागको हेय जाना है। वह रागको मिटानेके लिये उद्यम किया करता है; उसके आस्रवभावकी भावनाका अभिप्राय नहीं है; इसलिये वह सदा निरास्रव ही कहलाता है।

परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकारकी है—अश्रद्धारूप और अस्थिरतारूप। ज्ञानीने अश्रद्धारूप परवृत्तिको छोड़ दिया है और वह अस्थिरतारूप परवृत्तिको जीतनेके लिये निज शक्तिको वारम्बार स्पर्श करता है अर्थात् परिणतिको स्वरूपके प्रति वारम्बार उन्मुख किया करता है। इसप्रकार सकल परवृत्तिको उखाड़ करके केवलज्ञान प्रगट करता है।

* अनुष्टुम् *

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ ।

कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यसेवेति चेन्मतिः ॥११७॥

सर्वे पुष्पणिबद्धा दु पच्यया संति सम्मदिद्विस्स ।

उवञ्चोग्गपाञ्चोगं बंधंते कम्मभावेण ॥१७३॥

हौदूण एरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।

सत्तद्विहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥१७४॥

‘बुद्धिपूर्वक’ और ‘अबुद्धिपूर्वक’ का अर्थ इसप्रकार है:—जो रागादिपरिणाम इच्छा सहित होते हैं सो बुद्धिपूर्वक हैं और जो इच्छा रहित—परनिमित्तकी बलवत्तासे होते हैं सो अबुद्धिपूर्वक हैं। ज्ञानीके जो रागादिपरिणाम होते हैं वे सभी अबुद्धिपूर्वक ही हैं; सविकल्प दशमैः होनेवाले रागादि परिणाम ज्ञानीको ज्ञात तो हैं तथापि वे अबुद्धिपूर्वक हैं क्योंकि वे बिना ही इच्छाके होते हैं।

(पण्डित राजमल्लजीने इस कलशकी टीका करते हुए ‘बुद्धिपूर्वक’ और ‘अबुद्धिपूर्वक’ का अर्थ इसप्रकार किया है:—जो रागादिपरिणाम मनके द्वारा, बाह्य विषयोंका आलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं, और जो प्रवर्तते हुए जीवको निजको ज्ञात होते हैं तथा दूसरोंको भी अनुमानसे ज्ञात होते हैं वे परिणाम बुद्धिपूर्वक हैं; और जो रागादि परिणाम इन्द्रिय-मनके व्यापारके अतिरिक्त मात्र मोहोदयके निमित्तसे होते हैं तथा जीवको ज्ञात नहीं होते वे अबुद्धिपूर्वक हैं। इन अबुद्धिपूर्वक परिणामोंको प्रत्यक्ष ज्ञानी जानता है और उनके अविनाभावी चिह्नोंसे वे अनुमानसे भी ज्ञात होते हैं।) । ११६ ।

अव शिष्यकी आशंकाका श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—‘[सर्वस्याम् एव द्रव्यप्रत्ययसंततौ जीवन्त्यां] ज्ञानीके समस्त द्रव्यास्रवकी संतति विद्यमान होनेपर भी [कुतः] यह क्यों कहा है कि [ज्ञानी] ज्ञानी [नित्यम् एव] सदा ही [निरास्रवः] निरास्रव है’ ?—[इति चेत् मतिः] यदि तेरी यह मति (आशंका) है तो अव उसका उत्तर कहा जाता है । ११७ ।

अब, पूर्वोक्त आशंकाके समाधानार्थ गाथा कहते हैं:—

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते सद्दृष्टिके ।

उपयोगके प्रायोग्य बंधन, कर्मभावोंसे करे ॥१७३॥

अनभोग्य रह उपभोग्य जिस विध होय उस विध बाँधते ।

ज्ञानावरण इत्यादि कर्म जु सप्त-अष्ट प्रकारके ॥१७४॥

संता दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स ।
 बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१७५॥
 एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो ।
 आसन्नभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः ।
 उपयोगप्रायोग्यं वचन्ति कर्मभावेन ॥१७३॥
 भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा वध्नाति यथा भवंत्युपभोग्यानि ।
 सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ॥१७४॥
 संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य ।
 वध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥१७५॥
 एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भणितः ।
 आसन्नभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ॥१७६॥

गाथा १७३-१७६

गाथार्थः—[सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टिके [सर्वे] समस्त [पूर्वनिबद्धाः तु] पूर्वबद्ध [प्रत्ययाः] प्रत्यय (द्रव्यासन्नव) [संति] सत्तारूपमें विद्यमान हैं वे [उपयोगप्रायोग्यं] उपयोगके प्रयोगानुसार, [कर्मभावेन] कर्मभावके द्वारा (-रागादिके द्वारा) [वचन्ति] नवीन बंध करते हैं। वे प्रत्यय, [निरुपभोग्यानि] निरुपभोग्य [भूत्वा] होकर फिर [यथा] जैसे [उपभोग्यानि] उपभोग्य [भवंति] होते हैं [तथा] उसीप्रकार, [ज्ञानावरणादिभावैः] ज्ञानावरणादि भावसे [सप्ताष्टविधानि] सात-आठ प्रकारसे होनेवाले कर्मोंको [वध्नाति] बांधते हैं [संति तु] सत्ता-अवस्थामें वे [निरुपभोग्यानि] निरुपभोग्य हैं अर्थात् भोगनेयोग्य नहीं हैं—[यथा] जैसे [इह] इस जगतमें [बाला स्त्री] बाल स्त्री [पुरुषस्य] पुरुषके लिये निरुपभोग्य है। [यथा] जैसे [तरुणी स्त्री]

सत्ता विषै वे निरुपभोग्य हि, बालिका ज्यों पुरुषको ।
 उपभोग्य बनते वे हि बाँधे, यौवना ज्यों पुरुषको ॥१७५॥
 इस हेतुसे सम्यक्त्वसंयुत, जीव अनबंधक कहे ।
 आसन्नभावअभावमें प्रत्यय नहीं बंधक कहे ॥१७६॥

यतः सदवस्थायां तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाका वस्थायां प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वात् उपभोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्मद्रव्यप्रत्ययाः संतोऽपि कर्मोदयकार्यजीवभावसद्भावादेव बध्नन्ति, ततो ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्ययाः पूर्वबद्धाः संति, संतु; तथापि स तु निरास्रव एव, कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्यप्रत्यया-
नामबंधहेतुत्वात् ।

तरुण स्त्रीयुवती [नरस्य] पुरुषको [बध्नन्ति] बाँध लेती है, उसीप्रकार [तानि] वे [उपभोग्यानि] उपभोग्य अर्थात् भोगने योग्य होनेपर बन्धन करते हैं । [एतेन तु कारखेन] इस कारणसे [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टिको [अबंधकः] अबन्धक [भणितः] कहा है, क्योंकि [आस्रवभावाभावे] आस्रवभावके अभावमें [प्रत्ययाः] प्रत्ययोंको [बंधकाः] (कर्मोंका) बन्धक [न भणिताः] नहीं कहा है ।

टीका:—जैसे पहले तो तत्कालकी परिणीत बाल स्त्री अनुपभोग्य है किन्तु यौवनको प्राप्त वह पहलेकी परिणीत स्त्री यौवनावस्थामें उपभोग्य होती है और जिसप्रकार उपभोग्य हो तदनुसार वह पुरुषके रागभावके कारण ही पुरुषको बंधन करती है—वशमें करती है, इसीप्रकार जो पहले तो सत्तावस्थामें अनुपभोग्य हैं किन्तु विपाक-अवस्थामें उपभोग्योग्य होते हैं ऐसे पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय होनेपर भी वे जिसप्रकार उपभोग्य हों तदनुसार (अर्थात् उपयोगके प्रयोगानुसार), कर्मोदयके कार्यरूप जीवभावके सद्भावके कारण ही, बन्धन करते हैं । इसलिये ज्ञानीके यदि पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं, तो भले रहें; तथापि वह (ज्ञानी) तो निरास्रव ही है, क्योंकि कर्मोदयका कार्य जो रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव है उसके अभावमें द्रव्यप्रत्यय बंधके कारण नहीं हैं । (जैसे यदि पुरुषको रागभाव हो तो ही यौवनावस्थाको प्राप्त स्त्री उसे वश कर सकती है इसीप्रकार जीवके आस्रवभाव हो तब ही उदयप्राप्त द्रव्यप्रत्यय नवीन बंध कर सकते हैं ।)

भावार्थ:—द्रव्यास्रवोंके उदय और जीवके रागद्वेषमोहभावका निमित्त-नैमित्तिकभाव है । द्रव्यास्रवोंके उदयमें युक्त हुवे विना जीवके भावास्रव नहीं हो सकता और इसलिये बंध भी नहीं हो सकता । द्रव्यास्रवों का उदय होने पर जीव जैसे उसमें युक्त हो अर्थात् जिस प्रकार उसे भावास्रव हो उसीप्रकार द्रव्यास्रव नवीन बन्धके कारण होते हैं । यदि जीव भावास्रव न करे तो उसके नवीन बंध नहीं होता ।

सम्यक्दृष्टिके मिथ्यात्वका और अनन्तानुबन्धी कषायका उदय न होनेसे उसे उस प्रकारके भावास्रव तो होते ही नहीं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी बंध भी नहीं होता । (क्षायिक सम्यक्दृष्टिके सत्तामैंसे मिथ्यात्वका क्षय होते समय ही अनन्तानुबन्धी कषायका तथा तत्सम्बन्धी अविरति और योगभावका भी क्षय होगया होता है इसलिये उसे उस प्रकारका बन्ध नहीं होता;

* मालिनी *

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः

समयमनुसरंती यद्यपि द्रव्यरूपाः ।

तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-

द्वतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबंधः ॥११८॥

औपशमिक सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय मात्र उपशममें—सत्तामें—ही होनेसे सत्तामें रहा हुआ द्रव्य दयमें आये विना उसप्रकारके बन्धका कारण नहीं होता; और क्षायोपशमिक सम्यक्-दृष्टिको भी सम्यक्त्वमोहनीयके अतिरिक्त छह प्रकृतियाँ विपाकमें (उदयमें) नहीं आतीं इसलिये उसप्रकारका बन्ध नहीं होता ।)

अविरतसम्यक्दृष्टि इत्यादिके जो चारित्रमोहका उदय विद्यमान है उसमें जिसप्रकार जीव युक्त होता है उसीप्रकार उसे नवीन बंध होता है; इसलिये गुणस्थानोंके वर्णनमें अविरत-सम्यक्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें अमुक अमुक प्रकृतियोंका बन्ध कहा है। किन्तु यह बन्ध अल्प है इसलिये उसे सामान्य संसारकी अपेक्षासे बन्धमें नहीं गिना जाता। सम्यक्दृष्टि चारित्रमोहके उदयमें स्वामित्वभावसे युक्त नहीं होता, वह मात्र अस्थिरतारूपसे युक्त होता है; और अस्थिरतारूप युक्तता निश्चयदृष्टिमें युक्तता ही नहीं है। इसलिये सम्यक्दृष्टिके रागद्वेषमोहका अभाव कहा गया है। जबतक जीव कर्मका स्वामित्व रखकर कर्मोदयमें परिणमित होता है तबतक ही वह कर्मका कर्ता कहलाता है; उदयका ज्ञातादृष्टा होकर परके निमित्तसे मात्र अस्थिरतारूप परिणमित होता है तब कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता ही है। इस अपेक्षासे सम्यक्दृष्टि होनेके बाद चारित्रमोहके उदयरूप परिणमित होते हुए भी उसे ज्ञानी और अबन्धक कहा गया है। जबतक मिथ्यात्वका उदय है और उसमें युक्त होकर जीव रागद्वेषमोहभावसे परिणमित होता है तबतक ही उसे अज्ञानी और बन्धक कहा जाता है। इसप्रकार ज्ञानी-अज्ञानी और बंध-अबंधका यह भेद जानना। और शुद्ध स्वरूपमें लीन रहनेके अभ्यासद्वारा केवलज्ञान प्रगट होनेसे जब जीव साक्षात् सम्पूर्णज्ञानी होता है तब वह सर्वथा निरास्रव हो जाता है यह पहले कहा जा चुका है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[यद्यपि] यद्यपि [समयम् अनुसरन्तः] अपने अपने समयका अनुसरण करनेवाले (अपने अपने समयमें उदयमें आनेवाले) [पूर्वबद्धाः] पूर्वबद्ध (पहले अज्ञान-अवस्थामें बंधे हुये) [द्रव्यरूपाः प्रत्ययाः] द्रव्यरूप प्रत्यय [सत्तां] अपनी सत्ताको [न हि विजहति] नहीं छोड़ते (वे सत्तामें रहते हैं), [तदपि] तथापि [सकलरागद्वेषमोहव्युदासात्] सर्व रागद्वेषमोहका अभाव होनेसे [ज्ञानिनः] ज्ञानीके [कर्मबंधः] कर्मबंध [जातु] कदापि [अवतरति न] अवतार नहीं घरता— नहीं होते ।

* अनुष्टुम् *

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः ।

तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

रागो दोषो मोहो य आसन्नवा एत्थि सम्मदिट्टिस्स ।

तम्हा आसन्नभावेण विणा हेतू ण पच्चया हौति ॥१७७॥

हेतू चतुर्विद्यप्पो अट्टविद्यप्पस्स कारणं षण्णित्तं ।

तेसिं पि य रागादी तेसिपभावे ण बज्झन्ति ॥१७८॥

रागो द्वेषो मोहश्च आसन्नवा न संति सम्यग्दृष्टेः ।

तस्मादासन्नभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवन्ति ॥१७७॥

हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं षणितम् ।

तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यन्ते ॥१७८॥

भावार्थः—ज्ञानीके भी पहले अज्ञान-अवस्थामें बाँधे हुए द्रव्यासन्न सत्ता-अवस्थामें विद्यमान हैं और वे अपने उदयकालमें उदयमें आते रहते हैं । किन्तु वे द्रव्यासन्न ज्ञानीके कर्मबन्धके कारण नहीं होते, क्योंकि ज्ञानीके समस्त रागद्वेषमोहभावोंका अभाव है । यहाँ समस्त रागद्वेषमोहका अभाव बुद्धिपूर्वक रागद्वेषमोहकी अपेक्षासे समझना चाहिये । ११८ ।

अब इसी अर्थको दृढ़ करनेवाली आगामी दो गाथाओंका सूचक श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[यत्] क्योंकि [ज्ञानिनः रागद्वेषविमोहानां असम्भवः] जानियोंके रागद्वेषमोहका असम्भव है [ततः एव] इसलिये [अस्य बन्धः न] उनके बन्ध नहीं है; [हि] कारण कि [ते बन्धस्य कारणम्] वे (रागद्वेषमोह) ही बन्धका कारण है । ११९ ।

अब इस अर्थकी समर्थक दो गाथाएँ कहते हैं:—

गाथा १७७-१७८

गाथार्थः—[रागः] राग, [द्वेषः] द्वेष [च मोहः] और मोह—[आसन्नवाः] यह आसन्न [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टिके [न संति] नहीं होते [तस्मात्] इसलिये [आसन्नभावेन विना] आसन्नभावके विना [प्रत्ययाः] ब्रव्यप्रत्यय [हेतवः] कर्मबन्धके कारण [न भवन्ति] नहीं होते ।

नहिं रागद्वेष, न मोह—ये आश्रय नहीं सद्दृष्टिके ।

इससे हि आसन्नभाव विना, प्रत्यय नहीं हेतू बने ॥१७७॥

हेतू चतुर्विध कर्म अष्ट प्रकारका कारण कहा ।

उनका हि रागादिक कहा, रागादि नहिं वहाँ बन्ध ना ॥१७८॥

रागद्वेषमोहा न संति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः । तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गलकर्महेतुत्वं विभ्रति, द्रव्यप्रत्ययानां पुद्गलकर्महेतुत्वस्य रागादिहेतुत्वात् । ततो हेतुहेत्वभावे हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बंधः ।

[चतुर्विकल्पः हेतुः] (मिथ्यात्वादि) चार प्रकारके हेतु [अष्टविकल्पस्य] आठ प्रकारके कर्मोंको [कारण] कारण [भणितम्] कहे गये हैं, [च] और [तेषाम् अपि] उनके भी [रागादयः] (जीवके) रागादि भाव कारण हैं; [तेषाम् अभावे] इसलिये उनके अभावमें [न बध्यन्ते] कर्म नहीं बंधते । (इसलिये सम्यक्दृष्टिके बंध नहीं है ।)

टीका:—सम्यक्दृष्टिके रागद्वेषमोह नहीं हैं क्योंकि सम्यग्दृष्टित्वकी अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् रागद्वेषमोहके अभावके बिना सम्यक्दृष्टित्व नहीं हो सकता); रागद्वेषमोहके अभावमें उसे (सम्यक्दृष्टिको) द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्मका (अर्थात् पुद्गलकर्मके बंधनका) हेतुत्व धारण नहीं करते क्योंकि द्रव्यप्रत्ययोंके पुद्गलकर्मके हेतुत्वके हेतु रागादिक हैं; इसलिये हेतुके हेतुके अभावमें हेतुमानका (अर्थात् कारणका जो कारण है उसके अभावमें कार्यका) अभाव प्रसिद्ध है इसलिये ज्ञानीके बंध नहीं है ।

भावार्थ:—यहाँ, रागद्वेषमोहके अभावके बिना सम्यग्दृष्टित्व नहीं हो सकता ऐसा अविनाभावी नियम बताया है सो यहाँ मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिका अभाव समझना चाहिये । यहाँ मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिको ही रागादि माना गया है । सम्यक्दृष्टि होनेके बाद जो कुछ चारित्रमोहसम्बन्धी राग रह जाता है उसे यहाँ नहीं लिया है; वह गौण है । इसप्रकार सम्यग्दृष्टिके भावास्रवका अर्थात् रागद्वेषमोहका अभाव है । द्रव्यास्रवोंको बन्धका हेतु होनेमें हेतुभूत जो रागद्वेषमोह हैं उनका सम्यक्दृष्टिके अभाव होनेसे द्रव्यास्रव बन्धके हेतु नहीं होते, और द्रव्यास्रव बन्धके हेतु नहीं होते इसलिये सम्यक्दृष्टिके—ज्ञानीके—बन्ध नहीं होता ।

सम्यक्दृष्टिको ज्ञानी कहा जाता है वह योग्य ही है । 'ज्ञानी' शब्द मुख्यतया तीन अपेक्षाओंको लेकर प्रयुक्त होता है:—(१) प्रथम तो, जिसे ज्ञान हो वह ज्ञानी कहलाता है; इसप्रकार सामान्य ज्ञानकी अपेक्षासे सभी जीव ज्ञानी हैं । (२) यदि सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञानकी अपेक्षासे विचार किया जाये तो सम्यग्दृष्टिको सम्यग्ज्ञान-होता है इसलिये उस अपेक्षासे वह ज्ञानी है, और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है । (३) सम्पूर्ण ज्ञान और अपूर्ण ज्ञानकी अपेक्षासे विचार किया जाये तो केवली भगवान् ज्ञानी हैं और छद्मस्थ अज्ञानी हैं क्योंकि सिद्धान्तमें पाँच भावोंका कथन करने पर बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है । इसप्रकार अनेकान्तसे अपेक्षाके द्वारा विधिविधेय निर्वाधरूपसे सिद्ध होता है; सर्वथा एकान्तसे कुछ भी सिद्ध नहीं होता ।

अब, ज्ञानीको बन्ध नहीं होता यह शुद्धतयका साहाय्य है इसलिये शुद्धतयकी महिमा दर्शक काव्य कहते हैं:—

* वसन्ततिलका *

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
 मैकाग्रयमेव कलयन्ति सदैव ये ते ।
 रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः
 पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥१२०॥

* वसन्ततिलका *

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
 रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः ।
 ते कर्मबन्धमिह विभ्रति पूर्ववद्ध-
 द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥१२१॥

श्लोकार्थः—[उद्धतबोधचिह्नम् शुद्धनयम् अध्यास्य] उद्धत ज्ञान (-जो कि किसीके दबाये नहीं दब सकता ऐसा उन्नत ज्ञान) जिसका लक्षण है ऐसे शुद्धनयमें रहकर अर्थात् शुद्धनयका आश्रय लेकर [ये] जो [सदा एव] सदा ही [एकाग्रयम् एव] एकाग्रताका [कलयन्ति] अभ्यास करते हैं [ते] वे, [सततं] निरन्तर [रागादिमुक्तमनसःभवन्तः] रागादिसे रहित चित्तवाले वर्तते हुए, [बन्धविधुरं समयस्य सारम्] बन्धरहित समयके सारको (अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको) [पश्यन्ति] देखते हैं—अनुभव करते हैं ।

भावार्थः—यहाँ शुद्धनयके द्वारा एकाग्रताका अभ्यास करनेको कहा है । 'मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ'—ऐसा जो आत्मद्रव्यका परिणामन वह शुद्धनय । ऐसे परिणामनके कारण वृत्ति ज्ञानकी ओर उन्मुख होती रहे और स्थिरता बढ़ती जाये सो एकाग्रताका अभ्यास ।

शुद्धनय श्रुतज्ञानका अंश है और श्रुतज्ञान तो परोक्ष है इसलिये इस अपेक्षासे शुद्धनयके द्वारा होनेवाला शुद्धस्वरूपका अनुभव भी परोक्ष है । और वह अनुभव एकदेश शुद्ध है इस अपेक्षासे उसे व्यवहारसे प्रत्यक्ष भी कहा जाता है । साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होनेपर होता है । १२० ।

अब यह कहते हैं कि जो शुद्धनयसे च्युत होते हैं वे कर्म बाँधते हैं—

श्लोकार्थः—[इह] जगत्में [ये] जो [शुद्धनयतः प्रच्युत्य] शुद्धनयसे च्युत होकर [पुनः एव तु] पुनः [रागादियोगम्] रागादिके सम्बन्धको [उपयान्ति] प्राप्त होते हैं [ते] ऐसे जीव, [विमुक्तबोधाः] जिन्होंने ज्ञानको छोड़ा है ऐसे होते हुए, [पूर्ववद्धद्रव्यास्रवैः] पूर्ववद्ध द्रव्यास्रवके द्वारा [कर्मबन्धम्] कर्मबन्धको [विभ्रति] धारण करते हैं (-कर्मोंको बाँधते हैं)—[कृत-विचित्र-विकल्प-जालम्] जो कि कर्मबन्ध अनेक प्रकारके विकल्प जालको करता है (अर्थात् जो कर्मबन्ध अनेक प्रकारका है) ।

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अण्येयविहं ।
 मंसवसारुहिरादी भावे उदरगिसंजुत्तो ॥१७६॥
 तह णाणिसस दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
 बज्झंते कम्मं ते एयपरिहीणा दु ते जीवा ॥१८०॥

भावार्थः—शुद्धनयसे च्युत होना अर्थात् 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसे परिणमनसे छूटकर अशुद्धरूप परिणमित होना अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाना । ऐसा होनेपर, जीवके मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादिक उत्पन्न होते हैं, जिससे द्रव्यास्रव कर्मबन्धके कारण होते हैं और उससे अनेक प्रकारके कर्म बँधते हैं । इसप्रकार यहाँ शुद्धनयसे च्युत होनेका अर्थ शुद्धताकी प्रतीतिसे (सम्यक्त्वसे) च्युत होना समझना चाहिये । यहाँ उपयोगकी अपेक्षा गौण है, शुद्धनयसे च्युत होना अर्थात् शुद्ध उपयोगसे च्युत होना ऐसा अर्थ मुख्य नहीं है; क्योंकि शुद्धोपयोगरूप रहनेका समय अल्प रहता है इसलिये मात्र अल्प काल शुद्धोपयोगरूप रहकर और फिर उससे छूटकर ज्ञान अन्य ज्ञेयोंमें उपयुक्त हो तो भी मिथ्यात्वके बिना जो रागका अंश है वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है इसलिये ज्ञानीके मात्र अल्प बन्ध होता है और अल्प बन्ध संसारका कारण नहीं है । इसलिये यहाँ उपयोगकी अपेक्षा मुख्य नहीं है ।

अब यदि उपयोगकी अपेक्षा ली जाये तो इसप्रकार अर्थ घटित होता है:—यदि जीव शुद्धस्वरूपके निर्विकल्प अनुभवसे छूटे परन्तु सम्यक्त्वसे न छूटे तो उसे चारित्रमोहके रागसे कुछ बन्ध होता है । यद्यपि वह बन्ध अज्ञानके पक्षमें नहीं है तथापि वह बन्ध तो है ही । इसलिये उसे मिटानेके लिये सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको शुद्धनयसे न छूटनेका अर्थात् शुद्धोपयोगमें लीन रहनेका उपदेश है । केवलज्ञान होनेपर साक्षात् शुद्धनय होता है । १२१ ।

अब इसी अर्थको दृष्टान्तद्वारा दृढ़ करते हैं:—

जनसे ग्रहित आहार ज्यों, उदराग्निके संयोगसे ।
 बहुभेद मांस, वसा अरु, रुधिरादि भावों परिणमे ॥१७९॥
 त्यों ज्ञानीके भी पूर्वकालनिबद्ध जो प्रत्यय रहे ।
 बहुभेद बांधे कर्म, जो जीव शुद्धनयपरिच्युत बने ॥१८०॥

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधम् ।
 मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्तः ॥१७९॥
 तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं ये बद्धाः प्रत्यया बहुविकल्पम् ।
 बध्नन्ति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥१८०॥

यदा तु शुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात् पूर्वबद्धाः द्रव्य-
 प्रत्ययाः स्वस्य *हेतुत्वहेतुसद्भावे हेतुमद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञानावरणादिभावैः पुद्गलकर्म
 बन्धं परिणमयन्ति । न चैतदप्रसिद्धं, पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रसरुधिरमांसादिभावैः
 परिणामकारणस्य दर्शनात् ।

गाथा १७९-१८०

गाथार्थः—[यथा] जैसे [पुरुषेण] पुरुषके द्वारा [गृहीतः] ग्रहण किया हुआ, [आहारः]
 जो आहार है [सः] वह [उदराग्निसंयुक्तः] उदराग्निसे संयुक्त होता हुआ [अनेकविधम्] अनेक
 प्रकार [मांसवसारुधिरादीन्] मांस चर्बी, रुधिर आदि [भावान्] भावरूप [परिणमति] परिणामन
 करता है, [तथा तु] इसीप्रकार [ज्ञानिनः] ज्ञानियोंके [पूर्वं बद्धाः] पूर्वबद्ध [ये प्रत्ययाः] जो
 द्रव्यास्रव हैं [ते] वे [बहुविकल्पम्] अनेक प्रकारके [कर्म] कर्म [बध्नन्ति] बांधते हैं;—
 [ते जीवाः] ऐसे जीव [नयपरिहीनाः तु] शुद्धनयसे च्युत हैं । (ज्ञानी शुद्धनयसे च्युत होवे तो उसके
 कर्म बांधते हैं ।)

टीकाः—जब ज्ञानी शुद्धनयसे च्युत हो तब उसके रागादिभावोंका सद्भाव होता है इसलिये,
 पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय, अपने (-द्रव्यप्रत्ययोंके) कर्मबन्धके हेतुत्वके हेतुका सद्भाव होनेपर हेतुमान भावका
 (-कार्यभावका) अनिवार्यत्व होनेसे, ज्ञानावरणादि भावसे पुद्गलकर्मको बन्धरूप परिणमित करते हैं ।
 और यह अप्रसिद्ध भी नहीं है (अर्थात् इसका दृष्टान्त जगत्में प्रसिद्ध है—सर्वं ज्ञातं है); क्योंकि मनुष्यके
 द्वारा ग्रहण किये गये आहारको जठराग्नि रस, रुधिर, मांस इत्यादिरूपमें परिणमित करती है यह देखा
 जाता है ।

भावार्थः—जब ज्ञानी शुद्धनयसे च्युत हो तब उसके रागादिभावोंका सद्भाव होता है, रागादि-
 भावोंके निमित्तसे द्रव्यास्रव अवश्य कर्मबन्धके कारण होते हैं और इसलिये कर्मणवर्गणा बन्धरूप
 परिणमित होती है । टीकामें जो यह कहा है कि “द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्मको बन्धरूप परिणमित कराते
 हैं”, सो निमित्तकी अपेक्षासे कहा है । वहाँ यह समझना चाहिये कि “द्रव्यप्रत्ययोंके निमित्तभूत होनेपर
 कर्मणवर्गणा स्वयं बन्धरूप परिणमित होती है ।”

* अंतुष्टुम् *

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि ।

नास्ति बन्धस्तदत्यागात्त्यागाद्बन्ध एव हि ॥१२२॥

* शार्दूलविक्रीडित *

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिं

त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वकषः कर्मणाम् ।

तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः

पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शांतं महः ॥१२३॥

अब इस सर्व कथनका तात्पर्यरूप श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[अत्र] यहाँ [इदम् एव तात्पर्यं] यही तात्पर्य है कि [शुद्धनयः न हि हेयः] शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं है; [हि] क्योंकि [तत् अत्यागात् बन्धः नास्ति] उसके अत्यागसे (कर्मका) बन्ध नहीं होता और [तत् त्यागात् बन्धः एव] उसके त्यागसे बन्ध ही होता है । १२२ ।

‘शुद्धनय त्याग करनेयोग्य नहीं है’ इस अर्थको दृढ़ करनेवाला काव्य पुनः कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[धीर उदार महिम्नि अनादिनिधने बोधे धृतिं निबध्नन् शुद्धनयः] धीर (चलाचलता रहित) और उदार (सर्व पदार्थोंमें विस्तारयुक्त) जिसकी महिमा है ऐसे अनादिनिधन ज्ञानमें स्थिरताको बाँधता हुआ (अर्थात् ज्ञानमें परिणतिको स्थिर रखता हुआ) शुद्धनय—[कर्मणाम् सर्वकषः] जो कि कर्मोंका समूल नाश करनेवाला है—[कृतिभिः] पवित्र धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) पुरुषोंके द्वारा [जातु] कभी भी [न त्याज्यः] छोड़नेयोग्य नहीं है । [तत्रस्थाः] शुद्धनयमें स्थित वे पुरुष, [बहिः निर्यत् स्वमरीचि-चक्रम अचिरात् संहृत्य] बाहर निकलती हुई अपनी ज्ञानकिरणोंके समूहको (अर्थात् कर्मके निमित्तसे परोन्मुख जानेवाली ज्ञानकी विशेष व्यक्तियोंको) अल्पकालमें ही समेटकर, [पूर्णं ज्ञान-घन-घोषम् एकम् अचलं शांतं महः] पूर्ण, ज्ञानघनके पुञ्जरूप, एक, अचल, शांत तेजको—तेजःपुञ्जको [पश्यन्ति] देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं ।

भावार्थः—शुद्धनय, ज्ञानके समस्त विशेषोंको गौण करके तथा परनिमित्तसे होनेवाले समस्त भावोंको गौण करके, आत्माको शुद्ध, नित्य अभेदरूप, एक चैतन्यमात्र ग्रहण करता है और इसलिये परिणति शुद्धनयके विषयस्वरूप चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मामें एकाग्र—स्थिर—होती जाती है । इसप्रकार शुद्धनयका आश्रय लेनेवाले जीव बाहर निकलती हुई ज्ञानकी विशेष व्यक्तताओंको अल्पकालमें ही समेटकर, शुद्धनयमें (आत्माकी शुद्धताके अनुभवमें) निर्विकल्पतया स्थिर होनेपर अपने आत्माको सर्व कर्मोंसे भिन्न, केवलज्ञानस्वरूप, अमूर्तिक पुरुषाकार, धीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप देखते हैं और शुक्लध्यानमें प्रवृत्ति

* मन्दाक्रान्ता *

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
 नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः ।
 स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
 नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२४॥

इति आस्रवो निष्क्रांतः ।

करके अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्रगट करते हैं । शुद्धनयका ऐसा माहात्म्य है । इसलिये श्री गुरुओंका यह उपदेश है कि जबतक शुद्धनयके अवलम्बनसे केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक सम्यग्दृष्टि जीवोंको शुद्धनयका त्याग नहीं करना चाहिये । १२३ ।

अब, आस्रवोंका सर्वथा नाश करनेसे जो ज्ञान प्रगट हुआ उस ज्ञानकी महिमा का सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[नित्य-उद्योतं] जिसका उद्योत (प्रकाश) नित्य है ऐसी [किम् अपि परमं वस्तु] किसी परम वस्तुको [ग्रन्तः सम्पश्यतः] अन्तरङ्गमें देखनेवाले पुरुषको, [रागादीनां आस्रवाणां] रागादि आस्रवोंका [झगिति] शीघ्र ही [सर्वतः अपि] सर्व प्रकार [विगमात्] नाश होनेसे, [एतत् ज्ञानम्] यह ज्ञान [उन्मग्नम्] प्रगट हुआ—[स्फारस्फारैः] कि जो ज्ञान अत्यन्तात्यन्त (—अनन्तानन्त) विस्तारको प्राप्त [स्वरसविसरैः] निजरसके प्रसारसे [आ-लोक-ग्रन्तात्] लोकके अन्ततकके [सर्वभावान्] सर्व भावोंको [प्लावयत्] व्याप्त कर देता है अर्थात् सर्व पदार्थोंको जानता है, [अचलम्] वह ज्ञान प्रगट हुआ तभीसे सदाकाल अचल है अर्थात् प्रगट होनेके पश्चात् सदा ज्योंका त्यों ही बना रहता है—चलायमान नहीं होता, और [अतुलं] वह ज्ञान अतुल है अर्थात् उसके समान दूसरा कोई नहीं है ।

भावार्थः—जो पुरुष अंतरंगमें चैतन्यमात्र परम वस्तुको देखता है और शुद्धनयके अवलम्बन द्वारा उसमें एकाग्र होता जाता है उस पुरुषको तत्काल सर्व रागादिक आस्रवभावोंका सर्वथा अभाव होकर, सर्व अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थोंको जाननेवाला निश्चल, अतुल केवलज्ञान प्रगट होता है । वह ज्ञान सबसे महान् है, उसके समान दूसरा कोई नहीं है । १२४ ।

टीकाः—इसप्रकार आस्रव (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गया ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ आस्रवप्ररूपकः
चतुर्थोऽङ्कः ॥

भावार्थः—रंगभूमिमें आस्रवका स्वांग आया था उसे ज्ञानने उसके यथार्थ स्वरूपमें जान लिया इसलिये वह बाहर निकल गया ।

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव द्रव्यत आगम गाये,
राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव जताये;
जे मुनिराज करै इनि पाल सुरिद्धि समाज लये सिव थाये,
क़ाय नवाय नमूँ चित लाय कहुँ जय पाय लहुँ मन भाये ।

• चतुर्थ आस्रव अधिकार समाप्तः •





संवर अधिकार

अथ प्रविशति संवरः ।

* शार्दूलविक्रीडित *

आसंसारविरोधिसंवरजयैकांतावलिप्राप्तव-
न्यकारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

—:: दोहा ::—

मोहरांगरूप दूरि करि, समिति गुप्ति व्रत पारि ।

संवरमय आत्म कियो, नमूँ ताहि, मन धारि ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि “अब संवर प्रवेश करता है ।” आत्मवक्त्रे रंगभूमिमेंसे बाहर निकल जानेके बाद अब संवर रंगभूमिमें प्रवेश करता है ।

यहाँ पहले टीकाकार आचार्यदेव सर्व स्वांगको जाननेवाले सम्यक्ज्ञानकी सहिमादर्शक मंगला-चरण करते हैं:—

श्लोकार्थः—[आसंसार-विरोधि-संवर-जय-एकान्त-अवलिप्त-प्राप्तव-न्यकारात्] अनादि संसारसे लेकर अपने विरोधी संवरको जीतनेसे जो एकान्त-गर्वित (अत्यन्त अहंकारयुक्त) हुआ है ऐसे आत्मवक्त्रे तिरस्कार करनेसे [प्रतिलब्ध-नित्य-विजयं संवरम्] जिसने सदा विजय प्राप्त की है ऐसे संवरको [संपादयत्] उत्पन्न करती हुई, [पररूपतः व्यावृत्तं] पररूपसे भिन्न (अर्थात् परद्रव्य

तत्रादावेव सकलकर्मसंवरणस्य परमोपायभेदविज्ञानमभिनन्दति—

उवञ्चोगे उवञ्चोगो क्रोधादिसु अति क्रो वि उवञ्चोगो ।
 कोहो कोहे चैव हि उवञ्चोगे एतिथि खलु कोहो ॥१८१॥
 अट्टवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि एतिथि उवञ्चोगो ।
 उवञ्चोगम्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अतिथि ॥१८२॥
 एयं तु अविवरीदं णाणं जइयां दु होदि जीवस्स ।
 तइया ण किञ्चि कुब्बदि भावं उवञ्चोगसुद्धपा ॥१८३॥

और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे भिन्न), [सम्यक्-स्वरूपे नियमितं स्फुरत्] अपने सम्यक् स्वरूपमें निश्चलतासे प्रकाश करती हुई, [चिन्मयं] चिन्मय, [उज्ज्वलं] उज्ज्वल (-निराबाध, निर्मल, दैदीप्यमान) और [निज-रस-प्राग्भारम्] निजरसके (अपने चैतन्यरसके) भारसे युक्त— अतिशयतासे युक्त [ज्योतिः] ज्योति [उज्जृम्भते] प्रगट होती है, प्रसारित होती है ।

भावायः—अनादि कालसे जो आस्रवका विरोधी है ऐसे संवरको जीतकर आस्रव मदसे गर्हित हुआ है । उस आस्रवका तिरस्कार करके उसपर जिसने सदाके लिये विजय प्राप्त की है ऐसे संवरको उत्पन्न करता हुआ, समस्त पररूपसे भिन्न और अपने स्वरूपमें निश्चल यह चैतन्य प्रकाश निजरसकी अतिशयतापूर्वक निर्मलतासे उदयको प्राप्त हुआ है । १२५ ।

संवर अधिकारके प्रारम्भमें ही, श्री कुन्दकुन्दाचार्य सकल कर्मका संवर करनेका उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं:—

उपयोगमें उपयोग, क्रो उपयोग नहीं क्रोधादिमें ।
 है क्रोध क्रोधविषै हि निश्चय, क्रोध नहीं उपयोगमें ॥१८१॥
 उपयोग है नहीं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्ममें ।
 ये कर्म अरु नोकर्म भी कुब्ज हैं नहीं उपयोगमें ॥१८२॥
 ऐसा अधिपरीत ज्ञान नय ही प्रगटता है जीवके ।
 तव अन्य नहीं कुब्ज भाव वह उपयोगंशुद्धात्मा करे ॥१८३॥

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः ।
 क्रोधः क्रोधे चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ॥१८१॥
 अष्टविकल्पे कर्मणि नोऽकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः ।
 उपयोगे च कर्म नोऽकर्म चापि नो अस्ति ॥१८२॥
 एतत्त्वधिपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य ।
 तदा न किञ्चित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥१८३॥

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्त्वानुपपत्तेः, तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसंबंधोऽपि नास्त्येव, ततः स्वरूपप्रतिष्ठित्वलक्षण एवाधाराधेयसंबंधोऽवतिष्ठते । तेन ज्ञानं जानतायां स्वरूपे प्रतिष्ठितं, जानताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात् । क्रोधादीनि क्रुध्यतादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यतादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूतत्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः । न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोऽकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोऽकर्म वा संति, परस्परमत्यंतस्वरूपवैपरीत्येन परमाधीधाराधेयसंबंधशून्यत्वात् । न च यथा ज्ञानस्य जानता

वाक्य १८१-१८३

गाथायं—[उपयोगः] उपयोग [उपयोगे] उपयोगमें है, [क्रोधादिषु] क्रोधादिमें [कोऽपि उपयोगः] कोई भी उपयोग [नास्ति] नहीं है; [च] और [क्रोधः] क्रोध [क्रोधे एव हि] क्रोधमें ही है, [उपयोगे] उपयोगमें [खलु] निश्चयसे [क्रोधः] क्रोध [नास्ति] नहीं है । [अष्टविकल्पे कर्मणि] आठ प्रकारके कर्मोंमें [च अपि] और [नोऽकर्मणि] नोऽकर्ममें [उपयोगः] उपयोग [नास्ति] नहीं है [च] और [उपयोगे] उपयोगमें [कर्म] कर्म [च अपि] तथा [नोऽकर्म] नोऽकर्म [नो अस्ति] नहीं है,—[एतत् तु] ऐसा [अधिपरीतं] अधिपरीत [ज्ञानं] ज्ञान [यदा तु] जब [जीवस्य] जीवके [भवति] होता है, [तदा] तब [उपयोगशुद्धात्मा] वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा [किञ्चित् भावम्] उपयोगके अतिरिक्त अन्य किसी भी भावको [न करोति] नहीं करता ।

टीकाः—वास्तवमें एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तुके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती) क्योंकि दोनोंके प्रदेश भिन्न हैं इसलिये उनमें एक सत्ताकी अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनोंकी सत्ताएँ भिन्न भिन्न हैं); और इसप्रकार जब कि एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है तब उनमें परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं । इसलिये (प्रत्येक वस्तुका) अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेयसम्बन्ध है । इसलिये ज्ञान जो कि जाननक्रियारूप अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित है वह, जाननक्रियाका ज्ञानसे अभिन्नत्व होनेसे, ज्ञानमें ही है; क्रोधादिक जो कि क्रोधादिक्रियारूप

स्वरूपं तथा क्रुध्यतादिरपि क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यतादि स्वरूपं तथा जानतापि कथंचनापि व्यवस्थापयितुं शक्येत, जानतायाः क्रुध्यतादेश्च स्वभावभेदेनोद्भासमानत्वात् स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वम् । किं च यदा किलैकमेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यांतराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधि-
करणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकमाकाशमेवैकस्मिन्नाकाश एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । एवं यदैकमेव ज्ञानं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानम् ।

अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित है वह, क्रोधादिक्रियाका क्रोधादिसे अभिन्नत्व होनेके कारण, क्रोधादिकमें ही है । (ज्ञानका स्वरूप जाननक्रिया है, इसलिये ज्ञान आधेय है और जाननक्रिया आधार है । जाननक्रिया आधार होनेसे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही आधार है, क्योंकि जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न नहीं हैं । तात्पर्य यह है कि ज्ञान ज्ञानमें ही है । इसीप्रकार क्रोध क्रोधमें ही है ।) और क्रोधादिकमें, कर्ममें या नोकर्ममें ज्ञान नहीं है तथा ज्ञानमें क्रोधादिक, कर्म या नोकर्म नहीं हैं क्योंकि उनके परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होनेसे (अर्थात् ज्ञानका स्वरूप और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होनेसे) उनके परस्परभूत आधाराधेयसम्बन्ध नहीं है । और जैसे ज्ञानका स्वरूप जाननक्रिया है उसीप्रकार (ज्ञानका स्वरूप) क्रोधादिक्रिया भी हो, अथवा जैसे क्रोधादिका स्वरूप क्रोधादि क्रिया है उसीप्रकार (क्रोधादिकका स्वरूप) जाननक्रिया भी हो ऐसा किसी भी प्रकारसे स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधादिक्रिया भिन्न भिन्न स्वभावसे प्रकाशित होती हैं और इस भाँति स्वभावोंके भिन्न होनेसे वस्तुएँ भिन्न ही हैं । इसप्रकार ज्ञान तथा अज्ञानमें (क्रोधादिकमें) आधाराधेयत्व नहीं है ।

इसीको विशेष समझाते हैं:—जब एक ही आकाशको अपनी बुद्धिमें स्थापित करके (आकाशके) आधाराधेयभावका विचार किया जाता है तब आकाशको शेष अन्य द्रव्योंमें आरोपित करनेका निरोध ही होनेसे (अर्थात् अन्य द्रव्योंमें स्थापित करना अशक्य ही होनेसे) बुद्धिमें भिन्न आधारकी अपेक्षा प्रभवित (उद्भूत) नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं होनेसे, 'एक आकाश ही एक आकाशमें ही प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और इसलिये ऐसा समझ लेनेवालेके पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता । इसप्रकार जब एक ही ज्ञानको अपनी बुद्धिमें स्थापित करके (ज्ञानका) आधाराधेयभावका विचार किया जाये तब ज्ञानको शेष अन्य द्रव्योंमें आरोपित करनेका निरोध ही होनेसे बुद्धिमें भिन्न आधारकी अपेक्षा प्रभवित नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं होनेसे, 'एक ज्ञान ही एक ज्ञानमें ही

* प्रभवित नहीं होती = लागू नहीं होती; लग सकती नहीं; क्षमन हो जाती है; उद्भूत नहीं होती ।

* शार्दूलविकीर्णित *

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारुणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः ॥१२६॥

प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और ऐसा समझ लेनेवालेको पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता इसलिये ज्ञान ही ज्ञानमें ही है, और क्रोधादिक ही क्रोधादिकमें ही है।

इसप्रकार (ज्ञानका और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्मका) भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हुआ।

भावार्थः—उपयोग तो चैतन्यका परिणामन होनेसे ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म—सभी पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे जड़ हैं, उनमें और ज्ञानमें प्रदेशभेद होनेसे अत्यन्त भेद है। इसलिये उपयोगमें क्रोधादिक, कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिकमें, कर्ममें तथा नोकर्ममें उपयोग नहीं है। इसप्रकार उनमें पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है; प्रत्येक वस्तुका अपना अपना आधाराधेयत्व अपने अपनेमें ही है। इसलिये उपयोग उपयोगमें ही है और क्रोध, क्रोधमें ही है। इसप्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया। (भावकर्म इत्यादिका और उपयोगका भेद जानना सो भेदविज्ञान है।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः ज्ञानस्य रागस्य च] चिद्रूपताको धारण करनेवाला ज्ञान और जडरूपताको धारण करनेवाला राग—[द्वयोः] दोनोंका [अन्तः] अन्तरंगमें [दारुण-दारुणेन] दारुण विदारणके द्वारा (भेद करनेवाले उग्र अभ्यासके द्वारा), [परितः विभागं कृत्वा] सभी ओरसे विभाग करके (—सम्पूर्णतया दोनोंको अलग करके—), [इदं निर्मलम् भेदज्ञानम् उदेति] यह निर्मल भेदज्ञान उदयको प्राप्त हुआ है; [अधुना] इसलिये अब [एकम् शुद्ध-ज्ञानघन-घोषम् अध्यासिताः] एक शुद्धविज्ञानघनके पुञ्जमें स्थित और [द्वितीय-च्युताः] अन्यसे अर्थात् रागसे रहित; [सन्तः] हे सत्पुरुषो ! [मोदध्वम्] मुदित होओ।

भावार्थः—ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादिक पुद्गलविकार होनेसे जड़ हैं; किन्तु ऐसा भासित होता है कि मानों अज्ञानसे ज्ञान भी रागादिरूप हो गया हो, अर्थात् ज्ञान और रागादिक दोनों एकरूप-जडरूप-भासित होते हैं। जब अन्तरंगमें ज्ञान और रागादिका भेद करनेका तीव्र अभ्यास करनेसे भेदज्ञान प्रगट होता है तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञानका स्वभाव तो मात्र ज्ञाननेका ही है, ज्ञानमें जो रागादिकी कल्पता—आकुलतारूप संकल्पविकल्पभासित होते हैं वे सब पुद्गलविकार हैं, जड़ हैं। इसप्रकार ज्ञान और रागादिके भेदका स्वाद आता है अर्थात् अनुभव होता है। जब ऐसा भेदज्ञान होता है

एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयदविचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव-केवलं सन्न किंचनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति । ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलंभः प्रभवति शुद्धात्मोपलंभात् रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति ।

कथं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभ इति चेत्—

जह कणयमग्गतवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि ।
 तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥१८४॥
 एवं जाणदि णाणी अणणाणी मुणदि रायमेवादं ।
 अणणाणतमोच्छरणो आदसहावं अयाणंतो ॥१८५॥

तब आत्मा आनन्दित होता है क्योंकि उसे ज्ञात है कि “स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है, रागादिरूप कभी नहीं हुआ” इसलिये आचार्यदेवने कहा है कि “हे सत्पुरुषो ! अब मुदित होओ” । १२६ ।

टीका:—इसप्रकार जब यह भेदविज्ञान ज्ञानको अणुमात्र भी (रागादि-विकाररूप) विपरीतताको न प्राप्त कराता हुआ अविचलरूपसे रहता है, तब शुद्ध-उपयोगमयात्मकताके द्वारा ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ किंचित्तमात्र भी रागद्वेषमोहरूप भावको नहीं करता; इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) भेदविज्ञानसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि (अनुभव) होती है और शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे रागद्वेषमोहका (आस्रवभावका) अभाव जिसका लक्षण है ऐसा संवर होता है ।

अब यह प्रश्न होता है कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी उपलब्धि (अनुभव) कैसे होती है ? उसके उत्तरमें गाथा कहते हैं:—

ज्यो अग्नितप्त सुवर्णं भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे ।
 त्यों कर्मउदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानिपना तजे ॥१८४॥
 जीव ज्ञानि जाने ये हि, अरु अज्ञानि राग हि जीव गिनें ।
 आत्मस्वभाव अजान जो, अज्ञानतमआच्छादसे ॥१८५॥

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति ।
 तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वम् ॥१८४॥
 एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी मनुते रागमेवात्मानम् ।
 अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन् ॥१८५॥

यतो यस्यैव यथोदितभेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावात् ज्ञानी सन्नेवं जानाति ।—यथा प्रचंडपावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचंडकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात् । तदपोहे तन्मात्रस्य वस्तुन एवोच्छेदात् । न चास्ति वस्तुच्छेदः सतो नाशासंभवात् । एवं जानंश्च कर्माक्रांतोऽपि न रज्यते न द्वेषि न मुह्यति किं तु शुद्धमात्मानमेवोपलभते । यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नज्ञानतमसाच्छन्नतया चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्यमानो रज्यते द्वेषि मुह्यति च न जातु शुद्धमात्मानमुपलभते ।—ततो भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभः ।

गाथा १८४-१८५

गाथार्थः—[यथा] जैसे [कनकम्] सुवर्ण [अग्नितप्तम् अपि] अग्निसे तप्त होता हुआ भी [तं] अपने [कनकभावं] सुवर्णत्वको [न परित्यजति] नहीं छोड़ता [तथा] इसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी [कर्मोदयतप्तः तु] कर्मोंके उदयसे तप्त होता हुआ भी [ज्ञानित्वम्] ज्ञानित्वको [न जहाति] नहीं छोड़ता;—[एवं] ऐसा [ज्ञानी] ज्ञानी [जानाति] जानता है, [अज्ञानी] और अज्ञानी [अज्ञानतमोऽवच्छन्नः] अज्ञानांधकारसे आच्छादित होनेसे [आत्मस्वभावम्] आत्माके स्वभावको [अजानन्] न जानता हुआ [रागम् एव] रागको ही [आत्मानम्] आत्मा [मनुते] मानता है ।

टीकाः—जिसे ऊपर कहा गया ऐसा भेदविज्ञान है वही उसके (भेदविज्ञानके) सद्भावसे ज्ञानी होता हुआ इसप्रकार जानता है:—जैसे प्रचंड अग्निके द्वारा तप्त होता हुआ भी सुवर्ण सुवर्णत्वको नहीं छोड़ता उसीप्रकार प्रचंड कर्मोदयके द्वारा घिरा हुआ होनेपर भी (विघ्न किया जाय तो भी) ज्ञान ज्ञानत्वको नहीं छोड़ता, क्योंकि हजारों कारणोंके एकत्रित होने पर भी स्वभावको छोड़ना अशक्य है; उसे छोड़ देने पर स्वभावमात्र वस्तुका ही उच्छेद हो जायेगा, और वस्तुका उच्छेद तो होता नहीं है क्योंकि सत्का नाश होना असम्भव है । ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मोंसे आक्रांत (—घिरा हुआ) होता हुआ भी रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता, मोही नहीं होता, किन्तु वह शुद्ध आत्माका ही अनुभव करता है । और जिसे उपरोक्त भेदविज्ञान नहीं है वह उसके अभावसे अज्ञानी होता हुआ, अज्ञानांधकार द्वारा

कथं शुद्धात्मोपलंभादेव संवर इति चेत्—

शुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चैवप्पयं लहइ जीवो ।

जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

शुद्धं तु विजानन् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः ।

जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ॥१८६॥

आच्छादित होनेसे चैतन्य-चमत्कारमात्र आत्मस्वभावको न जानता हुआ, रागको ही आत्मा मानता हुआ, रागी होता है, द्वेषी होता है, मोही होता है, किन्तु शुद्ध आत्माका किंचित्मात्र भी अनुभव नहीं करता । इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी उपलब्धि (-अनुभव) होती है ।

भाषार्थः—जिसे भेदविज्ञान हुआ है वह आत्मा जानता है कि 'आत्मा कभी ज्ञान स्वभावसे छूटता नहीं है ।' ऐसा जानता हुआ वह, कर्मोदयके द्वारा तप्त होता हुआ भी, रागी, द्वेषी मोही नहीं होता, परन्तु निरन्तर शुद्ध आत्माका अनुभव करता है । जिसे भेदविज्ञान नहीं है वह आत्मा, आत्माके ज्ञान स्वभावको न जानता हुआ रागको ही आत्मा मानता है, इसलिये वह रागी, द्वेषी, मोही होता है, किन्तु कभी भी शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं करता । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है ।

अब यह प्रश्न होता है कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे ही संवर कैसे होता है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा १८६

गाथायं:— [शुद्धं तु] शुद्ध आत्माको [विजानन्] जानता हुआ—अनुभव करता हुआ [जीवः] जीव [शुद्धं च एव आत्मानं] शुद्ध आत्माको ही [लभते] प्राप्त करता है, [तु] और [असुद्धम्] असुद्ध [आत्मानं] आत्माको [जानन्] जानता हुआ—अनुभव करता हुआ जीव [असुद्धम् एव] असुद्ध आत्माको ही [लभते] प्राप्त करता है ।

जो शुद्ध जाने आत्मको, वो शुद्ध आत्म हि प्राप्त हो ।

अनशुद्ध जाने आत्मको, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो ॥१८६॥

यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते स ज्ञानमयाद् भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । यस्तु नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोह-संतानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । अतः शुद्धात्मोपलंभादेव संवरः ।

* मालिनी *

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

टीका:—जो सदा ही अच्छिन्नधारावाही ज्ञानसे शुद्ध आत्माका अनुभव किया करता है वह, 'ज्ञानमय भावमेंसे ज्ञानमय भाव ही होता है' इस न्यायके अनुसार आगामी कर्मोंके आस्रवणका निमित्त जो रागद्वेषमोहकी संतति (परम्परा) उसका निरोध होनेसे, शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है; और जो सदा ही अज्ञानसे अशुद्ध आत्माका अनुभव किया करता है वह, 'अज्ञानमय भावमेंसे अज्ञानमयभाव ही होता है' इस न्यायके अनुसार आगामी कर्मोंके आस्रवणका निमित्त जो रागद्वेषमोहकी संतति उसका निरोध न होनेसे, अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है । अतः शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे (अनुभवसे) ही संवर होता है ।

भावार्थ:—जो जीव अखण्डधारावाही ज्ञानसे आत्माको निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव रुकते हैं इसलिये वह शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है; और जो जीव अज्ञानसे आत्माका अशुद्ध अनुभव करता है उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव नहीं रुकते इसलिये वह अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है । अतः सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे (अनुभवसे) ही संवर होता है ।

अत्र इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थ:—[यदि] यदि [कथम् अपि] किसी भी प्रकारसे (तीव्र पुरुषार्थ करके) [धारावाहिना बोधनेन] धारावाही जानसे [शुद्धम् आत्मानम्] शुद्ध आत्माको [ध्रुवम् उपलभमानः आस्ते] निश्चलतया अनुभव किया करे [तत्] तो: [अयम् आत्मा] यह आत्मा, [उदयत्-प्राप्तम-प्राप्तमम् आत्मानम्] जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है (अर्थात् जिसकी आत्मस्थिरता बढ़ती जाती है) ऐसे आत्माको [पर-परिणतिरोधात्] परपरिणतिके निरोधसे [शुद्धम् एव अभ्युपैति] शुद्ध ही प्राप्त करता है ।

केन प्रकारेण संवरो भवतीति चेत्—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुरणपावजोएसु ।

दंसणणाणमिहि ठिदो इच्छाविरदो य अणणमिहि ॥१८७॥

जो सव्वसंगमुक्को भायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।

एवि कम्मं णोकम्मं वेदा चित्तेदि एयत्तं ॥१८८॥

अप्पाणं भायंतो दंसणणाणमओ अणणणमओ ।

लहह अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥१८९॥

भावार्थः—धारावाही ज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माका अनुभव करनेसे रागद्वेषमोहरूप परपरिणतिका (भावान्धवोंका) निरोध होता है और उससे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है ।

धारावाही ज्ञानका अर्थ है प्रवाहरूपज्ञान—भखंड रहनेवाला ज्ञान । वह दो प्रकारसे कहा जाता है:—एक तो, जिसमें बीचमें मिथ्याज्ञान न आये ऐसा सम्यक्ज्ञान धारावाही ज्ञान है । दूसरा, एक ही ज्ञेयमें उपयोगके उपयुक्त रहनेकी अपेक्षासे ज्ञानकी धारावाहिकता कही जाती है, अर्थात् जहाँतक उपयोग एक ज्ञेयमें उपयुक्त रहता है वहाँतक धारावाही ज्ञान कहलाता है; इसकी स्थिति (द्रव्यस्थके) अंतर्मुहूर्त ही है, तत्पश्चात् वह खंडित होती है । इन दो अर्थोंमेंसे जहाँ जैसी विवक्षा हो वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिये । अविरतसम्यक्दृष्टि इत्यादि नीचेके गुणस्थानवाले जीवोंके मुख्यतया पहली अपेक्षा लागू होगी, और श्रेणी चढ़नेवाले जीवके मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू होगी क्योंकि उसका उपयोग शुद्ध आत्मामें ही उपयुक्त है । १२७ ।

अब प्रश्न करता है कि संवर किस प्रकारसे होता है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

शुभ अशुभसे जो रोककर निज आत्मको आत्मा हि से ।

दर्शन अवरु ज्ञानहि ठहर, परद्रव्यइच्छा परिहरे ॥१८७॥

जो सर्वसंगधिग्रुक्त, ध्यावे आत्मसे आत्मा हि को ।

महिं कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्वको ॥१८८॥

वह आत्म ध्याता, ज्ञानदर्शनमय, अनन्यमयी हुआ ।

इस अल्प काल जु कर्मसे परिमोक्ष पावे आत्मका ॥१८९॥

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः ।
 दर्शनज्ञाने - स्थितः - इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ॥१८७॥
 यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा ।
 नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चितयत्येकत्वम् ॥१८८॥
 आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः ।
 लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मप्रविमुक्तम् ॥१८९॥

यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले शुभाशुभयोगे वर्तमानं दृढतरभेदविज्ञानावष्टम्भेन आत्मानं आत्मनैवात्यंतं रुन्ध्वा शुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्तपरद्रव्येच्छा-परिहारेण समस्तसंगविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकंपः सन् मनागपि कर्मनोकर्मणोरसंस्पर्शेन आत्मीयमात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहजचेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते, स खल्वेकत्वचेतने-नात्यंतविविक्तं चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं ध्यायन् शुद्धदर्शनज्ञानमयमात्मद्रव्यमवाप्तः शुद्धात्मोपलभे सति समस्तपरद्रव्यमयत्वमतिक्रांतः सन् अचिरेणैव सकलकर्मविमुक्तमात्मानम-वाप्नोति । एष संवर प्रकारः ।

गाथा १८७-१८९

गाथार्थः—[आत्मानम्] आत्माको [आत्मना] आत्माके द्वारा [द्विपुण्यपापयोगयोः] दो पुण्य-पापरूपी शुभाशुभयोगोसे [रुन्ध्वा] रोककर [दर्शनज्ञाने] दर्शनज्ञानमें [स्थितः] स्थित होता हुआ [च] और [अन्यस्मिन्] अन्य (वस्तु) की [इच्छाविरतः] इच्छासे विरत होता हुआ, [यः आत्मा] जो आत्मा, [सर्वसंगमुक्तः] (इच्छारहित होनेसे) सर्व संगसे रहित होता हुआ, [आत्मानम्] (अपने) आत्माको [आत्मना] आत्माके द्वारा [ध्यायति] ध्याता है, और [कर्म नोकर्म] कर्म तथा नोकर्मको [न अपि] नहीं ध्याता, एवं [चेतयिता] (स्वयं) चेतयिता (होनेसे) [एकत्वम्] एकत्वको ही [चिन्तयति] चिन्तवन करता है—अनुभव करता है, [सः] वह (आत्मा), [आत्मानं ध्यायन्] आत्माको ध्याता हुआ, [दर्शनज्ञानमयः] दर्शनज्ञानमय [अनन्यमयः] और अनन्यमय होता हुआ [अचिरेण एव] अल्पकालमें ही [कर्मप्रविमुक्तम्] कर्मोंसे रहित [आत्मानम्] आत्माको [लभते] प्राप्त करता है ।

टीकाः—रागद्वेषमोह जिसका मूल है ऐसे शुभाशुभ योगमें प्रवर्तमान जो जीव दृढतर भेदविज्ञान-के आलम्बनसे आत्माको आत्माके द्वारा ही अत्यन्त रोककर, शुद्धदर्शनज्ञानरूप आत्मद्रव्यमें भलीभाँति प्रतिष्ठित (स्थिर) करके, समस्त परद्रव्योंकी इच्छाके त्यागसे सर्व संगसे रहित होकर, निरंतर अति निष्कंप वर्तता हुआ, कर्म-नोकर्मका किंचित्मात्र भी स्पर्श किये बिना अपने आत्माको ही आत्माके द्वारा

• मालिनी •

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या

भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः।

अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां

भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥१२८॥

ध्याता हुआ, स्वयंको सहज चेतयितापन होनेसे एकत्वका ही चेतता (अनुभव करता) है (ज्ञान चेतनारूप रहता है), वह जीव वास्तवमें, एकत्व-चेतन द्वारा अर्थात् एकत्वके अनुभवन द्वारा (परद्रव्यसे) अत्यन्त भिन्न चैतन्यचमत्कारमात्र आत्माको ध्याता हुआ, शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मद्रव्यको प्राप्त होता हुआ, शुद्ध आत्माकी उपलब्धि (प्राप्ति) होनेपर समस्त परद्रव्यमयतासे अतिक्रान्त होता हुआ, अल्प कालमें ही सर्व कर्मोंसे रहित आत्माको प्राप्त करता है। यह संवरका प्रकार (विधि) है।

भावार्थः—जो जीव पहले तो रागद्वेषमोहके साथ मिले हुए मनवचनकायके शुभाशुभ योगोंसे अपने आत्माको भेदज्ञानके बलसे चलायमान नहीं होने दे, और फिर उसीको शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मस्वरूपमें निश्चल करे तथा समस्त बाह्याभ्यंतर परिग्रहसे रहित होकर कर्म-नोकर्मसे भिन्न अपने स्वरूपमें एकाग्र होकर उसीका ही अनुभव किया करे अर्थात् उसीके ध्यानमें रहे, वह जीव आत्माका ध्यान करनेसे दर्शनज्ञानमय होता हुआ और परद्रव्यमयताका उल्लंघन करता हुआ अल्पकालमें ही समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। यह संवर होनेकी रीति है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[भेदविज्ञानशक्त्या निजमहिमरतानां एषां] जो भेदविज्ञानकी शक्तिके द्वारा अपनी (स्वरूपकी) महिमामें लीन रहते हैं उन्हें [नियतम्] नियमसे [शुद्धतत्त्वोपलम्भः] शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि [भवति] होती है; [तस्मिन् सति च] शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि होनेपर, [अचलितम् अखिल-अन्यद्रव्य-दूरे-स्थितानां] अचलितरूपसे समस्त अन्यद्रव्योंसे दूर वर्तते हुवे ऐसे उनके, [अक्षयः कर्ममोक्षः भवति] अक्षय कर्ममोक्ष होता है (अर्थात् उनका कर्मोंसे ऐसा छुटकारा हो जाता है कि पुनः कभी कर्मबन्ध नहीं होता)। १२८।

केन क्रमेण संवरो भवतीति चेत्—

तेसिं हेतू भणिया अज्ज्ञानसाणाणि सव्वदरसीहिं ।
 मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभादो य जोगो य ॥१६०॥
 हेउअभावे णियमा जायइ एणित्स आसवणिरोहो ।
 आसवभावेण विणा जायइ कम्मस्स वि णिरोहो ॥१६१॥
 कम्मस्स अभावेण य एोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
 एोकम्यणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥१९२॥

तेषां हेतवो भणिता अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः ।

मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च योगश्च ॥१९०॥

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिन आस्रवनिरोधः ।

आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥१९१॥

कर्मणोऽभावेन च नो कर्मणामपि जायते निरोधः ।

नो कर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ॥१९२॥

अब यह प्रश्न होता है कि संवर किस क्रमसे होता है ? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा १९०-१९२

गाथाः—[तेषां] उनके (पूर्व कथित रागद्वेषमोहरूप आस्रवोंके) [हेतवः] हेतु [सर्वदर्शिभिः] सर्वदर्शियोंने [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरतभावः च] और अविरतभाव

रागादिके हेतू कहे, सर्वज्ञ अध्यवसानको ।

मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव त्यों ही योगको ॥१९०॥

कारण अभाव जरूर आस्रवरोध ज्ञानीको बने ।

आस्रवभाव अभावसे, नहीं कर्मका आना बने ॥१९१॥

हैं कर्मके जु अभावसे, नो कर्मका रोधन बने ।

नो कर्मका रोधन हुवे, संसारसंरोधन बने ॥१९२॥

संति तावज्जीवस्य आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि । तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः । आस्रवभावः कर्महेतुः । कर्म नोकर्महेतुः । नोकर्म संसारहेतुः इति । ततो नित्यमेवायमात्मा आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति । ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति । ततः कर्म आस्रवति । ततो नोकर्म भवति । ततः संसारः प्रभवति । यदा तु आत्मकर्मणोर्भेद-विज्ञानेन शुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानां अध्यवसानानां आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः । तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः । तदभावे भवति कर्माभावः । तदभावेऽपि भवति नोकर्माभावः । तदभावेऽपि भवति संसाराभावः । इत्येष संवरक्रमः ।

[योगः च] तथा योग—[अध्यवसानानि] यह (चार) अध्यवसान [भ्रिताः] कहे हैं । [ज्ञानिनः] ज्ञानियोंके [हेत्वभावे] हेतुओंके अभावमें [नियमात्] नियमसे [आस्रवनिरोधः] आस्रवोंका निरोध [जायते] होता है, [आस्रवभावेन विना] आस्रवभावके विना [कर्मणः अपि] कर्मका भी [निरोधः] निरोध [जायते] होता है, [च] और [कर्मणः अभावेन] कर्मके अभावसे [नोकर्मणाश्च अपि] नोकर्मोंका भी [निरोधः] निरोध [जायते] होता है, [च] और [नोकर्मनिरोधेन] नोकर्मके निरोधसे [संसारनिरोधनं] संसारका निरोध [भवति] होता है ।

टीका:—पहले तो जीवके, आत्मा और कर्मके एकत्वका अध्यास (अभिप्राय) जिनका मूल है ऐसे मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं, वे रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावके कारण हैं; आस्रवभाव कर्मका कारण है; कर्म नोकर्मका कारण है; और नोकर्म संसारका कारण है । इसलिये—सदा ही यह आत्मा, आत्मा और कर्मके एकत्वके अध्याससे मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगमय आत्माको मानता है (अर्थात् मिथ्यात्वादि अध्यवसान करता है); इसलिये रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावको भाता है, उससे कर्मास्रव होता है; उससे नोकर्म होता है; और उससे संसार उत्पन्न होता है । किन्तु जब (वह आत्मा), आत्मा और कर्मके भेदविज्ञानके द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र आत्माको उपलब्ध करता है—अनुभव करता है तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान, जो कि आस्रवभावके कारण हैं उनका अभाव होता है; अध्यवसानोंका अभाव होनेपर रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावका अभाव होता है; आस्रवभावका अभाव होनेपर कर्मका अभाव होता है; कर्मका अभाव होनेपर नोकर्मका अभाव होता है; और नोकर्मका अभाव होनेपर संसारका अभाव होता है । इसप्रकार यह संवरका क्रम है ।

* उपजाति *

संपद्यते संवर एष साक्षा-
च्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्
तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥

* अनुष्टुभ् *

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराञ्छ्वत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

भावार्थः—जीवके जबतक आत्मा और कर्मके एकत्वका आशय है—भेदविज्ञान नहीं है तबतक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान वर्तते हैं, अध्यवसानसे रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभावसे कर्म बँधता है, कर्मसे शरीरादि नोकर्म उत्पन्न होता है और नोकर्मसे संसार है। परन्तु जब उसे आत्मा और कर्मका भेदविज्ञान होता है तब शुद्धात्माकी उपलब्धि होनेसे मिथ्यात्वादि अध्यवसानोंका अभाव होता है, और उससे रागद्वेषमोहरूप आस्रवका अभाव होता है, आस्रवके अभावसे कर्म नहीं बँधता, कर्मके अभावसे शरीरादि नोकर्म उत्पन्न नहीं होते और नोकर्मके अभावसे संसारका अभाव होता है।—इसप्रकार संवरका क्रम जानना चाहिये।

संवर होनेके क्रममें संवरका पहला ही कारण भेदविज्ञान कहा है अब उसकी भावनाके उपदेशका काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[एषः साक्षात् संवरः] यह साक्षात् संवर [किल] वास्तवमें [शुद्ध-आत्म-तत्त्वस्य उपलम्भात्] शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे [सम्पद्यते] होता है; और [सः] वह शुद्धात्म-तत्त्वकी उपलब्धि [भेदविज्ञानतः एव] भेदविज्ञानसे ही होती है। [तस्मात्] इसलिये [तत् भेदविज्ञानम्] वह भेदविज्ञान [अतीव] अत्यन्त [भाव्यम्] माने योग्य है।

भावार्थः—जब जीवको भेदविज्ञान होता है अर्थात् जब जीव आत्मा और कर्मको यथार्थतया भिन्न जानता है तब वह शुद्ध आत्माका अनुभव करता है, शुद्ध आत्माके अनुभवसे आस्रवभाव रुकता है और अनुक्रमसे सर्व प्रकारसे संवर होता है, इसलिये भेदविज्ञानको अत्यन्त मानेका उपदेश किया है ॥१२९॥

अब, काव्यद्वारा यह बतलाते हैं कि भेदविज्ञान कहाँ तक माना चाहिये।

श्लोकार्थः—[इदम् भेदविज्ञानम्] यह भेदविज्ञान [अच्छिन्न-धारया] अच्छिन्न-धारासे (जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड प्रवाहरूपसे) [तावत्] तबतक [भावयेत्] माना चाहिये

* अनुष्टुप् *

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

[यावत्] जबतक (ज्ञान) [परात् च्युस्त्वा] परभावोंसे छूटकर [ज्ञानं] ज्ञान [ज्ञाने] ज्ञानमें ही (अपने स्वरूपमें ही) [प्रतिष्ठते] स्थिर हो जाये ।

भाषार्थः—यहाँ ज्ञानका ज्ञानमें स्थिर होना दो प्रकारसे जानना चाहिये । एक तो, मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यक्ज्ञान हो और फिर मिथ्यात्व न आये तब ज्ञान ज्ञानमें स्थिर हुआ कहलाता है; दूसरे, जब ज्ञान शुद्धोपयोगरूपमें स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप परिणामित न हो तब ज्ञान ज्ञानमें स्थिर हुआ कहलाता है । जबतक ज्ञान दोनों प्रकारसे ज्ञानमें स्थिर न हो जाये तबतक भेदविज्ञानको भाते रहना चाहिये । १३०।

अत्र पुनः भेदविज्ञानकी महिमा बतलाते हैंः—

श्लोकार्थः—[ये केचन किल सिद्धाः] जो कोई सिद्ध हुए हैं [भेदविज्ञानतः सिद्धाः] वे भेदविज्ञानसे सिद्ध हुए हैं; और [ये केचन किल बद्धाः] जो कोई बँधे हैं [अस्य एव अभावतः बद्धाः] वे उसीके (—भेदविज्ञानके ही) अभावसे बँधे हैं ।

भाषार्थः—अनादि कालसे लेकर जबतक जीवको भेदविज्ञान नहीं है तबतक वह कर्मसे बँधता ही रहता है—संसारमें परिभ्रमण ही करता रहता है; जिस जीवको भेदविज्ञान होता है वह कर्मोंसे अवश्य छूट जाता है—मोक्षको प्राप्त कर ही लेता है । इसलिये कर्मबंधका—संसारका—मूल भेदविज्ञानका अभाव ही है और मोक्षका पहला कारण भेदविज्ञान ही है । भेदविज्ञानके बिना कोई सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता ।

यहाँ ऐसा भी समझना चाहिये कि—विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध और वेदान्ती जो कि वस्तुको अद्वैत कहते हैं और अद्वैतके अनुभवसे ही सिद्धि कहते हैं उनका, भेदविज्ञानसे ही सिद्धि कहनेसे, निषेध हो गया; क्योंकि वस्तुका स्वरूप सर्वथा अद्वैत न होने पर भी जो सर्वथा अद्वैत मानते हैं उनके किसी भी प्रकारसे भेदविज्ञान कहा ही नहीं जा सकता; जहाँ द्वैत (दो वस्तुएँ) ही नहीं मानते वहाँ भेदविज्ञान कैसा ? यदि जीव और अजीव—दो वस्तुएँ मानी जायें और उनका संयोग माना जाये तभी भेदविज्ञान हो सकता है, और सिद्धि हो सकती है । इसलिये स्याद्वादियोंको ही सब कुछ निर्वाधतया सिद्ध होता है । १३१।

अब, संवर अधिकार पूर्ण करते हुए, संवर होनेसे जो ज्ञान हुआ उस ज्ञानकी महिमाका काव्य कहते हैंः—

* मन्दाक्रान्ता *

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-

द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।

विभ्रत्तोषं परममलालोकमम्लानमेकं

ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

इति संवरो निष्क्रान्तः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ संवरप्ररूपकः
पञ्चमोऽङ्कः ॥

श्लोकार्थः—[भेदज्ञान-उच्छलन-कलनात्] भेदज्ञान प्रगट करनेके अभ्याससे [शुद्धतत्त्व-उपलम्भात्] शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि हुई, शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धिसे [रागग्रामप्रलयकरणात्] राग समूहका विलय हुआ, राग समूहके विलय करनेसे [कर्मणां संवरेण] कर्मोंका संवर हुआ और कर्मोंका संवर होनेसे, [ज्ञाने नियतम् एतत् ज्ञानं उदितं] ज्ञानमें ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान उदयको प्राप्त हुआ—[विभ्रत् परमम् तोषं] कि जो ज्ञान परम संतोषको (परम अतीन्द्रिय आनन्दको) धारण करता है, [अमल-अलोकम्] जिसका प्रकाश निर्मल है (अर्थात् रागादिकके कारण मलिनता थी वह अब नहीं है), [अम्लानम्] जो अम्लान है (अर्थात् क्षयोपशमिक ज्ञानकी भाँति कुम्हलाया हुआ—निर्वल नहीं है, सर्व लोकालोकके जाननेवाला है), [एकं] जो एक है (अर्थात् क्षयोपशमसे जो भेद था वह अब नहीं है) और [शाश्वत-उद्योतम्] जिसका उद्योत शाश्वत है (अर्थात् जिसका प्रकाश अविनश्यर है) । १३२ ।

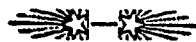
टीकाः—इसप्रकार संवर (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गया ।

भावार्थः—रंगभूमिमें संवरका स्वांग आया था उसे ज्ञानने जान लिया इसलिये वह नृत्य करके बाहर निकल गया ।

* सबैया तेईसा *

भेदविज्ञानकला प्रगटै, तत्र शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,
राग-द्वेष-विमोह सबहि गलि जाय, इमै दुठ कर्म रुकाही;
उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष धरै परमात्ममार्हीं,
यों मुनिराज भली विधि धारतु, केवल पाय सुखी शिव जाहीं ॥

—(पाँचवाँ संवर अधिकार समाप्त)—



निर्जरा अधिकार

अथ प्रविशति निर्जरा ।

* शार्दूलविक्रीडित *

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
 कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निहन् स्थितः ।
 प्राग्भद्रं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
 ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥१३३॥

—:: दोहा ::—

रागादिककू मेटि करि, नवे बंध हति संत ।
 पूर्व-उदयमें सम रहे, नमू निर्जरावंत ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि “अब निर्जरा प्रवेश करती है।” यहाँ तत्त्वोंका नृत्य है; अतः जैसे नृत्यमंच पर नृत्य करनेवाला रसाँग धारण कर प्रवेश करता है, उसीप्रकार यहाँ रंगभूमिमें निर्जराका स्वाँग प्रवेश करता है।

अब, सर्व स्वाँगको यथार्थ जाननेवाले सम्यक्ज्ञानको मंगलरूप जानकर आचार्यदेव मंगलके लिये प्रथम उसी—निर्मल ज्ञानज्योतिको ही—प्रगट करते हैं:—

श्लोकार्थः—[परः संवरः] परम संवर, [रागादि-प्रास्रव-रोधतः] रागादि प्रास्रवोंको रोकनेसे [निज-धुरां धृत्वा] अपनी कार्य-धुराको धारण करके (अपने कार्यको यथार्थतया

उपभोगमिन्द्रियेहि द्रव्याणामचेदणाणमिदराणं ।
जं छुण्णदि सम्मदिट्ठी तं सर्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१९३॥

उपभोगमिन्द्रियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषाम् ।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम् ॥१९३॥

विरागस्योपभोगो निर्जरयायेव । रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्यद्रव्योप-
भोगो बंधनिमित्तमेव स्यात् । स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात् ।
एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितम् ।

सँभालकर), [समस्तम् आगामि कर्म] समस्त आगामी कर्मको [भरतः दूरात् एव] अत्यन्ततया दूरसे
ही [निरुन्धन् स्थितः] रोकता हुआ खड़ा है; [तु] और [प्राग्बद्धं] पूर्वबद्ध (संवर होनेके पहले
बंधे हुवे) [तत् एव दग्धुम्] कर्मको जलानेके लिये [दग्धुना] अब [निर्जरा व्याजृम्भते] निर्जरा
(-निर्जरारूपी अग्नि-) फैल रही है [यतः] जिससे [ज्ञानज्योतिः] ज्ञानज्योति [अपावृत्तं]
निरावरण होती हुई (पुनः) [रागादिभिः न हि मूर्च्छति] रागादिभावोंके द्वारा मूर्च्छित नहीं होती—
सदा अमूर्च्छित रहती है ।

भावार्थः—संवर होनेके बाद नवीन कर्म तो नहीं बँधते । और जो कर्म पहले बँधे हुए थे उनको
जब निर्जरा होती है तब ज्ञानका आवरण दूर होनेसे वह (ज्ञान) ऐसा हो जाता है कि पुनः रागादिरूप
परिणमित नहीं होता—सदा प्रकाशरूप ही रहता है । १३३ ।

अब द्रव्यनिर्जराका स्वरूप कहते हैंः—

गाथा १९३

गाथार्थः—[सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि जीव [यत्] जो [इन्द्रियैः] इन्द्रियोंके द्वारा
[अचेतनानाम्] अचेतन तथा [इतरेषाम्] चेतन [द्रव्याणाम्] द्रव्योंका [उपभोगम्] उपभोग
[करोति] करता है [तत् सर्वं] वह सर्व [निर्जरानिमित्तम्] निर्जराका निमित्त है ।

टोकाः—विरागीका उपभोग निर्जराके लिये ही है (वह निर्जराका कारण होता है) । रागादि-
भावोंके सद्भावसे मिथ्यादृष्टिके अचेतन तथा चेतन द्रव्योंका उपभोग बंधका निमित्त होता है; वही
(उपभोग), रागादिभावोंके अभावसे सम्यग्दृष्टिके लिये निर्जराका निमित्त होता है । इसप्रकार द्रव्य
निर्जराका स्वरूप कहा ।

चेतन अचेतन द्रव्यका, उपभोग इन्द्रिसमूहसे ।

जो जो करे सद्दृष्टि वह सब, निर्जराकारण बने ॥१९३॥

अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति—

द्वये उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं च दुःखं वा ।
तं सुहदुःखमुदिरणं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥१६४॥

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं च दुःखं वा ।

तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ॥१९४॥

भावार्थः—सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी कहा है और ज्ञानीके रागद्वेषमोहका अभाव कहा है; इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागी है। यद्यपि उसके इन्द्रियोंके द्वारा भोग दिखाई देता हो तथापि उसे भोगकी सामग्रीके प्रति राग नहीं है। वह जानता है कि “यह (भोगोंकी सामग्री) परद्रव्य है, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; कर्मोदयके निमित्तसे इसका और मेरा संयोग-वियोग है।” जबतक उसे चारित्रमोहका उदय आकर पीड़ा करता है और स्वयं बलहीन होनेसे पीड़ाको सहन नहीं कर सकता तबतक—जैसे रोगी रोगकी पीड़ाको सहन नहीं कर सकता तब उसका औषधि इत्यादिके द्वारा उपचार करता है इसीप्रकार—भोगोपभोग सामग्रीके द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ दिखाई देता है; किन्तु जैसे रोगी रोगको या औषधिको अच्छा नहीं मानता उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहके उदयको या भोगोपभोग सामग्रीको अच्छा नहीं मानता। और निश्चयसे तो, ज्ञातृत्वके कारण सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मोंको मात्र जान ही लेता है, उनके प्रति उसे रागद्वेषमोह नहीं है। इसप्रकार रागद्वेषमोहके बिना ही उनके फलको भोगता हुआ दिखाई देता है; तो भी उसके कर्मका आस्रव नहीं होता, कर्मोत्सवके बिना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागतकर्म तो अपना रस देकर खिर ही जाते हैं क्योंकि उदयमें आनेके बाद कर्मकी सत्ता रह ही नहीं सकती। इसप्रकार उसके नवीन बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्मकी निर्जरा हो जानेसे उसके केवल निर्जरा ही हुई। इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागीके भोगोपभोगको निर्जराका ही निमित्त कहा गया है। पूर्व कर्म उदयमें आकर उसका द्रव्य खिर गया सो वह द्रव्यनिर्जरा है।

अत्र भावनिर्जराका स्वरूप कहते हैंः—

गाथा १९४

गाथार्थः—[द्रव्ये उपभुज्यमाने] वस्तु भोगनेमें आनेपर, [सुखं च दुःखं वा] सुख अथवा दुःख [नियमात्] नियमसे [जायते] उत्पन्न होता है; [उदीर्यं] उदयको प्राप्त (उत्पन्न हुवे) [तद् सुखदुःखम्] उस सुखदुःखका [वेदयते] अनुभव करता है, [अथ] पश्चात् [निर्जरां याति] वह (सुखदुःखरूप भाव) निर्जराको प्राप्त होता है।

परद्रव्यके उपभोग निश्चय, दुःख वा सुख होय है।

इन उदित सुखदुःख भोगता, फिर निर्जरा हो जाय है ॥१९४॥

उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्तः सातासातविकल्पानतिक्रमणेन वेदनायाः
 सुखरूपो वा दुःखरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति । स तु यदा वेद्यते तथा मिथ्यादृष्टेः
 रागादिभावानां सद्भावेन बंधनिमित्तं भूत्वा निर्जीयमाणोऽप्यजीर्णः सन् बंध एव स्यात्;
 सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बंधनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीयमाणो निर्जीर्णः
 सन्निर्जरैव स्यात् ।

* अनुष्टुभ् *

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।

यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥१३४॥

टीकाः—परद्रव्य भोगनेमें आनेपर, उसके निमित्तसे जीवका सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियमसे ही उदय होता है अर्थात् उत्पन्न होता है क्योंकि वेदन साता और असाता—इन दो प्रकारोंका अतिक्रम नहीं करता (अर्थात् वेदन दो प्रकारका ही है—सातारूप और असातारूप) । जब उस (सुखरूप अथवा दुःखरूप) भावका वेदन होता है तब मिथ्यादृष्टिको, रागादिभावोंके सद्भावसे बंधका निमित्त होकर (वह भाव) निर्जराको प्राप्त होता हुआ भी (वास्तवमें) निर्जरित न होता हुआ, बंध ही होता है; किन्तु सम्यक्दृष्टिके, रागादिभावोंके अभावसे बंधका निमित्त हुए बिना, केवलमात्र निर्जरित होनेसे (वास्तवमें) निर्जरित होता हुआ, निर्जरा ही होती है ।

भावार्थः—परद्रव्य भोगनेमें आने पर, कर्मोदयके निमित्तसे जीवके सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियमसे उत्पन्न होता है । मिथ्यादृष्टिके रागादिके कारण वह भाव आगामी बन्ध करके निर्जरित होता है इसलिये उसे निर्जरित नहीं कहा जा सकता; अतः मिथ्यादृष्टिको परद्रव्यके भोगते हुए बंध ही होता है । सम्यक्दृष्टिके रागादिक न होनेसे आगामी बन्ध किये बिना ही वह भाव निर्जरित हो जाता है इसलिये उसे निर्जरित कहा जा सकता है; अतः सम्यक्दृष्टिके परद्रव्य भोगनेमें आनेपर निर्जरा ही होती है । इसप्रकार सम्यक्दृष्टिके भाव निर्जरा होती है । १३४

अब आगामी गाथाओंकी सूचनाके रूपमें श्लोक कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[किल] वास्तवमें [तत् सामर्थ्यं] वह (आश्चर्यकारक) सामर्थ्य [ज्ञानस्य एव] ज्ञानकी ही है [वा] अथवा [विरागस्य एव] विरागकी ही है [यत्] कि [कः अपि] कोई (सम्यग्दृष्टि जीव) [कर्म भुञ्जानः अपि] कर्मोंको भोगता हुआ भी [कर्मभिः न बध्यते] कर्मोंसे नहीं बंधता ! (वह अज्ञानीको आश्चर्य उत्पन्न करती है और ज्ञानी उसे यथार्थ जानता है ।) । १३४ ।

अथ ज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

जह विषमेषु वभुं जेतो वैद्यो पुरिसो ए मरणमुपयाति ।

। पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव तदप्यतो ज्ञानी ॥१९५॥

यथा विषमेषु जानोऽपि पुरुषो मरणमुपयाति ॥७८॥

पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव तदप्यतो ज्ञानी ॥१९५॥

यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमेषु जानोऽपि अपोषविद्यासामर्थ्येन निरुद्धतच्छक्तित्वान्न म्रियते, तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बंधकारणं पुद्गलकर्मोदय-मेषु जानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वान्न बध्यते ज्ञानी ।

अब ज्ञानका सामर्थ्य बतलाते हैं—

गाथा १९५ ॥७८॥

गाथार्थः—[यथा] जिसप्रकार [वैद्यः पुरुषः] वैद्य पुरुष [विषम् उपभुंजानः] विषको भोगता अर्थात् खाता हुआ भी [मरणम् न उपयाति] मरणको प्राप्त नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी पुरुष [पुद्गलकर्मणः] पुद्गलकर्मके [उदयं] उदयको [भुंक्ते] भोगता है तथापि [न एव बध्यते] बंधता नहीं है ।

टीकाः—जिसप्रकार कोई विषवैद्य, दूसरोंके मरणके कारणभूत विषको भोगता हुआ भी, अमोघ (रामबाण) विद्याकी सामर्थ्यसे—विषकी शक्ति रुक गई होनेसे, नहीं मरता, उसीप्रकार अज्ञानियोंको, रागादिभावोंका सद्भाव होनेसे बंधका कारण जो पुद्गलकर्मका उदय उसको ज्ञानी भोगता हुआ भी, अमोघ ज्ञानकी सामर्थ्य द्वारा रागादिभावोंका अभाव होनेसे—कर्मोदयकी शक्ति रुक गई होनेसे, बंधको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—जैसे वैद्य मंत्र, तंत्र, औषधि इत्यादि अपनी विद्याकी सामर्थ्यसे विषकी घातकशक्तिका अभाव कर देता है जिससे विषके खा लेने पर भी उसका मरण नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञानीके ज्ञानका ऐसा सामर्थ्य है कि वह कर्मोदयकी बंध करनेकी शक्तिका अभाव करता है और ऐसा होनेसे कर्मोदयको भोगते हुए भी ज्ञानीके आगामी कर्मबंध नहीं होता । इसप्रकार सम्यक्ज्ञानकी सामर्थ्य कही गई है ।

ज्यों जहरके उपभोगसे भी, वैद्य जन मरता नहीं ।

त्यों उदयकर्म जु भोगता भी, ज्ञानिजन बंधता नहीं ॥१९५॥

अथ वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति—
 जह मज्जं पिवन्नापो अरदिभावेण मज्जदि ए पुरिसो ।
 दब्बुपभोगे अरदो एणी वि ए ज्जम्भदि तहेव ॥१९६॥

यथा महं पिवन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः ।

द्रव्योपभोगेऽरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ॥१९६॥

यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिवन्नपि तीव्रारतिभावसामर्थ्यात्
 माद्यति, तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः सन् विषयाजुप-
 भुञ्जानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी ।

अथ वैराग्यका सामर्थ्यं बतलाते हैं—

गाथा १९६

गाथार्थः—[यथा] जैसे [पुरुषः] कोई पुरुष [महं] मदिराको [अरतिभावेन]
 अरतिभावसे (अप्रतिसे) [पिवन्] पीता हुआ [न माद्यति] मतवाला नहीं होता, [तथा एव]
 इसीप्रकार [ज्ञानी अपि] ज्ञानी भी [द्रव्योपभोगे] द्रव्यके उपभोगके प्रति [अरतः] अरत
 (वैराग्यभावमें) वर्तता हुआ [न बध्यते] बन्धको प्राप्त नहीं होता ।

टीकाः—जैसे कोई पुरुष, मदिराके प्रति जिसको तीव्र अरतिभाव प्रवर्ता है ऐसा वर्तता हुआ,
 मदिराको पीने पर भी, तीव्र अरतिभावकी सामर्थ्यके कारण मतवाला नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञानी भी,
 रागादिभावोंके अभावसे सर्व द्रव्योंके उपभोगके प्रति जिसको तीव्र वैराग्यभाव प्रवर्ता है ऐसा वर्तता हुआ,
 विषयोंको भोगता हुआ भी, तीव्र वैराग्यभावकी सामर्थ्यके कारण (कर्मोंसे) बन्धको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—यह वैराग्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयोंका सेवन करता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता ।

अथ इस अर्थका और आगामी गाथाके अर्थका सूचक काव्य कहते हैं—

ज्यो अरतिभाव जु मद्य पीकर, मद्य जन बन्धता नहीं ।

द्रव्योपभोग विपै अरत, ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं ॥१९६॥

* रथोद्धता *

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्
स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्
सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥१३५॥

अथैतदेव दर्शयति—

सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्टा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होई ॥१९७॥

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित् ।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति ॥१९७॥

श्लोकार्थः—[यत्] क्योंकि [ना] यह (ज्ञानी) पुरुष [विषयसेवने अपि] विषय सेवन करता हुआ भी [ज्ञानवैभव-विरागता-बलात्] ज्ञानवैभव और विरागताके बलसे [विषयसेवनस्य स्वं फलं] विषयसेवनके निजफलको (—रंजित परिणामको) [न अश्नुते] नहीं भोगता—प्राप्त नहीं होता, [तत्] इसलिये [असौ] यह (पुरुष) [सेवकः अपि असेवकः] सेवक होनेपर भी असेवक है (अर्थात् विषयोंका सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता) ।

भावार्थः—ज्ञान और विरागताकी ऐसी कोई आर्चित्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विषय-सेवनका फल जो रंजित परिणाम है उसे ज्ञानी नहीं भोगता—प्राप्त नहीं करता । १३५ ।

अब इसी बातको प्रगट दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैंः—

गाथा १९७

गाथार्थः—[कश्चित्] कोई तो [सेवमानः अपि] विषयोंको सेवन करता हुआ भी [न सेवते] सेवन नहीं करता, और [असेवमानः अपि] कोई सेवन न करता हुआ भी [सेवकः] सेवन करनेवाला है—[कस्य अपि] जैसे किसी पुरुषके [प्रकरणचेष्टा] +प्रकरणकी चेष्टा (कोई कार्य सम्बन्धी क्रिया) वर्तती है [न च सः प्राकरणः इति भवति] तथापि वह ×प्राकरणिक नहीं होता ।

+ प्रकरण=कार्य । × प्राकरणिक=कार्य करनेवाला ।

सेता हुआ नहीं सेवता, नहीं सेवता सेवक बने ।
प्रकरणतंनी चेष्टा करे, अरु प्राकरण लयों नहीं हुवे ॥१९७॥

यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोऽपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः, तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्वसंचितकर्मोदयसंपन्नान् विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभावेन विषयसेवनफलस्वामित्वाभावादसेवक एव, मिथ्यादृष्टिस्तु विषयानसेवमानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वात्सेवक एव ।

* मन्दाक्रान्ता *

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

टीका:—जैसे कोई पुरुष किसी प्रकरणकी क्रियामें प्रवर्तमान होने पर भी प्रकरणका स्वामित्व न होनेसे प्राकरणिक नहीं है और दूसरा पुरुष प्रकरणकी क्रियामें प्रवृत्त न होता हुआ भी प्रकरणका स्वामित्व होनेसे प्राकरणिक है, इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि पूर्वसंचित कर्मोदयसे प्राप्त हुए विषयोंका सेवन करता हुआ भी रागादिभावोंके अभावके कारण विषयसेवनके फलका स्वामित्व न होनेसे असेवक ही है (सेवन करनेवाला नहीं है) और मिथ्यादृष्टि विषयोंका सेवन न करता हुआ भी रागादिभावोंके सद्भावके कारण विषयसेवनके फलका स्वामित्व होनेसे सेवन करनेवाला ही है ।

भावार्थ:—जैसे किसी सेठने अपनी दूकान पर किसीको नौकर रखा । और वह नौकर ही दूकानका सारा व्यापार—खरीदना, बेचना इत्यादि सारा काम काज करता है तथापि वह सेठ नहीं है क्योंकि वह उस व्यापारका और उस व्यापारके हानि लाभका स्वामी नहीं है; वह तो मात्र नौकर है, सेठके द्वारा कराये गये सब कामकाजको करता है । और जो सेठ है वह व्यापार सम्बन्धी कोई कामकाज नहीं करता, घर ही बैठ रहा है तथापि उस व्यापार तथा उसके हानि-लाभका स्वामी होनेसे वही व्यापारी (सेठ) है । यह दृष्टांत सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पर घटित कर लेना चाहिये । जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नहीं है इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि विषयोंका सेवन करनेवाला नहीं है, और जैसे सेठ व्यापार करनेवाला है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करनेवाला है ।

अत्र आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थ:—[सम्यग्दृष्टेः नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः भवति] सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है; [यस्मात्] क्योंकि [अयं] वह (सम्यग्दृष्टि जीव) [स्व-अन्य-रूप-प्राप्ति-मुक्त्या] स्वरूपका ग्रहण और परका त्याग करनेकी विधिके द्वारा [स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्] अपने वस्तुत्वका (यथार्थ स्वरूपका) अभ्यास करनेके लिये, [इदं स्वं च परं] 'यह स्व है (अर्थात्

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति—

उदयविवागो विविहो कर्माणां वर्णिणञ्चो जिणवरैहिं ।

ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१६८॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः ।

न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ॥१९८॥

ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः । एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायक-
भावोऽहम् ।

सम्यग्दृष्टिर्विशेषेण तु स्वपरावेवं जानाति—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदञ्चो हवदि एसो ।

ए दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१६९॥

आत्मस्वरूप है) और यह पर है' [व्यतिकरम्] इस भेदको [तत्त्वतः] परमार्थसे [ज्ञात्वा]
जानकर [स्वस्मिन् आस्ते] स्वमें स्थिर होता है और [परात् रागयोगात्] परसे—रागके योगसे—
[सर्वतः] सर्वतः [विरमति] विरमता (रुकता) है। (यह रीति ज्ञानवैराग्यकी शक्तिके बिना
नहीं हो सकती) । १३६ ।

अब प्रथम, यह कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सामान्यतया स्व और परको इसप्रकार जानता हैः—

गाथा १९८

गाथायः—[कर्मणां] कर्मोंके [उदयविपाकः] उदयका विपाक (फल) [जिनवरैः]
जिनेन्द्रदेवने [विविधः] अनेक प्रकारका [वर्णितः] कहा है, [ते] वे [मम स्वभावाः] मेरे
स्वभाव [न तु] नहीं है; [अहम् तु] मैं तो [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभाव हूँ ।

टीकाः—जो कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके भाव हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं;
मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ ।

भावायः—इसप्रकार सामान्यतया समस्त कर्मजन्य भावोंको सम्यग्दृष्टि, पर जानता है और
अपनेको एक ज्ञायकस्वभाव ही जानता है ।

अब यह कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व और परको इसप्रकार जानता हैः—

कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवरने कहे ।

वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥१९८॥

पुद्गलकरमरूप रागका हि, विपाकरूप है उदय ये ।

ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ ॥१९९॥

पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः।

न त्वेष मम भावो ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥१९९॥

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः। एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम्।

एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्र-चक्षुर्ग्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशा अन्यान्यप्यूहानि।

एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुञ्चंश्च नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति—

एवं सम्मदिष्टी अप्पाणं सुणदि जाणगसहावं।

उदयं कम्मविवागं य सुञ्चदि तच्चं वियाणंती ॥२००॥

गाथा १९९

गाथार्थः—[रागः] राग [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म है, [तस्य] उसका [विपाकोदयः] विपाकरूप उदय [एषः भवति] यह है, [एषः] यह [मम भावः] मेरा भाव [न तु] नहीं है; [अहम्] मैं तो [खलु] निश्चयसे [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभाव हूँ।

टीकाः—वास्तवमें राग नामक पुद्गलकर्म है उसके उदयके विपाकसे उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव है, यह मेरा स्वभाव नहीं है; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ। (इसप्रकार सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्वको और परको जानता है।) और इसीप्रकार 'राग' पदको बदलकर उसके स्थान पर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन—ये शब्द रखकर सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना, और इसी उपदेशसे दूसरे भी विचारना।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि अपनेको जानता और रागको छोड़ता हुआ नियमसे ज्ञानवैराग्य-सम्पन्न होता है—यह इस गाथा द्वारा कहते हैंः—

सद्दृष्टि इस रीत आत्मको, ज्ञायकस्वभाव हि जानता।

अरु उदय कर्मविपाकको वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता ॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावं ।
उदयं कर्मविपाकं च मुञ्चति तत्त्वं विजानन् ॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि विविच्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति । तथा तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावोपादाना-पोहननिष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति । ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति ।

● मन्दाक्रान्ता ●

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।

गाथा २००

गाथार्थः—[एवं] इसप्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [आत्मानं] आत्माको (अपनेको) [ज्ञायकस्वभावम्] ज्ञायकस्वभाव [जानाति] जानता है [च] और [तत्त्वं] तत्त्वको अर्थात् यथार्थ स्वरूपको [विजानन्] जानता हुआ [कर्मविपाकं] कर्मके विपाकरूप [उदयं] उदयको [मुञ्चति] छोड़ता है ।

टीकाः—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप सर्व भावोंसे विवेक (भेदज्ञान, भिन्नता) करके, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है ऐसा जो आत्माका तत्त्व उसको (भलीभाँति) जानता है; और इसप्रकार तत्त्वको जानता हुआ, स्वभावके ग्रहण और परभावके त्यागसे उत्पन्न होनेयोग्य अपने वस्तुत्वको विस्तरित करता हुआ, कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए समस्त भावोंको छोड़ता है । इसलिये वह (सम्यग्दृष्टि) नियमसे ज्ञानवैराग्यसम्पन्न होता है (यह सिद्ध हुआ) ।

भावाार्थः—जब अपनेको तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने और कर्मोदयसे उत्पन्न हुए भावोंको आकुलतारूप दुःखमय जाने तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावोंसे विरागता—यह दोनों अवश्य ही होते हैं । यह बात प्रगट अनुभवगोचर है । यही (ज्ञानवैराग्य) ही सम्यग्दृष्टिका चिह्न है ।

“जो जीव परद्रव्यमें आसक्त—रागी हैं और सम्यग्दृष्टित्वका अभिमान करते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, वे ब्रूया अभिमान करते हैं” इस अर्थका कलशरूप काव्य अब कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[अयम् अहं स्वयम् सम्यग्दृष्टिः मे जातु बन्धः न स्यात्] “यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता (क्योंकि शास्त्रोंमें सम्यग्दृष्टिको बन्ध नहीं कहा है)” [इति] ऐसा मानकर [उत्तान-उत्पुलक-वदनाः] जिनका मुख गर्वसे ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे

आलंबतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

[रागिणः] रागी जीव (-परद्रव्यके प्रति रागद्वेषमोहभाववाले जीव-) [अपि] भले ही [आचरन्तु] महाव्रतादिका आचरण करें तथा [समितिपरतां आलम्बतां] समितियोंकी उत्कृष्टताका आलम्बन करें [अत्र अपि] तथापि [ते पापाः] वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं, [यतः] क्योंकि वे [आत्म-अनात्म-अवगम-विरहात्] आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित होनेसे [सम्यक्त्व-रिक्ताः सन्ति] सम्यक्त्वसे रहित हैं ।

भावार्थः—परद्रव्यके प्रति राग होने पर भी जो जीव यह मानता है कि 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता' उसे सम्यक्त्व कैसा ? वह व्रत-समितिका पालन भले ही करे तथापि स्वपरका ज्ञान न होनेसे वह पापी ही है । जो यह मानकर कि 'मुझे बन्ध नहीं होता' स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है वह भला सम्यग्दृष्टि कैसा ? क्योंकि जबतक यथाख्यात चारित्र्य न हो तबतक चारित्र्यमोहके रागसे बन्ध तो होता ही है और जबतक राग रहता है तबतक सम्यग्दृष्टि तो अपनी निंदा-गर्हा करता ही रहता है । ज्ञानके होनेमात्रसे बन्धसे नहीं छूटा जा सकता, ज्ञान होनेके बाद उसीमें लीनतारूप—शुद्धोपयोगरूप—चारित्र्यसे बन्ध कट जाते हैं । इसलिये राग होने पर भी, 'बन्ध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है ।

यहाँ कोई पूछता है कि—“व्रत-समिति शुभ कार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीवको पापी क्यों कहा गया है ?” उसका समाधान यह है—सिद्धान्तमें मिथ्यात्वको ही पाप कहा है; जबतक मिथ्यात्व रहता है तबतक शुभाशुभ सर्व क्रियाओंको अध्यात्ममें परमार्थतः पाप ही कहा जाता है । और व्यवहारनयकी प्रधानतामें, व्यवहारी जीवोंको अशुभसे छुड़ाकर शुभमें लगानेकी शुभ क्रियाको कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है । ऐसा कहनेसे स्याद्वाद मतमें कोई विरोध नहीं है ।

फिर कोई पूछता है कि—“परद्रव्यमें जबतक राग रहे तबतक जीवको मिथ्यादृष्टि कहा है सो यह बात हमारी समझमें नहीं आई । अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादिके चारित्र्यमोहके उदयमे रागादिभाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है ?” उसका समाधान यह है—यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानु-चंधी राग प्रधानतासे कहा है । जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्यमें तथा परद्रव्यसे होनेवाले भावोंमें आत्मदुष्टिपूर्वक प्रीति-अप्रीति-होती है, उसे स्वपरका ज्ञानश्रद्धान नहीं है—भेदज्ञान नहीं है ऐसा समझना चाहिये । जो जीव मुनिपद लेकर व्रत समितिका पालन करे तथापि जबतक पर जीवोंकी रक्षा, तथा शरीर संबंधी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्यकी क्रियासे और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने शुभ भावोंसे अपनी मुक्ति मानता है और पर जीवोंका घात होना तथा अथत्नाचाररूपसे प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्यकी क्रियासे और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने अशुभ भावोंसे ही अपना बन्ध

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत्—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।

ण वि सो जाणदि अण्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥

होना मानता है तबतक यह जानना चाहिये कि उसे स्वपरका ज्ञान नहीं हुआ; क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावोंसे ही होता था, शुभाशुभ भाव तो बन्धके ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्त-मात्र ही था, उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया । इसप्रकार जबतक जीव परद्रव्यसे ही भला बुरा मानकर रागद्वेष करता है तबतक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है ।

जबतक अपनेमें चारित्र मोह संबंधी रागादिक रहता है तबतक सम्यग्दृष्टि जीव रागादिमें तथा रागादिकी प्रेरणासे जो परद्रव्यसंबंधी शुभाशुभ क्रियामें प्रवृत्ति करता है उन प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें यह मानता है कि—यह कर्मका जोर है; उससे निवृत्त होनेमें ही मेरा भला है । वह उन्हें रोगवत् जानता है । पीड़ा सहन नहीं होती इसलिये रोगका इलाज करनेमें प्रवृत्त होता है तथापि उसके प्रति उसका राग नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिसे वह रोग मानता है उसके प्रति राग कैसा ? वह उसे मिटाने का ही उपाय करता है और उसका मिटाना भी अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणामनसे मानता है । अतः सम्यग्दृष्टिके राग नहीं है । इसप्रकार यहाँ परमार्थ अध्यात्मदृष्टिसे व्याख्यान जानना चाहिये । यहाँ मिथ्यात्व सहित रागको ही राग कहा है, मिथ्यात्व रहित चारित्रमोहसम्बन्धी परिणामको राग नहीं कहा; इसलिये सम्यग्दृष्टिके ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य ही होती है । सम्यक्दृष्टिके मिथ्यात्व सहित राग नहीं होता और जिसके मिथ्यात्व सहित राग हो वह सम्यक्दृष्टि नहीं है । ऐसे (मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टिके भावोंके) अन्तरको सम्यग्दृष्टि ही जानता है । पहले तो मिथ्यादृष्टिका अध्यात्मशास्त्रमें प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है—व्यवहारको सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट होता है (अर्थात् अशुभ-भावोंमें प्रवर्तता है) अथवा निश्चयको भलीभाँति जाने बिना व्यवहारसे ही मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्त्वमें मूढ़ रहता है । यदि कोई विरल जीव यथार्थ स्याद्वादन्वयसे सत्यार्थको समझ ले तो उसे अवश्य ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है—वह अवश्य सम्यक्दृष्टि हो जाता है । १३७ ।

अब पूछता है कि रागी (जीव) सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता ? उसका उत्तर कहते हैं:—

अणुमात्र भी रागादिका, सद्भाव है जिस जीवको ।

जो सर्वआगमधर भले ही, जानता नहीं आत्मको ॥२०१॥

अप्याणमयाणंतौ अणप्यथं चापि सो अयाणंतो ।
 क्वह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवै अयाणंतो ॥२०२॥

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य ।

नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वाणमधरोऽपि ॥२०१॥

आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन् ।

कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ॥२०२॥

यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेशस्यापि सद्भावोऽस्ति स श्रुतकेवलिकल्पोऽपि ज्ञानमयस्य भावस्याभावादात्मानं न जानाति । यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति, स्वरूपपररूपसत्तासत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात् । ततो य आत्मानात्मानौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति । यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति । ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः ।

गाथा २०१-२०२

गाथार्थः—[खलु] वास्तवमें [यस्य] जिस जीवके [रागादीनां तु परमाणुमात्रम् अपि] परमाणुमात्र-लेशमात्र-भी रागादिक [विद्यते] वर्तता है [सः] वह जीव [सर्वाणमधरः अपि] भले ही सर्वाणमका धारी (समस्त आगमोंको पढ़ा हुआ) हो तथापि [आत्मानं तु] आत्माको [न अपि जानाति] नहीं जानता; [च] और [आत्मानम्] आत्माको [अजानन्] न जानता हुआ [सः] वह [अनात्मानं अपि] अनात्माको (परको) भी [अजानन्] नहीं जानता; [जीवाजीवौ] इसप्रकार जो जीव और अजीवको [अजानन्] नहीं जानता वह [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [कथं भवति] कैसे हो सकता है ?

टीकाः—जिसके रागादि अज्ञानमय भावोंके लेशमात्रका भी सद्भाव है वह भले ही श्रुतकेवली जैसा हो तथापि वह ज्ञानमय भावोंके अभावके कारण आत्माको नहीं जानता; और जो आत्माको नहीं जानता वह अनात्माको भी नहीं जानता क्योंकि स्वरूपसे सत्ता और पररूपसे असत्ता—इन दोनोंके द्वारा एक वस्तुका निश्चय होता है; (जिसे अनात्माका-रागका-निश्चय हुआ हो उसे अनात्मा और आत्मा—दोनोंका निश्चय होना चाहिये ।) इसप्रकार जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता वह जीव और अजीवको नहीं जानता; तथा जो जीव और अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। इसलिये रागी (जीव) ज्ञानके अभावके कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता ।

नहिं जानता जहँ आत्मको, अनआत्म भी नहिं जानता ।

जो क्योंहि होय सुदृष्टि जो, जीव अजीवको नहिं जानता ? ॥२०२॥

* संदाक्रान्ता *

आसंसारत्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमचाः

सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः ।

एतैतैतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः

शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

भावार्थः—यहाँ 'राग' शब्दसे अज्ञानमय रागद्वेषमोह कहे गये हैं । और 'अज्ञानमय' कहनेसे मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धीसे हुए रागादिक समझना चाहिये, मिथ्यात्वके बिना चारित्र-मोहके उदयका राग नहीं लेना चाहिये; क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादिको चारित्रमोहके उदय सम्बन्धी जो राग है सो ज्ञानसहित है; सम्यग्दृष्टि उस रागको कर्मोदयसे उत्पन्न हुआ रोग जानता है और उसे मिटाना ही चाहता है; उसे उस रागके प्रति राग नहीं है । और सम्यग्दृष्टिके रागका लेशमात्र सद्भाव नहीं है ऐसा कहा है सो इसका कारण इसप्रकार है:—सम्यग्दृष्टिके अशुभराग तो अत्यन्त गौण है और जो शुभ राग होता है सो वह उसे किंचित्मात्र भी भला (अच्छा) नहीं समझता—उसके प्रति लेशमात्र राग नहीं करता, और निश्चयसे तो उसके रागका स्वामित्व ही नहीं है । इसलिये उसके लेशमात्र राग नहीं है ।

यदि कोई जीव रागको भला जानकर उसके प्रति लेशमात्र राग करे तो—वह भले ही सर्व शास्त्रोंको पढ़ चुका हो, मुनि हो, व्यवहारचारित्रका पालन करता हो तथापि—यह समझना चाहिये कि उसने अपने आत्माके परमार्थस्वरूपको नहीं जाना, कर्मोदयजनित रागको ही अच्छा मान रक्खा है, तथा उसीसे अपना मोक्ष माना है । इसप्रकार अपने और परके परमार्थस्वरूपको न जाननेसे जीव-अजीवके परमार्थ स्वरूपको नहीं जानता । और जहाँ जीव तथा अजीव—इन दो पदार्थोंको ही नहीं जानता वहाँ सम्यग्दृष्टि कैसा ? तात्पर्य यह है कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं, जिस काव्यके द्वारा आचार्यदेव अनादिकालसे रागादिको अपना पद जानकर सोये हुये रागी प्राणियोंको उपदेश देते हैं:—

श्लोकार्थः—(श्री गुरु संसारी भव्य जीवोंको संबोधन करते हैं कि—) [अन्धाः] हे अन्ध प्राणियों ! [आसंसारत्] अनादि संसारसे लेकर [प्रतिपदम्] पर्याय पर्यायमें [ग्रमो रागिणः] यह रागी जीव [नित्यमस्ताः] सदा मत्त वर्तते हुए [यस्मिन् सुप्ताः] जिस पदमें सो रहे हैं [तत्] वह पद अर्थात् स्थान [अपदम् अपदं] अपद है—अपद है, (तुम्हारा स्थान नहीं है.) [विबुध्यध्वम्] ऐसा तुम समझो । (अपद शब्दको दो बार कहनेसे अति करुणाभाव सूचित होता है ।) [इतः एत एत] इस ओर आओ—इस ओर आओ, (यहाँ निवास करो,) [पदम् इदम् इदं] तुम्हारा पद यह है—यह है, [यत्र] जहाँ [शुद्धः शुद्धः चैतन्यधातुः] शुद्ध—शुद्ध चैतन्यधातु [स्वर-रस-भरतः] निज रसकी अतिशयताके कारण [स्थायिभावत्वम् एति] स्थायीभावत्वको प्राप्त है अर्थात् स्थिर है—अविनाशी

किं नाम तत्पदमित्याह—

आदिहि द्रव्यभावे अपदे मौत्तूण गिरह तह णियहं ।
धित्तयेगमित्तं भावं उवल्लभ्यमानं सहावेण ॥२०३॥

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि हुक्त्वा गृहाण तथा नियतम् ।
स्थिरमेकमित्तं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन ॥२०३॥

है। (यहाँ 'शुद्ध' शब्द दो बार कहा है जो कि द्रव्य और भाव दोनोंकी शुद्धताको सूचित करता है। समस्त अन्यद्रव्योंसे भिन्न होनेके कारण आत्मा द्रव्यसे शुद्ध है और परके निमित्तसे होनेवाले अपने भावोंसे रहित होनेसे भावसे शुद्ध है।)

भावार्थः—जैसे कोई महान पुरुष मद्य पान करके मलिन स्थान पर सो रहा हो उसे कोई आकर जगाये—और सम्बोधित करे कि “यह तेरे सोनेका स्थान नहीं है; तेरा स्थान तो शुद्ध सुवर्णमय धातुसे निर्मित है, अन्य कुधातुओंके मिश्रणसे रहित शुद्ध है और अति सुदृढ़ है; इसलिये मैं तुम्हें जो बतलाता हूँ वहाँ आ और वहाँ शयनादि करके आनन्दित हो;” इसीप्रकार ये प्राणी अनादि संसारसे लेकर रागादिको भला जानकर, उन्हींको अपना स्वभाव मानकर, उसीमें निश्चित होकर सो रहे हैं—स्थित हैं, उन्हें श्री गुरु करुणापूर्वक सम्बोधित करते हैं—जगाते हैं—सावधान करते हैं कि “हे अन्ध प्राणियों ! तुम जिस पदमें सो रहे हो वह तुम्हारा पद नहीं है; तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्यधातुमय है, बाह्यमें अन्य द्रव्योंकी मिलावटसे रहित तथा अन्तरङ्गमें विकार रहित शुद्ध और स्थायी है; उस पदको प्राप्त होओ—शुद्ध चैतन्यरूप अपने भावका आश्रय करो” । १३८ ।

अब यहाँ पूछते हैं कि (हे गुरुदेव !) वह पद क्या है ? उसका उत्तर देते हैंः—

गाथा २०३

गाथायः—[आत्मनि] आत्मामें [अपदानि] अपदभूत [द्रव्यभावान्] द्रव्य-भावोंको [मुक्त्वा] छोड़कर [नियतम्] निश्चित, [स्थिरम्] स्थिर, [एकम्] एक [इमं] इस (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) [भावम्] भावको—[स्वभावेन उपलभ्यमानं] जो कि (आत्माके) स्वभावरूपसे अनुभव किया जाता है उसे—[तथा] (हे भव्य !) जैसा है वैसा [गृहाण] ग्रहण कर। (वह तेरा पद है।)

जीवमें अपदभूत द्रव्यभावको, छोड़ ग्रह तू यथार्थसे ।

थिर, नियत, एक हि भाव यह, उपलभ्य जो हि स्वभावसे ॥२०३॥

इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये मे किल अतस्त्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः, ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुमशक्यत्वात् अपदभूताः । यस्तु तत्त्वभावेनोपलभ्यमानः, नियतत्वावस्थः, एकः, नित्यः, अव्यभिचारी भावः, स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं शक्यत्वात् पदभूतः । ततः सर्वानैवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदं स्वाद्यम् ।

* अतुष्टुम् *

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।

अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥१३९॥

टीका:—वास्तवमें इस भगवान् आत्मामें बहुतसे द्रव्य-भावोंके मध्यमेंसे (द्रव्यभावरूप बहुतसे भावोंके मध्यमेंसे), जो अतस्त्वभावसे अनुभवमें आते हुए (आत्माके स्वभावरूप नहीं किन्तु परस्वभावरूप अनुभवमें आते हुए), अनियत अवस्थावाले, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं, वे सब स्वयं अस्थायी होनेके कारण स्थायताका स्थान अर्थात् रहनेवालेका स्थान नहीं हो सकने योग्य होनेसे अपदभूत हैं; और जो तत्त्वभावसे (आत्मस्वभावरूपसे) अनुभवमें आता हुआ, नियत अवस्थावाला, एक, नित्य, अव्यभिचारी भाव (चैतन्यमात्र ज्ञानभाव) है, वह एक ही स्वयं स्थायी होनेसे स्थायताका स्थान अर्थात् रहनेवालेका स्थान हो सकने योग्य होनेसे पदभूत है। इसलिये समस्त अस्थायी भावोंको छोड़कर, जो स्थायीभावरूप है ऐसा परमार्थरसरूपसे स्वादमें आनेवाला यह ज्ञान एक ही आस्वादनके योग्य है।

भावार्थः—पहले वर्णादिक गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे थे वे सब, आत्मामें अनियत, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं। आत्मा स्थायी है (सदा विद्यमान है) और वे सब भाव अस्थायी हैं इसलिये वे आत्माका स्थान नहीं हो सकते अर्थात् वे आत्माका पद नहीं हैं। जो यह स्वसंवेदनरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है। आत्मा स्थायी है और ज्ञान भी स्थायी भाव है इसलिये वह आत्माका पद है। वह एक ही ज्ञानियोंके द्वारा आस्वाद लेने योग्य है।

अब इस अर्थका कलशरूप कान्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[तत् एकम् एव हि पदम् स्वाद्यं] वह एक ही पद आस्वादनके योग्य है [विपदाम् अपदं] जो कि विपत्तियोंका अपद है (अर्थात् जिसमें आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं) और [यत्पुरः] जिसके आगे [अन्यानि पदानि] अन्य (सब) [अपदानि एव भासन्ते] पद अपद ही भासित होते हैं।

भावार्थः—एक ज्ञान ही आत्माका पद है। उसमें कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती और उसके आगे अन्य सब पद अपदस्वरूप भासित होते हैं (क्योंकि वे आकुलतामय हैं—आपत्तिरूप हैं) ॥१३९॥

• शार्दूलविक्रीडित •

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।
आत्मात्मानुभवानुभावविशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥१४०॥

तथा हि—

आभिणिबोहियसुदोधिमाणकेवलं च तं होदि एकमेव पदं ।
सो एसो परमद्वो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

अब यहाँ कहते हैं कि जब आत्मा ज्ञानका अनुभव करता है तब इसप्रकार करता है:—

श्लोकार्थः—[एक-ज्ञायकभाव-निर्भर-महास्वादं समासादयन्] एक ज्ञायकभावसे भरे हुए महास्वादको लेता हुआ, (इसप्रकार ज्ञानमें ही एकाग्र होनेपर दूसरा स्वाद नहीं आता इसलिये) [द्वन्द्वमयं स्वादं विधातुम् असहः] द्वन्द्वमय स्वादके लेनेमें असमर्थ (वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञानके भेदोंका स्वाद लेनेमें असमर्थ), [आत्म-अनुभव-अनुभाव-विवशः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्] आत्मानुभवके—स्वादके—प्रभावके आधीन होनेसे निज वस्तुवृत्तिको (आत्माकी शुद्ध परिणतिको) जानता—आस्वाद लेता हुआ (आत्माके अद्वितीय स्वादके अनुभवनमेंसे बाहर न आता हुआ) [एषः आत्मा] यह आत्मा [विशेष-उदयं भ्रश्यत्] ज्ञानके विशेषोंके उदयको गौण करता हुआ, [सामान्यं कलयन् किल] सामान्यमात्र ज्ञानका अभ्यास करता हुआ, [सकलं ज्ञानं] सकल ज्ञानको [एकताम् नयति] एकत्वमें लाता है—एकरूपमें प्राप्त करता है।

भावार्थः—इस एक स्वरूपज्ञानके रसीले स्वादके आगे अन्य रस फीके हैं। और स्वरूपज्ञानका अनुभव करते हुए सर्व भेदभाव मिट जाते हैं। ज्ञानके विशेष ज्ञेयके निमित्तसे होते हैं। जब ज्ञानसामान्यका स्वाद लिया जाता है तब ज्ञानके समस्त भेद भी गौण हो जाते हैं, एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि छद्मस्थको पूर्णरूप केवलज्ञानका स्वाद कैसे आवे ? इसका उत्तर पहले शुद्धनयका कथन करते हुए दिया जा चुका है कि शुद्धनय आत्माका शुद्ध पूर्ण स्वरूप बतलाता है इसलिये शुद्धनयके द्वारा पूर्णरूप केवलज्ञानका परोक्ष स्वाद आता है ॥१४०॥

अब, 'कर्मके क्षयोपशमके निमित्तसे ज्ञानमें भेद होने पर भी उसके (ज्ञानके) स्वरूपका विचार किया जाये तो ज्ञान एक ही है और वह ज्ञान ही मोक्षका उपाय है' इस अर्थकी गाथा कहते हैं:—

मति, श्रुत, अबधि, मनः, केवल सवहि एक हि पद जु है ।

वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ती लहे ॥२०४॥

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदम् ।

स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति ॥२०४॥

आत्मा किल परमार्थः, तच्च ज्ञानम्, आत्मा च एक एव पदार्थः, ततो ज्ञानमप्येकमेव पदं; यदेतच्च ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः । न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकं पदमिह भिदन्ति, किन्तु तेऽपीदमेवैकं पदमभिनन्दन्ति । तथा हि—यथात्र सवितुर्धनपटलावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं भिदन्ति, तथा आत्मनः कर्मपटलोदयावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न तस्य ज्ञानस्वभावं भिद्युः, किं तु प्रत्युत तमभिनन्देयुः । ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यम् । तदालम्बनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रान्तिः, भवत्त्वात्मलाभः, सिध्यत्यनात्मपरिहारः, न कर्म मूर्च्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवंते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्म उपशुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति ।

गाथा २०४

गाथार्थः—[आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—[तत्] यह [एकम् एव] एक ही [पदम् भवति] पद है (क्योंकि ज्ञानके समस्त भेद ज्ञान ही हैं); [सः एषः परमार्थः] वह यह परमार्थ है (—शुद्धनयका विषयभूत ज्ञान सामान्य ही यह परमार्थ है—) [यं लब्ध्वा] जिसे प्राप्त करके [निर्वृतिं याति] आत्मा निर्वाणको प्राप्त होता है ।

टीकाः—आत्मा वास्तवमें परमार्थ (परम पदार्थ) है और चह (आत्मा) ज्ञान है; और आत्मा एक ही पदार्थ है; इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है । यह ज्ञान नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्षका उपाय है । यहाँ, मतिज्ञानादि (ज्ञानके) भेद इस एक पदको नहीं भेदते किन्तु वे भी इसी एक पदका अभिनन्दन करते हैं (—समर्थन करते हैं) । इसी बातको दृष्टान्त पूर्वक समझते हैं—जैसे इस जगतमें बादलोंके पटलसे ढका हुआ सूर्य जो कि बादलोंके विघटन (बिखरने) अनुसार प्रगटताको प्राप्त होता है, उसके (सूर्यके) प्रकाशकी (प्रकाश करने की) हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) प्रकाशस्वभावको नहीं भेदते, इसीप्रकार कर्मपटलके उदयसे ढका हुआ आत्मा जो कि कर्मके विघटन (क्षयोपशम) के अनुसार प्रगटताको प्राप्त होता है, उसके ज्ञानके हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) ज्ञानस्वभावको नहीं भेदते, प्रत्युत (उलटे) अभिनन्दन करते हैं । इसलिये जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञानका ही—अवलम्बन करना चाहिये । उसके आलम्बनसे ही (निज) पदकी प्राप्ति होती है, भ्रान्तिका नाश होता है, आत्माका लाभ होता है, और अनात्माका परिहार सिद्ध

* शार्दूलविक्रीडित *

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
 निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
 यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
 वल्गात्पुत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥१४१॥

किं च—

होता है, (ऐसा होनेसे) कर्म बलवान नहीं होते, रागद्वेषमोह उत्पन्न नहीं होते, (रागद्वेषमोहके बिना) पुनः कर्मास्रव नहीं होता, (आस्रवके बिना) पुनः कर्म-बन्ध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म भुक्त होकर निर्जराको प्राप्त हो जाता है, समस्त कर्मोंका अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष होता है। (ऐसे ज्ञानके आलम्बनका ऐसा माहात्म्य है।)

भावार्थः—कर्मके क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानमें जो भेद हुए हैं वे कहीं ज्ञानसामान्यको अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञानको प्रगट करते हैं; इसलिये भेदोंको गौण करके, एक ज्ञानसामान्यका आलम्बन लेकर आत्माको ध्यावना; इसीसे सर्वसिद्धि होती है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[निष्पीत-अखिल-भाव-मण्डल-रस-प्राग्भार-मत्ताः इव] समस्त पदार्थोंके समूहरूपी रसको पी लेनेकी प्रतिशयतासे मानों मत्त हो गई हो ऐसी [यस्य इमाः अच्छ-अच्छाः संवेदनव्यक्तयः] जिनकी यह निर्मलसे भी निर्मल संवेदनव्यक्ति (-ज्ञानपर्याय, अनुभवमें आनेवाले ज्ञानके भेद) [यद् स्वयम् उच्छलन्ति] अपने आप उच्छलती है, [सः एषः भगवान् अद्भुतनिधिः चैतन्य-रत्नाकरः] वह यह भगवान् अद्भुत निधिवाला चैतन्यरत्नाकर, [अभिन्नरसः] ज्ञानपर्यायरूपी तरंगोंके साथ जिसका रस अभिन्न है ऐसा, [एकः अपि अनेकीभवन्] एक होने पर भी अनेक होता हुआ; [उत्कलिकाभिः] ज्ञानपर्यायरूपी तरंगोंके द्वारा [वल्गति] दौलायमान होता है—उच्छलता है।

भावार्थः—जैसे अनेक रत्नोंवाला समुद्र एक जलसे ही भरा हुआ है और उसमें छोटी बड़ी अनेक तरंगें उठती रहती हैं जो कि एक जलरूप ही हैं, इसीप्रकार अनेक गुणोंका भंडार यह ज्ञानसमुद्र आत्मा एक ज्ञानजलसे ही भरा हुआ है और कर्मोंके निमित्तसे ज्ञानके अनेक भेद—(व्यक्तिएँ) अपने आप प्रगट होते हैं उन्हें एक ज्ञानरूप ही जानना चाहिये, खण्ड खण्डरूपसे अनुभव नहीं करना चाहिये। १४१।

अब इसी बातको विशेष कहते हैं:—

* शार्दूलविक्रीडित *

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

एणगुणेण विहीणा एयं तु पर्यं बहू वि ण लहन्ते ।
तं गिगह णियदमेदं यदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

ज्ञानगुणेन विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभन्ते ।
तद् गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षम् ॥२०५॥

श्लोकार्थः—[दुष्करतरैः] कोई जीव तो दुष्करतर और [मोक्ष-उन्मुखैः] मोक्षसे पराङ्मुख [कर्मभिः] कर्मोंके द्वारा [स्वयमेव] स्वयमेव (जिनाज्ञाके विना) [क्लिश्यन्तां] क्लेश पाते हैं तो पायो [च] और [परे] अन्य कोई जीव [महाव्रत-तपः-भारेण] (मोक्षोन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञामें कथित) महाव्रत और तपके भारसे [चिरम्] बहुत समय तक [भग्नाः] भग्न होते हुए [क्लिश्यन्तां] क्लेश प्राप्त करें तो करो; (किन्तु) [साक्षात् मोक्षः] जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, [निरामयपदं] निरामय (भावरोगादि समस्त क्लेशोंसे रहित) पद है और [स्वयं संवेद्यमानं] स्वयं संवेद्यमान है [इदं ज्ञानं] ऐसे इस ज्ञानको [ज्ञानगुणं विना] ज्ञानगुणके विना [कथम् अपि] किसी भी प्रकारसे [प्राप्तुं न हि क्षमन्ते] वे प्राप्त नहीं कर सकते ।

भावार्थः—ज्ञान है वह साक्षात् मोक्ष है; वह ज्ञानसे ही प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रियाकाण्डसे उसकी प्राप्ति नहीं होती । १४२ ।

अब यही उपदेश गाथा द्वारा कहते हैंः—

गाथा २०५

गाथार्थः—[ज्ञानगुणेन विहीनाः] ज्ञानगुणसे रहित [बहवः अपि] बहुतसे लोग (अनेक प्रकारके कर्म करते हुए भी [एतद् पदं तु] इस ज्ञानस्वरूप पदको [लभन्ते] प्राप्त नहीं करते; [तद्] इसलिये हे भव्य ! [यदि] यदि तू [कर्मपरिमोक्षम्] कर्मोंसे सर्वथा मुक्ति [इच्छसि] चाहता हो तो [नियतम् एतत्] नियत इस ज्ञानको [गृहाण] ग्रहण कर ।

रे ज्ञानगुणसे रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके ।

तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्ममोक्षेच्छा तुम्हे ॥२०५॥

यतो हि सकलेनापि कर्मणा, कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात्, ज्ञानस्यानुपलंभः । केवलेन ज्ञानेनैव, ज्ञान एव ज्ञानस्य प्रकाशनात्, ज्ञानस्योपलंभः । ततो बहवोऽपि बहुनापि कर्मणा ज्ञानशून्या नेदमुपलभन्ते, इदमनुपलभमानाश्च कर्मभिर्नि मुच्यन्ते । ततः कर्ममोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टम्भेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलभनीयम् ।

* द्रुतविलंबित *

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं
सहजबोधकलासुलभं किल
तत इदं निजबोधकलाबलात्
कलयितुं यततां सततं जगत् ॥१४३॥

टोकाः—कर्ममें (कर्मकाण्डमें) ज्ञानका प्रकाशित होना नहीं होता इसलिये समस्त कर्मसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती; ज्ञानमें ही ज्ञानका प्रकाश होता है इसलिये केवल (एक) ज्ञानसे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है । इसलिये बहुतसे ज्ञानशून्य जीव, बहुतसे कर्म करने पर भी इस ज्ञानपदको प्राप्त नहीं कर पाते और इस पदको प्राप्त न करते हुए वे कर्मोंसे मुक्त नहीं होते; इसलिये कर्मोंसे मुक्त होनेके इच्छुकको मात्र (एक) ज्ञानके आलम्बनसे, यह नियत एक पद प्राप्त करना चाहिये ।

भावार्थः—ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, कर्मसे नहीं; इसलिये मोक्षार्थीको ज्ञानका ही ध्यान करना ऐसा उपदेश है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[इदं पदम्] यह (ज्ञानस्वरूप) पद [ननु कर्मदुरासदं] कर्मोंसे वास्तवमें 'दुरासद' है और [सहज-बोध-कला-सुलभं किल] सहज ज्ञानकी कलाके द्वारा वास्तवमें सुलभ है; [ततः] इसलिये [निज-बोध-कला-बलात्] निजज्ञानकी कलाके बलसे [इदं कलयितुं] इस पदको अभ्यास करनेके लिये (अनुभव करनेके लिये) [जगत् सततं यततां] जगत् सतत प्रयत्न करो ।

भावार्थः—समस्त कर्मोंको लुड़ाकर ज्ञानकलाके बल द्वारा ही ज्ञानका अभ्यास करनेका आचार्यदेवने उपदेश दिया है । ज्ञानकी 'कला' कहनेसे यह सूचित होता है कि—जबतक संपूर्ण कला (केवलज्ञान) प्रगट न हो तबतक ज्ञान हीनकलास्वरूप—मतिज्ञानादिरूप है; ज्ञानकी उस कलाके आलम्बनसे ज्ञानका अभ्यास करनेसे केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण कला प्रगट होती है । १४३ ।

१. दुरासद = दुष्प्राप्य; न जीता जा सके ऐसा ।

किं च—

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।

एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सौख्यं ॥२०६॥

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुट्ठो भव नित्यमेतस्मिन् ।

एतेन भव तप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम् ॥२०६॥

एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्र एव नित्यमेव रतिमुपैहि । एतावत्येव सत्याशीः यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव संतोषमुपैहि । एतावदेव सत्यमनुभवनीयं यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव तृप्तिमुपैहि । अथैवं तव नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसंतुष्टस्य, आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति । तत्तु तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव द्रक्ष्यसि, *मा अन्यान् प्राक्षीः ।

अब इस गाथामें इसी उपदेशको विशेष कहते हैं:—

गाथा २०६

गाथार्थः—(हे भव्य प्राणी !) तू [एतस्मिन्] इसमें (—ज्ञानमें) [नित्यं] नित्य [रतः] रत श्रधार्थं प्रीतिवाला हो, [एतस्मिन्] इसमें [नित्यं] नित्य [संतुष्टः भव] संतुष्ट हो और [एतेन] इससे [तृप्तः भव] तृप्त हो; (ऐसा करनेसे) [तव] तुझे [उत्तमं सौख्यम्] उत्तम सुख [भविष्यति] होगा ।

टीका:—(हे भव्य !) इतना ही सत्य (—परमार्थस्वरूप) आत्मा है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रमें ही सदा ही रति (—प्रीति, रुचि) प्राप्त कर; इतना ही सत्य कल्याण है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रसे ही सदा ही संतोषको प्राप्त कर; इतना ही सत्य अनुभव करने योग्य है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रसे ही सदा ही तृप्ति प्राप्त कर । इसप्रकार सदा ही आत्मामें रत, आत्मामें संतुष्ट और आत्मासे तृप्त ऐसे तुझको वचनअगोचर सुख प्राप्त होगा; और उस सुखको उसी क्षण तू ही स्वयमेव देखेगा, *दूसरोंसे मत पूछ । (वह अपनेको ही अनुभवगोचर है, दूसरोंसे क्यों पूछना पड़ेगा ?)

* मा अन्यान् प्राक्षीः (दूसरोंको मत पूछ) का पाठान्तर—मागिप्राक्षीः (अति प्रथम न कर)

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे ।

इससे हि बन तू तृप्त. उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे ॥२०६॥

* उपजाति *

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देव-
 चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात् ।
 सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते
 ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥१४४॥

कुतो ज्ञानी परं न परिगृह्णातीति चेत्—

को एवम भणिज्ज बुहो परदब्बं मम इमं हवदि दब्बं ।
 अघ्पाणमप्पणो परिग्रहं तु णियदं वियाणंतो ॥२०७॥

भावार्थः—ज्ञानमात्र आत्मामें लीन होना, उसीसे संतुष्ट होना और उसीसे तृप्त होना परम ध्यान है। उससे वर्तमान आनन्दका अनुभव होता है और थोड़े ही समयमें ज्ञानानन्दस्वरूप केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। ऐसा करनेवाला पुरुष ही उस सुखको जानता है, दूसरेका इसमें प्रवेश नहीं है।

अब, ज्ञानानुभवकी महिमाका और आगामी गाथाकी सूचनाका काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[यस्मात्] क्योंकि [एषः] यह (ज्ञानी) [स्वयम् एव] स्वयं ही [अचिन्त्य-
 शक्तिः देवः] अचिन्त्य शक्तिवाला देव है और [चिन्मात्र-चिन्तामणिः] चिन्मात्र चिन्तामणि है इसलिये
 [सर्व-अर्थ-सिद्ध आत्मतया] जिसके सर्व अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध हैं ऐसा स्वरूप होनेसे [ज्ञानी]
 ज्ञानी [अन्यस्य परिग्रहेण] दूसरेके परिग्रहसे [किम् विधत्ते] क्या करेगा ? (कुछ भी करनेका
 नहीं है ।)

भावार्थः—यह ज्ञानमूर्ति आत्मा स्वयं ही अनंत शक्तिका धारक देव है और स्वयं ही चैतन्यरूपी
 चिन्तामणि होनेसे वांछित कार्यकी सिद्धि करनेवाला है; इसलिये ज्ञानीके सर्व प्रयोजन सिद्ध होनेसे उसे
 अन्य परिग्रहका सेवन करनेसे क्या साध्य है ? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं। ऐसा निश्चयनयका
 उपदेश है। १४४।

अब प्रश्न करता है कि ज्ञानी परको क्यों ग्रहण नहीं करता ? इसका उत्तर कहते हैं:—

‘परद्रव्य यह मुझ द्रव्य,’ यों तो कौन ज्ञानीजन कहे।

निज आत्मको निजका परिग्रह, जानता जो नियमसे ॥२०७॥

को नाम भयोद्बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम् ।

आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥२०७॥

यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः स तस्य स्वामीति खरतरतत्त्व-
दृष्टचवष्टंभात्, आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियमेन विजानाति, ततो न ममेदं स्वं, नाहमस्य
स्वामी इति परद्रव्यं न परिगृह्णाति ।

अतोऽहमपि न तत् परिगृह्णामि—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।

एादेव अहं जम्हा तम्हा ए परिग्गहो मज्झ ॥२०८॥

गाथा २०७

गाथार्थः—[आत्मानम् तु] अपने आत्माको ही [नियतं] नियमसे [आत्मनः परिग्रहं]
अपना परिग्रह [विजानन्] जानता हुआ [कः नाम बुधः] कौनसा ज्ञानी [भयोत्] यह कहेगा कि
[इदं परद्रव्यं] यह परद्रव्य [मम द्रव्यम्] मेरा द्रव्य [भवति] है ?

टीकाः—जो जिसका स्वभाव है वह उसका 'स्व' है और वह उसका (स्व भावका) स्वामी
है—इसप्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टिके आलम्बनसे ज्ञानी (अपने) आत्माको ही नियमसे आत्माका
परिग्रह जानता है, इसलिये “यह मेरा 'स्व' नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ” ऐसा जानता हुआ
परद्रव्यका परिग्रह नहीं करता (अर्थात् परद्रव्यको अपना परिग्रह नहीं करता) ।

भावार्थः—यह लोकरीति है कि समझदार सयाना पुरुष दूसरेकी वस्तुको अपनी नहीं जानता,
उसे ग्रहण नहीं करता । इसीप्रकार परमार्थज्ञानी अपने स्वभावको ही अपना धन जानता है, परके भावको
अपना नहीं जानता, उसे ग्रहण नहीं करता । इसप्रकार ज्ञानी परका ग्रहण—सेवन नहीं करता ।

“इसलिये मैं भी परद्रव्यको ग्रहण नहीं करूँगा” इसप्रकार अब (मोक्षाभिलाषी जीव)
कहता हैः—

* स्व = धन; मिलिक्रयत; अपनी स्वामित्वकी चीज ।

परिग्रह कभी मेरा बने, तो मैं अजीव बन् अरे ।

मैं नियमसे ज्ञाता हि, इससे नहीं परिग्रह मुझ बने ॥२०८॥

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयम् ।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ॥२०८॥

यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृह्णीयां तदावश्यमेवाजीवो ममासौ स्वः स्यात्, अहमप्यवश्य-
मेवाजीवस्यागुप्य स्वामी स्याम् । अजीवस्य तु यः स्वामी, स किलाजीव एव । एवमवशेनापि
ममाजीवत्वमापद्येत । मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः, अस्यैवाहं स्वामी; ततो मा
भून्ममाजीवत्वं, ज्ञातैवाहं भविष्यामि, न परद्रव्यं परिगृह्णामि ।

अयं च मे निश्चयः—

छिज्जहु वा भिज्जहु वा णिज्जहु वा अहव जाहु विप्पलयं ।
जम्हा तम्हा गच्छहु तह वि हु ण परिग्रहो मज्झ ॥२०९॥

गाथा २०८

गाथार्थः—[यदि] यदि [परिग्रहः] परद्रव्य-परिग्रह [मम] मेरा हो [ततः] तो [ग्रहम्]
मैं [अजीवतां तु] अजीवत्वको [गच्छेयम्] प्राप्त हो जाऊँ । [यस्मात्] क्योंकि [ग्रहं] मैं तो
[जाता एव] जाता ही हूँ [तस्मात्] इसलिये [परिग्रहः] (परद्रव्यरूप) परिग्रह [मम न] मेरा
नहीं है ।

टीकाः—यदि मैं अजीव परद्रव्यका परिग्रह करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा 'स्व' हो, और
मैं भी अवश्य ही उस अजीवका स्वामी होऊँ, और जो अजीवका स्वामी होगा वह वास्तवमें अजीव ही
होगा । इसप्रकार अवशतः (लाचारीसे) मुझमें अजीवत्व आ पड़े । मेरा तो एक ज्ञायक भाव ही जो
'स्व' है, उसीका मैं स्वामी हूँ, इसलिये मुझको अजीवत्व न हो, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा, मैं परद्रव्यका
परिग्रह नहीं करूँगा ।

भावार्थः—निश्चयनयसे यह सिद्धान्त है कि जीवका भाव जीव ही है, उसके साथ जीवका स्व-
स्वामी संबंध है, और अजीवका भाव अजीव ही है, उसके साथ अजीवका स्व-स्वामी संबंध है । यदि
जीवके अजीवका परिग्रह माना जाय तो जीव अजीवत्वको प्राप्त हो जाय, इसलिये परमार्थतः जीवके
अजीवका परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है । ज्ञानीके ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं होती । ज्ञानी तो यह मानता है
कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, मैं तो ज्ञाता हूँ ।

'और मेरा तो यह (निम्नोक्त) निश्चय है' यह अव कहते हैंः—

छेदाय या भेदाय, को लै जाय, नष्ट बनी भले ।
या अन्य को रीत जाय, पर परिग्रह न मेरा है अरे ॥२०९॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयम् ।
यस्मात्तस्माद् गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम ॥२०९॥

छिद्यतां वा, भिद्यतां वा, नीयतां वा, विप्रलयं यातु वा, यतस्ततो गच्छतु वा, तथापि न परद्रव्यं परिगृह्णामि; यतो न परद्रव्यं मम स्वं, नाहं परद्रव्यस्य स्वामी, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी, अहमेव मम, स्वं अहमेव मम स्वामीति जानामि ।

* वसन्ततिलका *

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥१४५॥

वाथा २०९

गाथार्थः—[छिद्यतां वा] छिद जाये, [भिद्यतां वा] अथवा भिद जाये; [नीयतां वा] अथवा कोई ले जाये, [अथवा विप्रलयम् यातु] अथवा नष्ट हो जाये, [यस्मात् तस्मात् गच्छतु] अथवा चाहे जिसप्रकारसे चला जाये, [तथापि] फिर भी [खलु] वास्तवमें [परिग्रहः] परिग्रह [मम न] मेरा नहीं है ।

टोकाः—परद्रव्य छिदे, अथवा भिदे, अथवा कोई उसे ले जाये, अथवा वह नष्ट हो जाये, या चाहे जिसप्रकारसे जाये, तथापि मैं परद्रव्यको परिग्रहण नहीं करूँगा; क्योंकि 'परद्रव्य मेरा स्व नहीं है, —मैं परद्रव्यका स्वामी नहीं हूँ, परद्रव्य ही परद्रव्यका स्व है,—परद्रव्य ही परद्रव्यका स्वामी है, मैं ही अपना स्व हूँ,—मैं ही अपना स्वामी हूँ'—ऐसा मैं जानता हूँ ।

भावार्थः—ज्ञानीको परद्रव्यके विगड़ने-सुधरनेका हर्षविपाद नहीं होता ।

अब इस अर्थका कलशरूप और आगामी कथनका सूचनारूप काव्य कहते हैंः—

* श्लोकार्थः—[इत्थं] इसप्रकार [समस्तम् एव परिग्रहम्] समस्त परिग्रहको [सामान्यतः] सामान्यतः [अपास्य] छोड़कर [अधुना] अब [स्वपरयोः अविवेकहेतुम् अज्ञानम् उज्झितुमनाः अयं]

* इस कलशका अर्थ इसप्रकार भी होता हैः—[इत्थं] इसप्रकार [स्वपरयोः अविवेकहेतुम् समस्तम् एव परिग्रहम्] स्व-परके अविवेकके कारणरूप समस्त परिग्रहको [सामान्यतः] सामान्यतः [अपास्य] छोड़कर [अधुना] अब, [अज्ञानम् उज्झितुमनाः अयं] अज्ञानको छोड़नेका जिसका मन है ऐसा यह, [भूयः] फिर भी [तम् एव] उसे ही [विशेषात्] विशेषतः [परिहर्तुम्] छोड़नेके लिये [प्रवृत्तः] प्रवृत्त हुआ है ।

अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो एणी य णिच्छदे धम्मं ।
अपरिग्रहो तु धम्मस्स जाणो तेण सो हादि ॥२१०॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मम् ।

अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१०॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावाद्धर्मं नेच्छति । तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद्धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ।

स्व-परके अविवेकके कारणरूप अज्ञानको छोड़नेका जिनका मन है ऐसा यह [भूयः] पुनः [तम् एव] उसीको (-परिग्रहको ही-) [विशेषात्] विशेषतः [परिहर्तुं] छोड़नेको [प्रवृत्तः] प्रवृत्त हुआ है ।

भावार्थः—स्व-परको एकरूप जाननेका कारण अज्ञान है । उस अज्ञानको सम्पूर्णतया छोड़नेके इच्छुक जीवने पहले तो परिग्रहका सामान्यतः त्याग किया और अब (आगामी गाथाओंमें) उस परिग्रहको विशेषतः (भिन्न भिन्न नाम लेकर) छोड़ता है । १४५ ।

पहले यह कहते हैं कि ज्ञानीके धर्मका (पुण्यका) परिग्रह नहीं हैः—

गाथा २१०

गाथार्थः—[अनिच्छः] अनिच्छकको [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [धर्मम्] धर्मको (पुण्यको) [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिये [सः] वह [धर्मस्य] धर्मका [अपरिग्रहः तु] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [ज्ञायकः] (धर्मका) ज्ञायक ही [भवति] है ।

टीकाः—इच्छा परिग्रह है । उसको परिग्रह नहीं है—जिसको इच्छा नहीं है । इच्छा तो अज्ञान-मयभाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है, इसलिये अज्ञानमय भाव—इच्छाके अभाव होनेसे ज्ञानी धर्मको नहीं चाहता; इसलिये ज्ञानीके धर्मका परिग्रह नहीं है । ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावके कारण यह (ज्ञानी) धर्मका केवल ज्ञायक ही है ।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानीके अधर्मका (पापका) परिग्रह नहीं हैः—

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहीं पुण्य इच्छा ज्ञानीके ।

इससे न परिग्रहि पुण्यका वो, पुण्यका ज्ञायक रहे ॥२१०॥

अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो णाणी य णिच्छदि अधम्मं ।
अपरिग्रहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२११॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मम् ।

अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२११॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादधर्मं नेच्छति । तेन ज्ञानिनोऽधर्मपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ।

एवमेव चाधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोऽकर्मनोवचनकायश्रोत्रचक्षु-
घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशाऽन्यान्यप्यूह्यानि ।

गाथा २११

गाथार्थः—[अनिच्छः] अनिच्छकको [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च]
और [ज्ञानी] ज्ञानी [अधर्मम्] अधर्मको (पापको) [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिये
[सः] वह [अधर्मस्य] अधर्मका [अपरिग्रहः] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [ज्ञायकः] (अधर्मका)
ज्ञायक ही [भवति] है ।

टीकाः—इच्छा परिग्रह है । उसको परिग्रह नहीं है—जिसके इच्छा नहीं है । इच्छा तो
अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिये
अज्ञानमय भाव—इच्छाके अभाव होनेसे ज्ञानी अधर्मको नहीं चाहता; इसलिये ज्ञानीके अधर्मका परिग्रह
नहीं है । ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावके कारण यह (ज्ञानी) अधर्मका केवल ज्ञायक ही है ।
इसीप्रकार गाथामें 'अधर्म' शब्द बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म,
नोकर्म, मत्त, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन—यह सोलह शब्द रखकर, सोलह
गाथासूत्र व्याख्यानरूप करना और इस उपदेशसे दूसरे भी विचार करना चाहिये ।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानीके आहारका भी परिग्रह नहीं हैः—

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहीं पाप इच्छा ज्ञानिके ।

इससे न परिग्रहि पापका वो, पापका ज्ञायक रहे ॥२११॥

अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो णाणी य णिच्छहे असणं ।
अपरिग्रहो तु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यशनम् ।

अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१२॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादशनं नेच्छति । तेन ज्ञानिनोऽशनपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादशनस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ।

गाथा २१२

गाथार्थः—[अनिच्छः] अनिच्छकको [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [अशनम्] भोजनको [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिये [सः] वह [अशनस्य] भोजनका [अपरिग्रहः तु] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [ज्ञायकः] (भोजनका) ज्ञायक ही [भवति] है ।

टीकाः—इच्छा परिग्रह है । उसको परिग्रह नहीं है—जिसको इच्छा नहीं है । इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिये अज्ञानमय भाव—इच्छाके अभावके कारण ज्ञानी भोजनको नहीं चाहता; इसलिये ज्ञानीके भोजनका परिग्रह नहीं है । ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावके कारण यह (ज्ञानी) भोजनका केवल ज्ञायक ही है ।

भाषार्थः—ज्ञानीके आहारकी भी इच्छा नहीं होती इसलिये ज्ञानीका आहार करना वह भी परिग्रह नहीं है । यहाँ प्रश्न होता है कि—आहार तो मुनि भी करते हैं; उनके इच्छा है या नहीं ? इच्छाके बिना आहार कैसे किया जा सकता है ? समाधानः—असातावेदनीय कर्मके उदयसे जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्योत्तरायके उदयसे उसकी वेदना सहन नहीं की जा सकती और चारित्रमोहके उदयसे आहार ग्रहणकी इच्छा उत्पन्न होती है । उस इच्छाको ज्ञानी कर्मादयका कार्य जानते हैं, और उसे रोग समान जानकर मिटाना चाहते हैं । ज्ञानीके इच्छाके प्रति अनुरागरूप इच्छा नहीं होती अर्थात् उसके ऐसी इच्छा नहीं होती कि मेरी यह इच्छा सदा रहे । इसलिये उसके अज्ञानमय इच्छाका अभाव है । परजन्य इच्छाका स्वामित्व ज्ञानीके नहीं होता इसलिये ज्ञानी इच्छाका भी ज्ञायक ही है । इसप्रकार शुद्धनयकी प्रधानतासे कथन जानना चाहिये ।

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहीं अशन इच्छा ज्ञानिके ।

इससे न परिग्रहि अशनका वो, अशनका ज्ञायक रहे ॥२१२॥

अपरिग्रहो अणिच्छो भणितो एणी य णिच्छदे पाणं ।
अपरिग्रहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानम् ।

अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१३॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति । तेन ज्ञानिनः पानपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक एवायं स्यात् ।

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो एणीरालंबो दु सव्वस्थ ॥२१४॥

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के पानी इत्यादिके पीनेका भी परिग्रह नहीं है:—

गाथा २१३

गाथार्थः—[अनिच्छः] अनिच्छकको [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [पानम्] पानको (पेयको) [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिये [सः] वह [पानस्य] पानका [अपरिग्रहः तु] परिग्रही नहीं, किन्तु [ज्ञायकः] (पानका) ज्ञायक ही [भवति] है ।

टीका:—इच्छा परिग्रह है । उसको परिग्रह नहीं है कि जिसको इच्छा नहीं है । इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय भाव ही होता है; इसलिये अज्ञानमय भाव जो इच्छा उसके अभावसे ज्ञानी पानको (पानी इत्यादि पेयको) नहीं चाहता; इसलिये ज्ञानीके पानका परिग्रह नहीं है । ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावके कारण यह (ज्ञानी) पानका केवल ज्ञायक ही है ।

भावार्थः—आहारकी गाथाके भावार्थकी भाँति यहाँ भी समझना चाहिये ।

ऐसे ही अन्य भी अनेक प्रकारके परजन्य भावोंको ज्ञानी नहीं चाहता, यह कहते हैं:—

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहीं पान इच्छा ज्ञानिके ।

इससे न परिग्रहि पानका वो, पानका ज्ञायक रहे ॥२१३॥

ये आदि विधविध भाव बहु ज्ञानी न इच्छे सर्वको ।

सर्वत्र आलंबन रहित वस, नियत ज्ञायकभाव वो ॥२१४॥

एवमादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावान् नेच्छति ज्ञानी ।
ज्ञायकभावो नियतो निरालम्बस्तु सर्वत्र ॥२१४॥

एवमादयोऽन्येऽपि बहुप्रकाराः परद्रव्यस्य ये स्वभावास्तान् सर्वानिव नेच्छति ज्ञानी, तेन ज्ञानिनः सर्वेषामपि परद्रव्यभावानां परिग्रहो नास्ति । इति सिद्धं ज्ञानिनोऽत्यन्तनिष्परिग्रहत्वम् । अथैवमयमशेषभावांतरपरिग्रहशून्यत्वादुद्धातंसमस्ताज्ञानः सर्वत्राप्यत्यन्तनिरालम्बो भूत्वा प्रतिनियत-टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावः सन् साक्षाद्विज्ञानघनमात्मानमनुभवति ।

* स्वागता *

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात्
ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात्
नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥१४६॥

गाथा २१४

गाथार्थः—[एवमादिकान् तु] इत्यादिक [विविधान्] अनेक प्रकारके [सर्वान् भावान् च] सर्व भावोंको [ज्ञानी] ज्ञानी [न इच्छति] नहीं चाहता; [सर्वत्र निरालम्बः तु] सर्वत्र (सभीमें) निरालम्ब वह [नियतः ज्ञायकभावः] निश्चित ज्ञायकभाव ही है ।

टीकाः—इत्यादिक अन्य भी अनेक प्रकारके जो परद्रव्यके स्वभाव हैं उन सभीको ज्ञानी नहीं चाहता इसलिये ज्ञानीके समस्त परद्रव्यके भावोंको परिग्रह नहीं है । इसप्रकार ज्ञानीके अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध हुआ ।

अब इसप्रकार, समस्त अन्य भावोंके परिग्रहसे शून्यत्वके कारण जिसने समस्त अज्ञानका वमन कर डाला है ऐसा यह (ज्ञानी), सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब होकर, नियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव रहता हुआ, साक्षात् विज्ञानघन आत्माका अनुभव करता है ।

भावार्थः—पुण्य, पाप, अज्ञान, पान इत्यादि समस्त अन्यभावोंका ज्ञानीको परिग्रह नहीं है क्योंकि समस्त परभावोंको हेय जाने तब उसकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं होती ।*

अब आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[पूर्वबद्ध-निज-कर्म-विपाकात्] पूर्वबद्ध अपने कर्मके विपाकके कारण [ज्ञानिनः यदि उपभोगः भवति तत् भवतु] ज्ञानीके यदि उपभोग हो तो हो । [अथ च] परन्तु [रागवियोगात्]

* पहले, मोक्षामिलापी सर्व परिग्रहको छोड़नेके लिये प्रवृत्त हुआ था; उसने इस गाथा तकमें समस्त परिग्रह-भावको छोड़ दिया, और इसप्रकार समस्त अज्ञानको दूर कर दिया तथा ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव किया ।

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्धि ए तस्स सो णिच्चं ।

कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वं णाणी ॥२१५॥

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यम् ।

कांक्षामनागतस्य च उदयस्य न करोति ज्ञानी ॥२१५॥

कर्मोदयोपभोगस्तावत् अतीतः प्रत्युत्पन्नोऽनागतो वा स्यात् । तत्रातीतस्तावत् अतीतत्वादेव स न परिग्रहभावं विभर्ति । अनागतस्तु आकांक्ष्यमाण एव परिग्रहभावं विभृयात् । प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्ध्या प्रवर्तमान एव तथा स्यात् । न च प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनो रागबुद्ध्या प्रवर्तमानो दृष्टः, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्य रागबुद्धेरभावात् । वियोगबुद्ध्यैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रहः स्यात् । ततः प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत् । अनागतस्तु स किल ज्ञानिनो नाकांक्षित एव, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्याकांक्षाया अभावात् । ततोऽनागतोऽपि कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत् ।

रागके वियोग (-अभाव)के कारण [नूनम्] वास्तवमें [परिग्रहभावम् न एति] वह उपभोग परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—पूर्वबद्ध कर्मका उदय आने पर उपभोगसामग्री प्राप्त होती है यदि उसे अज्ञानमय रागभावसे भोगा जाये तो वह उपभोग परिग्रहत्वको प्राप्त हो । परन्तु ज्ञानीके अज्ञानमय रागभाव नहीं होता । वह जानता है कि जो पहले बाँधा था वह उदयमें आगया और छूट गया है; अब मैं उसे भविष्यमें नहीं चाहता । इसप्रकार ज्ञानीके रागरूप इच्छा नहीं है इसलिये उसका उपभोग परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता । १४६ ।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानीके त्रिकाल सम्बन्धी परिग्रह नहीं है:—

माथा २१५

गाथाः—[उत्पन्नोदयभोगः] जो उत्पन्न (वर्तमान कालके) उदयका भोग है [सः] वह, [तस्य] ज्ञानीके [नित्यम्] सदा [वियोगबुद्ध्या] वियोगबुद्धिसे होता है [च] और [अनागतस्य उदयस्य] आगामी उदयकी [ज्ञानी] ज्ञानी [कांक्षाम्] वांछा [न करोति] नहीं करता ।

टीकाः—कर्मके उदयका उपभोग तीन प्रकारका होता है—अतीत, वर्तमान और भविष्य कालका । इनमेंसे पहला, जो अतीत उपभोग है वह अतीतता (व्यतीत हो चुका होने)के कारण ही परिग्रहभावको धारण नहीं करता । भविष्यका उपभोग यदि वांछामें आता हो तो ही वह परिग्रहभावको

सांप्रत उदयके भोगमें जु वियोगबुद्धी ज्ञानिके ।

अरु भावि कर्मविपाककी, कांक्षा नहीं ज्ञानी करे ॥२१५॥

कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकांक्षतीति चेत्—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सहे उभयं ।

तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ए कंखइ कयावि ॥२१६॥

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयम् ।

तद्ज्ञायकस्तु ज्ञानी उभयमपि न कांक्षति कदापि ॥२१६॥

धारण करता है; और जो वर्तमान उपभोग है वह यदि रागबुद्धिसे हो रहा हो तो ही परिग्रहभावको धारण करता है ।

वर्तमान कर्मोदय उपभोग ज्ञानीके रागबुद्धिसे प्रवर्तमान दिखाई नहीं देता क्योंकि ज्ञानीके अज्ञानमयभाव जो रागबुद्धि उसका अभाव है; और केवल विद्योगबुद्धि (हेयबुद्धि) से ही प्रवर्तमान वह वास्तवमें परिग्रह नहीं है । इसलिये वर्तमान कर्मोदय-उपभोग ज्ञानीके परिग्रह नहीं है (-परिग्रहरूप नहीं है) ।

अनागत उपभोग तो वास्तवमें ज्ञानीके वाञ्छित ही नहीं है (अर्थात् ज्ञानीको उसकी इच्छा ही नहीं होती) क्योंकि ज्ञानीके अज्ञानमय भाव-वाञ्छाका अभाव है । इसलिये अनागत कर्मोदय-उपभोग ज्ञानीके परिग्रह नहीं है (-परिग्रहरूप नहीं है) ।

भावार्थः—अतीत कर्मोदय-उपभोग तो व्यतीत ही हो चुका है । अनागत उपभोगकी वाञ्छा नहीं है; क्योंकि ज्ञानी जिस कर्मको अहितरूप जानता है उसके आगामी उदयके भोगकी वाञ्छा क्यों करेगा ? वर्तमान उपभोगके प्रति राग नहीं है; क्योंकि वह जिसे हेय जानता है उसके प्रति राग कैसे हो सकता है ? इसप्रकार ज्ञानीके जो त्रिकाल संबंधी कर्मोदयका उपभोग है वह परिग्रह नहीं है । ज्ञानी वर्तमानमें जो उपभोगके साधन एकत्रित करता है वह तो जो पीड़ा नहीं सही जा सकती उसका उपचार करता है—जैसे रोगी रोगका उपचार करता है । यह, अशक्तिका दोष है ।

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानी अनागत कर्मोदय-उपभोगकी वाञ्छा क्यों नहीं करता ? उसका उत्तर यह हैः—

गाथा २-१६

गाथार्थः—[यः वेदयते] जो भाव वेदन करता है (अर्थात् वेदकभाव) और [वेद्यते] जो भाव वेदन किया जाता है (अर्थात् वेद्यभाव) [उभयम्] वे दोनों भाव [समये समये] समय समय पर [विनश्यति] नष्ट हो जाते हैं—[तद्ज्ञायकः तु] ऐसा जाननेवाला [ज्ञानी] ज्ञानी [उभयम् अपि] उन दोनों भावोंकी [कदापि] कभी भी [न कांक्षति] वाञ्छा नहीं करता ।

रे ! वेद्य वेदक भाव दोनों, समय समय विनष्ट है ।

ज्ञानी रहै ज्ञायक, कदापि न उभयकी कांक्षा करे ॥२१६॥

ज्ञानी हि तावद् ध्रुवत्वात् स्वभावभावस्य टंकौत्कीर्णैकज्ञायकभावो नित्यो भवति, यौ तु वेद्यवेदकभावौ तौ तूत्पन्नप्रध्वंसित्वाद्बिभावभावानां क्षणिकौ भवतः । तत्र यो भावः कांक्षमाणं वेद्यभावं वेदयते स यावद्भवति तावत्कांक्षमाणो वेद्यो भावो विनश्यति; तस्मिन् विनष्टे वेदको भावः किं वेदयते ? यदि कांक्षमाणवेद्यभावपृष्ठभाविनमन्यं भावं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति; कस्तं वेदयते ? यदि वेदकभावपृष्ठभावी भावोन्यस्तं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति; किं स वेदयते ? इति कांक्षमाणभाववेदनानवस्था । तां च विजानन् ज्ञानी न किञ्चिदेव कांक्षति ।

टीका:—ज्ञानी तो, स्वभावभावका ध्रुवत्व होनेसे, टंकौत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप नित्य है; और जो 'वेद्य-वेदक (दो) भाव हैं वे, विभावभावोंका उत्पन्न-विनाशत्व होनेसे, क्षणिक हैं। वहाँ, जो भाव कांक्षमाण (अर्थात् वांछा करनेवाला) ऐसे वेद्यभावका वेदन करता है अर्थात् वेद्यभावका अनुभव करनेवाला है वह (वेदकभाव) जबतक उत्पन्न होता है तबतक कांक्षमाण (-अर्थात् वांछा करनेवाला) वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है; उसके विनष्ट हो जाने पर, वेदकभाव किसका वेदन करेगा ? यदि यह कहा जाये कि कांक्षमाण वेद्यभावके बाद उत्पन्न होनेवाले अन्य वेद्यभावका वेदन करता है, तो—(वहाँ ऐसा है कि) उस अन्य वेद्यभावके उत्पन्न होनेसे पूर्व ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है; तब फिर उस दूसरे वेद्यभावका कौन वेदन करेगा ? यदि यह कहा जाये कि वेदकभावके बाद उत्पन्न होनेवाला दूसरा वेदकभाव उसका वेदन करता है, तो—(वहाँ ऐसा है कि) उस दूसरे वेदकभावके उत्पन्न होनेसे पूर्व ही वह वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है; तब फिर वह दूसरा वेदकभाव किसका वेदन करेगा ? इसप्रकार कांक्षमाण भावके वेदनकी अनवस्था है, उस अनवस्थाको जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता ।

भावार्थ:—वेदकभाव और वेद्यभावमें काल भेद है । जब वेदकभाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता । जब वेदकभाव आता है तब वेद्यभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभाव किसका वेदन करेगा ? और जब वेद्यभाव आता है तब वेदकभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभावके बिना वेद्यका कौन वेदन करेगा ? ऐसी अव्यवस्थाको जानकर ज्ञानी स्वयं ज्ञाता ही रहता है, वांछा नहीं करता ।

यहाँ प्रश्न होता है कि—आत्मा तो नित्य है इसलिये वह दोनों भावोंका वेदन कर सकता है; तब फिर ज्ञानी वांछा क्यों न करे ? समाधान:—वेद्य-वेदक भाव विभावभाव हैं, स्वभावभाव नहीं, इसलिये वे विनाशीक हैं; अतः वांछा करनेवाला वेद्यभाव जबतक आता है तबतक वेदकभाव (भोगनेवाला भाव) नष्ट हो जाता है, और दूसरा वेदकभाव आये तबतक वेद्यभाव नष्ट हो जाता है; इसप्रकार वांछित भोग तो नहीं होता । इसलिये ज्ञानी निष्कल वांछा क्यों करे ? जहाँ मनोवांछितका वेदन नहीं होता वहाँ वांछा करना अज्ञान है ।

१ वेद्य=वेदनमें आने योग्य, वेदक=वेदनेवाला; अनुभव करनेवाला ।

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्
 वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।
 तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान्
 सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥१४७॥

तथाहि—

बंधोपभोगनिमित्ते अजम्भवसाणोदेषु णाणिसस ।
 संसारदेहद्विषयेषु एव उपपज्जदे रागो ॥२१७॥
 बंधोपभोगनिमित्तेषु अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः ।
 संसारदेहद्विषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥२१७॥

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[वेद्य-वेदक-विभाव-चलत्वात्] वेद्य-वेदकरूप विभावभावोंकी चलता (अस्थिरता) होनेसे [खलु] वास्तवमें [कांक्षितम् एव वेद्यते न] वांछितका वेदन नहीं होता; [तेन] इसलिये [विद्वान् किञ्चन कांक्षति न] ज्ञानी कुछ भी वांछा नहीं करता, [सर्वतः अपि प्रतिविरक्तिम् उपैति] सबके प्रति अत्यन्त विरक्तताको (वैराग्यभावको) प्राप्त होता है ।

भावार्थः—अनुभवगोचर वेद्य-वेदक विभावोंमें काल भेद है, उनका मिलाप नहीं होता, (क्योंकि वे कर्मके निमित्तसे होते हैं इसलिये अस्थिर हैं); इसलिये ज्ञानी आगामी काल सम्बन्धी वांछा क्यों करे ? ॥ १४७ ॥

इसप्रकार ज्ञानीको सर्व उपभोगोंके प्रति वैराग्य है, यह कहते हैं ।

गाथा २१७

गाथार्थः—[बंधोपभोगनिमित्तेषु] बंध और उपभोगके निमित्तभूत [संसारदेहद्विषयेषु] संसारसम्बन्धी और देहसम्बन्धी [अध्यवसानोदयेषु] अध्यवसानके उदयोंमें [ज्ञानिनः] ज्ञानीके [रागः] राग [न एव उत्पद्यते] उत्पन्न नहीं होता ।

संसारतनसम्बन्धि, अरु बन्धोपभोगनिमित्त जी ।

उन सर्व अध्यवसानउदय जु, राग होय न ज्ञानिकी ॥२१७॥

इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः, कतरेऽपि शरीरविषयाः । तत्र यतरे संसारविषयाः ततरे बंधनिमिच्छाः, यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमिच्छाः । यतरे बंधनिमिच्छास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः, यतरे तूपभोगनिमिच्छास्ततरे सुखदुःखाद्याः । अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञानिनो नास्ति रागः, नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावस्य तस्य तत्प्रतिषेधात् ।

✽ स्वागता ✽

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं
कर्म रागरसरिक्ततयैति ।
रंगयुक्तिरक्षायितवस्त्रे
स्त्रीकृतैव हि बहिलुंठतीह ॥१४८॥

टीकाः—इस लोकमें जो अध्यवसानके उदय हैं वे कितने ही तो संसार सम्बन्धी हैं और कितने ही शरीर सम्बन्धी हैं । उनमेंसे जितने संसारसंबन्धी हैं, उतने बंधके निमित्त हैं और जितने शरीर सम्बन्धी हैं उतने उपभोगके निमित्त हैं । जितने बंधके निमित्त हैं उतने तो रागद्वेषमोहादिक हैं और जितने उपभोगके निमित्त हैं उतने सुखदुःखादिक हैं । इन सभीमें ज्ञानीके राग नहीं है; क्योंकि वे सभी नाना द्रव्योंके स्वभाव हैं इसलिये, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाववाले ज्ञानीके उनका निषेध है ।

भावार्थः—जो अध्यवसानके उदय संसार सम्बन्धी हैं और बंधनके निमित्त हैं वे तो राग, द्वेष, मोह इत्यादि हैं तथा जो अध्यवसानके उदय देह सम्बन्धी हैं और उपभोगके निमित्त हैं वे सुख, दुःख इत्यादि हैं । वे सभी (अध्यवसानके उदय), नाना द्रव्योंके (अर्थात् पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य जो कि संयोगरूप हैं, उनके) स्वभाव हैं; ज्ञानीका तो एक ज्ञायकस्वभाव है । इसलिये ज्ञानीके उनका निषेध है; अतः ज्ञानीको उनके प्रति राग या प्रीति नहीं है । परद्रव्य, परभाव संसारमें भ्रमणके कारण हैं; यदि उनके प्रति प्रीति करे तो ज्ञानी कैसा ?

अब इस अर्थका कलशरूप और आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[इह अक्षयितवस्त्रे] जैसे लोथ और फिटकरी इत्यादिसे जो कसायला नहीं किया गया हो ऐसे वस्त्रमें [रंगयुक्तिः] रंगका संयोग, [अस्वीकृता] वस्त्रके द्वारा अंगीकार न किया जानेसे, [बहिः एवं हि लुठति] ऊपर ही लौटता है (रह जाता है)—वस्त्रके भीतर प्रवेश नहीं करता, [ज्ञानिनः रागरसरिक्ततया कर्म परिग्रहभावं न हि एति] इसीप्रकार ज्ञानी रागरूपी रससे रहित है इसलिये उसे कर्म परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—जैसे लोथ और फिटकरी इत्यादिके लगाये बिना वस्त्रमें रंग नहीं चढ़ता उसीप्रकार रागभावके बिना ज्ञानीके कर्मोदयका भोग परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता । १४८ ।

अब पुनः कहते हैं कि:—

* स्वागता *

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्

सर्वरागरसवर्जनशीलः ।

लिप्यते सकलकर्मभिरेषः

कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१४९॥

णाणी रागप्पजहो सबदव्वेषु कम्ममज्झगदो ।

सो लिप्यदि रजएण तु क्हममज्जे जहा कएयं ॥२१८॥

अरणाणी पुण रत्तो सबदव्वेषु कम्ममज्झगदो ।

लिप्यदि कम्मएण तु क्हममज्जे जहा लोहं ॥२१९॥

ज्ञानी रागप्रहायकः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।

सो लिप्यते रजसा तु कर्ममध्ये यथा कनकम् ॥२१८॥

अज्ञानी पुना रत्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।

लिप्यते कर्मरजसा तु कर्ममध्ये यथा लोहम् ॥२१९॥

श्लोकार्थः—[यतः] क्योंकि [ज्ञानवान्] ज्ञानी [स्वरसतः अपि] निजरससे ही [सर्व-
रागरसवर्जनशीलः] सर्व रागरसके त्यागरूप स्वभाववाला [स्यात्] है [ततः] इसलिये [एषः] वह
[कर्ममध्यपतितः अपि] कर्मोंके बीच पड़ा हुआ भी [सकलकर्मभिः] सर्व कर्मोंसे [न लिप्यते] लिप्त
नहीं होता । १४९ ।

अब इसी अर्थका विवेचन गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

गाथा २१८-२१९

गाथार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी [सर्वद्रव्येषु] जो कि सर्व द्रव्योंके प्रति [रागप्रहायकः] रागको
छोड़नेवाला है वह [कर्ममध्यगतः] कर्मोंके मध्यमें रहा हुआ हो [तु] तो भी [रजसा] कर्मरूपी

हो द्रव्य सबमें रागवर्जक, ज्ञानि कर्मों मध्यमें ।

पर कर्मरजसे लिप्त नहीं, ज्यों कनक कर्ममध्ये ॥२१८॥

परद्रव्य सबमें रागशील, अज्ञानि कर्मों मध्यमें ।

वह कर्मरजसे लिप्त हो, ज्यों लोह कर्ममध्ये ॥२१९॥

यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमपि कर्दमेन न लिप्यते, तदल्लेपस्वभावत्वात्; तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागत्यागशीलत्वे सति तदल्लेप-
स्वभावत्वात् । यथा लोहं कर्दममध्यगतं सत्कर्दमेन लिप्यते, तल्लेपस्वभावत्वात्, तथा किलाज्ञानी
कर्ममध्यगतः सन् कर्मणा लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागोपादानशीलत्वे सति तल्लेपस्वभावत्वात् ।

* शार्दूलविक्रीडित *

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते ।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्संतं
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ॥१५०॥

रजसे [नो लिप्यते] लिप्त नहीं होता—[यथा] जैसे [कनकम्] सोना [कर्दममध्ये] कीचड़के बीच पड़ा हुआ हो तो भी लिप्त नहीं होता । [पुनः] और [अज्ञानी] अज्ञानी [सर्वद्रव्येषु] जो कि सर्व
द्रव्योंके प्रति [रक्तः] रागी है, वह [कर्ममध्यगतः] कर्मके मध्य रहा हुआ [कर्मरजसा] कर्मरजसे
[लिप्यते तु] लिप्त होता है—[यथा] जैसे [लोहम्] लोहा [कर्दममध्ये] कीचड़के बीच रहा हुआ
लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसे जंग लग जाती है) ।

टीका:—जैसे वास्तवमें सोना कीचड़के बीच पड़ा हो तो भी वह कीचड़से लिप्त नहीं होता
(अर्थात् उसे जंग नहीं लगती) क्योंकि उसका स्वभाव अलिप्त रहना है, इसीप्रकार वास्तवमें ज्ञानी
कर्मके मध्य रहा हुआ हो तथापि वह उनसे लिप्त नहीं होता क्योंकि सर्व परद्रव्योंके प्रति किये जानेवाला
राग उसका त्यागरूप स्वभावपना होनेसे ज्ञानी अलिप्त स्वभावी है । जैसे कीचड़के बीच पड़ा हुआ लोहा
कीचड़से लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसमें जंग लग जाती है) क्योंकि उसका स्वभाव कीचड़से लिप्त
होना है, इसीप्रकार वास्तवमें अज्ञानी कर्मके मध्य रहा हुआ कर्मसे लिप्त हो जाता है क्योंकि सर्व
परद्रव्योंके प्रति किये जानेवाला राग उसका ग्रहरूप स्वभावपना होनेसे अज्ञानी कर्मसे लिप्त होनेके
स्वभाववाला है ।

भावार्थ:—जैसे कीचड़में पड़े हुए सोनेको जंग नहीं लगती और लोहेको लग जाती है, इसीप्रकार
कर्मके मध्य रहा हुआ ज्ञानी कर्मसे नहीं बंधता तथा अज्ञानी बंध जाता है । यह ज्ञान-अज्ञानकी
महिमा है ।

अब इस अर्थका और आगामी कथनका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[इह] इस लोकमें [यस्य यादृक् यः हि स्वभावः तादृक् तस्य वशतः अस्ति] जिस
वस्तुका जैसा स्वभाव होता है उसका वैसा स्वभाव उस वस्तुके अपने वशसे ही (अपने प्राधीन ही)
होता है । [एषः] ऐसा वस्तुका स्वभाव वह [परैः] परवस्तुओंके द्वारा [कथञ्चन अपि हि] किसी

भुंजंतस्स वि विदिहे सच्चित्तचित्तमिस्सिए दब्बे ।
 संखस्स सेंदभावो ए वि लक्कदि क्खिण्हगो कारुं ॥२२०॥
 तह एणिएस्स वि विदिहे सच्चित्तचित्तमिस्सिए दब्बे ।
 भुंजंतस्स वि एणं ए सक्कमण्णएणदं ऐदुं ॥२२१॥
 जइया स एव संखो सेंदसहावं तयं पजट्ठिदूण ।
 गच्छेज्ज विण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२२२॥

भी प्रकारसे [अन्याह्वाः] अन्य जैसा [कर्तुं न शक्यते] नहीं किया जा सकता । [हि] इसलिये [सन्ततं ज्ञानं भवत्] जो निरन्तर ज्ञानरूप परिणामित होता है वह [कदाचन अपि अज्ञानं न भवेत्] कभी भी अज्ञान नहीं होता; [ज्ञानिन्] इसलिये हे ज्ञानी ! [भुंक्ष्व] तू (कर्मोदयजनित) उपभोगको भोग, [इह] इस जगतमें [पर-अपराध-जनितः बन्धः तव नास्ति] परके अपराधसे उत्पन्न होनेवाला बन्ध तुझे नहीं है (अर्थात् परके अपराधसे तुझे बन्ध नहीं होता) ।

भावार्थः—वस्तुका स्वभाव वस्तुके अपने आधीन ही है। इसलिये जो आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणामित होता है उसे परद्रव्य अज्ञानरूप कभी भी परिणामित नहीं करा सकता। ऐसा होनेसे यहाँ ज्ञानीसे कहा है कि—तुझे परके अपराधसे बन्ध नहीं होता इसलिये तू उपभोगको भोग। तू ऐसी शंका मत कर कि उपभोगके भोगनेसे मुझे बन्ध होगा। यदि ऐसी शंका करेगा तो 'परद्रव्यसे आत्माका बुरा होता है' ऐसी मान्यताका प्रसंग आ जायेगा।—इसप्रकार यहाँ परद्रव्यसे अपना बुरा होना माननेकी जीवकी शंका मिटाई है; यह नहीं समझना चाहिये कि भोग भोगनेकी प्रेरणा करके स्वच्छन्द कर दिया है। स्वच्छाचारी होना तो अज्ञानभाव है यह आगे कहेंगे। १५० ।

अब इसी अर्थको दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं:—

ज्यों शंख विविध सच्चित्त, मिश्र, अचिच्च वस्तु भोगते ।
 पर शंखके शुक्लत्वको नहीं, कृष्ण कोई कर सके ॥२२०॥
 त्यों ज्ञानि भी मिश्रित, सच्चित्त, अचिच्च वस्तु भोगते ।
 पर ज्ञान ज्ञानीका नहीं, अज्ञान कोई कर सके ॥२२१॥
 जब ही स्वयं ही शंख, तजकर स्वीय श्वेतस्वभावको ।
 पावे स्वयं कृष्णत्व तब ही, छोड़ता शुक्लत्वको ॥२२२॥

तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण ।

अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२२३॥

भुञ्जानस्यापि विविधानि सच्चित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।

शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुम् ॥२२०॥

तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सच्चित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।

भुञ्जानस्याऽपि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुम् ॥२२१॥

यदा स एव शंखः श्वेतस्वभावं तक्रं प्रहाय ।

गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥२२२॥

तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तक्रं प्रहाय ।

अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत् ॥२२३॥

गाथा २२०-२२३

गाथार्थः—[शंखस्य] जैसे शंख [विविधानि] अनेक प्रकारके [सच्चित्ताचित्तमिश्रितानि] सचित्त, अचित्त और मिश्र [द्रव्याणि] द्रव्योंको [भुञ्जानस्य अपि] भोगता है—खाता है तथापि [श्वेतभावः] उसका श्वेतभाव [कृष्णकः कर्तुं न अपि शक्यते] (किसीके द्वारा) काला नहीं किया जा सकता, [तथा] इसीप्रकार [ज्ञानिनः अपि] ज्ञानी भी [विविधानि] अनेक प्रकारके [सच्चित्ताचित्तमिश्रितानि] सचित्त, अचित्त और मिश्र [द्रव्याणि] द्रव्योंको [भुञ्जानस्य अपि] भोगे तथापि उसके [ज्ञानं] ज्ञानको [अज्ञानतां नेतुम् न शक्यम्] (किसीके द्वारा) अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता ।

[यदा] जब [सः एव शंखः] वही शंख (स्वयं) [तक्रं श्वेतस्वभावं] उस श्वेत स्वभावको [प्रहाय] छोड़कर [कृष्णभावं गच्छेत्] कृष्णभावको प्राप्त होता है (कृष्णरूप परिणमित होता है) [तदा] तब [शुक्लत्वं प्रजह्यात्] शुक्लत्वको छोड़ देता है (अर्थात् काला हो जाता है), [तथा] इसीप्रकार [खलु] वास्तवमें [ज्ञानी अपि] ज्ञानी भी (स्वयं) [यदा] जब [तक्रं ज्ञानस्वभावं] उस ज्ञानस्वभावको [प्रहाय] छोड़कर [अज्ञानेन] अज्ञानरूप [परिणतः] परिणमित होता है [तदा] तब [अज्ञानतां] अज्ञानताको [गच्छेत्] प्राप्त होता है ।

त्यो ज्ञानि भी नव ही स्वयं निज, छोड़ ज्ञानस्वभावको ।

अज्ञानभावों परिणमे, अज्ञानताको प्राप्त हो ॥२२३॥

यथा खलु शंखस्य परद्रव्यमुपभुञ्जानस्यापि न परेण श्वेतभावः कृष्णः कर्तुं शक्येत, परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः, तथा क्विल ज्ञानिनः परद्रव्यमुपभुञ्जानस्यापि न परेण ज्ञानमज्ञानं कर्तुं शक्येत, परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः । ततो ज्ञानिनः परापराधनिमित्तो नास्ति बंधः । यथा च यदा स एव शंखः परद्रव्यमुपभुञ्जानोऽनुपभुञ्जानो वा श्वेतभावं प्रहाय स्वयमेव कृष्णभावेन परिणमते तदास्य श्वेतभावः स्वयंकृतः कृष्णभावः स्यात्, तथा यदा स एव ज्ञानी परद्रव्यमुपभुञ्जानोऽनुपभुञ्जानो वा ज्ञानं प्रहाय स्वयमेवाज्ञानेन परिणमते तदास्य ज्ञानं स्वयंकृतमज्ञानं स्यात् । ततो ज्ञानिनो यदि (?) स्वापराधनिमित्तो बंधः ।

* शार्दूलविक्रीडित *

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्थाप्युच्यते
मुञ्चे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः ।
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बंधमेव्यपरथा स्वस्यापराधाद्भ्रुवम् ॥१५१॥

टीका:—जैसे यदि शंख परद्रव्यको भोगे—खाये तथापि उसका श्वेतपन अन्यके द्वारा काला नहीं किया जा सकता क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्यको परभावस्वरूप करनेका निमित्त (कारण) नहीं हो सकता, इसीप्रकार यदि ज्ञानी परद्रव्यको भोगे तो भी उसका ज्ञान अन्यके द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्यको परभावस्वरूप करनेका निमित्त नहीं हो सकता । इसलिये ज्ञानीको दूसरेके अपराधके निमित्तसे बंध नहीं होता ।

और जब वही शंख, परद्रव्यको भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, श्वेतभावको छोड़कर स्वयमेव कृष्णरूप परिणमित होता है तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभाव होता है (स्वयमेव किये गये कृष्णभावरूप होता है), इसीप्रकार जब वही ज्ञानी, परद्रव्यको भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, ज्ञानको छोड़कर स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमित होता है तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञान होता है । इसलिये ज्ञानीके यदि बंध हो तो वह अपने ही अपराधके निमित्तसे (स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित हो तब) होता है ।

भावार्थः—जैसे श्वेत शंख परके भक्षणसे काला नहीं होता किंतु जब वह स्वयं ही कालिमारूप परिणमित होता है तब काला हो जाता है, इसीप्रकार ज्ञानी परके उपभोगसे अज्ञानी नहीं होता किन्तु जब स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित होता है तब अज्ञानी होता है और तब बंध करता है ।

अब इसका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[ज्ञानिन्] हे ज्ञानी ! [जातु किञ्चित् कर्म कर्तुम् उचितं न] तुझे कभी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है [तथापि] तथापि [यदि उच्यते] यदि तू यह कहे कि [परं मे जातु

शार्दूलविक्रीडित

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्

कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।

ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा

कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥१५२॥

न, भुंक्षे] “परद्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूँ” [भोः दुभुंक्तः एव अस्ति] तो तुम्हसे कहा जाता है कि हे भार्द्वा, तू खराब प्रकारसे भोगनेवाला है, [हन्त] जो तेरा नहीं है उसे तू भोगता है यह महा खेदकी बात है ! [यदि उपभोगतः बन्धः न स्यात्] यदि तू कहे कि “सिद्धान्तमें यह कहा है कि परद्रव्यके उपभोगसे बंध नहीं होता इसलिये भोगता हूँ,” [तत् किं ते कामचारः अस्ति] तो क्या तुम्हें भोगनेकी इच्छा है ? [ज्ञानं सन् वस] तू ज्ञानरूप होकर (—शुद्ध स्वरूपमें) निवास कर, [अपरथा] अन्यथा (यदि भोगनेकी इच्छा करेगा—अज्ञानरूप परिणामित होगा तो) [ध्रुवम् स्वस्य अपराधात् बन्धम् एषि] तू निश्चयतः अपने अपराधसे बंधको प्राप्त होगा ।

भावार्थः—ज्ञानीको कर्म तो करना ही उचित नहीं है । यदि परद्रव्य जानकर भी उसे भोगे तो यह योग्य नहीं है । परद्रव्यके भोक्ताको तो जगतमें चोर कहा जाता है, अन्यायी कहा जाता है । और जो उपभोगसे बंध नहीं कहा सो तो, ज्ञानी इच्छाके बिना ही परकी जबरदस्तीसे उदयमें आये हुयेको भोगता है वहाँ उसे बन्ध नहीं कहा । यदि वह स्वयं इच्छासे भोगे तब तो स्वयं अपराधी हुवा, और तब उसे बन्ध क्यों न हो ? । १५१ ।

अब आगेकी गाथाका सूचक काव्य कहते हैंः—

इलोकार्थः—[यत् किल कर्म एव कर्तारं स्वफलेन बलात् नो योजयेत्] कर्म ही उसके कर्ताको अपने फलके साथ बलात् नहीं जोड़ता (कि तू मेरे फलको भोग), [फललिप्सुः एव हि कुर्वाणः कर्मणः यत् फलं प्राप्नोति] *फलकी इच्छावाला ही कर्मको करता हुआ कर्मके फलको पाता है; [ज्ञानं सन्] इसलिये ज्ञानरूप रहता हुआ और [तद्-अपास्त-रागरचनः] जिसने कर्मके प्रति रागकी रचना दूर की है ऐसा [मुनिः] मुनि, [तत्-फल-परित्याग-एक-शीलः] कर्मफलके परित्यागरूप ही एक स्वभाववाला होनेसे, [कर्म कुर्वाणः अपि हि] कर्म करता हुआ भी [कर्मणा नो बध्यते] कर्मसे नहीं बंधता ।

* कर्मका फल अर्थात् (१) रंजित परिणाम, अथवा (२) सुख (—रंजित परिणाम)को उत्पन्न करनेवाले आगामी भोग ।

पुरिसो जह को वि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं ।
 तो लो वि देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२४॥
 एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवए सुहणिमित्तं ।
 तो लो वि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२५॥
 जह पुण लो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ए सेवए रायं ।
 तो लो ए देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२६॥
 एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ए कम्मरयं ।
 तो लो ए देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥

भावार्थः—कर्म तो बलात् कर्ताको अपने फलके साथ नहीं जोड़ता किंतु जो कर्मको करता हुआ उसके फलकी इच्छा करता है वही उसका फल पाता है। इसलिये जो ज्ञानरूप वर्तता है और बिना ही रागके कर्म करता है वह मुनि कर्मसे नहीं बँधता क्योंकि उसे कर्मफलकी इच्छा नहीं है। १५२।

अब इस अर्थको दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैंः—

ज्यों जगतमें को पुरुष, वृत्तिनिमित्त सेवे भूपको ।
 तो भूप भी सुखजनक विधविध भोग देवे पुरुषको ॥२२४॥
 त्यों जीवपुरुष भी कर्मरजका सुखअरथ सेवन करे ।
 तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोग देवे जीवको ॥२२५॥
 अरु वो हि नर जब वृत्तिहेतू भूपको सेवे नहीं ।
 तो भूप भी सुखजनक विधविध भोगको देवे नहीं ॥२२६॥
 सद्दृष्टिको त्यों विषय हेतू कर्मरजसेवन नहीं ।
 तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोगको देता नहीं ॥२२७॥

पुरुषो यथा कोऽपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानम् ।
 तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२४॥
 एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तम् ।
 तच्चदपि ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२५॥
 यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम् ।
 तत्सोऽपि न ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२६॥
 एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं सेवते न कर्मरजः ।
 तच्च न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२७॥

यथा कश्चित्पुरुषो फलार्थं राजानं सेवते ततः स राजा तस्य फलं ददाति, तथा जीवः फलार्थं कर्म सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं ददाति । यथा च स एव पुरुषः फलार्थं राजानं न सेवते ततः स राजा तस्य फलं न ददाति, तथा सम्यग्दृष्टिः फलार्थं कर्म न सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं न ददातीति तात्पर्यम् ।

गाथा २२४-२२७

गाथार्थः—[यथा] जैसे [इह] इस जगत्में [कः अपि पुरुषः] कोई भी पुरुष [वृत्तिनिमित्तं तु] आजीविकाके लिये [राजानम्] राजाकी [सेवते] सेवा करता है [तद्] तो [सः राजा अपि] वह राजा भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख उत्पन्न करनेवाले [विविधान्] अनेक प्रकारके [भोगान्] भोग [ददाति] देता है, [एवम् एव] इसीप्रकार [जीवपुरुषः] जीवपुरुष [सुखनिमित्तम्] सुखके लिये [कर्मरजः] कर्मरजकी [सेवते] सेवा करता है [तद्] तो [तत् कर्म अपि] वह कर्म भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख उत्पन्न करनेवाले [विविधान्] अनेक प्रकारके [भोगान्] भोग [ददाति] देता है ।

[पुनः] और [यथा] जैसे [सः एव पुरुषः] वही पुरुष [वृत्तिनिमित्तं] आजीविकाके लिये [राजानम्] राजाकी [न सेवते] सेवा नहीं करता [तद्] तो [सः राजा अपि] वह राजा भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख उत्पन्न करनेवाले [विविधान्] अनेक प्रकारके [भोगान्] भोग [न ददाति] नहीं देता, [एवम् एव] इसीप्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [विषयार्थं] विषयके लिये [कर्मरजः] कर्मरजकी [न सेवते] सेवा नहीं करता [तद्] इसलिये [तत् कर्म] वह कर्म भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख उत्पन्न करनेवाले [विविधान्] अनेक प्रकारके [भोगान्] भोग [न ददाति] नहीं देता ।

टीकाः—जैसे कोई पुरुष फलके लिये राजाकी सेवा करता है तो वह राजा उसे फल देता है, इसीप्रकार जीव फलके लिये कर्मकी सेवा करता है तो वह कर्म उसे फल देता है । और जैसे वही पुरुष

* शार्दूलविक्रीडित *

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
 किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्माविशेनापतेत्
 तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
 ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥१५३॥

फलके लिये राजाकी सेवा नहीं करता तो वह राजा उसे फल नहीं देता, इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि फलके लिये कर्मकी सेवा नहीं करता इसलिये वह कर्म उसे फल नहीं देता। यह तात्पर्य है।

भावार्थः—यहाँ एक आशय तो इसप्रकार है:—अज्ञानी विषयसुखके लिये अर्थात् रंजित परिणामके लिये उदयागत कर्मकी सेवा करता है इसलिये वह कर्म उसे (वर्तमानमें) रंजित परिणाम देता है। ज्ञानी विषयसुखके लिये अर्थात् रंजित परिणामके लिए उदयागत कर्मकी सेवा नहीं करता इसलिये वह कर्म उसे रंजित परिणाम उत्पन्न नहीं करता।

दूसरा आशय इसप्रकार है:—अज्ञानी सुख (-रागादिपरिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगोंकी अभिलाषासे व्रत, तप इत्यादि शुभ कर्म करता है इसलिये वह कर्म उसे रागादिपरिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगोंको देता है। ज्ञानीके सम्बन्धमें इससे विपरीत समझना चाहिये।

इसप्रकार अज्ञानी फलकी वांछासे कर्म करता है इसलिये वह फलको पाता है और ज्ञानी फलकी वांछा बिना ही कर्म करता है इसलिये वह फलको प्राप्त नहीं करता।

अब, “जिसे फलकी इच्छा नहीं है वह कर्म क्यों करे ?” इस आशंकाको दूर करनेके लिये कान्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[येन फलं त्यक्तं सः कर्म कुरुते इति वयं न प्रतीमः] जिसने कर्मका फल छोड़ दिया है वह कर्म करता है ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते। [किन्तु] किन्तु वहाँ इतना विशेष है कि—[अस्य अपि कुतः अपि किंचित् अपि तत् कर्म अवशेन प्रापतेत्] उसे (ज्ञानीको) भी किसी कारणसे कोई ऐसा कर्म अवशतासे (-उसके वश बिना) आ पड़ता है। [तस्मिन् प्रापतिते तु] उसके आ पड़ने पर भी, [अकम्प-परम-ज्ञानस्वभावे स्थितः ज्ञानी] जो अकम्प परमज्ञानस्वभावमें स्थित है ऐसा ज्ञानी [कर्म] कर्म [किं कुरुते अथ किं न कुरुते] करता है या नहीं [इति कः जानाति] यह कौन जानता है ?

भावार्थः—ज्ञानीके परवशतासे कर्म आ पड़ता है तो भी वह ज्ञानसे चलायमान नहीं होता। इसलिये ज्ञानसे अचलायमान वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है ? ज्ञानीकी बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानीके परिणामोंको जाननेकी सामर्थ्य अज्ञानीकी नहीं है।

शार्दूलविक्रीडित

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्येमी भयचलत्त्रैलौक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वाभिव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥१५४॥

अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर ऊपरके सभी ज्ञानी ही समझना चाहिए । उनमेंसे, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत सम्यग्दृष्टि और आहारविहार करते हुए सुनियोंके बाह्यक्रियाकर्म होते हैं, तथापि ज्ञानस्वभावसे अचलित होनेके कारण निश्चयसे वे, बाह्यक्रियाकर्मके कर्ता नहीं हैं, ज्ञानके ही कर्ता हैं । अन्तरंग मिथ्यात्वके अभावसे तथा यथासंभव कपायके अभावसे उनके परिणाम उज्ज्वल हैं । उस उज्ज्वलताको ज्ञानी ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलताको नहीं जानते । मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हैं, वे बाहरसे ही भला-बुरा मानते हैं; अन्तरात्माकी गतिको बहिरात्मा क्या जाने ? । १५३ ।

अब, इसी अर्थका समर्थक और आगामी गाथाका सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[यत् भय-चलत्-त्रैलोक्य-मुक्त-ग्रध्वनि वज्रे पतति अपि] जिसके भयसे चलायमान होते हुवे—(खलबलाते हुवे)—तीनों लोक अपने मार्गको छोड़ देते हैं ऐसा वज्रपात होने पर भी, [क्षमी] ये सम्यग्दृष्टि जीव, [निसर्ग-निर्भयतया] स्वभावतः निर्भय होनेसे, [सर्वासु एव शंकां विहाय] समस्त शंकाको छोड़कर, [स्वयं स्वम् अवध्य-बोध-वपुषं जानन्तः] स्वयं अपनेको (आत्माको) जिसका ज्ञानरूपी शरीर अवध्य है ऐसा जानते हुए, [बोधात् च्यवन्ते न हि] ज्ञानसे च्युत नहीं होते । [इदं परं साहसम् सम्यग्दृष्टयः एव कर्तुं क्षमन्ते] ऐसा परम साहस करनेके लिये मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ हैं ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि जीव निःशंकितगुणयुक्त होते हैं इसलिये चाहे जैसे शुभाशुभ कर्मोदयके समय भी वे ज्ञानरूप ही परिणामित होते हैं । जिसके भयसे तीनों लोकके जीव काँप उठते हैं—चलायमान हो उठते हैं और अपना मार्ग छोड़ देते हैं ऐसा वज्रपात होने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूपको ज्ञानशरीरी मानता हुआ ज्ञानसे चलायमान नहीं होता । उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस वज्रपातसे मेरा नाश हो जायेगा; यदि पर्यायका विनाश हो तो ठीक ही है क्योंकि उसका तो विनाशीक स्वभाव ही है । १५४ ।

अब इस अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं:—

सम्यग्दृष्टी जीवा निःशंका ह्येति निःशंका तेण ।
सप्तभयविप्रमुक्ता जम्हा तम्हा दु एणिसंका ॥२२८॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निःशंका भवन्ति निर्भयास्तेन ।

सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निःशंकाः ॥२२८॥

येन नित्यमेव सम्यग्दृष्टयः सकलकर्मफलनिरभिलाषाः संतोऽत्यन्तकर्मनिरपेक्षतया वर्तन्ते,
तेन नूनमेते अत्यन्तनिःशंकदारुणाध्यवसायाः संतोऽत्यन्तनिर्भयाः संभाव्यन्ते ।

* शार्दूलविक्रीडित *

लोकः शाश्वत एक एव सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५५॥

गाथा २२८

गाथार्थः—[सम्यग्दृष्टयः जीवाः] सम्यग्दृष्टि जीव [निःशंकाः भवन्ति] निःशंक होते हैं,
[तेन] इसलिये [निर्भयाः] निर्भय होते हैं; [तु] और [यस्मात्] क्योंकि वे [सप्तभय-
विप्रमुक्ताः] सप्त भयोंसे रहित होते हैं [तस्मात्] इसलिये [निःशंकाः] निःशंक होते हैं (—अडोल
होते हैं) ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही सर्व कर्मोंके फलके प्रति निरभिलाष होते हैं इसलिये
वे कर्मके प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं, इसलिये वास्तवमें वे अत्यन्त निःशंक दारुण (सुदृढ़)
निश्चयवाले होनेसे अत्यन्त निर्भय हैं ऐसी संभावना की जाती है (अर्थात् ऐसा योग्यतया माना जाता है) ।

अब सात भयोंके कलशरूप काव्य कहे जाते हैं, उसमेंसे पहले इहलोक और परलोकके भयोंका
एक काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[एषः] यह चित्स्वरूप लोक ही [विविक्तात्मनः] भिन्न आत्माका (परसे
भिन्नरूप परिणमित होते हुए आत्माका) [शाश्वतः एकः सकल-व्यक्तः लोकः] शाश्वत, एक और
सकलव्यक्त (—सर्वकालमें प्रगट) लोक है; [यत्] क्योंकि [केवलम् चित्-लोकं] मात्र चित्स्वरूप
लोकको [अयं स्वयमेव एककः लोकयति] यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है—अनुभव

सम्यक्त्वि जीव होते निःशंकित इसहि से निर्भय रहें ।

हैं सप्तभयप्रविमुक्त वे, इसही से वे निःशंक हैं ॥२२८॥

* शार्दूलविक्रीडित *

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेच्छ्रीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५६॥

करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है, [तद्-प्रपरः] उससे भिन्न दूसरा कोई लोक—[लोकः अयं प्रपरः] यह लोक या परलोक—[तव न] तेरा नहीं है ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है, [तस्य तद्-भीः कुतः अस्ति] इसलिये ज्ञानीको इस लोकका तथा परलोकका भय कहाँसे हो ? [सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका (अपने ज्ञानस्वभावका) सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—‘इस भवमें जीवन पर्यंत अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं?’ ऐसी चिंता रहना इहलोकका भय है। ‘परभवमें मेरा क्या होगा?’ ऐसी चिंताका रहना परलोकका भय है। ज्ञानी जानता है कि—यह चैतन्य ही मेरा एक, नित्य लोक है जो कि सदाकाल प्रगट है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लोक मेरा नहीं है। यह मेरा चैतन्यस्वरूप लोक किसीके बिगाड़े नहीं बिगड़ता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानीके इस लोकका अथवा परलोकका भय कहाँसे हो ? कभी नहीं हो सकता वह तो अपनेको स्वाभाविक ज्ञानरूप ही अनुभव करता है। १५५।

अब वेदनाभयका काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[निर्भेद-उदित-वेद्य-वेदक-बलात्] अभेदस्वरूप वर्तते हुये वेद्य-वेदकके बलसे (वेद्य और वेदक अभेद ही होते हैं ऐसी वस्तुस्थितिके बलसे) [यद् एकं अचलं ज्ञानं स्वयं अनाकुलैः सदा वेद्यते] एक अचल ज्ञान ही स्वयं निराकुल पुरुषोंके द्वारा (ज्ञानियोंके द्वारा) सदा वेदनमें आता है, [एषा एका एव हि वेदना] यह एक ही वेदना (ज्ञानवेदन) ज्ञानियोंके है। (आत्मा वेदक है और ज्ञान वेद्य है।) [ज्ञानिनः अन्या आगत-वेदना एव हि न एव भवेत्] ज्ञानीके दूसरी कोई आगत (पुद्गलसे उत्पन्न) वेदना होती ही नहीं, तद्-भीः कुतः] इसलिये उसे वेदनाका भय कहाँसे हो सकता है ? [सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—सुखदुःखको भोगना वेदना है। ज्ञानीके अपने एक ज्ञानमात्र स्वरूपका ही उपभोग है। वह पुद्गलसे होनेवाली वेदनाको वेदना ही नहीं समझता, इसलिये ज्ञानीके वेदनाभय नहीं है। वह तो सदा निर्भय वर्तता हुआ ज्ञानका अनुभव करता है। १५६।

अब अरक्षाभयका काव्य कहते हैंः—

* शार्दूलविक्रीडित *

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल तत्स्वातं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५७॥

* शार्दूलविक्रीडित *

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः ।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५८॥

श्लोकार्थः—[यत् सत् तत् नाशं न उपैति इति वस्तुस्थितिः नियतं व्यक्ता] जो सत् है वह नष्ट नहीं होता ऐसी वस्तुस्थिति नियमरूपसे प्रगट है । [तत्-ज्ञानं किल-स्वयमेव सत्] यह ज्ञान भी स्वयमेव सत् (सत्स्वरूप वस्तु) है (इसलिये नाशको प्राप्त नहीं होता), [ततः अपरैः अथ त्रातं कि] इसलिये परंके द्वारा उसका रक्षण कैसा ? [अतः अस्य किञ्चन अत्राणं न भवेत्] इसप्रकार (ज्ञान निजसे ही रक्षित है इसलिये) उसका किञ्चित्मात्र भी अरक्षण नहीं हो सकता [ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः] इसलिये (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानीको अरक्षाका भय कहाँसे हो सकता है ? [सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है ।

भावार्थः—सत्तास्वरूप वस्तुका कभी नाश नहीं होता । ज्ञान भी स्वयं सत्तास्वरूप वस्तु है; इसलिये वह ऐसा नहीं है कि जिसकी दूसरोके द्वारा रक्षा की जाये तो रहे, अन्यथा नष्ट हो जाये । ज्ञानी ऐसा जानता है इसलिये उसे अरक्षाका भय नहीं होता; वह तो निःशंक वर्तता हुआ स्वयं अपने स्वाभाविक ज्ञानका सदा अनुभव करता है । १५७ ।

अथ अगुप्तिभयका काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[किल स्वं रूपं वस्तुनः परमा गुप्तिः अस्ति] वास्तवमें वस्तुका स्वरूप ही (निजरूप ही) वस्तुकी परम 'गुप्ति' है [यत् स्वरूपे कः अपि परः प्रवेष्टुम् न शक्तः] क्योंकि स्वरूपमें कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता; [च] और [अकृतं ज्ञानं नुः स्वरूपं] अकृतज्ञान (जो किसीके द्वारा नहीं किया गया है ऐसा स्वाभाविक ज्ञान-) पुरुषका अर्थात् आत्माका स्वरूप है; (इसलिये ज्ञान आत्माकी परम गुप्ति है ।) [अतः अस्य न काचन अगुप्तिः भवेत्] इसलिये आत्माकी किञ्चित्मात्र भी

* शार्दूलविक्रीडित *

प्राणोच्छेदमुदाहरति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५९॥

अगुप्तता न होनेसे [ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः] ज्ञानीको अगुप्तिका भय कहाँसे हो सकता है ? [सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है ।

भावार्थः—'गुप्त' अर्थात् जिसमें कोई चोर इत्यादि प्रवेश न कर सके ऐसा किला, भोंयरा (तलघर) इत्यादि; उसमें प्राणी निर्भयतासे निवास कर सकता है । ऐसा गुप्त प्रदेश न हो और खुला स्थान हो तो उसमें रहनेवाले प्राणीको अगुप्तताके कारण भय रहता है । ज्ञानी जानता है कि—वस्तुके निज स्वरूपमें कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता इसलिये वस्तुका स्वरूप ही वस्तुकी परम गुप्ति अर्थात् अभेद्य किला है । पुरुषका अर्थात् आत्माका स्वरूप ज्ञान है; उस ज्ञानस्वरूपमें रहा हुआ आत्मा गुप्त है क्योंकि ज्ञानस्वरूपमें दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता । ऐसा जाननेवाले ज्ञानीको अगुप्तताका भय कहाँसे हो सकता है ? वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूपका निरन्तर अनुभव करता है । १५८ ।

अब मरणभयका काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[प्राणोच्छेदम् मरणं उदाहरन्ति] प्राणोंके नाशको (लोग) मरण कहते हैं । [अथ्य घ्रात्मनः प्राणाः किल ज्ञानं] निश्चयसे आत्माके प्राण तो ज्ञान है । [तत् स्वयमेव शाश्वततया जातुचित् न उच्छिद्यते] वह (ज्ञान) स्वयमेव शाश्वत होनेसे उसका कदापि नाश नहीं होता; [अतः तस्य मरणं किञ्चन न भवेत्] इसलिये आत्माका मरण किञ्चित्मात्र भी नहीं होता । [ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः] अतः (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानीको मरणका भय कहाँसे हो सकता है ? [सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है ।

भावार्थः—इन्द्रियादि प्राणोंके नाश होनेको लोग मरण कहते हैं । किन्तु परमार्थतः आत्माके इन्द्रियादिक प्राण नहीं हैं, उसके तो ज्ञान प्राण हैं । ज्ञान अविनाशी है— उसका नाश नहीं होता; अतः आत्माको मरण नहीं है । ज्ञानी ऐसा जानता है इसलिये उसे मरणका भय नहीं है; वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानस्वरूपका निरन्तर अनुभव करता है । १५९ ।

अब आकस्मिकभयका काव्य कहते हैंः—

* शार्दूलविक्रीडित *

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
 यावत्चावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
 तत्राकस्मिकमत्र किंचन भवेच्चद्भीः कुतो ज्ञानिनो
 निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१६०॥

श्लोकार्थः—[एतत् स्वतः सिद्धं ज्ञानम् किल एकं] यह स्वतःसिद्ध ज्ञान एक है, [अनादि] अनादि है, [अनन्तम्] अनन्त है, [अचलं] अचल है । [इदं यावत् तावत् सदा एव हि भवेत्] वह जबतक है तबतक सदा ही वही है, [अत्र द्वितीयोदयः न] उसमें दूसरेका उदय नहीं है । [तत्] इसलिये [अत्र आकस्मिकम् किञ्चन न भवेत्] इस ज्ञानमें आकस्मिक कुछ भी नहीं होता । [ज्ञानिनः तद्-भोः कुतः] ऐसा जाननेवाले ज्ञानीको अकस्मात्का भय कहाँसे हो सकता है ? [सः स्वयं सततं निःशंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है ।

भावार्थः—‘यदि कुछ अनिर्धारित-अनिष्ट एकाएक उत्पन्न होगा तो ?’ ऐसा भय रहना आकस्मिक भय है । ज्ञानी जानता है कि—आत्माका ज्ञान स्वतः सिद्ध, अनादि, अनन्त, अचल, एक है । उसमें दूसरा कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता; इसलिये उसमें कुछ भी अनिर्धारित कहाँसे होगा अर्थात् अकस्मात् कहाँसे होगा ? ऐसा जाननेवाले ज्ञानीको आकस्मिक भय नहीं होता, वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानभावका निरन्तर अनुभव करता है ।

इसप्रकार ज्ञानीको सात भय नहीं होते ।

प्रश्नः—अविरतसम्यग्दृष्टि आदिको भी ज्ञानी कहा है और उनके भयप्रकृतिका उदय होता है तथा उसके निमित्तसे उनके भय होता हुआ भी देखा जाता है; तब फिर ज्ञानी निभय कैसे है ?

समाधानः—भयप्रकृतिके उदयसे निमित्तसे ज्ञानीको भय उत्पन्न होता है । और अन्तरायके प्रबल उदयसे निर्वल होनेके कारण उस भयकी वेदनाको सहन न कर सकनेसे ज्ञानी उस भयका इलाज भी करता है । परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव स्वरूपके ज्ञानश्रद्धानसे च्युत हो जाये । और जो भय उत्पन्न होता है वह मोहकर्मकी भय नामक प्रकृतिका दोष है; ज्ञानी स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है । इसलिये ज्ञानीके भय नहीं है । १६० ।

अब आगेकी (सम्यग्दृष्टिके निःशंकित आदि चिह्नों सम्बन्धी) गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैंः—

• मन्दाक्रान्ता •

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाकर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥१६१॥

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी सुणेयवो ॥२२६॥

यश्चतुरोऽपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबंधमोहकरान् ।

स निरशंकरचेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२२९॥

इत्युक्तार्थः—[टंकोत्कीर्णं—स्वरस—निचित—ज्ञान—सर्वस्व—भाजः सम्यग्दृष्टेः] टंकोत्कीर्णं निजरससे परिपूर्णं ज्ञानके सर्वस्वको भोगनेवाले सम्यग्दृष्टिके [यद् इह लक्ष्माणि] जो निःशक्ति आदि चिह्न हैं वे [सकलं कर्म] समस्त कर्मोंको [घ्नन्ति] नष्ट करते हैं; [तत्] इसलिये, [अस्मिन्] कर्मका उदय वर्तता होने पर भी, [तस्य] सम्यग्दृष्टिको [पुनः] पुनः [कर्मणः बन्धः] कर्मका बंध [मनाक् अपि] किंचित्मात्र भी [नास्ति] नहीं होता, [पूर्वोपात्तं] परन्तु जो कर्म पहले बंधा था [तद्—अनुभवतः] उसके उदयको भोगनेपर उसको [निश्चितं] नियमसे [निर्जरा एव] उस कर्मकी निर्जरा ही होती है ।

भावाार्थः—सम्यग्दृष्टि पहले बंधी हुई भय आदि प्रकृतियोंके उदयको भोगता है, तथापि निःशक्ति आदि गुणोंके विद्यमान होनेसे उसे X शंकादिकृत (शंकादिके निमित्तसे होनेवाला) बंध नहीं होता किन्तु पूर्वकर्मकी निर्जरा ही होती है । १६१ ।

अथ इस कथनको गाथाओं द्वारा कहते हैं, उसमेंसे पहले निःशक्ति अंगकी (अथवा निःशक्ति गुणकी—चिह्नकी) गाथा इसप्रकार हैः—

गाथा २२९

गाथार्थः—[यः चेतयिता] जो :-चेतयिता, [कर्मबंधमोहकरान्] कर्मबंध सम्बन्धी मोह करनेवाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मोंके द्वारा बंधा हुआ है ऐसा भ्रम करनेवाले) [तान् चतुरः अपि पादान्]

* निःशक्ति—संदेह अथवा भय रहित । X शंका—संदेह; कल्पित भय । :-चेतयिता—चेतनेवाला; जानने-देखनेवाला; आत्मा ।

जो कर्मबंधनमोहकर्ता, पाद चारों छेदता ।
चिन्मूर्ति वो शंकारहित, सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥२२९॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबंधशंकाकरमिथ्यात्वादिभावा-
भावान्निश्चंकाः, ततोऽस्य शंकाकृतो नास्ति बंधः, किं तु निर्जरैव ।

जो तु ए करेदि कंखं कर्मफलेषु तह सब्धमेषु ।

सो णिक्कंखो चेदा सम्भादिट्ठी सुणेयव्वो ॥२३०॥

यस्तु न करोति कांक्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु ।

स निष्कांक्षचेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३०॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तुधर्मेषु
च कांक्षाभावान्निष्कांक्षः, ततोऽस्य कांक्षाकृतो नास्ति बंधः, किं तु निर्जरैव ।

मिथ्यात्वादि भावरूप चारों पादोंको [छिनत्ति] छेदता है, [सः] उसको [निश्चंकाः] निःशंक
[सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण कर्मबन्ध संबंधी शंका
करनेवाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मोंसे बंधा हुआ है ऐसा संदेह अथवा भय करनेवाले) मिथ्यात्वादि
भावोंका (उसको) अभाव होनेसे, निःशंक है इसलिये उसे शंकाकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टिको जिस कर्मका उदय आता है उसका वह, स्वामित्वके अभावके कारण,
कर्ता नहीं होता । इसलिये भयप्रकृतिका उदय आने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक रहता है, स्वरूपसे
च्युत नहीं होता । ऐसा होनेसे उसे शंकाकृत बंध नहीं होता, कर्म रस देकर खिर जाते हैं ।

अब निःकांक्षित गुणकी गाथा कहते हैंः—

गाथा २३०

गाथार्थः—[यः चेतयिता] जो चेतयिता [कर्मफलेषु] कर्मोंके फलोंके प्रति [तथा] तथा
[सर्वधर्मेषु] सर्व धर्मोंके प्रति [कांक्षां] कांक्षा [न तु करोति] नहीं करता [सः] उसको [निष्कांक्षः]
सम्यग्दृष्टिः] निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण सभी कर्मफलोंके प्रति
तथा समस्त वस्तुधर्मोंके प्रति कांक्षाका अभाव होनेसे, निष्कांक्ष (निर्वाहक) है, इसलिये उसे कांक्षाकृत
बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

जो कर्मफल अह सर्व धर्मोंकी न कांक्षा धारता ।

चिन्धूर्ति वो कांक्षारहित सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥२३०॥

जो ए करोदि जुगुप्सां चेदा सर्वेषामेव धर्माणं ।

सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी सुण्येयव्वो ॥२३१॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम् ।

सो खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३१॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्साभावान्निर्विचिकित्सः, ततोऽस्य विचिकित्साकृतो नास्ति बंधः, किं तु निर्जरैव ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टिको, समस्त कर्मफलोंकी बांछा नहीं होती; तथा सर्व धर्मोंकी बांछा नहीं होती, अर्थात् सुवर्णत्व पापाणत्व इत्यादि तथा निन्दा, प्रशंसा आदिके वचन इत्यादि वस्तुधर्मोंकी अर्थात् पुद्गलस्वभावोंकी उसे बांछा नहीं है—उन्के प्रति समभाव है, अथवा अन्यमतावलम्बियोंके द्वारा माने गये अनेक प्रकारके सर्वथा एकान्तपक्षी व्यवहारधर्मोंकी उसे बांछा नहीं है—उन धर्मोंका आदर नहीं है । इसप्रकार सम्यग्दृष्टि बांछारहित होता है इसलिये उसे बांछासे होनेवाला बंध नहीं होता । वर्तमान वेदना सही नहीं जाती इसलिये उसे मिटानेके उपचारकी बांछा सम्यग्दृष्टिको चारित्रमोहके उदयके कारण होती है, किन्तु वह उस बांछाका कर्ता स्वयं नहीं होता, वह कर्मोदय समझकर उसका ज्ञाता ही रहता है; इसलिये उसे बांछाकृत बंध नहीं होता ।

अब निर्विचिकित्सा गुणकी गाथा कहते हैं:—

गाथा २३१

गाथार्थः—[यः चेतयिता] जो चेतयिता [सर्वेषाम् एव] सभी [धर्माणाम्] धर्मों (वस्तुके स्वभावों)के प्रति [जुगुप्सां] जुगुप्सा (ग्लानि) [न करोति] नहीं करता [सः] उसको [खलु] निश्चयसे [निर्विचिकित्सः] निर्विचिकित्स (—विचिकित्सादोषसे रहित) [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण सभी वस्तुधर्मोंके प्रति जुगुप्साका अभाव होनेसे, निर्विचिकित्स (—जुगुप्सारहित—ग्लानिरहित) है, इसलिये उसे विचिकित्साकृत बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

सर्व वस्तुधर्मविवै जुगुप्साभाव जो नहीं धारता ।

चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वो, सद्दृष्टि निश्चय जानना ॥२३१॥

जो हृषइ असमूढो चेदा सद्दिष्टि सव्वभावेसु ।
सो खलु असूढदिष्टी सम्मादिष्टी सुणोयव्वो ॥२३२॥

यो भवति असमूढः चेतयिता सद्दष्टिः सर्वभाषेषु ।

स खलु असूढदष्टिः सम्यग्दष्टिज्ञातव्यः ॥२३२॥

यतो हि सम्यग्दष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भाषेषु मोहाभावादमूढदष्टिः,
ततोऽस्य मूढदष्टिकृतो नास्ति बन्धः, किं तु निर्जरैव ।

भावार्थः—सम्यग्दष्टि वस्तुके धर्मोंके प्रति (अर्थात् लुषा, वृषा, शीत, उष्ण आदि भावोंके प्रति तथा विष्टा आदि मलिन द्रव्योंके प्रति) जुगुप्सा नहीं करता । यद्यपि उसके जुगुप्सा नामक कर्मप्रकृतिका उदय आता है तथापि वह स्वयं उसका कर्ता नहीं होता इसलिये उसे जुगुप्साकृत बन्ध नहीं होता, परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है इसलिये निर्जरा ही होती है ।

अब असूढदष्टि अंगकी गाथा कहते हैंः—

गाथा २३२

गाथार्थः—[यः चेतयिता] जो चेतयिता [सर्वेभाषेषु] समस्त भावोंमें [असमूढः] असूढ है—
[सद्दष्टिः] यथार्थ दृष्टिवाला [भवति] है, [सः] उसको [खलु] निश्चयसे [असूढदष्टिः]
असूढदष्टि [सम्यग्दष्टिः] सम्यग्दष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण सभी भावोंमें मोहका अभाव होनेसे, असूढदष्टि है, इसलिये उसे मूढदष्टिकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—सम्यग्दष्टि समस्त पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थ जानता है; उसे रागद्वेषमोहका अभाव होनेसे किसी भी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती । चारित्रमोहके उदयसे इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न हों तथापि उसे उदयकी बलवन्ता जानकर वह उन भावोंका स्वयं कर्ता नहीं होता इसलिये उसे मूढदष्टिकृत बन्ध नहीं होता परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है इसलिये निर्जरा ही होती है ।

अब उपगूहन गुणकी गाथा कहते हैंः—

समूढं नहिं सब भावमें जो,—सत्यदृष्टी धारता ।

वो मूढदष्टिविहीन सम्यग्दष्टि निश्चय जानना ॥२३२॥

जो सिद्धभक्तियुक्तो उपगूहणगो दुःसर्वधर्माणम् ।

सो उपगूहणकारी सम्मादिष्टो मुणैयव्वो ॥२३३॥

यः सिद्धभक्तियुक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणाम् ।

स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३३॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुपबृंहणादुप-
बृंहकः, ततोऽस्य जीवशक्तिदौर्बल्यकृतो नास्ति बंधः, किं तु निर्जरैव ।

गाथा २३३

गाथार्थः—[यः] जो (चेतयिता) [सिद्धभक्तियुक्तः] सिद्धोंकी शुद्धात्माकी भक्तिसे युक्त है [तु] और [सर्वधर्माणाम् उपगूहनकः] पर वस्तुओंके सर्व धर्मोंको गोपनेवाला है (अर्थात् रागादि परभावोंमें युक्त नहीं होता) [सः] उसको [उपगूहनकारी] उपगूहन करनेवाला [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण समस्त आत्मशक्तियोंकी वृद्धि करता है, इसलिये उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्ति बढ़ानेवाला है, इसलिये उस जीवकी शक्तिकी दुर्बलतासे (मन्दतासे) होनेवाला बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि उपगूहनगुण युक्त है । उपगूहनका अर्थ छिपाना है । यहाँ निश्चयनयको प्रधान करके कहा है कि सम्यग्दृष्टिने अपना उपयोग सिद्धभक्तिमें लगाया हुआ है, और जहाँ उपयोग सिद्धभक्तिमें लगाया वहाँ अन्य धर्मों पर दृष्टि ही नहीं रही इसलिये वह समस्त अन्य धर्मोंका गोपनेवाला और आत्मशक्तिका बढ़ानेवाला है ।

इस गुणका दूसरा नाम 'उपबृंहण' भी है । उपबृंहणका अर्थ है बढ़ाना । सम्यग्दृष्टिने अपना उपयोग सिद्धोंके स्वरूपमें लगाया है इसलिये उसके आत्माकी समस्त शक्तियाँ बढ़ती हैं—आत्मा पुष्ट होता है इसलिये वह उपबृंहणगुणवाला है ।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टिके आत्मशक्तिकी वृद्धि होती है इसलिये उसे दुर्बलतासे जो बंध होता था वह नहीं होता, निर्जरा ही होती है । यद्यपि जबतक अन्तरायका उदय है तबतक निर्बलता है तथापि उसके अभिप्रायमें निर्बलता नहीं है, किन्तु अपनी शक्तिके अनुसार कर्मोदयको जीतनेका महान् उद्यम वर्तता है ।

अत्र स्थितिकरण गुणकी गाथा कहते हैंः—

जो सिद्धभक्तीसहित है, गोपन करेँ सब धर्मका ।

चिन्मूर्ति वो उपगूहनकर सम्यक्दृष्टी जानना ॥२३३॥

उन्मार्गं गच्छंतं सगं पि मग्गे ठवैदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुतो सम्पादिट्ठी मुण्येयव्वो ॥२३४॥

उन्मार्गं गच्छंतं स्वकमपि मार्गं स्थापयति यश्चेतयिता ।
स स्थितिकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३४॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन मार्गात्प्रच्युतस्यात्मनो मार्गं एव स्थितिकरणात् स्थितिकारी, ततोऽस्य मार्गच्यवनकृतो नास्ति बंधः, किं तु निर्जरैव ।

जो कुणदि वच्छलत्तं तिथेह साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्पादिट्ठी मुण्येयव्वो ॥२३५॥

गाथा २३४

गाथार्थः—[यः चेतयिता] जो चेतयिता [उन्मार्गं गच्छंतं] उन्मार्गमें जाते हुए [स्वकम् अपि] अपने आत्माको भी [मार्गं] मार्गमें [स्थापयति] स्थापित करता है, [सः] वह [स्थितिकरणयुक्तः] स्थितिकरणयुक्त [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण, यदि अपना आत्मा मार्गसे (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गसे) च्युत हो तो उसे मार्गमें ही स्थित कर देता है, इसलिये स्थितिकारी (स्थिति करनेवाला) है, अतः उसे मार्गसे च्युत होनेके कारण होनेवाला बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—जो, अपने स्वरूपरूपी मोक्षमार्गसे च्युत होते हुए अपने आत्माको मार्गमें (मोक्षमार्गमें) स्थित करता है वह स्थितिकरणगुणयुक्त है । उसे मार्गसे च्युत होनेके कारण होनेवाला बंध नहीं होता किन्तु उदयागत कर्म रस देकर खिर जाते हैं इसलिये निर्जरा ही होती है ।

अब वात्सल्य गुणकी गाथा कहते हैंः—

उन्मार्गं जाते स्वात्मको भी, मार्गमें जो स्थापता ।

चिन्मूर्ति वो थितिकरणयुत, सम्यक्कदृष्टी जानना ॥२३४॥

जो मोक्षपथमें 'साधु' ब्रयका बत्सलत्व करे अहा !

चिन्मूर्ति वो वात्सल्ययुत, सम्यक्कदृष्टी जानना ॥२३५॥

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गं ।
स वत्सलभावयुतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३५॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणां स्वस्माद-
भेदबुद्ध्या सम्यग्दर्शनान्मार्गवत्सलः, ततोऽस्य मार्गानुपलंभकृतो नास्ति बन्धः, किं तु निर्जरैव ।

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुण्येयव्वो ॥२३६॥

विद्यारथमारूढः मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता ।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३६॥

गाथा २३५

गाथार्थः—[यः] जो (चेतयिता) [मोक्षमार्गं] मोक्षमार्गमें स्थित [त्रयाणां साधूनां]
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तीन साधकों-साधनोंके प्रति (अथवा व्यवहारसे आचार्य, उपाध्याय
और मुनि-इन तीन साधुओंके प्रति) [वत्सलत्वं करोति] वात्सल्य करता है, [सः] वह [वत्सल-
भावयुतः] वात्सल्यभावसे युक्त [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-
चारित्रको अपनेसे अभेदबुद्धिसे सम्यक्तया देखता (-अनुभवन करता) है, इसलिये मार्गवत्सल अर्थात्
मोक्षमार्गके प्रति अति प्रीतिवाला है, इसलिये उसे मार्गकी #अनुपलब्धिसे होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु
निर्जरा ही है ।

भावार्थः—वत्सलत्वका अर्थ है प्रीतिभाव । जो जीव मोक्षमार्गरूपी अपने स्वरूपके प्रति
प्रीतिवाला—अनुरागवाला हो उसे मार्गकी अप्राप्तिसे होनेवाला बन्ध नहीं होता, परन्तु कर्म रस देकर
खिर जाते हैं इसलिये निर्जरा ही होती है ।

अब प्रभावना गुणाकी गाथा कहते हैंः—

गाथा २३६

गाथार्थः—[यः चेतयिता] जो चेतयिता [विद्यारथम् आरूढः] विद्यारथी रथ पर आरूढ
हुआ (-चढ़ा हुआ) [मनोरथपथेषु] मनरूपी रथके पथमें (ज्ञानरूपी रथके चलनेके मार्गमें) [भ्रमति]

अनुपलब्धि = प्रत्यक्ष नहीं होना वह; अज्ञान; अप्राप्ति ।

चिन्मूर्ति मन-रथपथमें, विद्यारथारूढ भ्रमता ।
जिनराजज्ञानप्रभावकर सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥२३६॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबोधेन प्रभावजननात्प्रभावनाकरः, ततोऽस्य ज्ञानप्रभावनाप्रकर्षकृतो नास्ति बंधः, किं तु निर्जरैव ।

भ्रमण करता है, [सः] वह [जिनज्ञानप्रभावी] जिनेन्द्रभगवानके ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण ज्ञानकी समस्त शक्तिको प्रगट करने—विकसित करने—फैलानेके द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है इसलिये, प्रभावना करनेवाला है, अतः उसे ज्ञानकी प्रभावनाके अप्रकर्षसे (ज्ञानकी प्रभावना न बढ़ानेसे) होनेवाला बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—प्रभावनाका अर्थ है प्रगट करना, उद्योत करना इत्यादि; इसलिये जो अपने ज्ञानको निरन्तर अभ्यासके द्वारा प्रगट करता है—बढ़ाता है, उसके प्रभावना अंग होता है । उसे अप्रभावनाकृत कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु कर्म रस देकर खिर जाता है इसलिये उसके निर्जरा ही है ।

इस गाथा में निश्चयप्रभावनाका स्वरूप कहा है । जैसे जिनबिम्बको रथारूढ़ करके नगर, वन इत्यादिमें फिराकर व्यवहारप्रभावना की जाती है, इसीप्रकार जो विद्यारूपी (ज्ञानरूपी) रथमें आत्माको विराजमान करके मनरूपी (ज्ञानरूपी) मार्गमें भ्रमण करता है वह ज्ञानकी प्रभावनायुक्त सम्यग्दृष्टि है, वह निश्चयप्रभावना करनेवाला है ।

इसप्रकार ऊपरकी गाथाओंमें यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको निःशंकित आदि आठ गुण निर्जराके कारण हैं । इसीप्रकार सम्यक्त्वके अन्य गुण भी निर्जराके कारण जानना चाहिए ।

इस ग्रंथमें निश्चयनयप्रधान कथन होनेसे यहाँ निःशंकितादि गुणोंका निश्चय स्वरूप (स्वाश्रित-स्वरूप) बताया गया है । उसका सारांश इसप्रकार हैः—जो सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान-श्रद्धानमें निःशंक हो, भयके निमित्तसे स्वरूपसे चलित न हो अथवा सन्देहयुक्त न हो, उसके निःशंकितगुण होता है । १ । जो कर्मफलकी वांछा न करे तथा अन्य वस्तुके धर्मोंकी वांछा न करे, उसके निःकांक्षित गुण होता है । २ । जो वस्तुके धर्मोंके प्रति ग्लानि न करे, उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है । ३ । जो स्वरूपमें मूढ़ न हो, स्वरूपको यथार्थ जाने, उसके अमूढ़दृष्टि गुण होते हैं । ४ । जो आत्माको शुद्धस्वरूपमें युक्त करे, आत्माकी शक्ति बढ़ाये, और अन्य धर्मोंको गौण करे, उसके उपगूहन गुण होता है । ५ । जो स्वरूपसे च्युत होते हुए आत्माको स्वरूपमें स्थापित करे, उसके स्थितिकरण गुण होता है । ६ । जो अपने स्वरूपके प्रति विशेष अनुराग रखता है, उसके वात्सल्यगुण होता है । ७ । जो आत्माके ज्ञानगुणको प्रकाशित कर—प्रगट करे, उसके प्रभावना गुण होता है । ८ ।

ये सभी गुण उनके प्रतिपक्षी दोषोंके द्वारा जो कर्मबन्ध होता था उसे नहीं होने देते । और इन गुणोंके सद्भावमें, चारित्रमोहके उदयरूप शंकादि प्रवर्तते तो भी उनकी (—शंकाविकी) निर्जरा ही हो जाती है, नवीन बंध नहीं होता; क्योंकि बंध तो प्रधानतासे सिध्यात्वके अस्तित्वमें ही कहा है ।

* मंदाक्रान्ता *

रुंधन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः

प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जम्भणेन ।

सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यांतमुक्तं

ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ॥१६२॥

सिद्धान्तमें गुणस्थानोंकी परिपाटीमें चारित्रमोहके उदयनिमित्तसे सम्यग्दृष्टिके जो बन्ध कहा है वह भी निर्जरारूप ही (-निर्जराके समान ही) समझना चाहिये क्योंकि सम्यग्दृष्टिके जैसे पूर्वमें मिथ्यात्वके उदयके समय बँधा हुआ कर्म खिर जाता है उसी प्रकार नवीन बँधा हुआ कर्म भी खिर जाता है; उसके उस कर्मके स्वामित्वका अभाव होनेसे वह आगामी बंधरूप नहीं किन्तु निर्जरारूप ही है। जैसे—कोई पुरुष दूसरेका द्रव्य उधार लाया हो तो उसमें उसे ममत्वबुद्धि नहीं होती, वर्तमानमें उस द्रव्यसे कुछ कार्य कर लेना हो तो वह करके पूर्व निश्चयानुसार नियत-समय पर उसके मालिकको दे देता है; नियत समयके आने तक वह द्रव्य उसके घरमें पड़ा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व न होनेसे उस पुरुषको उस द्रव्यका चन्धन नहीं है, वह उसके स्वामीको दे देनेके बराबर ही है; इसीप्रकार—ज्ञानी कर्मद्रव्यको पराया मानता है इसलिये उसे उसके प्रति ममत्व नहीं होता अतः उसके रहते हुए भी वह निर्जरित हुएके समान ही है ऐसा जानना चाहिए।

यह निःशक्तितादि आठ गुण व्यवहारनयसे व्यवहारमोक्षमार्गमें इसप्रकार लगाने चाहिये:—

जिनवचनोंमें सदेह नहीं करना, भयके आने पर व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे नहीं ढिगाना, सो निःशक्तित्व है। १। संसार-देह-भोगकी बाँझासे तथा परमतकी बाँझासे व्यवहारमोक्षमार्गसे चलायमान न होना सो निःकांक्षितत्व है। २। अपवित्र, दुर्गंधित आदि वस्तुओंके निमित्तसे व्यवहारमोक्षमार्गकी प्रवृत्तिके प्रति ग्लानि न करना सो निर्बिचिकित्सा है। ३। देव, गुरु, शास्त्र, लौकिक प्रवृत्ति, अन्यमतादिके तत्त्वार्थके स्वरूप—इत्यादिमें मूढ़ता न रखना, यथार्थ जानकर प्रवृत्ति करना सो अमूढ़दृष्टि है। ४। धर्मात्मामें कर्मोदयसे दोष आ जाये तो उसे गौण करना और व्यवहारमोक्षमार्गकी प्रवृत्तिको बढ़ाना सो उपगूहन अथवा उपवृंहण है। ५। व्यवहारमोक्षमार्गसे च्युत होते हुए आत्माको स्थिर करना सो स्थितिकरण है। ६। व्यवहारमोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करनेवाले पर विशेष अनुराग होना सो चात्सत्य है। ७। व्यवहारमोक्षमार्गका अनेक उपायोंसे उद्योत करना सो प्रभावना है। ८। इसप्रकार आठ गुणोंका स्वरूप व्यवहारनयको प्रधान करके कहा है। यहाँ निश्चयप्रधान कथनमें उस व्यवहारस्वरूपकी गौणता है। सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टिमें दोनों प्रधान हैं। स्वाद्वाद मतमें कोई विरोध नहीं है।

अब, निर्जराके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले और कर्मोंके नवीन बंधको रोककर निर्जरा करनेवाले सम्यग्दृष्टिकी महिमा करके निर्जरा अधिकार पूर्ण करते हैं:—

श्लोकार्थः—[इति नवम् बन्धं रुंधन्] इसप्रकार नवीन बन्धको रोकता हुआ और [निजैः षष्ठाभिः श्रंगैः संगतः निर्जरा-उज्जम्भणेन प्राग्बद्धं तु क्षयम् उपनयन्] (स्वयं) अपने आठ श्रंगोंसे

इति निर्जरा निष्क्रान्ता ।

युक्त होनेके कारण निर्जरा प्रगट होनेसे पूर्वबद्ध कर्मोंका नाश करता हुआ [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि जीव [स्वयम्] स्वयं [अतिरसात्] अति रससे (निजरसमें मस्त हुआ) [आदि-मध्य-अन्तमुक्तं ज्ञानं भूत्वा] आदि-मध्य-अन्त रहित (सर्वव्यापक, एकप्रवाहरूप धारावाही) ज्ञानरूप होकर [गगन-प्राभोग-रङ्गं विग्राह्य] आकाशके विस्ताररूपी रंगभूमिमें भ्रवगाहन करके (ज्ञानके द्वारा समस्त गगनमण्डलमें व्याप्त होकर) [नटति] नृत्य करता है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टिको शंकादिकृत नवीन बंध नहीं होता और स्वयं अष्टांगयुक्त होनेसे निर्जराका उदय होनेके कारण उसके पूर्व बंधका नाश होता है । इसलिये वह धारावाही ज्ञानरूपी रसका पान करके, निर्मल आकाशरूपी रंगभूमिमें ऐसे नृत्य करता है जैसे कोई पुरुष मद्य पीकर मग्न हुआ नृत्यभूमिमें नाचता है ।

प्रश्नः—आप यह कह चुके हैं कि सम्यग्दृष्टिके निर्जरा होती है, बंध नहीं होता; किंतु सिद्धान्तमें गुणस्थानोंकी परिपाटीमें अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादिके बन्ध कहा गया है । और घातिकर्मोंका कार्य आत्माके गुणोंका घात करना है इसलिये दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य—इन गुणोंका घात भी विद्यमान है । चारित्रमोहका उदय नवीन बन्ध भी करता है । यदि मोहके उदयमें भी बन्ध न माना जाये तो यह भी क्यों न मान लिया जाये कि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वअनन्तानुबन्धीका उदय होने पर भी बन्ध नहीं होता ?

उत्तरः—बन्धके होनेमें मुख्य कारण मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धीका उदय ही है; और सम्यग्दृष्टिके तो उनके उदयका अभाव है । चारित्रमोहके उदयसे यद्यपि सुखगुणका घात होता है तथा मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धीके अतिरिक्त और उनके साथ रहनेवाली अन्य प्रकृतियोंके अतिरिक्त शेष घातिकर्मोंकी प्रकृतियोंका अल्प स्थिति-अनुभागवाला बन्ध तथा शेष अघातिकर्मोंकी प्रकृतियोंका बंध होता है, तथापि जैसा मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी सहित होता है वैसा नहीं होता । अनन्तसंसारका कारण तो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी ही है; उनका अभाव हो जाने पर फिर उनका बंध नहीं होता; और जहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ वहाँ अन्य बंधकी गणना कौन करता है ? वृक्षकी जड़ कट जाने पर फिर हरे पत्ते रहनेकी अवधि कितनी होती है ? इसलिये इस अध्यात्मशास्त्रमें सामान्यतया ज्ञानी-अज्ञानी होनेके सम्बन्धमें ही प्रधान कथन है । ज्ञानी होनेके बाद जो कुछ कर्म रहे हों वे सहज ही मिटते जायेंगे । निम्नलिखित दृष्टान्तके अनुसार ज्ञानीके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिये । कोई पुरुष दरिद्रताके कारण एक भोंपड़ेमें रहता था । भाग्योदयसे उसे धन-धान्यसे परिपूर्ण बड़े महलकी प्राप्ति हो गई इसलिये वह उसमें रहनेको गया । यद्यपि उस महलमें बहुत दिनोंका कूड़ा कचरा भरा हुआ था तथापि जिस दिन उसने आकर महलमें प्रवेश किया उस दिनसे ही वह उस महलका स्वामी हो गया, संपत्तिवान हो गया । अब वह कूड़ा कचरा साफ करना है सो वह क्रमशः अपनी शक्तिके अनुसार साफ करता है । जब सारा कचरा साफ हो जायेगा और महल उज्ज्वल हो जायेगा तब वह परमानन्दको भोगेगा । इसीप्रकार ज्ञानीके सम्बन्धमें समझना चाहिये । १६२ ।

टीकाः—इसप्रकार निर्जरा (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गई ।

इति श्रीमद्मृतचन्द्राचार्यविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ निर्जराप्ररूपकः
षष्ठोऽङ्कः ॥

भावार्थः—इसप्रकार, जिसने रंगभूमिमें प्रवेश किया था वह निर्जरा अपना स्वरूप प्रगट वताकर रंगभूमिसे बाहर निकल गई ।

सवैया

सम्यक्वन्त महंत सदा समभाव रहै दुख संकट आये,
कर्म नवीन बधै न तवै अर पूरव ग्रन्थ ऋद्धे बिन भाये;
पूरण अंग सुदर्शनरूप धरै नित ज्ञान बढ़ै निज पाये,
यों शिवसारग साधि निरन्तर, आनंदरूप निजातम धाये ॥

इसप्रकार श्री समयसारकी (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद्मृतचन्द्राचार्य देव विरचित आत्मख्याति नामक टीका में निर्जराका प्ररूपक छठवां अंक समाप्त हुआ ।

—○ छट्टा निर्जरा अधिकार समाप्त ।○—



९

बन्ध-अधिकार

अथ प्रविशति बंधः ।

• शार्दूलविक्रीडित •

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत् ।
आनंदामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्-
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥१६३॥

—:: दोहा ::—

रागादिकर्ते कर्मकौ, बन्ध जानि मुनिराय ।
तजै तिनहिं समभाव करि, नमूँ सदा तिन पाँय ॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब बन्ध प्रवेश करता है' । जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है उसी प्रकार रंगभूमिमें बन्धतत्त्वका स्वाँग प्रवेश करता है ।

उसमें प्रथम ही, सर्व तत्त्वोंको यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान बन्धको दूर करता हुआ प्रगट होता है, इस अर्थका मंगलरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[राग-उद्गार-महारसेन सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा] जो (बन्ध) रागके उदयरूपी महा रस (मदिरा)के द्वारा समस्त जगतको प्रमत्त (-मतवाला) करके, [रस-भाव-निर्भर-महानाट्येन क्रीडन्तं बन्धं] रसके भावसे (रागरूपी मतवालेपनसे) भरे हुए महा नृत्यके द्वारा खेल (नाच) रहा है ऐसे बन्धको [धुनत्] उड़ाता—दूर करता हुआ, [ज्ञानं] ज्ञान [समुन्मज्जति] उदयको प्राप्त

जह णाम को वि पुरिसो ऐहभतो दु रेणुबहुलम्भि ।
 ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥२३७॥
 बिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
 सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२३८॥
 उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
 णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किंपच्चयगो दु रयबंधो ॥२३९॥
 जो सो दु ऐहभावो तम्मि एरे तेण तस्स रयबंधो ।
 णिच्छयदो विण्णोयं ए कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४०॥
 एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहासु चिट्ठासु ।
 रायाई उवत्रोगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥२४१॥

होता है। वह ज्ञान [भ्रानन्द-अमृत-निश्च-भोजि] भ्रानन्दरूपी अमृतका नित्य भोजन करनेवाला है, [सहज-प्रवस्थां स्फुटं नाटयत्] अपनी जातृक्रियारूप सहज अवस्थाको प्रगट नचा रहा है, [धीर-उदारम्] धीर है, उदार (अर्थात् महान विस्तारवाला, निश्चल है) है, [अनाकुलं] अनाकुल है, (अर्थात् जिसमें किंचित् भी आकुलताका कारण नहीं है) [निरुपधि] उपाधि रहित (अर्थात् परिग्रह रहित या जिसमें कोई परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है ऐसा) है।

जिस रीत कोई पुरुष मर्दन आप करके तेलका ।
 व्यायाम करता शस्त्रसे, बहु रजभरे स्थानक खड़ा ॥२३७॥
 अरु ताड़, कदली, चांस आदिक छिन्नभिन्न बंधू करे ।
 उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्योंका करे ॥२३८॥
 बहु भाँतिके करणादिसे उपघात करते उसहिको ।
 निश्चयपने चिंतन करो, रजबंध है किन कारणों ? ॥२३९॥
 यों जानना निश्चयपने—चिकनाइ जो उस नर विषै ।
 रजबंधकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है ॥२४०॥
 चेष्टा विविधमें वर्तता, इस भाँति मिथ्यादृष्टि जो ।
 उपयोगमें रामादि करता, रजहिसे लेपाय वो ॥२४१॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले ।
 स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥२३७॥
 छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
 सच्चित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥२३८॥
 उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
 निश्चयतश्चित्यतां खलु किंप्रत्ययिकस्तु रजोबंधः ॥२३९॥
 यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः ।
 निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥२४०॥
 एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु ।
 रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥२४१॥

भावार्थः—बंधतत्त्वने 'रंगभूमिमें' प्रवेश किया है, उसे दूर करके जो ज्ञान स्वयं प्रगट होकर नृत्य करेगा उस ज्ञानकी महिमा इस काव्यमें प्रगट की गई है। ऐसा अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहो। १६३।

अब बन्धतत्त्वके स्वरूपका विचार करते हैं; उसमें पहिले, बन्धके कारणोंको स्पष्टतया बतलाते हैं—

गाथा २३७—२४१

गाथार्थः—[यथा नाम] जैसे—[कः अपि पुरुषः] कोई पुरुष [स्नेहाभ्यक्तः तु] (अपने शरीरमें) तेल आदि स्निग्ध पदार्थ लगाकर [च] और [रेणुबहुले] बहुतसी धूलिवाले [स्थाने] स्थानमें [स्थित्वा] रहकर [शस्त्रैः] शस्त्रोंके द्वारा [व्यायामम् करोति] व्यायाम करता है, [तथा] तथा [तालीतलकदलीवंशपिंडीः] ताड़, तमाल, केल, बाँस, अशोक इत्यादि वृक्षोंको [छिनत्ति] छेदता है [भिनत्ति च] भेदता है, [सच्चित्ताचित्तानां] सचित्त तथा अचित्त [द्रव्याणाम्] द्रव्योंका [उपघातम्] उपघात (नाश) [करोति] करता है; [नानाविधैः करणैः] इसप्रकार नानाप्रकारके कारणोंके द्वारा [उपघातं कुर्वतः] उपघात करते हुए [तस्य] उस पुरुषके [रजोबंधः तु] धूलिका बन्ध (चिपकना) [खलु] वास्तवमें [किंप्रत्ययिकः] किस कारणसे होता है [निश्चयतः] यह निश्चयसे [चित्यतां] विचार करो । [तस्मिन् नरे] उस पुरुषमें [यः सः स्नेहभावः तु] जो वह तेल आदिकी चिकनाहट है [तेन] उससे [तस्य] उसे [रजोबंधः] धूलिका बन्ध होता है (—चिपकती है) [निश्चयतः विज्ञेयं] ऐसा निश्चयसे जानना चाहिये, [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष शारीरिक चेष्टाओंसे [न] नहीं होता । [एवं] इसीप्रकार—[बहुविधासु चेष्टासु] बहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें

इह खलु यथा कश्चित् पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः, स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ स्थितः, शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सच्चित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा बध्यते । तस्य कतमो बंधहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव रजोबहुला भूमिः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात् । न शस्त्रव्यायामकर्म, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्प्रसंगात् । नानेकप्रकारकरणानि, स्नेहानभ्यक्तानामपि तैस्तत्प्रसंगात् । न सच्चित्ताचित्तवस्तूपघातः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मिंस्तत्प्रसंगात् । ततो न्यायबलैर्नैवैतदायातं, यत्तस्मिन् पुरुषे स्नेहाभ्यंगकरणं स बंधहेतुः । एवं मिथ्यादृष्टिः आत्मनि रागादीन् कुर्वाणः, स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सच्चित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्, कर्मरजसा बध्यते । तस्य कतमो बंधहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुलो लोका, सिद्धानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात् । न कायवाङ्मनःकर्म, यथाख्यातसंयतानामपि तत्प्रसंगात् । नानेकप्रकारकरणानि,

[वर्तमानः] वर्तता हुआ [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [उपयोगे] (अपने) उपयोगमें [रागादीन् कुर्वाणः] रागादि भावोंको करता हुआ [रजसा] कर्मरूपी रजसे [लिप्यते] लिप्त होता है—बंधता है ।

टीकाः—जैसे—इस जगतमें वास्तवमें कोई पुरुष स्नेह (-तेल आदि चिकने पदार्थ)से मर्दनयुक्त हुआ, स्वभावतः ही बहुतसी धूलिमय भूमिमें रहा हुआ, शस्त्रोंके व्यायामरूपी कर्म (क्रिया)को करता हुआ, अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ, (उस भूमिकी) धूलिसे बद्ध होता है—लिप्त होता है । (यहाँ विचार करो कि) उसमेंसे उस पुरुषके बंधका कारण कौन है ? पहले, जो स्वभावसे ही बहुत सी धूलिसे भरी हुई भूमि है वह धूलिबंधका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया है ऐसे उस भूमिमें रहे हुए पुरुषोंको भी धूलिबंधका प्रसंग आ जायेगा । शस्त्रोंका व्यायामरूपी कर्म भी धूलिबंधका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया है उनके भी शस्त्र व्यायामरूपी क्रियाके करनेसे धूलिबन्धका प्रसंग आ जायेगा । अनेक प्रकारके करण भी धूलिबन्धके कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया है उनके भी अनेक प्रकारके करणोंसे धूलिबन्धका प्रसंग आ जायेगा । सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात भी धूलिबन्धका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया उन्हें भी सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात करनेसे धूलिबन्धका प्रसंग आ जायेगा ।

इसलिये न्यायके बलसे ही यह फलित (-सिद्ध) हुआ कि, उस पुरुषमें तैलका मर्दन करना बन्धका कारण है । इसीप्रकार—मिथ्यादृष्टि अपनेमें रागादिक करता हुआ, स्वभावसे ही जो बहुतसे कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ है ऐसे लोकमें काय-वचन-मनका कर्म (क्रिया) करता हुआ, अनेक

केवलज्ञानिनामपि तत्प्रसंगात् । न सचिचाचित्तवस्तूपघातः, समितितत्पराणामपि तत्प्रसंगात् ।
ततो न्यायबलेनैवैतदायातं, यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतुः ।

प्रकारके करणोंके द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ, कर्मरूपी रजसे बंधता है । (यहाँ विचार करो कि) इनमेंसे उस पुरुषके बन्धका कारण कौन है ? प्रथम, स्वभावसे ही जो बहुतसे कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ है ऐसा लोक बन्धका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्धोंको भी—जो कि लोकमें रह रहे हैं उनके भी बन्धका प्रसंग आ जायेगा । काय-वचन-मनका कर्म (अर्थात् काय-वचन-मनकी क्रियास्वरूप योग) भी बन्धका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथाख्यात-संयमितियोंके भी (काय-वचन-मनकी क्रिया होनेसे) बन्धका प्रसंग आ जायेगा । अनेक प्रकारके *करण भी बन्धके कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानियोंके भी (उस करणोंसे) बन्धका प्रसंग आ जायेगा । सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात भी बन्धका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जो समित्तमें तत्पर हैं उनके (अर्थात् जो यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं ऐसे साधुओंके) भी (सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंके घातसे) बंधका प्रसंग आ जायेगा । इसलिये न्यायबलसे ही यह फलित हुआ कि, उपयोगमें रागादिकरण (अर्थात् उपयोगमें रागादिकका करना), बंधका कारण है ।

भावार्थः—यहाँ निश्चयनको प्रधान करके कथन है । जहाँ निर्बाध हेतुसे सिद्धि होती है वही निश्चय है । बन्धका कारण विचार करने पर निर्बाधतया यही सिद्ध हुआ कि—मिथ्यादृष्टि पुरुष जिन रागद्वेषमोहभावोंको अपने उपयोगमें करता है वे रागादिक ही बन्धके कारण हैं । उनके अतिरिक्त अन्य-बहु कर्मयोग्य पुद्गलोंसे परिपूर्ण लोक, मन-वचन-कायके योग, अनेक करण तथा चेतन-अचेतनका घात—बंधके कारण नहीं हैं; यदि उनसे बन्ध होता हो तो सिद्धोंके, यथाख्यात चारित्रवानोंके, केवल-ज्ञानियोंके और समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियोंके बन्धका प्रसंग आ जायेगा । परन्तु उनके तो बंध होता नहीं है । इसलिये इन हेतुओंमें (-कारणोंमें) व्यभिचार (दोष) आया । इसलिये यह निश्चय है कि बन्धके कारण रागादिक ही हैं ।

यहाँ समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियोंका नाम लिया गया है और अविरत, देशविरतका नाम नहीं लिया इसका यह कारण है कि—अविरत तथा देशविरतके बाह्यसमितिरूप प्रवृत्ति नहीं होती; इसलिये चारित्रमोह संबंधी रागसे किंचित् बंध होता है; इसलिये सर्वथा बन्धके अभावकी अपेक्षामें उनका नाम नहीं लिया । वैसे अंतरङ्गकी अपेक्षासे तो उन्हें भी निर्बाध ही जानना चाहिये ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

* करणों=इन्द्रियों ।

* पृथ्वी *

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
 न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ।
 यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
 स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणाम् ॥१६४॥

जह पुण सो चेव णरो एहे सव्वम्हि अणिये संते ।
 रेणुवहुलम्मि ठाणे करेइ सत्थेहिं वायामं ॥२४२॥
 छिंददि भिंददि य तथा तालीतलकयलिवसपिंडीओ ।
 सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२४३॥

श्लोकार्थः—[बन्धकृत्] कर्मबन्धको करनेवाला कारण [न कर्मबहुलं जगत्] न तो बहु कर्मयोग्य पुद्गलोसे भरा हुआ लोक है [न चलनात्मकं कर्म वा] न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् मन-वचन-कायकी क्रियारूप योग) है, [न नैककरणानि] न अनेक प्रकारके करण हैं [वा न चिद-अचिद्व-वधः] शरीर न चेतन-अचेतनका घात है । किन्तु [उपयोगभूः रागादिभिः यद्-ऐक्यम् समुपयाति] 'उपयोगभू' अर्थात् आत्मा रागादिके साथ जो ऐक्यको प्राप्त होता है [सः एव केवलं] वही एकमात्र (-मात्र रागादिकके साथ एकत्व प्राप्त करना वही-) [किल] वास्तवमें [नृणाम् बन्ध-हेतुः भवति] पुरुषोंके बन्धकारण हैं ।

भाषार्थः—यहाँ निश्चयनयसे एकमात्र रागादिको ही बन्धका कारण कहा है ॥१६४॥

सम्यग्दृष्टि उपयोगमें रागादि नहीं करता, उपयोगका और रागादिका भेद जानकर रागादिका स्वामी नहीं होता, इसलिये उसे पूर्वोक्त चेष्टासे बन्ध नहीं होता—यह कहते हैं—

जिस रीत फिर वो ही पुरुष, उस तेल सबको दूर कर ।
 ज्यायाम करता शस्त्रसे, बहु रजभरे स्थानक ठहर ॥२४२॥
 अरु ताड़, कदली, चाँस, आदिक, छिन्न भिन्न बहू करे ।
 उपघात आप सच्चित्त अवरु, अचिच्च द्रव्योंका करे ॥२४३॥

उक्त्वायं कुर्वन्तस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
 णिञ्चयदो चित्तिज्ज हु किंपच्चयगो ण रयवंधो ॥२४४॥
 जो सो हु णेहभावो तम्हि एरे तेण तस्स रयवंधो ।
 णिञ्चयदो विराणेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४५॥
 एवं सम्पादिट्ठी वट्ठन्तो बहुविहेसु जोगेसु ।
 अकरन्तो उक्त्वागो रागाहं ण लिप्पइ रयेण ॥२४६॥

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति ।
 रेणुबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥२४२॥
 छिनचि यिनचि च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
 सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥२४३॥
 उपघातं कुर्वन्तस्तरय नानाविधैः करणैः ।
 निश्चयतश्चित्यतां खलु किंप्रत्ययिको न रजोबन्धः ॥२४४॥
 यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबन्धः ।
 निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥२४५॥
 एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।
 अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥२४६॥

गाथा २४२-२४६

गाथायः—[यथा पुनः] और जैसे—[सः च एव नरः] वही पुरुष, [सर्वस्मिन् स्नेहे]
 समस्त तेल आदि स्निग्ध पदार्थको [अपनीते सति] दूर किये जाने पर, [रेणुबहुले] बहुत धूलिवाले
 [स्थाने] स्थान में [शस्त्रैः] शस्त्रोंके द्वारा [व्यायामम् करोति] व्यायाम करता है, [तथा] और

बहुभौतिके करणादिसे, उपघात करते उसहिं को ।
 निश्चयपने—चित्तन करो, रजबंध नहिं किन कारणों ॥२४४॥
 यों जानना निश्चयपने—चिकनाइ जो उस नर विषै ।
 रजबन्धकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है ॥२४५॥
 योगों विविधमें वर्तता, इस भौति सम्यग्दृष्टि जो ।
 उपयोगमें रागादि न करे, रजहिं नहिं लेपाय वो ॥२४६॥

यथा स एव पुरुषः, स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति, तस्यामेव स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ तदेव शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः, तैरैवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्, रजसा न बध्यते, स्नेहाभ्यंगस्य बन्धहेतोरभावात्; तथा सम्यग्दृष्टिः, आत्मनि रागादीनकुर्वाणः, सन्, तस्मिन्नेव स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके तदेव कायवाङ्मनःकर्म, कुर्वाणः, तैरैवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्, कर्मरजसा न बध्यते, रागयोगस्य बन्धहेतोरभावात् ।

[तालीतलकदलीवंशपिंडीः] ताड़, तमाल, केल, बाँस और अशोक आदि वृक्षोंको [छिनत्ति] छेदता है, [भिनत्ति च] और भेदता है, [सचित्ताचित्तानां] सचित्त तथा अचित्त [द्रव्याणाम्] द्रव्योंका [उपघातम्] उपघात [करोति] करता है; [नानाविधः करणैः] ऐसे नाना प्रकारके करणोंके द्वारा [उपघातं कुर्वतः] उपघात करते हुए [तस्य] उस पुरुषको [रजोबन्धः] धूलिका बन्ध [खलु] वास्तवमें [किंप्रत्ययिकः] किस कारणसे [न] नहीं होता [निश्चयतः] यह निश्चयसे [चित्तयतां] विचार करो । [तस्मिन् नरे] उस पुरुषमें [यः सः स्नेहभावः तु] जो वह तेल आदिकी चिकनाई है [तेन] उससे [तस्य] उसके [रजोबन्धः] धूलिका बन्ध होना [निश्चयतः विज्ञेयं] निश्चयसे जानना चाहिये, [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष कायकी चेष्टाओंसे [न] नहीं होता । (इसलिये उस पुरुषमें तेल आदिकी चिकनाहटका अभाव होनेसे ही धूलि इत्यादि नहीं चिपकती ।) [एवं] इसप्रकार— [बहुविधेषु योगेषु] बहुत प्रकारके योगोंमें [वर्तमानः] वर्तता हुआ [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [उपयोगे] उपयोगमें [रागादीन् अकुर्वन्] रागादिको न करता हुआ [रजसा] कर्मरजसे [न लिप्यते] लिप्त नहीं होता ।

टीका:—जैसे वही पुरुष, सम्पूर्ण चिकनाहटको दूर कर देने पर, उसी स्वभावसे ही अत्यधिक धूलिसे भरी हुई उसी भूमिमें वही शस्त्रव्यायामरूपी कर्मको (क्रियाको) करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ, धूलिसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके धूलिके लिप्त होनेका कारण जो तैलादिका मर्दन है उसका अभाव है, इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि, अपनेमें रागादिको न करता हुआ, उसी स्वभावसे बहु कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरे हुए लोकमें वही मन-वचन-कायकी क्रिया करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ, कर्मरूपी रजसे नहीं बँधता, क्योंकि उसके बन्धके कारणभूत रागके योगका (रागमें जुड़नेका) अभाव है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टिके पूर्वोक्त सर्व सम्बन्ध होने पर भी रागके सम्बन्धका अभाव होनेसे कर्मबन्ध नहीं होता । इसके समर्थनमें पहले कहा जा चुका है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

* शार्दूलविक्रीडित *

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बंधं नैव कुतौऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृग्मात्मा ध्रुवम् ॥१६५॥

* पृथ्वी *

तथापि न निरगलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरगला व्यापृतिः ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥१६६॥

श्लोकार्थः—[ततः] इसलिये [कर्म लोकः सः अस्तु] वह (पूर्वोक्त) बहु कर्मोंसे (कर्मयोग्य पुद्गलोंसे) भरा हुआ लोक है सो भले रहो, [परिस्पन्दात्मकं कर्म तत् च अस्तु] वह मन-वचन-कायका चलनस्वरूप कर्म (योग) है सो भी भले रहो, [तानि करणानि अस्मिन् सन्तु] वे (पूर्वोक्त) करण भी उसके भले रहें [च] और [तत् चिद्व-अचिद्व-व्यापादनं अस्तु] वह चेतन-अचेतनका घात भी भले हो, परन्तु [अहो] अहो ! [अयम् सम्यग्दृग्-आत्मा] यह सम्यग्दृष्टि आत्मा, [रागादीनुपयोग-भूमिम् मनयन्] रागादिको उपयोगभूमिमें न लाता हुआ, [केवलं ज्ञानं भवन्] केवल (एक) ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ, [कुतः अपि बन्धम् ध्रुवम् न एव उपैति] किसी भी कारणसे निश्चयतः बन्धको प्राप्त नहीं होता । (अहो ! देखो ! यह सम्यग्दर्शनकी अद्भुत महिमा है ।)

भावार्थः—यहाँ सम्यग्दृष्टिकी अद्भुत महिमा बताई है, और यह कहा है कि—लोक, योग, करण, चैतन्य-अचैतन्यका घात—वे बंधके कारण नहीं हैं । इसका अर्थ यह नहीं है कि परजीवकी हिंसासे बन्धका होना नहीं कहा इसलिये स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी । किंतु यहाँ यह आशय है कि अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीवका घात भी हो जाये तो उससे बन्ध नहीं होता । किन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक जीवोंको मारनेके भाव होंगे वहाँ अपने उपयोगमें रागादिका अस्तित्व होगा और उससे वहाँ हिंसाजन्य बन्ध होगा ही । जहाँ जीवको जिलानेका अभिप्राय हो वहाँ भी अर्थात् उस अभिप्रायको भी निश्चयनयमें मिथ्यात्व कहा है तब फिर जीवको मारनेका अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा ? अवश्य होगा । इसलिये कथनको नयविभागसे यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिये । सर्वथा एकान्त मानना मिथ्यात्व है ॥१६५॥

अब उपरोक्त भावार्थमें कथित आशयको प्रगट करनेके लिये, व्यवहारनयकी प्रवृत्ति करानेके लिये, काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[तथापि] तथापि (अर्थात् लोक आदि कारणोंसे बन्ध नहीं कहा और रागादिकसे ही बन्ध कहा है तथापि) [ज्ञानिनां निरगलं चरितुम् न इष्यते] ज्ञानियोंको निरगल (स्वच्छन्दतापूर्वक)

• वसन्ततिलका •

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु

जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ।

रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-

मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः ॥१६७॥

प्रवर्तना योग्य नहीं है, [सा निरगला व्यापृतिः किल तद्-आयतनम् एव] क्योंकि वह निरगल प्रवर्तन वास्तवमें बन्धका ही स्थान है । [ज्ञानिनां अकाम-कृत-कर्म तत् अकारणम् मतम्] ज्ञानियोंके बांछारहित कर्म (कार्य) होता है वह बन्धका कारण नहीं कहा है, क्योंकि [जानाति च करोति] जानता भी है और (कर्मको) करता भी है—[द्वयं किमु न हि विरुध्यते] यह दोनों क्रियायें क्या विरोधरूप नहीं हैं ? (करना और जानना निश्चयसे विरोधरूप ही है ।)

भावार्थः—पहले काव्यमें लोक आदिको बन्धका कारण नहीं कहा इसलिये वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि बाह्यव्यवहारप्रवृत्तिका बन्धके कारणोंमें सर्वथा ही निषेध किया है; बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति रागादि परिणामकी—बन्धके कारणकी—निमित्तभूत है, उस निमित्तताका यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिये । ज्ञानियोंके अबुद्धिपूर्वक—बांछा रहित—प्रवृत्ति होती है इसलिये बन्ध नहीं कहा है, उन्हें कहीं स्वच्छन्द होकर प्रवर्तनेको नहीं कहा है; क्योंकि मर्यादारहित (निरंकुश) प्रवर्तना तो बन्धका ही कारण है । जाननेमें और करनेमें तो परस्पर विरोध है; ज्ञाता रहेगा तो बन्ध नहीं होगा, कर्ता होगा तो अवश्य बन्ध होगा । १६६ ।

“जो जानता है सो करता नहीं और जो करता है सो जानता नहीं; करना तो कर्मका राग है, और जो राग है सो अज्ञान है तथा अज्ञान बन्धका कारण है ।”—इस अर्थका काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[यः जानाति सः न करोति] जो जानता है सो करता नहीं [तु] और [यः करोति अयं खलु जानाति न] जो करता है सो जानता नहीं । [तत् किल कर्मरागः] करना तो वास्तवमें कर्मका राग है [तु] और [रागं अबोधमयम् अध्यवसायम् आहुः] रागको (मुनियोंने) अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है; [सः नियतं मिथ्यादृशः] जो कि वह (अज्ञानमय अध्यवसाय) नियमसे मिथ्यादृष्टिके होता है [च] और [सः बन्धहेतुः] वह बन्धका कारण है । १६७ ।

अब मिथ्यादृष्टिके आशयको गायामें स्पष्ट कहते हैंः—

जो मरणदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो ॥२४७॥

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः ।

स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२४७॥

परजीवानहं हिनस्मि, परजीवैर्हिंस्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् । स तु यस्यास्ति
सोऽज्ञानित्वान्मिध्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टिः ।

गाथा २४७

गाथार्थः—[यः] जो [मन्यते] यह मानता है कि [हिनस्मि च] 'मैं पर जीवोंको मारता हूँ
[परैः सत्त्वैः हिंस्ये च] और पर जीव मुझे मारते हैं,' [सः] वह [मूढः] मूढ (-मोही) है, [अज्ञानी]
अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता वह) [ज्ञानी]
ज्ञानी है ।

टीकाः—'मैं परजीवोंको मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं'—ऐसा *अध्यवसाय ध्रुवरूपसे
(नियमसे, निश्चयतः) अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है वह अज्ञानीपनेके कारण मिध्यादृष्टि है;
और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है वह ज्ञानीपनेके कारण सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थः—'परजीवोंको मैं मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं' ऐसा अभिप्राय अज्ञान है
इसलिये जिसका ऐसा आशय है वह अज्ञानी है—मिध्यादृष्टि है और जिसका ऐसा आशय नहीं है वह
ज्ञानी है—सम्यग्दृष्टि है ।

निश्चयनयसे कर्ताका स्वरूप यह हैः—स्वयं स्वाधीनतया जिस भावरूप परिणमित हो उस
भावका स्वयं कर्ता कहलाता है । इसलिये परमार्थतः कोई किसीका मरण नहीं करता । जो परसे परका
मरण मानता है, वह अज्ञानी है । निमित्त-नैमित्तिक भावसे कर्ता कहना सो व्यवहारनयका कथन है;
उसे यथार्थतया (-अपेक्षाको समझ कर) मानना सो सम्यग्ज्ञान है ।

* अध्यवसाय = मिध्या अभिप्राय; आशय ।

जो मानता—मैं मारूँ पर अरु घात पर मेरा करै ।

वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥२४७॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

आउक्त्वयेण मरणं जीवाणं जिणवरं हिं पणत्तं ।

आउं ए हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥

आउक्त्वयेण मरणं जीवाणं जिणवरं हिं पणत्तं ।

आउं ए हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥

आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।

आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषाम् ॥२४८॥

आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।

आयुर्न हरंति तव कथं ते मरणं कृतं तैः ॥२४९॥

अब यह प्रश्न होता है कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? उसके उत्तर स्वरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा २४८-२४९

गाथार्थः—(हे भाई ! तू जो यह मानता है कि 'मैं पर जीवोंको मारता हूँ' सो यह तेरा अज्ञान है।) [जीवानां] जीवोंका [मरणं] मरण [आयुःक्षयेण] आयुःकर्मके क्षयसे होता है ऐसा [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेवने [प्रज्ञप्तम्] कहा है; [त्वं] तू [आयुः] पर जीवोंके आयुःकर्मको तो [न हरसि] हरता नहीं है, [त्वया] तो तूने [तेषाम् मरणं] उनका मरण [कथं] कैसे [कृतं] किया ?

(हे भाई ! तू जो यह मानता है कि 'पर जीव मुझे मारते हैं' सो यह तेरा अज्ञान है।) [जीवानां] जीवोंका [मरणं] मरण [आयुःक्षयेण] आयुःकर्मके क्षयसे होता है ऐसा [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेवने [प्रज्ञप्तम्] कहा है; पर जीव [तव आयुः] तेरे आयुःकर्मको तो [न हरंति] हरते नहीं हैं, [तैः] तो उन्होंने [ते मरणं] तेरा मरण [कथं] कैसे [कृतं] किया ?

है आयुक्षयसे मरण जीवका ये हि जिनवरने कहा ।

तू आयु तो हरता नहीं, तैने मरण कैसे किया ? ॥२४८॥

है आयुक्षयसे मरण जीवका ये हि जिनवरने कहा ।

वे आयु तुझ हरते नहीं, तो मरण तुझ कैसे किया ? ॥२४९॥

मरणं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मक्षयेणैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्; स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य हर्तुं शक्यं, तस्य स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य मरणं कुर्यात् । ततो हिनस्मि, हिंस्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् ।

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्तेति चेत्—

जो मरणदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।

सो मूढो अण्णणी णणी एतो दु विवरीदो ॥२५०॥

टीका:—प्रथम तो, जीवोंका मरण वास्तवमें अपने आयुर्कर्मके क्षयसे ही होता है, क्योंकि अपने आयुर्कर्मके क्षयके अभावमें मरण होना अशक्य है; और दूसरेसे दूसरेका स्व-आयुर्कर्म हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (स्व-आयुर्कर्म) अपने उपभोगसे ही क्षयको प्राप्त होता है; इसलिये किसी भी प्रकारसे कोई दूसरा किसी दूसरेका मरण नहीं कर सकता । इसलिये मैं परजीवोंको मारता हूँ, और परजीव मुझे मारते हैं। ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (-नियमसे) अज्ञान है ।

भावार्थ:—जीवकी जो मान्यता हो तदनुसार जगतमें नहीं बनता हो, तो वह मान्यता अज्ञान है । अपने द्वारा दूसरेका तथा दूसरेसे अपना मरण नहीं किया जा सकता, तथापि यह प्राणी व्यर्थ ही ऐसा मानता है सो अज्ञान है । यह कथन निश्चयनयकी प्रधानतासे है ।

व्यवहार इसप्रकार है:—परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे पर्यायका जो उत्पाद-व्यय हो उसे जन्म-मरण कहा जाता है; वहाँ जिसके निमित्तसे मरण (-पर्यायका व्यय) हो उसके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि “इसने इसे मारा” यह व्यवहार है ।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि व्यवहारका सर्वथा निषेध है । जो निश्चयको नहीं जानते, उनका अज्ञान मिटानेके लिये यहाँ कथन किया है । उसे जाननेके बाद दोनों नयोंको अविरोधरूपसे जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिये ।

अब पुनः प्रश्न होता है कि “(मरणका अध्यवसाय अज्ञान है यह कहा सो जान लिया; किन्तु अब) मरणके अध्यवसायका प्रतिपक्षी जो जीवनका अध्यवसाय है उसका क्या हाल है ?” उसका उत्तर कहते हैं:—

जो मानता—मैं पर जिलावूँ, मुझ जीवन परसे रहे ।

वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥२५०॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये च परैः सत्त्वैः ।

स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२५०॥

परजीवानहं जीवयामि, परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् । स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिध्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

आरुदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सब्वण्हू ।

आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ॥२५१॥

आरुदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सब्वण्हू ।

आउं च ण दिति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥२५२॥

गाथा २५०

गाथार्थः—[यः] जो जीव [मन्यते] यह मानता है कि [जीवयामि] मैं पर जीवोंको जिलाता हूँ [च] और [परैः सत्त्वैः] पर जीव [जीव्ये च] मुझे जिलाते हैं, [सः] वह [मूढः] मूढ (-मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता किन्तु इससे उल्टा मानता है) वह [ज्ञानी] ज्ञानी है ।

टीकाः—‘परजीवोंको मैं जिलाता हूँ, और परजीव मुझे जिलाते हैं’ इसप्रकारका अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (-अत्यन्त निश्चितरूपसे) अज्ञान है । यह अध्यवसाय जिसके है वह जीव अज्ञानीपनेके कारण मिध्यादृष्टि है; और जिसके यह अध्यवसाय नहीं है वह जीव ज्ञानीपनेके कारण सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थः—यह मानना अज्ञान है कि ‘परजीव मुझे जिलाता है और मैं परको जिलाता हूँ’ जिसके यह अज्ञान है वह मिध्यादृष्टि है; तथा जिसके यह अज्ञान नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है ।

अब यह प्रश्न होता है कि यह (जीवनका) अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

जीतव्य जीवका आयुदयसे, ये हि जिनवरने कहा ।

तू आयु तो देता नहीं, तैने जीवन कैसे किया ॥२५१॥

जीतव्य जीवका आयुदयसे, ये हि जिनवरने कहा ।

वो आयु तुझ देते नहीं, तो जीवन तुझ कैसे किया ॥२५२॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भ्रंशति सर्वज्ञाः ।

आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषाम् ॥२५१॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भ्रंशति सर्वज्ञाः ।

आयुश्च न ददति तव कथं नु ते जीवितं कृतं तैः ॥२५२॥

जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्; स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य स्वपरिणामेनैव उपाज्यमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य जीवितं कुर्यात् । अतो जीवयामि, जीव्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् ।

दुःखसुखकरणाध्यवसायस्यापि एषैव गतिः—

जो अप्पणा हु मण्णादि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते ति ।

सो मूढो अण्णाणी जाणी एतो हु विवरीदो ॥२५३॥

गाथा २५१-२५२

गाथार्थः—[जीवः] जीव [आयुरुदयेन] आयुर्कर्मके उदयसे [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [भ्रंशति] कहते हैं; [त्वं] तू [आयुः च] पर जीवोंको आयुर्कर्म तो [न ददासि] नहीं देता [त्वया] तो (हे भाई !) तूने [तेषाम् जीवितं] उनका जीवन (जीवित रहना) [कथं कृतं] कैसे किया ?

[जीवः] जीव [आयुरुदयेन] आयुर्कर्मके उदयसे [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [भ्रंशति] कहते हैं; पर जीव [तव] तुम्हें [आयुः च] आयुर्कर्म तो [न ददति] देते नहीं हैं [तैः] तो (हे भाई !) उन्होंने [ते जीवितं] तेरा जीवन (जीवित रहना) [कथं नु कृतं] कैसे किया ?

टीकाः—प्रथम तो, जीवोंका जीवित (जीवन) वास्तवमें अपने आयुर्कर्मके उदयसे ही है, क्योंकि अपने आयुर्कर्मके उदयके अभावमें जीवित रहना अशक्य है; और अपना आयुर्कर्म दूसरेसे दूसरेको नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना आयुर्कर्म) अपने परिणामसे ही उपाजित होता है; इसलिये किसी भी प्रकारसे कोई दूसरेका जीवन नहीं कर सकता । इसलिये 'मैं परको जिलाता हूँ और पर मुझे जिलाता है' इसप्रकारका अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (नियतरूपसे) अज्ञान है ।

भावार्थः—पहले मरणके अध्यवसायके संबंधमें कहा था इसीप्रकार यहाँ भी जानना ।

अब यह कहते हैं कि दुःख-सुख करनेके अध्यवसायकी भी यही गति हैः—

जो आपसे माने दुःखीसुखी, मैं करूँ परजीवको ।

वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥२५३॥

य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान् करोमि सत्वानिति ।

स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२५३॥

परजीवानहं दुःखितान् सुखितांश्च करोमि, परजीवैर्दुःखितः सुखितश्च क्रियेऽहमित्यध्य-
वसायो ध्रुवमज्ञानम् । स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स
ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।

कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते ॥२५४॥

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।

कम्मं च ण दिति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥२५५॥

गाथा २५३

गाथार्थः—[यः] जो [इति मन्यते] यह मानता है कि [आत्मना तु] अपने द्वारा [सत्वान्] मैं (पर) जीवोंको [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि] करता हूँ, [सः] वह [मूढः] मूढ (-मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] जो इससे विपरीत है वह [ज्ञानी] ज्ञानी है ।

टोकाः—‘परजीवोंको मैं दुःखी तथा सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुःखी तथा सुखी करते हैं’ इसप्रकारका अध्यवसाय ध्रुवरूपसे अज्ञान है । वह अध्यवसाय जिसके है वह जीव अज्ञानीपनेके कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है वह जीव ज्ञानीपनेके कारण सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थः—यह मानना अज्ञान है कि—‘मैं परजीवोंको दुःखी या सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुःखी या सुखी करते हैं’ । जिसे यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अज्ञान नहीं है वह ज्ञानी है—सम्यग्दृष्टि है ।

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? उसका उत्तर कहते हैंः—

जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुःखित अवरु सुखी बनें ।

तू कर्म तो देता नहीं, कैसे तू दुःखित सुखी करे? ॥२५४॥

जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुःखित अवरु सुखी बनें ।

वो कर्म तुझ देते नहीं, तो दुःखित तुझ कैसे करे? ॥२५५॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।
कर्मं च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥२५६॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।
कर्मं च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥२५४॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।
कर्मं च न ददति तव कृतोऽसि कथं दुःखितस्तैः ॥२५५॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।
कर्मं च न ददति तव कथं त्वं सुखितः कृतस्तैः ॥२५६॥

सुखदुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात्; स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य स्वपरिणामेनैवोपाज्यमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि

गाथा २५४-२५६

गाथार्थः—[यदि] यदि [सर्वे जीवाः] सभी जीव [कर्मोदयेन] कर्मके उदयसे [दुःखितसुखिताः] दुःखी-सुखी [भवन्ति] होते हैं, [च] और [त्वं] तू [कर्म] उन्हें कर्म तो [न ददासि] देता नहीं है, तो (हे भाई !) तूने [ते] उन्हें [दुःखितसुखिताः] दुःखी-सुखी [कथं कृताः] कैसे किया ?

[यदि] यदि [सर्वे जीवाः] सभी जीव [कर्मोदयेन] कर्मके उदयसे [दुःखितसुखिताः] दुःखी-सुखी [भवन्ति] होते हैं, [च] और वे [तव] तुझे [कर्म] कर्म तो [न ददति] नहीं देते, तो (हे भाई !) [तैः] उन्होंने [दुःखितः] तुझको दुःखी [कथं कृतः असि] कैसे किया ?

[यदि] यदि [सर्वे जीवः] सभी जीव [कर्मोदयेन] कर्मके उदयसे [दुःखितसुखिताः] दुःखी-सुखी [भवन्ति] होते हैं, [च] और वे [तव] तुझे [कर्म] कर्म तो [न ददति] नहीं देते, तो (हे भाई !) [तैः] उन्होंने [त्वं] तुझको [सुखितः] सुखी [कथं कृतः] कैसे किया ?

टीकाः—प्रथम तो, जीवोंको सुख-दुःख वास्तवमें अपने कर्मोदयसे ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदयके अभावमें सुख-दुःख होना अशक्य है; और अपना कर्म दूसरे द्वारा दूसरेको नहीं दिया जा

जहाँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुःखित अवरु सुखी बनें ।

वो कर्म तुझ देते नहीं, तो सुखित तुझ कैसे करें ? ॥२५६॥

अन्योऽन्यस्य सुखदुःखे कुर्यात् । अतः सुखितदुःखितान् करोमि, सुखितदुःखितः क्रिये
चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् ।

* वसन्ततिलका *

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मादयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥१६८॥

* वसन्ततिलका *

अज्ञानमेतदधिगम्यः (परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥१६९॥

सकता, क्योंकि वह (अपना कर्म) अपने परिणामसे ही उपार्जित होता है; इसलिये किसी भी प्रकारसे एक
दूसरेको सुख-दुःख नहीं कर सकता । इसलिये यह अध्यवसाय ध्रुवरूपसे अज्ञान है कि 'मैं परजीवोंको
सुखी-दुःखी करता हूँ और परजीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं' ।

भावार्थः—जीवका जैसा आशय हो तदनुसार जगतमें कार्य न होते हों तो वह आशय अज्ञान है ।
इसलिये, सभी जीव अपने अपने कर्मादयसे सुखी-दुःखी होते हैं वहाँ यह मानना कि 'मैं परको सुखी-
दुःखी करता हूँ और पर मुझे सुखी-दुःखी करता है,' सो अज्ञान है । निमित्तनैमित्तिकभावके आश्रयसे
(किसीको किसीके) सुखदुःखका करनेवाला कहना सो व्यवहार है; जो कि निश्चयकी दृष्टिमें गौण है ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[इह] इस जगतमें [मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्] जीवोंके मरण, जीवित,
दुःख, सुख—[सर्वं सदैव नियतं स्वकीय-कर्मादयात् भवति] सब सदैव नियमसे (-निश्चित रूपसे)
अपने कर्मादयसे होता है; [परः पुमान् परस्य मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम् कुर्यात्] यह मानना
[यत्तु] तो अज्ञान है कि—[एतत् अज्ञानम्] 'दूसरा पुरुष दूसरेके मरण, जीवन, दुःख सुखको
करता है' । १६८ ।

पुनः इसी अर्थको दृढ़ करनेवाला और आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[एतत् अज्ञानम् अधिगम्य] इस (पूर्वकथित मान्यतारूप) अज्ञानको प्राप्त
करके [ये परात् परस्य मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम् पश्यन्ति] जो पुरुष परसे परके मरण, जीवन,

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सब्बो ।
 तम्हा दु मारिदो हे दुहाविदो चेदि ए हु मिच्छा ॥२५७॥
 जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चैव खलु ।
 तम्हा ए मारिदो एो दुहाविदो चेदि ए हु मिच्छा ॥२५८॥

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः ।
 तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥२५७॥
 यो न म्रियते न च दुःखितः सोऽपि च कर्मोदयेन चैव खलु ।
 तस्मान्न मारितो नो दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥२५८॥

दुःख, सुखको देखते हैं अर्थात् मानते हैं, [ते] वे पुरुष—[अहंकारितरसेन कर्माणि चिकीर्षवः] जो कि इसप्रकार अहंकाररससे कर्मोंको करनेके इच्छुक हैं (अर्थात् 'मैं इन कर्मोंको करता हूँ' ऐसे अहंकाररूपी रससे जो कर्म करनेकी—मारने—जिलानेकी, सुखी—दुःखी करनेकी—बांछा करनेवाले हैं) वे—[नियतम्] नियमसे [मिथ्यादृशः आत्महनः भवन्ति] मिथ्यादृष्टि हैं, अपने आत्माका घात करनेवाले हैं ।

भावार्थः—जो परको मारने—जिलानेका तथा सुख-दुःख करनेका अभिप्राय रखते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। वे अपने स्वरूपसे च्युत होते हुए रागी, द्वेषी, मोही होकर स्वतः ही अपना घात करते हैं, इसलिये वे हिंसक हैं। १६६।

अब इसी अर्थको गाथाओं द्वारा कहते हैंः—

गाथा २५७-२५८

गाथार्थः—[यः म्रियते] जो मरता है [च] और [यः दुःखितः जायते] और जो दुःखी होता है [सः सर्वः] वह सब [कर्मोदयेन] कर्मोदयसे होता है; [तस्मात्तु] इसलिये [मारितः च दुःखितः] 'मैंने मारा, मैंने दुःखी किया' [इति] ऐसा [ते] तेरा अभिप्राय [न खलु मिथ्या] क्या वास्तवमें मिथ्या नहीं है ?

मरता दुखी होता जु जीव सब कर्म उदयोंसे वनें ।

मुझसे मरा अरु दुखि हुआ क्या मत न तुझ मिथ्या अरे ! ॥२५७॥

अरु नहिं मरे, नहिं दुखि वने, ये कर्म उदयोंसे वने ।

'मैंने न मारा दुखि करा' क्या मत न तुझ मिथ्या अरे ! ॥२५८॥

यो हि म्रियते जीवति वा, दुःखितो भवति सुखितो भवति वा, स खलु स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य तथा भवितुमशक्यत्वात् । ततः मयायं मारितः, अयं जीवितः, अयं दुःखितः कृतः, अयं सुखितः कृतः इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः ।

• अनुष्टुम् •

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।

य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥१७०॥

[च] और [यः न म्रियते] जो न मरता है [च] और [नः दुःखितः] न दुःखी होता है [सः अपि] वह भी [खलु] वास्तवमें [कर्मोदयेन च एव] कर्मोदयसे ही होता है; [तस्मात्] इसलिये [न मारितः च न दुःखितः] 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुःखी नहीं किया' [इति] ऐसा तेरा अभिप्राय [न खलु मिथ्या] क्या वास्तवमें मिथ्या नहीं है ?

टीका:—जो मरता है या जीता है, दुःखी होता है या सुखी होता है, यह वास्तवमें अपने कर्मोदयसे ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदयके अभावमें उसका वैसा होना (मरना, जीना, दुःखी या सुखी होना) अशक्य है । इसलिये ऐसा देखनेवाला अर्थात् माननेवाला मिथ्यादृष्टि है कि—'मैंने इसे मारा, इसे जिलाया, इसे दुःखी किया, इसे सुखी किया' ।

भावार्थ:—कोई किसीके मारे नहीं मरता और जिलाये नहीं जीता, तथा किसीके सुखी-दुःखी किये सुखी-दुःखी नहीं होता; इसलिये जो मारने, जिलाने आदिका अभिप्राय करता है वह मिथ्यादृष्टि ही है—यह निश्चयका वचन है । यहाँ व्यवहारनय गौण है ।

अत्र आगेके कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[अस्य मिथ्यादृष्टेः] मिथ्यादृष्टिके [यः एव अयम् अज्ञानात्मा अध्यवसायः दृश्यते] जो यह अज्ञानस्वरूप अध्यवसाय दिखाई देता है [सः एव] वह अध्यवसाय ही [विपर्ययात्] विपर्ययस्वरूप (मिथ्या) होनेसे, [अस्य बन्धहेतुः] उस मिथ्यादृष्टिके बन्धका कारण है ।

भावार्थ:—मिथ्या अभिप्राय ही मिथ्यात्व है और वही बन्धका कारण है—ऐसा जानना चाहिए । १७० ।

अब, यह कहते हैं कि यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्धका कारण है:—

* जो परिणाम मिथ्या अभिप्राय सहित हो (—स्वपरके एकत्वके अभिप्रायसे युक्त हो) अथवा वैभाविक हो उस परिणामके लिये अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त किया जाता है । (मिथ्या) निश्चय अथवा (मिथ्या) अभिप्रायके अर्थमें भी अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त होता है ।

एसा हु जा मई दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्ते ति ।

एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कर्म ॥२५६॥

एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।

एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म ॥२५९॥

परजीवानहं हिनस्मि, न हिनस्मि, दुःखयामि, सुखयामि इति य एवायमज्ञानमयोऽध्यवसायो
मिथ्यादृष्टेः, स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबंधहेतुः ।

अथाध्यवसायं बंधहेतुत्वेनावधारयति—

दुःखिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।

तं पावबंधगं वा पुण्यसस व बंधगं होदि ॥२६०॥

पाथा २५९

भावार्थः—[ते] तेरी [एषा या मतिः तु] यह जो बुद्धि है कि मैं [सत्त्वान्] जीवोंको
[दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि इति] करता हूँ, [एषा ते मूढमतिः] यह तेरी मूढबुद्धि ही
(मोहस्वरूप बुद्धि ही) [शुभाशुभं कर्म] शुभाशुभ कर्मको [बध्नाति] बाँधती है ।

टीकाः—‘मैं पर जीवोंको मारता हूँ, नहीं मारता, दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ’ ऐसा जो यह
अज्ञानमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टिके है, वही (अर्थात् वह अध्यवसाय ही) स्वयं रागादिरूप होनेसे उसे
(-मिथ्यादृष्टिको) शुभाशुभ बन्धका कारण है ।

भावार्थः—मिथ्या अध्यवसाय बन्धका कारण है ।

अत्र, अध्यवसायको बंधके कारणके रूपमें भलीभाँति निश्चित करते हैं (अर्थात् मिथ्या
अध्यवसाय ही बंधका कारण है ऐसा नियमसे कहते हैं)ः—

मे बुद्धि तेरी ‘दुःखित अबरु सुखी करूँ हूँ जीवको’ ।

वो मूढमति तेरी अरे ! शुभ अशुभ बाँधे कर्मको ॥२५९॥

करता तु अध्यवसान—‘दुःखित सुखी करूँ हूँ जीवको’ ।

वो बाँधता है पापको वा बाँधता है पुण्यको ॥२६०॥

मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्भवसिदं ते ।

तं पावबंधगं वा पुण्यस्य व बंधगं होदि ॥२६१॥

दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते ।

तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥२६०॥

मारयामि जीवयामि वा सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते ।

तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥२६१॥

य एवायं मिथ्यादृष्टेरज्ञानजन्मा रागमयोऽध्यवसायः स एव बंधहेतुः इत्यवधारणीयम् । न च पुण्यपापत्वेन द्वित्वाद्बन्धस्य तद्वैत्वंतरमन्वेष्टव्यं; एकेनैवानेनाध्यवसायेन दुःखयामि मारयामि इति, सुखयामि जीवयामीति च द्विधा शुभाशुभाहंकाररसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्बंधहेतुत्वस्याविरोधात् ।

गाथा २६०-२६१

गाथार्थः—‘[सत्त्वान्] जीवोंको मैं [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सूखी [करोमि] करता हूँ’ [एवम्] ऐसा [यत् ते अध्यवसितं] जो तेरा अध्यवसान, [तत्] वही [पापबन्धकं वा] पापका बन्धक [पुण्यस्य बंधकं वा] अथवा पुण्यका बन्धक [भवति] होता है ।

‘[सत्त्वान्] जीवोंको मैं [मारयामि वा जीवयामि] मारता हूँ और जिलाता हूँ’ [एवम्] ऐसा [यत् ते अध्यवसितं] जो तेरा अध्यवसान, [तत्] वही [पापबन्धकं वा] पापका बन्धक [पुण्यस्य बंधकं वा] अथवा पुण्यका बन्धक [भवति] होता है ।

टीकाः—मिथ्यादृष्टिके इस अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला रागमय अध्यवसाय ही बंधका कारण है यह भलीभाँति निश्चित करना चाहिये । और पुण्य-पापरूपसे बन्धका द्वित्व (दो-पनाँ) होनेसे बन्धके कारणका भेद नहीं ढूँढना चाहिये (अर्थात् यह नहीं मानना चाहिये कि पुण्यबंधका कारण दूसरा है और पापबन्धका कारण कोई दूसरा है), क्योंकि यह एक ही अध्यवसाय ‘दुःखी करता हूँ, मारता हूँ’ इसप्रकार और ‘सुखी करता हूँ जिलाता हूँ’ यों दो प्रकारसे शुभ-अशुभ अहंकाररससे परिपूर्णताके द्वारा पुण्य और पाप-दोनोंके बन्धके कारण होनेमें अविरोध है (अर्थात् एक ही अध्यवसायसे पुण्य और पाप-दोनोंका बन्ध होनेमें कोई विरोध नहीं है ।

* जो परिणमन मिथ्या अभिप्राय सहित है (—स्वपरके एकत्वके अभिप्रायसे युक्त हो) अथवा वैभाविक हो उस परिणमनके लिये ‘अध्यवसान’ शब्द प्रयुक्त किया जाता है । (मिथ्या) निस्वय अथवा (मिथ्या) अभिप्राय करनेके अर्थमें भी अध्यवसान प्रयुक्त होता है ।

करता तु अध्यवसान—‘मैं माँहूँ जिवाऊँ जीवकी’ ।

वो बांधता है पापको वा बांधता है पुण्यको ॥२६१॥

एवं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातम्—

अज्ञभवसिद्धेण बंधो सत्ते मारेउ या व मारेउ ।

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयण्यस्स ॥२६२॥

अध्यवसितेन बंधः सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु ।

एष बंधसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ॥२६२॥

परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोपः कदाचिद्भवतु, कदाचिन्मा भवतु, य एव हिंसायामध्यवसायः स एव निश्चयतस्तस्य बंधहेतुः, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात् ।

भावार्थः—यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्धका कारण है । उसमें, 'मैं जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसे शुभ अहंकारसे भरा हुआ वह शुभ अध्यवसाय है और 'मैं मारता हूँ, दुःखी करता हूँ' ऐसे अशुभ अहंकारसे भरा हुआ वह अशुभ अध्यवसाय है । अहंकाररूप मिथ्याभाव दोनोंमें है; इसलिये अज्ञानमयतासे दोनों अध्यवसाय एक ही हैं । अतः यह न मानना चाहिये कि पुण्यका कारण दूसरा है और पापका कारण कोई अन्य । अज्ञानमय अध्यवसान ही दोनोंका कारण है ।

'इसप्रकार वास्तवमें हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है यह फलित हुआ'—यह कहते हैं:—

गाथा २६२

गाथार्थः—[सत्त्वान्] जीवोंको [मारयतु] मारो [वा मा मारयतु] अथवा न मारो— [बंधः] कर्मबन्ध [अध्यवसितेन] अध्यवसानसे ही होता है । [एषः] यह, [निश्चयनयस्य] निश्चयनयसे, [जीवानां] जीवोंके [बन्धसमासः] बन्धका संक्षेप है ।

टीका:—परजीवोंको अपने कर्मोदयकी विचित्रतावश प्राणोंका व्यपरोप (—उच्छेद, वियोग) कदाचित् हो, कदाचित् न हो,—किन्तु 'मैं मारता हूँ' ऐसा अहंकार रससे भरा हुआ हिंसाका अध्यवसाय ही निश्चयसे उसके (हिंसाका अध्यवसाय करनेवाले जीवको) बन्धका कारण है, क्योंकि निश्चयसे परका भाव जो प्राणोंका व्यपरोप वह दूसरेसे किया जाना अशक्य है (अर्थात् वह परसे नहीं किया जा सकता) ।

भावार्थः—निश्चयनयसे दूसरेके प्राणोंका वियोग दूसरेसे नहीं किया जा सकता; वह उसके अपने कर्मोंके उदयकी विचित्रताके कारण कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं होता । इसलिये जो यह

मारो—न मारो जीवको, है बंध अध्यवसानसे ।

—यह आतमाके बंधका, संक्षेप निश्चयनय विषै ॥२६२॥

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्वधहेतुत्वेन दर्शयति—

एवमलिये अदत्ते अन्नं चैरे परिग्रहे चैव ।

कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पावं ॥२६३॥

तह वि य सच्चे दत्ते बभे अपरिग्रहत्तणे चैव ।

कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्यं ॥२६४॥

एवमलीकेऽदत्तेऽन्नं चैरे परिग्रहे चैव ।

क्रियतेऽध्यवसानं यत्नेन तु बध्यते पापम् ॥२६३॥

तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव ।

क्रियतेऽध्यवसानं यत्नेन तु बध्यते पुण्यम् ॥२६४॥

मानता है—अहंकार करता है कि—'मैं परजीवको मारता हूँ,' उसका यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। वह अध्यवसाय ही हिंसा है—अपने विशुद्ध चैतन्यप्राणका घात है, और वही बन्धका कारण है। यह निश्चयनयका मत है।

यहाँ व्यवहारनयको गौण करके कहा है ऐसा जानना चाहिये। इसलिये वह कथन कथंचित् (अपेक्षापूर्वक) है ऐसा समझना चाहिये; सर्वथा एकान्तपक्ष मिथ्यात्व है।

अब, (हिंसा—अहिंसाकी भाँति सर्व कार्योंमें) अध्यावसायको ही पाप—पुण्यके बन्धके कारणरूपसे दिखाते हैं:—

गाथा २६३—२६४

गाथायः—[एवम्] इसीप्रकार (जैसा कि पहले हिंसके अध्यवसायके सम्बन्धमें कहा गया है उसीप्रकार) [अलीके] असत्यमें, [अदत्ते] चोरीमें, [अन्नं चैरे] अन्नचर्चमें [च एव] और [परिग्रहे] परिग्रहमें [यत्] जो [अध्यवसानं] अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे [पापं बध्यते] पापका बन्ध होता है; [तथापि च] और इसीप्रकार [सत्ये] सत्यमें, [दत्ते] अन्नचर्चमें, [ब्रह्मणि] ब्रह्मचर्चमें [च एव] और [अपरिग्रहत्वे] अपरिग्रहमें [यत्] जो [अध्यवसानं] अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे [पुण्यं बध्यते] पुण्यका बन्ध होता है।

यों भूठ माँहि, अदत्तमें, अन्न अरु परिग्रह विषैं ।

जो होय अध्यवसान उससे पापबंधन होय है ॥२६३॥

इस रीत सत्य रु दत्तमें, त्यों ब्रह्म अनपरिग्रहविषैं ।

जो होय अध्यवसान उससे पुण्यबंधन होय है ॥२६४॥

एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबन्धहेतुः । यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मपरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबन्धहेतुः ।

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बन्धहेतुरिति शंक्यम्—

वत्सु पद्भुञ्जं पुण् अजभवसाणं तु होइ जीवाणं ।

ण य वत्सुदो दु बंधो अजभवसाणेण बंधोत्थि ॥२६५॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानाम् ।

न च वस्तुतस्तु बन्धोऽध्यवसानेन बन्धोऽस्ति ॥२६५॥

टीका:—इसप्रकार (पूर्वोक्त प्रकार) अज्ञानसे यह जो हिंसामें अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहमें भी जो (अध्यवसाय) किया जाता है, वह सब पाप बन्धका एकमात्र कारण है; और जो अहिंसामें अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमें भी (अध्यवसाय) किया जाये, वह सब पुण्यबन्धका एकमात्र कारण है ।

भावार्थ:—जैसे हिंसामें अध्यवसाय पापबन्धका कारण कहा है, उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका अध्यवसाय भी पापबन्धका कारण है । और जैसे अहिंसामें अध्यवसाय पुण्यबन्धका कारण है उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, (-दिया हुआ लेना वह), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमें अध्यवसाय भी पुण्यबन्धका कारण है । इसप्रकार, पाँच पापोंमें (अत्रतोंमें) अध्यवसाय किया जाये सो पापबन्धका कारण है और पाँच (एकदेश या सर्वदेश) व्रतोंमें अध्यवसाय किया जाये सो पुण्यबन्धका कारण है । पाप और पुण्य दोनोंके बन्धनमें, अध्यवसाय ही एकमात्र बन्धका कारण है ।

और भी ऐसी शंका न करनी कि 'बाह्यवस्तु वह दूसरा भी बन्धका कारण होगा' । ('अध्यवसाय बन्धका एक कारण होगा और बाह्यवस्तु बन्धका दूसरा कारण होगा' ऐसी भी शंका करने योग्य नहीं है; अध्यवसाय ही एकमात्र बन्धका कारण है, बाह्यवस्तु नहीं ।) इसी अर्थकी गाथा अब कहते हैं:—

गाथा २६५

गाथार्थ:—[पुनः] और, [जीवानाम्] जीवोंके [यत्] जो [अध्यवसानं तु] अध्यवसान [भवति] होता है वह [वस्तु] वस्तुको [प्रतीत्य] अवलम्बकर होता है [च तु] तथापि [वस्तुतः] वस्तुसे [न बंधः] बन्ध नहीं होता, [अध्यवसानेन] अध्यवसानसे ही [बंधः अस्ति] बन्ध होता है ।

जो होय अध्यवसान जीवके, वस्तु-आश्रित वी बने ।

पर वस्तुसे नहिं बन्ध, अध्यवसानसे ही बन्ध है ॥२६५॥

अध्यवसानमेव बन्धहेतुः, न तु बाह्यवस्तु, तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात् । तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थः । अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं; न हि बाह्यवस्तुनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते । यदि बाह्यवस्तुनाश्रित्यापि अध्यवसानं जायेत तदा, यथा वीरसूतस्याश्रयभूतस्य सद्भावे वीरसूतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायते, तथा बंध्यासूतस्याश्रयभूतस्यासद्भावेऽपि बंध्यासूतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायेत । न च जायते । ततो निराश्रयं नास्त्यध्यवसानमिति नियमः । तत एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य बाह्यवस्तुनोऽत्यंतप्रतिषेधः, हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमत्प्रतिषेधात् । न च बन्धहेतुहेतुत्वे सत्यपि बाह्यवस्तु बन्धहेतुः स्यात्, ईर्यासमितिपरिणतयतींद्रपदव्यापाद्यमानवेगापतत्कालचोदितकुलिगवत्, बाह्यवस्तुनो बंधहेतुहेतोरबन्धहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वस्यानैकांतिकत्वात् । अतो न बाह्यवस्तु जीवस्यातद्भावो बन्धहेतुः, अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बन्धहेतुः ।

टीकाः—अध्यवसान ही बन्धका कारण है; बाह्य वस्तु नहीं, क्योंकि बन्धका कारण जो अध्यवसान है उसके कारणत्वसे ही बाह्यवस्तुकी च्लितार्थता है (अर्थात् बंधके कारणभूत अध्यवसानका कारण होनेमें ही बाह्यवस्तुका कार्यक्षेत्र पूरा हो जाता है, वह वस्तु बन्धका कारण नहीं होती) । यहाँ प्रश्न होता है कि—यदि बाह्यवस्तु बन्धका कारण नहीं है तो (‘बाह्यवस्तुका प्रसंग मत करो, किंतु त्याग करो’ इसप्रकार) बाह्यवस्तुका निषेध किसलिये किया जाता है ? इसका समाधान इसप्रकार है—अध्यवसानके निषेधके लिये बाह्यवस्तुका निषेध किया जाता है । अध्यवसानको बाह्यवस्तु आश्रयभूत है; बाह्यवस्तुका आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं होता अर्थात् उत्पन्न नहीं होता । यदि बाह्यवस्तुके आश्रयके बिना भी अध्यवसान उत्पन्न होता हो तो, जैसे आश्रयभूत वीरजननीके पुत्रके सद्भावमें (किसीको) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि ‘मैं वीरजननीके पुत्रको मारता हूँ’ इसीप्रकार आश्रयभूत बंध्यापुत्रके असद्भावमें भी (किसीको) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिये कि ‘मैं बंध्यापुत्रको मारता हूँ’ । परन्तु ऐसा अध्यवसाय तो (किसीको) उत्पन्न नहीं होता । (जहाँ बन्ध्याका पुत्र ही नहीं होता वहाँ मानेका अध्यवसाय कहाँ से उत्पन्न होगा ?) इसलिये यह नियम है कि (बाह्यवस्तुरूप) आश्रयके बिना अध्यवसान नहीं होता । और इसीलिये अध्यवसानको आश्रयभूत बाह्यवस्तुका अत्यन्त निषेध किया है, क्योंकि कारणके प्रतिषेधसे ही कार्यका प्रतिषेध होता है । (बाह्यवस्तु अध्यवसानका कारण है इसलिये उसके प्रतिषेधसे अध्यवसानका प्रतिषेध होता है) । परन्तु, यद्यपि बाह्यवस्तु बंधके कारणका (अर्थात् उसके प्रतिषेधसे अध्यवसानका प्रतिषेध होता है) । परन्तु, यद्यपि बाह्यवस्तु बंधका कारण नहीं है; क्योंकि ईर्यासमितिमें परिणमित अध्यवसानका) कारण है तथापि वह (बाह्यवस्तु) बंधका कारण नहीं है; क्योंकि ईर्यासमितिमें परिणमित सुनींद्रके चरणसे मर जानेवाले—ऐसे किसी वेगसे आपतित कालप्रेरित उड़ते हुए जीवकी भाँति, बाह्यवस्तु— जो कि बंधके कारणका कारण है वह—बंधका कारण न होनेसे, बाह्यवस्तुको बंधका कारणत्व माननेमें

एवं बन्धहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वं दर्शयति—

दुःखितसुखिदे जीवे करोमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमतिं गिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि ।
या एषा मूढमतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या ॥२६६॥

अनैकान्तिक हेत्वाभासत्व है—व्यभिचार आता है । (इसप्रकार निश्चयसे बाह्यवस्तुको बंधका कारणत्व निर्बाधतया सिद्ध नहीं होता ।) इसलिये बाह्यवस्तु जो कि जीवको अतद्भावरूप है वह बन्धका कारण नहीं है; किन्तु अध्यवसान जो कि जीवको तद्भावरूप है वही बंधका कारण है ।

भावार्थः—बंधका कारण निश्चयसे अध्यवसान ही है; और जो बाह्यवस्तुएं हैं वे अध्यवसानका आलम्बन हैं—उनको अवलम्बकर अध्यवसान उत्पन्न होता है, इसलिये उन्हें अध्यवसानका कारण कहा जाता है । बाह्यवस्तुके बिना निराश्रयतया अध्यवसान उत्पन्न नहीं होते इसलिये बाह्यवस्तुओंका त्याग कराया जाता है । यदि बाह्यवस्तुओंको बन्धका कारण कहा जाये तो उसमें व्यभिचार (दोष) आता है । (कारण होने पर भी कहीं कार्य दिखाई देता है और कहीं नहीं दिखाई देता उसे व्यभिचार कहते हैं और ऐसे कारणको व्यभिचारी—अनैकान्तिक—कारणाभास कहते हैं ।) कोई मुनि ईर्ष्यासमितपूर्वक यत्नसे गमन करते हों और उनके पैरके नीचे कोई उड़ता हुआ जीव वेगपूर्वक आ गिरे तथा मर जाये तो मुनिको उसकी हिंसा नहीं लगती । यहाँ यदि बाह्यदृष्टिसे देखा जाये तो हिंसा हुई है, परन्तु मुनिके हिंसका अध्यवसाय नहीं होनेसे उन्हें बन्ध नहीं होता । जैसे पैरके नीचे आकर मर जानेवाला जीव मुनिके बन्धका कारण नहीं है उसीप्रकार अन्य बाह्यवस्तुओंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये । इसप्रकार बाह्यवस्तुको बंधका कारण माननेमें व्यभिचार आता है, इसलिये बाह्यवस्तु बंधका कारण नहीं है यह सिद्ध हुआ । और बाह्यवस्तु बिना निराश्रयसे अध्यवसान नहीं होता, इसलिये बाह्यवस्तुका निषेध भी है ही ।

इसप्रकार बन्धके कारणरूपसे निश्चित किया गया अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला न होनेसे मिथ्या है—यह अब बतलाते हैंः—

वाक्या २६६

गाथार्थः—हे भाई ! '[जीवान्] मैं जीवोंको [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि] करता हूँ, [बंधयामि] बंधाता हूँ, [तथा विमोचयामि] तथा छुड़ाता हूँ [या एषा ते मूढमतिः]

करता दुखी सुखी जीवको, अरु बद्ध-मुक्त करूँ अरे !

ये मूढ मति तुझ है निरर्थक, इस हि से मिथ्या हि है ॥२६६॥

परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादि, बंधयामि मोक्षयामीत्यादि वा, यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि, परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात्, खलुसुम् लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं, केवलमात्मनोऽनर्थायैव ।

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारीति चेत्—

अजभवसाणणित्तं जीवा बज्झन्ति कम्मणा जदि हि ।

मुच्चन्ति मोक्षमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुपं ॥२६७॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यन्ते कर्मणा यदि हि ।

मुच्यन्ते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोषि त्वम् ॥२६७॥

ऐसी जो यह तेरी मूढ़ मति (—मोहितबुद्धि) है [सा] वह [निरर्थक] निरर्थक होनेसे [खलु] वास्तवमें [मिथ्या] मिथ्या है ।

श्लोकाः—में परजीवोंको दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ इत्यादि तथा बंधाता हूँ, छुड़ाता हूँ इत्यादि जो यह अध्यवसान है वह सब, परभावका परमें व्यापार न होनेके कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है इसलिये धै आकाश पुष्पको तोड़ता हूँ ऐसे अध्यवसानकी भाँति मिथ्यारूप है, मात्र अपने अनर्थके लिये ही है (अर्थात् मात्र अपने लिये ही हानिका कारण होता है, परका तो कुछ कर नहीं सकता) ।

भाषार्थः—जो अपनी अर्थक्रिया (—प्रयोजनभूत क्रिया) नहीं कर सकता वह निरर्थक है, अथवा जिसका विषय नहीं है वह निरर्थक है । जीव परजीवोंको दुःखी-सुखी आदि करनेकी बुद्धि करता है, परन्तु परजीव अपने किये दुःखी-सुखी नहीं होते, इसलिये वह बुद्धि निरर्थक है और निरर्थक होनेसे मिथ्या है—भूँठी है ।

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला कैसे नहीं है ? इसका उत्तर कहते हैं—

गाथा २६७

गाथार्थः—हे भाई ! [यदि हि] यदि वास्तवमें [अध्यवसाननिमित्तं] अध्यवसानके निमित्तसे [जीवाः] जीव [कर्मणा बध्यन्ते] कर्मसे बंधते हैं [च] और [मोक्षमार्गे स्थिताः] मोक्षमार्गमें स्थित [मुच्यन्ते] छूटते हैं, [तद्] तो [त्वम् किं करोषि] तू क्या करता है ? (तेरा तो बंधने-छोड़नेका अभिप्राय व्यर्थ गया ।)

सब जीव अध्यवसानकारण, कर्मसे बंधते जहाँ ।

अरु मोक्षमार्ग स्थित जीव छूटें, तू हि क्या करता मला ॥२६७॥

यत्किल बंधयामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया यद्बन्धनं मोचनं जीवानाम् ।
जीवस्त्वस्याध्यवसायस्य सद्भावेऽपि सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः अभावान्न बध्यते, न
मुच्यते; सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावात्तस्याध्यवसायस्याभावेऽपि बध्यते, मुच्यते
च । ततः परत्रार्किचित्करत्वान्नेदमध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि; ततश्च मिथ्यैवेति भावः ।

• अनुष्टुभ् •

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः ।

तत्किंचनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥१७१॥

टीका:—'मैं बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ' ऐसा जो अध्यवसान उसकी अपनी अर्थक्रिया जीवोंको बँधना, छोड़ना है । किन्तु जीव तो, इस अध्यवसायका सद्भाव होने पर भी, अपने सराग-वीतराग परिणामके अभावसे नहीं बँधता और मुक्त नहीं होता; तथा अपने सराग-वीतराग परिणामके-सद्भावसे, उस अध्यवसायका अभाव होने पर भी, बँधता है, छूटता है । इसलिये परमें अर्किचित्कर होनेसे (अर्थात् कुछ नहीं कर सकता होनेसे) यह अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है; और इसलिये मिथ्या ही है । -ऐसा भाव (आशय) है ।

भावार्थ:—जो हेतु कुछ भी नहीं करता वह अर्किचित्कर कहलाता है । यह बाँधने-छोड़नेका अध्यवसान भी परमें कुछ नहीं करता; क्योंकि यदि वह अध्यवसान न हो तो भी जीव अपने सराग-वीतराग परिणामसे बंध-मोक्षको प्राप्त होता है, और वह अध्यवसान हो तो भी अपने सराग-वीतराग परिणामके अभावसे बंध-मोक्षको प्राप्त नहीं होता । इसप्रकार अध्यवसान परमें अर्किचित्कर होनेसे स्व-अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है इसलिये मिथ्या है ।

अब इस अर्थका कलशरूप और आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थ:—[अनेन निष्फलेन अध्यवसायेन मोहितः] इस निष्फल (निरर्थक) अध्यवसायसे मोहित होता हुआ [आत्मा] आत्मा [तत् किञ्चन अपि न एव अस्ति यत् प्रात्मानं न करोति] अपनेको सर्वरूप करता है,—ऐसा कुछ भी नहीं है जिसरूप अपनेको न करता हो ।

भावार्थ:—यह आत्मा मिथ्या अभिप्रायसे भूला हुआ 'चतुर्गति-संसारमें जितनी अवस्थाएँ हैं, जितने पदार्थ हैं उन सर्वरूप अपनेको हुआ मानता है; अपने शुद्ध स्वरूपको नहीं पहिचानता । १७१ ।

अब इस अर्थको स्पष्टतया गाथामें कहते हैं:—

सर्वे करेह जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिण् ।
 देवमाणुये य सर्वे पुण्यं पापं च णेयविहं ॥२६८॥
 धम्माधम्मं च तथा जीवाजीवे अलोयलोयं च ।
 सर्वे करेह जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६९॥

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिणान् ।
 देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधम् ॥२६८॥
 धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोक्लोकं च ।
 सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानम् ॥२६९॥

यथायमेवं क्रियागर्भहिंसाध्यवसानेन हिंसकं, इतराध्यवसानैरितरं च आत्मात्मानं कुर्यात्,
 तथा विपच्यमाननारकाध्यवसानेन नारकं, विपच्यमान तिर्यग्ध्यवसानेन तिर्यचं, विपच्यमान-

गाथा २६८-२६९

गाथाः—[जीवः] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसानसे [तिर्यङ्नैरयिणान्] तिर्यच, नारक,
 [देवमनुजान् च] देव और मनुष्य [सर्वान्] इन सर्व पर्यायों, [च] तथा [नैकविधम्] अनेक
 प्रकारके [पुण्यं पापं] पुण्य और पाप—[सर्वान्] इन सबरूप [करोति] अपनेको करता है ।
 [तथा च] और उसीप्रकार [जीवः] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसानसे [धर्माधर्मं] धर्म-अधर्म,
 [जीवाजीवौ] जीव-अजीव [च] और [अलोक्लोकं] लोक-अलोक [सर्वान्] इन सबरूप
 [आत्मानम् करोति] अपनेको करता है ।

टीकाः—जैसे यह आत्मा पूर्वोक्त प्रकार क्रिया जिसका गर्भ है ऐसे हिंसाके अध्यवसानसे
 अपनेको हिंसक करता है, (अहिंसाके अध्यवसानसे अपनेको अहिंसक करता है) और अन्य अध्यव-
 सानोंसे अपनेको अन्य करता है, इसीप्रकार उदयमें आते हुये नारकके अध्यवसानसे अपनेको नारकी

• हिंसा आदिके अध्यवसान राग-द्वेषके उदयमय हृत्तन आदिकी क्रियाओंके परिपूर्ण हैं, अर्थात् उन क्रियाओंके
 साथ आत्माकी तन्मयता होनेको मान्यतारूप हैं ।

तिर्यच, नारक, देव, मानव, पुण्य पाप अनेक जे ।
 उन सर्वरूप करै छु निजकी, जीव अध्यवसानसे ॥२६८॥
 अरु त्यों हि धर्म अधर्म, जीव अजीव, लोक अलोक जे ।
 उन सर्वरूप करै छु निजकी, जीव अध्यवसानसे ॥२६९॥

मनुष्याध्यवसानेन मनुष्यं, विपच्यमानदेवाध्यवसानेन देवं, विपच्यमानसुखादिपुण्याध्यवसानेन पुण्यं, विपच्यमानदुःखादिपापाध्यवसानेन पापमात्मानं कुर्यात् । तथैव च ज्ञायमानधर्माध्यवसानेन धर्मं, ज्ञायमानाधर्माध्यवसानेनाधर्मं, ज्ञायमानजीवान्तराध्यवसानेन जीवान्तरं, ज्ञायमानपुद्गलाध्यवसानेन पुद्गलं, ज्ञायमानलोकाकाशाध्यवसानेन लोकाकाशं, ज्ञायमानालोकाकाशाध्यवसानेनालोकाकाशमात्मानं कुर्यात् ।

* इन्द्रवज्रा *

विश्वाद्भिभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-
दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एव
नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥२७२॥

करता है, उदयमें आते हुये तिर्यचके अध्यवसानसे अपनेको तिर्यच करता है, उदयमें आते हुये मनुष्यके अध्यवसानसे अपनेको मनुष्य करता है, उदयमें आते हुवे देवके अध्यवसानसे अपनेको देव करता है, उदयमें आते हुवे सुख आदि पुण्यके अध्यवसानसे अपनेको पुण्यरूप करता है और उदयमें आते हुवे दुःख आदि पापके अध्यवसानसे अपनेको पापरूप करता है; और इसीप्रकार जाननेमें आता हुवा जो धर्म (—धर्मास्तिकाय) है उसके अध्यवसानसे अपनेको धर्मरूप करता है, जाननेमें आते हुवे अधर्मके (—अधर्मास्तिकायके) अध्यवसानसे अपनेको अधर्मरूप करता है, जाननेमें आते हुवे अन्य जीवके अध्यवसानसे अपनेको अन्यजीव रूप करता है, जाननेमें आते हुवे पुद्गलके अध्यवसानसे अपनेको पुद्गलरूप करता है, जाननेमें आते हुवे लोकाकाशके अध्यवसानसे अपनेको लोकाकाशरूप करता है और जाननेमें आते हुवे अलोकाकाशके अध्यवसानसे अपनेको अलोकाकाशरूप करता है । (इसप्रकार आत्मा अध्यवसानसे अपनेको सर्वरूप करता है ।)

भावार्थः—यह अध्यवसान अज्ञानरूप है इसलिये उसे अपना परमार्थस्वरूप नहीं जानना चाहिये । उस अध्यवसानसे ही आत्मा अपनेको अनेक अवस्थारूप करता है अर्थात् उनमें अपनापन मानकर प्रवर्तता है ।

अब इस अर्थका कलशरूप तथा आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[विश्वात् विभक्तः अपि हि] विश्वसे (समस्त द्रव्योंसे) भिन्न होने पर भी [आत्मा] आत्मा [यत्-प्रभावात् आत्मानम् विश्वम् विदधाति] जिसके प्रभावसे अपनेको विश्वरूप करता है [एषः अध्यवसायः] ऐसा यह अध्यवसाय—[मोह-एक-कन्दः] कि जिसका मोह ही एक मूल है वह—[येषां इह नास्ति] जिनके नहीं है [ते एव यतयः] वे ही मुनि हैं । १७२ ।

यह अध्यवसाय जिनके नहीं हैं वे मुनि कर्मसे लिप्त नहीं होते—यह अब गाथा द्वारा कहते हैंः—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मणेण सुणी ण लिप्यंति ॥२७०॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि ।

ते अशुभेन शुभेन वा कर्मणा हुनयो न लिप्यंते ॥२७०॥

एतानि किल यानि त्रिविधान्यध्यवसानानि तानि समस्तान्यपि शुभाशुभकर्मबंध
निमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात् । तथा हि—यदिदं हिनस्मीत्याद्यध्यवसानं तत्,
ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियस्य रागद्वेषविपाकमयीनां हननादिक्रियाणां च
विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानात्, अस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं,
विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम् । ***यत्पुनरेष धर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसानं तदपि,
ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन
विविक्तात्माज्ञानात्, अस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्माना-
चरणादस्ति चाचारित्रम् । ततो बंधनिमित्तान्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि । येषामेवैतानि न

भाषा २७०

पाथार्थः—[एतानि] यह (पूर्व कथित) [एवमादीनि] तथा ऐसे और भी [अध्यवसानानि]
अध्यवसान [येषाम्] जिनके [न संति] नहीं हैं, [ते मुनयः] वे मुनि [अशुभेन] अशुभ [वा शुभेन]
या शुभ [कर्मणा] कर्मसे [न लिप्यंते] लिप्त नहीं होते ।

टीकाः—यह जो तीनों प्रकारके अध्यवसान हैं वे सभी स्वयं अज्ञानादिरूप (अर्थात् अज्ञान,
मिथ्यादर्शन और अचारित्ररूप) होनेसे शुभाशुभ कर्मबन्धके निमित्त हैं । इसे विशेष समझते हैं—'मैं
(परजीवोंको) मारता हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है उस अध्यवसान वाले जीवको ज्ञानमयपनेके

• संस्कृत टीकामें इस स्थान पर एक वाक्य छूट गया है; वह प्रायः निम्नप्रकार होगा ऐसा प्रतीत होता है ।

यत्पुनर्नारकोहमित्याद्यध्यवसानं तदप्यज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकभावस्य कर्मोदयजनित-
नारकादिभावानां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं
विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रं ।

इन आदि अध्यवसान विधविध बर्तते नहीं जिनहिको ।

शुभ-अशुभ कर्म अनेकसे, मुनिराज वे नहीं लिप्त हों ॥२७०॥

विद्यंते त एव मुनिकुंजराः केचन, सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियं, सदहेतुकज्ञायकैकभावं, सदहेतुकज्ञानैकरूपं च विविक्तात्मानं जानंतः, सम्यक्प्रशयंतोऽनुचरंतश्च, स्वच्छस्वच्छंदोद्यदमंदांतज्योतिषोऽत्यंत-मज्ञानादिरूपत्वाभावात्, शुभेनाशुभेन वा कर्मणा न खलु लिप्येरन् ।

सद्भावसे ^१सत् रूप, ^२अहेतुक, ^३ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है ऐसे आत्माका और रागद्वेषके उदयमय ऐसी ^४हनन आदि क्रियाओंका × विशेष नहीं जाननेके कारण भिन्न आत्माका अज्ञान होनेसे, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्माका अदर्शन (अश्रद्धान) होनेसे (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्माका अनाचरण होनेसे (वह अध्यवसान) अचारित्र है । × × × और यह 'धर्मद्रव्य ज्ञात होता है' इत्यादि जो अध्यवसान है उस अध्यवसानवाले जीवको भी ÷ ज्ञानमयपनेके सद्भावसे सत् रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है ऐसे आत्माका और ज्ञेयमय धर्मादिकरूपोंका विशेष न जाननेके कारण भिन्न आत्माका अज्ञान होनेसे, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्माका अदर्शन होनेसे (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्माका अनाचरण होनेसे (वह अध्यवसान) अचारित्र है । इसलिये यह समस्त अध्यवसान बंधके ही निमित्त हैं ।

मात्र जिनके यह अध्यवसान विद्यमान नहीं है वे ही कोई (विरले) मुनिकुंजर (मुनिवरों) सत् रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है, सत् रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसके एक भाव है और सत् रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है ऐसे भिन्न आत्माको (—सर्व अन्यद्रव्यभावोंसे भिन्न आत्माको) जानते हुए, सम्यक्प्रकारसे देखते (श्रद्धा करते) हुए और आचरण करते हुए, स्वच्छ और स्वच्छन्दतया उदयमान (—स्वाधीनतया प्रकाशमान) ऐसी अमंद अन्तज्योतिको अज्ञानादिरूपताका अत्यन्त अभाव

इसका हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है:—

और 'मैं नारक हूँ' इत्यादि अध्यवसान अज्ञानमय है वह अध्यवसानवाले जीवको भी ज्ञानमयपनेके सद्भावसे सत् रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है ऐसा आत्माका और कर्मादयजनित नारक आदि भावोंका विशेष न जाननेके कारण भिन्न आत्माका अज्ञान होनेसे, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्माका अदर्शन होनेसे (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्माका अनाचरण होनेसे (वह अध्यवसान) अचारित्र है ।

१ सत् रूप = सत्तास्वरूप; अस्तिस्वरूप (आत्मा ज्ञानमय है इसलिये सत् रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही उसकी एक क्रिया है ।) २ अहेतुक = जिसका कोई कारण नहीं है ऐसी; अकारण; स्वतःसिद्ध; सहज । ३ ज्ञप्ति = जानना; जाननेरूपक्रिया । (ज्ञप्तिक्रिया सत् रूप है, और सत् रूप होनेसे अहेतुक है ।) ४ हनन = घात करना; घात करनेरूप क्रिया । (घात करना आदि क्रियायें रागद्वेषके उदयमय हैं ।)

× विशेष = अन्तर; भिन्न लक्षण । ÷ आत्मा ज्ञानमय है इसलिये सत् रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है ।

किमेतदध्यवसानं नामेति चेत्—

बुद्धी व्यवसायो वि य अज्यवसायं मई य विगणायं ।

एकदृमेव सर्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानम् ।

एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥२७१॥

होनेसे (अर्थात् अन्तरंगमें प्रकाशित होती हुई ज्ञानज्योति किंचित् मात्र भी अज्ञानरूप, मिथ्यादर्शनरूप और अचारित्ररूप नहीं होती इसलिये), शुभ या अशुभ कर्मसे वास्तवमें लिप्त नहीं होते ।

भावार्थः—यह जो अध्यवसान हैं वे 'मैं परका हनन करता हूँ' इसप्रकारके हैं, 'मैं नारक हूँ' इसप्रकारके हैं तथा 'मैं परद्रव्यको जानता हूँ' इसप्रकारके हैं । वे, जबतक आत्माका और रागादिका, आत्माका और नारकादि कर्मोदयजनित भावोंका तथा आत्माका और ज्ञेयरूप अन्यद्रव्योंका भेद न जाना हो, तबतक रहते हैं । वे भेदज्ञानके अभावके कारण मिथ्याज्ञानरूप हैं, मिथ्यादर्शनरूप हैं और मिथ्या-चारित्ररूप हैं; यों तीन प्रकारके होते हैं । वे अध्यवसान जिनके नहीं हैं वे मुनिकुंजर हैं । वे आत्माको सम्यक् जानते हैं, सम्यक् श्रद्धा करते हैं और सम्यक् आचरण करते हैं, इसलिये अज्ञानके अभावसे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप होते हुये कर्मोंसे लिप्त नहीं होते ।

“यहाँ वारम्बार अध्यवसान शब्द कहा गया है, वह अध्यवसान क्या है ? उसका स्वरूप भलीभाँति समझमें नहीं आया” । ऐसा प्रश्न होने पर, अध्यवसानका स्वरूप गाथा द्वारा कहते हैं ।

गाथा २७१

गाथार्थः—[बुद्धिः] बुद्धि, [व्यवसायः अपि च] व्यवसाय, [अध्यवसानं] अध्यवसान, [मतिः च] मति, [विज्ञानम्] विज्ञान, [चित्तं] चित्त, [भावः] भाव [च] और [परिणामः] परिणाम—[सर्वं] ये सब [एकार्थम् एव] एकार्थ ही हैं (अर्थात् नाम अलग २ हैं किन्तु अर्थ चित्त नहीं हैं) ।

जो बुद्धि, मति, व्यवसाय, अध्यवसान, अरु विज्ञान है ।

परिणाम, चित्त रु भाव-शब्दहि सर्व ये एकार्थ हैं ॥२७१॥

स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानं; तदेव च बोधनमात्रत्वाद्बुद्धिः, व्यवसानमात्रत्वाद्बुद्धयवसायः, मननमात्रत्वान्मतिः, विज्ञप्तिमात्रत्वाद्बिज्ञानं, चेतनामात्रत्वाच्चित्तं, चित्तो भवनमात्रत्वाद्भावः, चित्तः परिणमनमात्रत्वात्परिणामः ।

* शार्दूलविक्रीडित *

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति संतो धृतिम् ॥१७३॥

टीका:—स्व-परका अविवेक हो (स्व-परका भेदज्ञान न हो) तब जीवकी अध्यवसितिमात्र# अध्यवसान है; और वही (जिसे अध्यवसान कहा है वही) बोधनमात्रत्वसे बुद्धि है, × व्यवसानमात्रत्वसे व्यवसाय है, ÷ मननमात्रत्वसे मति है, विज्ञप्तिमात्रत्वसे विज्ञान है, चेतनामात्रत्वसे चित्त है, चेतनके भवनमात्रत्वसे भाव है, चेतनके परिणमनमात्रत्वसे परिणाम है । (इसप्रकार यह सब शब्द एकार्थवाची हैं ।)

भावार्थ:—यह जो बुद्धि आदि आठ नाम कहे गये हैं वे सब चेतन आत्माके परिणाम हैं । जबतक स्वपरका भेदज्ञान न हो तबतक जीवके जो अपने और परके एकत्वकी निश्चयरूप परिणति पाई जाती है उसे बुद्धि आदि आठ नामोंसे कहा जाता है ।

‘अध्यवसान त्यागनेयोग्य कहे हैं इससे ऐसा ज्ञात होता है कि व्यवहारका त्याग और निश्चयका ग्रहण कराया है’—इस अर्थका, एवं आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थ:—आचार्यदेव कहते हैं कि—[सर्वत्र यद् अध्यवसानम्] सर्व वस्तुओंमें जो अध्यवसान होते हैं [अखिलं] वे सब (अध्यवसान) [जिनैः] जिनेन्द्र भगवानने [एवम्] पूर्वोक्त रीतिसे [त्याज्यं उक्तं] त्यागनेयोग्य कहे हैं [तत्] इसलिये [मन्ये] हम यह मानते हैं कि [अन्य-ब्राध्यः व्यवहारः एव निखिलः अपि त्याजितः] ‘पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छोड़ाया है ।’ [तत्] तब फिर, [अमी सन्तः] यह सत्पुरुष [एकम् सम्यक् निश्चयम् एव निष्कम्पम् आक्रम्य] एक सम्यक् निश्चयको ही निश्चलतया अंगीकार करके [शुद्धज्ञानघने निजे महिम्नि] शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमामें (—आत्मस्वरूपमें) [धृतिम् किं न बध्नन्ति] स्थिरता क्यों धारण नहीं करते ?

* अध्यवसिति = (एकमें दूसरेकी मान्यतापूर्वक) परिणति; (मिथ्या) निश्चिति; (मिथ्या) निश्चय होना ।

× व्यवसान=काममें लगे रहना; उद्यमी होना; निश्चय होना । ÷ मनन=मानना; जानना ।

एवं व्यवहारणञ्चो पडिसिद्धो जाण णिच्चयणयेण ।
णिच्चयणयासिदा पुण मुणियो पावन्ति णिच्चाणं ॥२७२॥

एवं व्यवहारणयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन ।

निश्चयनयाश्रिताः पुनर्मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥ २७२ ॥

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारणयः । तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारणय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात् । प्रतिषेध्य एव चार्यं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्, पराश्रितव्यवहारणयस्यैकातेनामुच्यमानेनाभ्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च ।

भाषार्थः—जिनेन्द्रदेवने अन्य पदार्थोंमें आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुड़ाये हैं इससे यह समझना चाहिये कि यह समस्त पराश्रित व्यवहार ही छुड़ाया है । इसलिये आचार्यदेवने शुद्धनिश्चयके ग्रहणका ऐसा उपदेश दिया है कि—'शुद्धज्ञानस्वरूप अपने आत्मामें स्थिरता रखो' । और, 'जब कि भगवानने अध्यवसान छुड़ाये हैं तब फिर सत्पुरुष निश्चयको निश्चलता पूर्वक अंगीकार करके स्वरूपमें स्थिर क्यों नहीं होते ?—यह हमें आश्चर्य होता है,' यह कहकर आचार्यदेवने आश्चर्य प्रगट किया है । १७३ ।

अत्र इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते हैंः—

गाथा २७२

गाथार्थः—[एवं] इसप्रकार [व्यवहारणयः] (पराश्रित) व्यवहारणय [निश्चयनयेन] निश्चयनयके द्वारा [प्रतिषिद्धः जानीहि] निषिद्ध ज्ञान; [पुनः निश्चयनयाश्रिताः] निश्चयनयके आश्रित [मुनयः] मुनि [निर्वाणम्] निर्वाणको [प्राप्नुवन्ति] प्राप्त होते हैं ।

टीकाः—आत्माश्रित (अर्थात् स्व-आश्रित) निश्चयनय है, पराश्रित (अर्थात् परके आश्रित) व्यवहारणय है । वहाँ, पूर्वोक्त प्रकारसे पराश्रित समस्त अध्यवसान (अर्थात् अपने और परके एकत्वकी मान्यतापूर्वक परिणामन) बंधका कारण होनेसे मुमुक्षुओंको उसका (अध्यवसानका) निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनयके द्वारा वास्तवमें व्यवहारणयका ही निषेध कराया है, क्योंकि व्यवहारणयके भी पराश्रितता समान ही है (—जैसे अध्यवसान पराश्रित है उसीप्रकार व्यवहारणय भी पराश्रित है, उसमें अन्तर नहीं है) । और इसप्रकार यह व्यवहारणय निषेध करने योग्य ही है; क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनयका आश्रय करनेवाले ही (कर्मोंसे) मुक्त होते हैं और पराश्रित व्यवहारणयका आश्रय तो एकांततः मुक्त नहीं होनेवाला अभ्यन्त भी करता है ।

व्यवहारणय इस रीत ज्ञान, निषिद्ध निश्चयनयहिसे ।

मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्षकी प्राप्ती करे ॥ २७२ ॥

कथमभव्येनाप्याश्रीयते व्यवहारनयः इति चेत्—

वदसमिदीगुत्तीओ शीलतवं जिणवरहि परणत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अयणाणी मिच्चदिट्ठी दु ॥२७३॥

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।

कुर्वन्नभ्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥२७३॥

शीलतपःपरिपूर्णं त्रिगुप्तपंचसमितिपरिकलितमर्हिसादिपंचमहाव्रतरूपं व्यवहारचारित्रं
अभव्योऽपि कुर्यात्, तथापि स निश्चारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव, निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञान-
श्रद्धानशून्यत्वात् ।

भावार्थः—आत्माके परके निमित्तसे जो अनेक भाव होते हैं वे सब व्यवहारनयके विषय हैं
इसलिये व्यवहारनय पराश्रित है, और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है वही निश्चयनयका विषय है
इसलिये निश्चयनय आत्माश्रित है । अध्यवसान भी व्यवहारनयका ही विषय है इसलिये अध्यवसानका
त्याग व्यवहारनयका ही त्याग है, और जो पूर्वोक्त गाथाओंमें अध्यवसानके त्यागका उपदेश है वह
व्यवहारनयके ही त्यागका उपदेश है । इसप्रकार निश्चयनयको प्रधान करके व्यवहारनयके त्यागका उपदेश
किया है उसका कारण यह है कि—जो निश्चयनयके आश्रयसे प्रवर्तते हैं वे ही कर्मोंसे युक्त होते हैं और
जो एकान्तसे व्यवहारनयके ही आश्रयसे प्रवर्तते हैं वे कर्मोंसे कभी युक्त नहीं होते ।

अब प्रश्न होता है कि अभव्य जीव भी व्यवहारनयका आश्रय कैसे करते हैं ? उसका उत्तर गाथा
द्वारा कहते हैं:—

गाथा २७३

गाथार्थः—[जिनवरैः] जिनेन्द्रदेवके द्वारा [प्रज्ञप्तम्] कथित [व्रतसमितिगुप्तयः] व्रत,
समिति, गुप्ति, [शीलतपः] शील और तप [कुव्वन् अपि] करता हुआ भी [अभव्यः] अभव्य जीव
[अज्ञानी] अज्ञानी [मिथ्यादृष्टिः तु] और मिथ्यादृष्टि है ।

टीका:—शील और तपसे परिपूर्ण, तीन गुप्ति और पाँच समितियोंके प्रति सावधानीसे युक्त,
अर्हिसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र (का पालन) अभव्य भी करता है; तथापि वह (अभव्य)
निश्चारित्र (-चारित्ररहित), अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि (वह) निश्चयचारित्रके कारणरूप
ज्ञान-श्रद्धानसे शून्य है ।

जिनवरप्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ती अवरु तप शीलको ।

करता हुआ भी अभव्य जीव, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है ॥२७३॥

तस्यैकादशाङ्गज्ञानमस्ति इति चेत्—

मोक्षं असद्वहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।

पाठो ण करेदि गुणं असद्वहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

मोक्षमश्रद्धानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत ।

पाठो न करोति गुणमश्रद्धानस्य ज्ञानं तु ॥२७४॥

मोक्षं हि न तावदभव्यः श्रद्धत्ते, शुद्धज्ञानमयात्मज्ञानशून्यत्वात् । ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धत्ते । ज्ञानमश्रद्धानश्चाचाराद्येकादशांगं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावात् ज्ञानी स्यात् । स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्मज्ञानं; तच्च विविक्तवस्तुभूतं ज्ञानमश्रद्धानस्याभव्यस्य श्रुताध्ययनेन न विधातुं शक्येत । ततस्तस्य तद्गुणाभावः । ततश्च ज्ञानश्रद्धानाभावात् सोऽज्ञानीति प्रतिनियतः ।

भावार्थः—अभव्य जीव महाव्रत-समिति-गुप्तिरूप व्यवहार चारित्रका पालन करे तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञानश्रद्धानके बिना वह चारित्र 'सम्यग्चारित्र' नामको प्राप्त नहीं होता; इसलिये वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है ।

अब शिष्य पूछता है कि—इसे (अभव्यको) ग्यारह अंगका ज्ञान तो होता है; फिर भी उसको अज्ञानी क्यों कहा है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २७४

गाथार्थः—[मोक्षम् अश्रद्धानः] मोक्षकी श्रद्धा न करता हुआ [यः अभव्यसत्त्वः] जो अभव्य जीव है वह [तु अधीयीत] शास्त्र तो पढ़ता है, [तु] परन्तु [ज्ञानं अश्रद्धानस्य] ज्ञानकी श्रद्धा न करनेवाले उसको [पाठः] शास्त्रपठन [गुणम् न करोति] गुण नहीं करता ।

टीकाः—प्रथम तो अभव्य जीव, (स्वयं) शुद्ध ज्ञानमय आत्माके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण मोक्षकी ही श्रद्धा नहीं करता । इसलिये वह ज्ञानकी भी श्रद्धा नहीं करता । और ज्ञानकी श्रद्धा न करता हुआ वह (अभव्य) आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप श्रुतको (शास्त्रोंको) पढ़ता हुआ भी, शास्त्रपठनके जो गुण उसके अभावके कारण ज्ञानी नहीं है । जो भिन्नवस्तुभूत ज्ञानमय आत्माका ज्ञान वह शास्त्र पठनका गुण है; और वह तो (ऐसा शुद्धात्मज्ञान तो), भिन्न वस्तुभूत ज्ञानकी श्रद्धा न करनेवाले अभव्यके शास्त्र-पठनके द्वारा नहीं किया जा सकता (अर्थात् शास्त्र-पठन उसको शुद्धात्मज्ञान नहीं कर सकता); इसलिये उसके शास्त्रपठनके गुणका अभाव है; और इसलिये ज्ञान-श्रद्धानके अभावके कारण वह अज्ञानी सिद्ध हुआ ।

मोक्षकी श्रद्धाविहीन, अभव्य जीव शास्त्रों पढ़े ।

पर ज्ञानकी श्रद्धारहितको, पठन ये नहीं गुण करे ॥२७४॥

तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत्—

सदहृदि य पत्तौदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।

धम्मं भोगणिमित्तं ए दु सो कम्मक्षयणिमित्तं ॥२७५॥

श्रद्धाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति ।

धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तम् ॥ २७५ ॥

अभव्यो हि नित्यकर्मफलचेतनारूपं वस्तु श्रद्धते, नित्यज्ञानचेतनामात्रं न तु श्रद्धते, नित्यमेव भेदविज्ञानानहत्वात् । ततः स कर्ममोक्षनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धते, भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेव श्रद्धते । तत एवासौ अभूतार्थधर्मश्रद्धानप्रत्ययनरोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवैयकभोगमात्रमास्क्रंदेत्, न पुनः कदाचनापि विमुच्येत । ततोऽस्य भूतार्थधर्मश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति । एवं सति तु निश्चयनयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव ।

भावार्थः—अभव्य जीव ग्यारह अंगोंको पढ़े तथापि उसे शुद्ध आत्माका ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता; इसलिये उसे शास्त्रपठनने गुण नहीं किया; और इसलिये वह अज्ञानी ही है ।

शिष्य पुनः पूछता है कि-अभव्यको धर्मका श्रद्धान तो होता है; फिर भी यह क्यों कहा है कि 'उसके श्रद्धान नहीं है' ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २७५

गाथार्थः—[सः] वह (अभव्य जीव) [भोगनिमित्तं धर्मं] भोगके निमित्तरूप धर्मकी ही [श्रद्धाति च] श्रद्धा करता है, [प्रत्येति च] उसीकी प्रतीति करता है, [रोचयति च] उसीकी रुचि करता है [तथा पुनः स्पृशति च] और उसीका स्पर्श करता है, [न तु कर्मक्षयनिमित्तम्] परन्तु कर्मक्षयके निमित्तरूप धर्मको नहीं । (अर्थात् कर्मक्षयके निमित्तरूप धर्मकी न तो श्रद्धा करता है, न उसकी प्रतीति करता है, न रुचि करता है और न उसका स्पर्श करता है ।)

टीकाः—अभव्य जीव नित्यकर्मफलचेतनारूप वस्तुकी श्रद्धा करता है किन्तु नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तुकी श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह सदा (स्व-परके) भेदविज्ञानके अयोग्य है । इसलिये वह कर्मोंसे छूटनेके निमित्तरूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्मकी श्रद्धा नहीं करता, (किन्तु) भोगके निमित्तरूप, शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्मकी ही श्रद्धा करता है; इसीलिये वह अभूतार्थ धर्मकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शनसे ऊपरके ग्रैवैयक तकके भोगमात्रको प्राप्त होता है किन्तु कभी भी कर्मोंसे मुक्त नहीं होता । इसलिये उसे भूतार्थ धर्मके श्रद्धानका अभाव होनेसे (यथार्थ) श्रद्धान भी नहीं है ।

वो धर्मको श्रद्धे, प्रतीति, रुचि वह स्पर्शन करे ।

वो भोगहेतु धर्मको, नहीं कर्मक्षयके हेतुको ॥ २७५ ॥

क्रीडशौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्—

आयारादी एणं जीवादी दंसणं च विण्णेष्यं ।

छज्जीवणिकं च तथा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥

आदा खु मज्झ एणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।

आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥

ऐसा होनेसे निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनयका निषेध योग्य ही है ।

भावार्थः—अभव्य जीवके भेदज्ञान होनेकी योग्यता न होनेसे वह कर्मफलचेतनाको जानता है किन्तु ज्ञानचेतनाको नहीं जानता; इसलिये उसे शुद्ध आत्मिक धर्मकी श्रद्धा नहीं है । वह शुभ कर्मको ही धर्म समझकर उसकी श्रद्धा करता है इसलिये उसके फलस्वरूप त्रैविक तकके भोगोंको प्राप्त होता है किन्तु कर्मोंका क्षय नहीं होता । इसप्रकार सत्यार्थ धर्मका श्रद्धान न होनेसे उसके श्रद्धान ही नहीं कहा जा सकता ।

इसप्रकार व्यवहारनयके आश्रित अभव्य जीवको ज्ञान-श्रद्धान न होनेसे निश्चयनय द्वारा किया जानेवाला, व्यवहारका निषेध योग्य ही है ।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि—यह हेतुवादरूप अनुभवप्रधान ग्रन्थ है इसलिये इसमें अनुभवकी अपेक्षासे भव्य-अभव्यका निर्णय है । अब यदि इसे अहेतुवाद आगमके साथ मिलायें तो—अभव्यको व्यवहारनयके पक्षका सूक्ष्म, केवलीगम्य आशय रह जाता है जो कि छद्मस्थको अनुभवगोचर नहीं भी होता, मात्र सर्वज्ञदेव जानते हैं; इसप्रकार केवल व्यवहारका पक्ष रहनेसे उसके सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यात्व रहता है । इस व्यवहारनयके पक्षका आशय अभव्यके सर्वथा कभी भी मिटता ही नहीं है ।

अब यह प्रश्न होता है कि “निश्चयनयके द्वारा निषेध्य व्यवहारनय, और व्यवहारनयका निषेधक निश्चयनय वे दोनों नय कैसे हैं ?” अतः व्यवहार और निश्चयनयका स्वरूप कहते हैं:—

“आचार” आदिक ज्ञान है, जीवादि दर्शन जानना ।

पट् जीवकाय चरित्र है;—ये कथन नय व्यवहारका ॥२७६॥

मुझ आत्म निश्चय ज्ञान है, मुझ आत्म दर्शन चरित्त है ।

मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु, मुझ आत्म संवर योग है ॥२७७॥

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयम् ।

षड्जीवनिकायं च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥२७६॥

आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च ।

आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा मे संवरो योगः ॥२७७॥

आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वाज्ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्याश्रयत्वादर्शनं, षड्जीवनिकायश्चारित्रस्याश्रयत्वाच्चारित्रमिति व्यवहारः । शुद्ध आत्मा ज्ञानाश्रयत्वाज्ज्ञानं, शुद्ध आत्मा दर्शनाश्रयत्वादर्शनं, शुद्ध आत्मा चारित्र्याश्रयत्वाच्चारित्रमिति निश्चयः । तत्राचारादीनां ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यानैकान्तिकत्वाद्भवहारनयः प्रतिषेध्यः । निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकान्तिकत्वात्प्रतिषेधकः । तथाहि—आचारादिशब्दश्रुतमेकान्तेन ज्ञानस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्; न च जीवादयः पदार्था दर्शनस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्; न च षड्जीवनिकायः चारित्रस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात् । शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादिशब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव दर्शनस्याश्रयः, जीवादिपदार्थसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव दर्शनस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव चारित्रस्याश्रयः, षड्जीवनिकायसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात् ।

गाथा २७६—२७७

गाथार्थः—[आचारादि] आचारांगादि शास्त्र [ज्ञानं] ज्ञान है, [जीवादि] जीवादि तत्त्व [दर्शनं विज्ञेयम् च] दर्शनं जानना चाहिये [च] तथा [षड्जीवनिकायं] छह जीव-निकाय [चरित्रं] चारित्र है—[तथा तु] ऐसा तो [व्यवहारः भणति] व्यवहारनय कहता है ।

[खलु] निश्चयसे [मम आत्मा] मेरा आत्मा ही [ज्ञानम्] ज्ञान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [दर्शनं चरित्रं च] दर्शनं और चारित्र है, [आत्मा] मेरा आत्मा ही [प्रत्याख्यानम्] प्रत्याख्यान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [संवरः योगः] संवर और योग (—समाधि, ध्यान) है ।

टीकाः—आचारांगादि शब्दश्रुतज्ञान है क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञानका आश्रय है, जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं क्योंकि वे (नव पदार्थ) दर्शनके आश्रय हैं, और छह जीव-निकाय चारित्र है क्योंकि वह (छह जीवनिकाय) चारित्रका आश्रय है; इसप्रकार व्यवहार है । शुद्ध आत्मा ज्ञान है क्योंकि वह (शुद्धात्मा) ज्ञानका आश्रय है, शुद्ध आत्मा दर्शन है क्योंकि वह दर्शनका आश्रय है, और शुद्ध आत्मा चारित्र है क्योंकि वह चारित्रका आश्रय है; इसप्रकार निश्चय है । इनमें, व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है, क्योंकि आचारांगादिको ज्ञानादिका आश्रयत्व अनैकान्तिक है—व्यभिचारयुक्त है; (शब्दश्रुतादिको ज्ञानादिका आश्रयस्वरूप माननेमें व्यभिचार आता है क्योंकि शब्दश्रुतादिके होने पर भी

• उपजाति •

रागादयो बंधनिदानमुक्ता-

स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।

आत्मा परो वा किमु तन्मिच्च-

मिति प्रणुनाः पुनरेवमाहुः ॥१७४॥

ज्ञानादि नहीं भी होते, इसलिये व्यवहारनय प्रतिषेध है;) और निश्चयनय व्यवहारनयका प्रतिषेधक है, क्योंकि शुद्ध आत्माके ज्ञानादिका आश्रयत्व ऐकान्तिक है। (शुद्ध आत्माको ज्ञानादिक आश्रय माननेमें व्यभिचार नहीं है क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा होता है वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता ही है।) यही बात हेतुपूर्वक समझाई जाती है:—

आचारांगादि शब्दश्रुत एकान्तसे ज्ञानका आश्रय नहीं है, क्योंकि उसके (अर्थात् शब्दश्रुतके) सद्भावमें भी अभव्योंको शुद्ध आत्माके अभावके कारण ज्ञानका अभाव है; जीवादि नवपदार्थ दर्शनके आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भावमें भी अभव्योंको शुद्ध आत्माके अभावके कारण दर्शनका अभाव है; छह जीव-निकाय चारित्रके आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भावमें भी अभव्योंको शुद्ध आत्माके अभावके कारण चारित्रका अभाव है। शुद्ध आत्मा ही ज्ञानका आश्रय है, क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुतके सद्भावमें या असद्भावमें उसके (-शुद्ध आत्माके) सद्भावसे ही ज्ञानका सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही दर्शनका आश्रय है, क्योंकि जीवादि नवपदार्थोंके सद्भावमें या असद्भावमें उसके (-शुद्ध आत्मा के) सद्भावसे ही दर्शनका सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही चारित्रका आश्रय है, क्योंकि छह जीव-निकायके सद्भावमें या असद्भावमें उसके (-शुद्ध आत्माके) सद्भावसे ही चारित्रका सद्भाव होता है।

भावार्थः—आचारांगादि शब्दश्रुतका ज्ञान, जीवादि नव पदार्थोंका भ्रद्धान तथा छह कायके जीवोंकी रक्षा—इन सबके होते हुये भी अभव्यके ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं होते, इसलिये व्यवहारनय तो निषेध है; और जहाँ शुद्धात्मा होता है वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र होता ही है, इसलिये निश्चयनय व्यवहारका निषेधक है। अतः शुद्धनय उपादेय कहा गया है।

अब आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[रागादयोः बन्धनिदानम्-उक्ताः] "रागादिको बन्धका कारण कहा और [ते शुद्ध-चिन्मात्र-महः-अतिरिक्ताः] उन्हें शुद्धचैतन्यमात्र ज्योतिसे (-अर्थात् आत्मासे) भिन्न कहा, [तद्-निमित्तम्] तब फिर उस रागादिका निमित्त [किमु आत्मा वा परः] आत्मा है या कोई अन्य ?" [इति प्रणुनाः पुनः एवम् आहुः] इसप्रकार (शिष्यके) प्रश्नसे प्रेरित होते हुए आचार्य-भगवान पुनः इसप्रकार (निम्नप्रकारसे) कहते हैं। १७४।

जह फलिहमणी सुद्धो ण स्वयं परिणमइ रायमाईहिं ।
 रंगिज्जदि अण्णेहिं हु सो रक्तादीहिं हव्वेहिं ॥२७८॥
 एवं णाणी सुद्धो ण स्वयं परिणमइ रायमाईहिं ।
 राइज्जदि अण्णेहिं हु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
 रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ॥२७८॥
 एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
 रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ॥२७९॥

उपरोक्त प्रश्नके उत्तररूपमें आचार्यदेव कहते हैं:—

गाथा २७८-२७९

गाथार्थः—[यथा] जैसे [स्फटिकमणिः] स्फटिकमणि [शुद्धः] शुद्ध होनेसे [रागाद्यैः]
 रागादिरूपसे (ललाई-आदिरूपसे) [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु]
 परन्तु [अन्यैः रागादिभिः द्रव्यैः] अन्य रक्तादि द्रव्योंसे [सः] वह [रज्यते] रक्त (-लाल)
 आदि किया जाता है, [एवं] इसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [शुद्धः] शुद्ध होनेसे
 [रागाद्यैः] रागादिरूप [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु] परन्तु
 [अन्यैः रागादिभिः दोषैः] अन्य रागादि दोषोंसे [सः] वह [रज्यते] रागी आदि किया
 जाता है ।

ज्यों फटिकमणि है शुद्ध, आप न रक्तरूप जु परिणमे ।

पर अन्य रक्त पदार्थसे, रक्तादिरूप जु परिणमे ॥२७८॥

ज्यों 'ज्ञानी' भी है शुद्ध, आप न रागरूप जु परिणमे ।

पर अन्य जो रागादि दूषण, उनसे वो रागी बने ॥२७९॥

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः, परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभिः परिणम्यते; तथा केवलः किलात्मा, परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभिः परिणम्यते । इति तावद्वस्तुस्वभावः ।

टीकाः—जैसे वास्तवमें केवल (—अकेला) स्फटिकमणि, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी, अपनेको शुद्धस्वभावत्वके कारण रागादिका निमित्तत्व न होनेसे (स्वयं अपनेमें ललाई-आदिरूप परिणमनका निमित्त न होनेसे) अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, किन्तु जो अपने आप रागादि-भावको प्राप्त होनेसे स्फटिकमणिके रागादिका निमित्त होता है ऐसे परद्रव्यके द्वारा ही, शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ, रागादिरूप परिणमित किया जाता है; इसीप्रकार वास्तवमें केवल (—अकेला) आत्मा, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी, अपने शुद्धस्वभावत्वके कारण रागादिका निमित्तत्व न होनेसे (स्वयं अपनेको रागादिरूप परिणमनका निमित्त न होनेसे) अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादिभावको प्राप्त होनेसे आत्माको रागादिका निमित्त होता है ऐसे परद्रव्यके द्वारा ही, शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ ही, रागादिरूप परिणमित किया जाता है । —ऐसा वस्तु-स्वभाव है ।

भावार्थः—स्फटिकमणि स्वयं तो मात्र एकाकार शुद्ध ही है; वह परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप ललाई-आदिरूप नहीं परिणमता किन्तु लाल आदि परद्रव्यके निमित्तसे (स्वयं ललाई आदिरूप परिणमते ऐसे परद्रव्यके निमित्तसे) ललाई-आदिरूप परिणमता है । इसीप्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है; वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता परन्तु रागादिरूप परद्रव्यके निमित्तसे (—अर्थात् स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेवाले परद्रव्यके निमित्तसे) रागादिरूप परिणमता है । ऐसा वस्तुका ही स्वभाव है, उसमें अन्य किसी तर्कको अवकाश नहीं है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

* उपजाति *

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्मात्मनो याति यथार्ककांतः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

* अनुष्टुम् *

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागदीनात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥१७६॥

ण य रायदोसमोहं कुब्बदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ए सौ तेण कारगो तेसिं भावाणं ॥२८०॥

श्लोकार्थः—[यथा अर्ककान्तः] सूर्यकांतमणिकी भांति (—जैसे सूर्यकांतमणि स्वतःसे ही अग्निरूप परिणामित नहीं होता, उसके अग्निरूप परिणामनमें सूर्य बिम्ब निमित्त है, उसीप्रकार) [आत्मा आत्मनः रागादिनिमित्तभावम् जातु न याति] आत्मा अपनेको रागादिका निमित्त कभी भी नहीं होता, [तस्मिन् निमित्तं परसङ्गः एव] उसमें निमित्त परसंग ही (—परद्रव्यका संग ही) है ।— [अयम् वस्तुस्वभावः उदेतितावत्] ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है । (सदा वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसीने बनाया नहीं है ।) । १७५ ।

“ऐसे वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी रागादिको निजरूप नहीं करता” इस अर्थका, तथा आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[इति स्वं वस्तुस्वभावं ज्ञानी जानाति] ज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभावको जानता है [तेन सः रागदीन् आत्मनः न कुर्यात्] इसलिये वह रागादिको निजरूप नहीं करता, [अतः कारकः न भवति] अतः वह (रागादिका) कर्ता नहीं है । १७६ ।

अब इसीप्रकार गाथा द्वारा कहते हैंः—

कसि रागद्वेषविभोह अणर कषायभाव जु निजविपै ।
ज्ञानी स्वयं करता नहीं, इससे न तत्कारक बने ॥२८०॥

न च रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा ।

स्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानाम् ॥२८०॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते, न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादि-भावानामकर्तवैति प्रतिनियमः ।

• अनुष्टुभ् •

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।

रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥१७७॥

गाथा २८०

गाथार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी [रागद्वेषमोहं] रागद्वेषमोहका [वा कषायभावं] अथवा कषायभावको [स्वयं] अपने आप [आत्मनः] अपनेमें [न च करोति] नहीं करता [तेन] इसलिये [सः] वह, [तेषां भावानाम्] उन भावोंका [कारकः न] कारक अर्थात् कर्ता नहीं है ।

टीकाः—यथोक्त (अर्थात् जैसा कहा बैसा) वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी (अपने) शुद्धस्वभावसे ही च्युत नहीं होता इसलिये वह रागद्वेषमोहादि भावरूप स्वतः परिणमित नहीं होता और दूसरेके द्वारा भी परिणमित नहीं किया जाता, इसलिये टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावोंका अकर्ता ही है—ऐसा नियम है ।

भावार्थः—आत्मा जब ज्ञानी हुआ तब उसने वस्तुका ऐसा स्वभाव जाना कि 'आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है—द्रव्यदृष्टिसे अपरिणामनस्वरूप है, पर्यायदृष्टिसे परद्रव्यके निमित्तसे रागादिरूप परिणमित होता है,' इसलिये अब ज्ञानी स्वयं उन भावोंका कर्ता नहीं होता, जो उदय आते हैं उनका ज्ञाता ही होता है ।

'अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभावको नहीं जानता इसलिये वह रागादि भावोंका कर्ता होता है' इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[इति स्वं वस्तुस्वभावं अज्ञानी न वेत्ति] अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभावको नहीं जानता [तेन सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात्] इसलिये वह रागादिको (—रागादिभावोंको) अपना करता है, [अतः कारकः भवति] अतः वह उनका कर्ता होता है । १७७ ।

अब इसी अर्थकी गाथा कहते हैंः—

रागमिह य दोसमिह य कषायकर्मसु चैव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमतौ रागाई बंधदि पुणो वि ॥२८१॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥२८१॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानंस्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव, ततः कर्मविपाकप्रभवै रागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रतिनियमः ।

ततः स्थितमेतत्—

गाथा २८१

गाथार्थः—[रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु च एव] राग, द्वेष और कषायकर्मोंके होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [ये भावाः] जो भाव होते हैं [तैः तु] उन-रूप [परिणममानः] परिणमित होता हुआ (अज्ञानी) [रागादीन्] रागादिको [पुनः अपि] पुनः पुनः [बध्नाति] बाँधता है ।

टीकाः—यथोक्त वस्तुस्वभावको न जानता हुआ अज्ञानी अनादि संसारसे लेकर (अपने) शुद्धस्वभावसे च्युत ही है इसलिये कर्मोदयसे उत्पन्न रागद्वेषमोहादि भावरूप परिणमता हुआ अज्ञानी रागद्वेषमोहादि भावोंका कर्ता होता हुआ (कर्मोंसे) बद्ध होता ही है—ऐसा नियम है ।

भावार्थः—अज्ञानी वस्तुस्वभावको तो यथार्थ नहीं जानता और कर्मोदयसे जो भाव होते हैं उन्हें अपना समझकर परिणमता है, इसलिये वह उनका कर्ता होता हुआ पुनः पुनः आगामी कर्मोंको बाँधता है—ऐसा नियम है ।

“अतः यह सिद्ध हुआ (अर्थात् पूर्वोक्त कारणसे निम्नप्रकार निश्चित हुआ)” ऐसा अब कहते

हैः—

पर राग-द्वेष-कषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो ।

उन-रूप जो जीव परिणमे फिर बाँधता रागादिको ॥२८१॥

रायग्निह य दोसग्निह य कषायकर्मसु चैव जे भावा ।

तेहिं दुः परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा ॥२८२॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।

तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता ॥२८२॥

य इमे किलाज्ञानिनः पुद्गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो रागद्वेष-
मोहादिपरिणामनिमित्तस्य पुद्गलकर्मणो बंधहेतुरिति ।

कथमात्मा रागादीनामकारक एवेति चेत्—

अपडिक्रमणं दुविहं अपचखाणं तहेव विण्णयं ।

एएणुवएसेण य अकारओ वणिणओ चेया ॥२८३॥

गाथा २८२

गाथार्थः—[रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु च एव] राग, द्वेष और कषायकर्मोंके होने पर
(अर्थात् उनके उदय होने पर) [ये भावाः] जो भाव होते हैं [तंः तु] उन-रूप [परिणममानः]
परिणमता हुआ [चेतयिता] आत्मा [रागादीन्] रागादिको [बध्नाति] बाँधता है ।

टीकाः—निश्चयसे अज्ञानीको, पुद्गलकर्म जिनका निमित्त है ऐसे जो यह रागद्वेषमोहादि परिणाम
हैं, वे ही पुनः रागद्वेषमोहादि परिणामके निमित्त जो पुद्गलकर्म उसके बन्धके कारण हैं ।

भावार्थः—अज्ञानीके कर्मके निमित्तसे जो रागद्वेषमोहादि परिणाम होते हैं वे ही पुनः आगामी
कर्मबन्धके कारण होते हैं ।

अब प्रश्न होता है कि आत्मा रागादिका अकारक ही कैसे है ? इसका समाधान (आगम प्रमाण
देकर) करते हैंः—

यों राग-द्वेष-कषायकर्मनिमित्त हों भाव जो ।

उन-रूप आत्मा परिणमें, वो बाँधता रागादिको ॥२८२॥

अनप्रतिक्रमण दो भाँति, अनपचखाण भी दो भाँति है ।

जीविको अकारक है कहा इस रीतके उपदेशसे ॥२८३॥

अपडिक्रमणं द्विविहं द्रव्ये भावे तथा अपचखाणं ।
 एणुवएसेण य अकारओ वणिणओ चेया ॥२८४॥
 जावं अपडिक्रमणं अपचखाणं च द्रव्यभावाणं ।
 कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ॥२८५॥

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयम् ।
 एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥२८३॥
 अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाऽप्रत्याख्यानम् ।
 एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥२८४॥
 यावद्प्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः ।
 करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥२८५॥

गाथा २८३-२८५

नाथार्थः—[अप्रतिक्रमणं] अप्रतिक्रमण [द्विविधम्] दो प्रकारका [तथा एव] उसी तरह [अप्रत्याख्यानं] अप्रत्याख्यान दो प्रकारका [विज्ञेयम्] जानना चाहिये; [एतेन उपदेशेन च] इस उपदेशसे [चेतयिता] आत्मा [अकारकः वर्णितः] अकारक कहा गया है ।

[अप्रतिक्रमणं] अप्रतिक्रमण [द्विविधम्] दो प्रकारका है—[द्रव्ये भावे] द्रव्य सम्बन्धी तथा भाव सम्बन्धी; [तथा अप्रत्याख्यानम्] इसीप्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका है—द्रव्य सम्बन्धी और भाव सम्बन्धी;—[एतेन उपदेशेन च] इस उपदेशसे [चेतयिता] आत्मा [अकारकः वर्णितः] अकारक कहा गया है ।

[यावत्] जबतक [आत्मा] आत्मा [द्रव्यभावयोः] द्रव्यका और भावका [अप्रतिक्रमणम् च अप्रत्याख्यानं] अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान [करोति] करता है [तावत्] जबतक [सः] वह [कर्ता भवति] कर्ता होता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये ।

अनप्रतिक्रमण दो—द्रव्यभाव जु, योंहि अनपचखाण है ।

जीवको अकारक है कहा इस रीतके उपदेशसे ॥२८४॥

अनप्रतिक्रमण अरु त्योंहि अनपचखाण द्रव्य र भावका ।

जबतक करै है आत्मा, कर्ता बनै है जानना ॥२८५॥

आत्मात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्विविधोपदेशान्यथानुप-
पत्तेः । यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स, द्रव्यभावयो-
र्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्, अकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति । तत एतत् स्थितं—परद्रव्यं निमित्तं,
नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः । यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः
कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्, तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ
नित्यकर्तृत्वानुपगान्मोक्षाभावः प्रसज्येच्च । ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु । तथा
सति तु रागादीनामकारक एवात्मा । तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे
च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावच्च भावं न प्रतिक्रामति न
प्रत्याचष्टे तावत्कर्तृत्वं स्यात् । यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिक-
भूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च, यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षात्कर्तृत्वं
स्यात् ।

टीकाः—आत्मा स्वतः रागादिका अकारक ही है; क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि
आत्मा स्वतः ही रागादिभावोंका कारक हो तो) अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानकी द्विविधताका उपदेश
नहीं हो सकता । अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानका जो वास्तवमें द्रव्य और भावके भेदसे द्विविध (दो
प्रकारका) उपदेश है वह, द्रव्य और भावके निमित्तनैमित्तिकत्वको प्रगट करता हुआ, आत्माके अकर्तृत्वको
ही बतलाता है । इसलिये यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्माके रागादिभाव नैमित्तिक
हैं । यदि ऐसा न माना जाये तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यानका कर्तृत्वके निमित्तरूपका
उपदेश निरर्थक ही होगा, और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्माको रागादिभावोंका निमित्तत्व आ
जायेगा, जिससे नित्य-कर्तृत्वका प्रसंग आ जायेगा, जिससे मोक्षका अभाव सिद्ध होगा । इसलिये परद्रव्य
ही आत्माके रागादिभावोंका निमित्त हो । और ऐसा होनेपर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादिका
अकारक ही है (इसप्रकार यद्यपि आत्मा रागादिका अकारक ही है) तथापि जबतक वह निमित्तभूत
द्रव्यका (—परद्रव्यका) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तबतक नैमित्तिकभूत भावोंका
(—रागादिभावोंका) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता, और जबतक इन भावोंका प्रतिक्रमण तथा
प्रत्याख्यान नहीं करता तबतक वह उनका कर्ता ही है; जब वह निमित्तभूत द्रव्यका प्रतिक्रमण
तथा प्रत्याख्यान करता है तभी नैमित्तिकभूत भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है, और जब इन
भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है ।

भावार्थः—अतीत कालमें जिन परद्रव्योंका ग्रहण किया था उन्हें वर्तमानमें अच्छा समझना,
उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण है और उन परद्रव्योंके निमित्तसे
जो रागादिभाव हुए थे उन्हें वर्तमानमें अच्छा जानना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना,

द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावोदाहरणं चैतत्—

आधाकर्म्मार्थ्या पुग्गलद्वयस्स जे इमे दोसा ।

कह ते कुब्बइ णाणी परद्वयगुणा उ जे णिच्चं ॥२८६॥

आधाकर्म्म उद्दसियं च पुग्गलमयं इयं द्वयं ।

कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥२८७॥

भाव अप्रतिक्रमण है। इसीप्रकार आगामी काल सम्बन्धी परद्रव्योंकी इच्छा रखना, ममत्व रखना, द्रव्य अप्रत्याख्यान है और उन परद्रव्योंके निमित्तसे आगामी कालमें होनेवाले रागादिभावोंकी इच्छा रखना, ममत्व रखना, भाव अप्रत्याख्यान है। इसप्रकार द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान—ऐसा जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानका दो प्रकारका उपदेश है वह द्रव्य-भावके निमित्तनैमित्तिक-भावको बतलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि—परद्रव्य तो निमित्त हैं और रागादिभाव नैमित्तिक हैं। इसप्रकार आत्मा रागादिभावोंको स्वयमेव न करनेसे रागादिभावोंका अकर्ता ही है ऐसा सिद्ध हुआ। इसप्रकार यद्यपि यह आत्मा रागादिभावोंका अकर्ता ही है तथापि जबतक उसके निमित्तभूत परद्रव्यके अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है तबतक उसके रागादिभावोंका अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है, और जबतक रागादिभावोंका अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है तबतक वह रागादिभावोंका कर्ता ही है; जब वह निमित्तभूत परद्रव्यका प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करता है तब उसके नैमित्तिक रागादि-भावोंका भी प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है, और जब रागादिभावोंका प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान होजाता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।

अब द्रव्य और भावकी निमित्त-नैमित्तिकताका उदाहरण देते हैं:—

हैं अधःकर्मादिक जु पुद्गलद्रव्यके ही दीष थैं ।

कैसे करे 'ज्ञानी' सदा परद्रव्यके जो गुणहि हैं ? ॥२८६॥

उद्देशि त्योंही अधःकर्मी पौद्गलिक यह द्रव्य जो ।

कैसे हि मुझकृत होय नित्य अजीव वर्णा जिसहिको ॥२८७॥

अधःकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य य इमे दोषाः ।

कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणास्तु ये नित्यम् ॥२८६॥

अधःकर्मादेशिकं च पुद्गलमयमिदं द्रव्यं ।

कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तम् ॥२८७॥

यथाधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे । यथा चाधःकर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात्, ततोऽधःकर्मादेशिकं च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात्,—इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भावं प्रत्याचष्टे । एवं द्रव्यभावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिकभावः ।

गाथा २८६-२८७

गाथार्थः—[अधःकर्माद्याः ये इमे] अधःकर्म आदि जो यह [पुद्गलद्रव्यस्य दोषाः] पुद्गल-द्रव्यके दोष हैं (उनको ज्ञानी अर्थात् आत्मा करता नहीं है;) [तान्] उनको [ज्ञानी] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [कथं करोति] कैसे करे [ये तु] कि जो [नित्यम्] सदा [परद्रव्यगुणाः] परद्रव्यके गुण हैं ?

इसलिये [अधःकर्म उद्देशिकं च] अधःकर्म और उद्देशिक [इदं] ऐसा यह [पुद्गलमयमद्रव्यं] पुद्गलमय द्रव्य है (जो मेरा किया नहीं होता;) [तत्] वह [मम कृतं] मेरा किया [कथं भवति] कैसे हो [यत्] कि जो [नित्यम्] सदा [अचेतनम् उक्तम्] अचेतन कहा गया है ?

टीकाः—जैसे अधःकर्मसे उत्पन्न और उद्देशसे उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि) पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (—मुनि) नैमित्तिकभूत बन्धसाधक भावका प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं करता, इसीप्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावको नहीं त्यागता । और, “अधःकर्म आदि पुद्गलद्रव्यके दोषोंको आत्मा वास्तवमें नहीं करता क्योंकि वे परद्रव्यके परिणाम हैं इसलिये उन्हें आत्माके कार्यत्वका अभाव है; इसलिये अधःकर्म और उद्देशिक पुद्गलकर्म मेरा कार्य नहीं है क्योंकि वह नित्य अचेतन है इसलिये उसको मेरे कार्यत्वका अभाव है;”—इसप्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा (—मुनि) जैसे नैमित्तिकभूत बन्धसाधक भावका प्रत्याख्यान करता है, उसीप्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ (—त्याग करता हुआ) आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान करता है । इसप्रकार द्रव्य और भावको निमित्त-नैमित्तिकता है ।

* शार्दूलविक्रीडित *

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमाद्भृत्तुं कामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णेकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१७८॥

भावार्थः—यहाँ अधःकर्म और उद्देशिक आहारके दृष्टान्तसे द्रव्य और भावकी निमित्त-नैमित्तिकता दृढ़ की है ।

जिस पापकर्मसे आहार उत्पन्न हो उसे अधःकर्म कहते हैं, तथा उस आहारको भी अधःकर्म कहते हैं । जो आहार, ग्रहण करनेवालेके निमित्तसे ही बनाया गया हो उसे उद्देशिक कहते हैं, ऐसे (अधःकर्म और उद्देशिक) आहारका जिसने प्रत्याख्यान नहीं किया उसने उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान नहीं किया और जिसने तत्त्रज्ञानपूर्वक उस आहारका प्रत्याख्यान किया है उसने उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान किया है । इसप्रकार समस्त द्रव्य और भावको निमित्त-नैमित्तिक-भाव जानना चाहिये । जो परद्रव्यको ग्रहण करता है उसे रागादिभाव भी होते हैं, वह उनका कर्ता भी होता है और इसलिये कर्मका बन्ध भी करता है; जब आत्मा ज्ञानी होता है तब उसे कुछ ग्रहण करनेका राग नहीं होता, इसलिये रागादिरूप परिणामन भी नहीं होता और इसलिये आगामी बन्ध भी नहीं होता । (इसप्रकार ज्ञानी परद्रव्यका कर्ता नहीं है ।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं, जिसमें परद्रव्यके त्यागनेका उपदेश है:—

श्लोकार्थः—[इति] इसप्रकार (परद्रव्य और अपने भावकी निमित्त-नैमित्तिकताको) [आलोच्य] विचार करके, [तद्-मूलां इमाम् बहुभावसन्ततिम् समम् उद्भृत्तुकामः] परद्रव्यमूलक बहुभावोंकी सन्ततिको एक ही साथ उखाड़ फेंकनेका इच्छुक पुरुष, [तत् किल समग्रं परद्रव्यं बलात् विवेच्य] उस समस्त परद्रव्यको बलपूर्वक (-उद्यमपूर्वक, पराक्रमपूर्वक) भिन्न करके (-त्याग करके), [निर्भरवहत्-पूर्ण-एक-संविद्युतं आत्मानं] अतिशयतासे बहते हुए (-धारावाही) पूर्ण एक संवेदनसे युक्त अपने आत्माको [समुपैति] प्राप्त करता है, [येन] कि जिससे [उन्मूलितबंधः एषः भगवान् आत्मा] जिसने कर्मबन्धनको मूलसे ही उखाड़ फेंका है ऐसा वह भगवान् आत्मा [आत्मनि] अपनेमें ही (-आत्मामें ही) [स्फूर्जति] स्फुरायमान होता है ।

भावार्थः—जब परद्रव्यकी और अपने भावकी निमित्त-नैमित्तिकता जानकर समस्त पर द्रव्योंको भिन्न करनेमें—त्यागनेमें आते हैं तब समस्त रागादिभावोंकी सन्तति कट जाती है और तब आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ कर्म बन्धनको काटकर अपनेमें ही प्रकाशित होता है । इसलिये जो अपना-हित चाहते हैं वे ऐसा ही करें । १७८ ।

• मन्दाक्रान्ता •

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यात्रणोति ॥१७९॥

इति बंधो निष्क्रान्तः ।

इति श्रीमद्भृत्चन्द्रसरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ बंध प्ररूपकः
सप्तमोऽंकः ॥

अब बन्ध अधिकारको पूर्ण करते हुए उसके अन्तिममंगलके रूपमें ज्ञानकी महिमाके अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[कारणानां रागादीनाम् उदयं] बन्धके कारणरूप रागादिके उदयको [अदयम्] निर्दयता पूर्वक (उग्र पुरुषार्थसे) [दारयत्] विदारण करती हुई, [कार्यं विविधम् बंधं] उस रागादिके कार्यरूप (ज्ञानावरणादि) अनेक प्रकारके बन्धको [अधुना] अब [सद्यः एव] तत्काल ही [प्रणुद्य] दूर करके, [एतत् ज्ञानज्योतिः] यह ज्ञानज्योति—[क्षपिततिमिरं] कि जिसने अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश किया है—[साधु] भलोभाँति [सन्नद्धम्] सज्ज हुई, [तद्-अत् यद्-वत्] ऐसी सज्ज हुई,—कि [अस्य प्रसरम् अपरः कः अपि न भ्रावृणोति] उसके विस्तारको अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता ।

भावार्थः—जब ज्ञान प्रगट होता है, रागादिक नहीं रहते, उनका कार्य जो बन्ध वह भी नहीं रहता, तब फिर उस ज्ञानको आवृत करनेवाला कोई नहीं रहता, वह सदा प्रकाशमान ही रहता है ।१७९।

टीकाः—इसप्रकार बन्ध (रंगभूमिसे) बाहर निकल गया ।

भावार्थः—रंगभूमिमें बन्धके स्वांगने प्रवेश किया था । जब ज्ञानज्योति प्रगट हुई कि तब वह बंध स्वांगको अलग करके बाहर निकल गया ।

* सर्वथा तेईसा *

जों नर कोय परै रजमाहिं सचिक्कण अंग लगै वह गाढै,
त्यौं मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरे तब बन्धन बाढै,
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चाटै,
नाहिं बंधै तब कर्मसमूह जु आप गहै परभावनि काटै ।

इसप्रकार श्री समयसारकी (श्रीमद्भगवत्सुन्दरुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार

परमागमको) श्रीमद्भृत्चन्द्राचार्यदेव विरचित आत्मख्याति

नामक टीकामें बन्धका प्ररूपक ७वाँ अंक समाप्त हुआ ।

मोक्ष अधिकार

अथ प्रविशति मोक्षः ।

* शिखरिणी *

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बंधपुरुषौ
 नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलभैकनियतम् ।
 इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानंदसरसं
 परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥१८०॥

—::: दोहा :::—

कर्मबन्ध सब काटिके, पहुँचे मोक्ष सुथान ।
 नमूँ सिद्ध परमात्मा, करूँ ध्यान अमलान ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि “अब मोक्ष प्रवेश करता है ।”

जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है उसीप्रकार यहाँ मोक्ष तत्त्वका स्वाँग प्रवेश करता है । वहाँ ज्ञान सर्व स्वाँगका ज्ञाता है, इसलिये अधिकारके प्रारम्भमें आचार्यदेव सम्यग्ज्ञानकी महिमाके रूपमें मंगलाचरण करते हैं:—

श्लोकार्थः— [इदानीम्] अब (बन्ध पदार्थके पश्चात्), [प्रज्ञा—क्रकच—दलनात् बन्ध—पुरुषौ द्विधाकृत्य] प्रज्ञारूपी करवतसे विदारण द्वारा बन्ध और पुरुषको द्विधा (भिन्न भिन्न—दो) करके, [पुरुषम् उपलभ—एक—नियतम्] पुरुषको—कि जो पुरुषमात्र *अनुभूतिके द्वारा ही निश्चित है ।

* जितना स्वरूप—अनुभवन है इतना ही आत्मा है ।

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयभिह चिरकालपडिबद्धो ।
 तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८॥
 जइ ण वि कुणइ च्छेदं ए मुच्चए तेए बंधणवसो सं ।
 कालेए उ बहुएण वि ण सो एरो पावइ विमोक्खं ॥२८९॥
 इय कम्मबंधणाणं पएसठिहपयडिमेवमणुभागं ।
 जाणंतो वि ए मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥२९०॥

उसे— [साक्षात् मोक्षं नयत्] साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ, [पूर्णं ज्ञानं विजयते] पूर्ण ज्ञान जयवन्त प्रवर्तता है । वह ज्ञान [उन्मूलत्-सहज-परम-आनन्द-सरसं] प्रगट होनेवाले सहज परमानन्दके द्वारा सरस अर्थात् रसयुक्त है, [परं] उत्कृष्ट है, और [कृत-सकल-कृत्यं] जिसने करने योग्य समस्त कार्य कर लिये हैं (-जिसे कुछ भी करता शेष नहीं है) ऐसा है ।

भावार्थः—ज्ञान बन्ध और पुरुषको पृथक् करके, पुरुषको मोक्ष पहुँचाता हुआ, अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट करके जयवन्त प्रवर्तता है । इसप्रकार ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टताका कथन ही मंगलवचन है । १८०।

अब, मोक्ष प्राप्ति कैसे होती है सो कहते हैं । उसमें प्रथम तो, यह कहते हैं कि, जो जीव बन्धका छेद नहीं करता किन्तु मात्र बन्धके स्वरूपको जाननेसे ही सन्तुष्ट है वह मोक्ष प्राप्त नहीं करताः—

उयों पुरुष कोई बन्धनों, प्रतिबद्ध है चिरकालका ।
 वो तीव्र-मंद स्वभाव त्यों ही काल जाने बंधका ॥२८८॥
 पर जो करे नहिं छेद तो छूटे न, बन्धनवश रहे ।
 अरु काल बहुतहि जाय तो भी मुक्त वो नर नहिं बने ॥२८९॥
 त्यों कर्म बंधनके प्रकृति प्रदेश, स्थिति, अनुभागको ।
 जाने भले छूटे न जीव, जो शुद्ध तो ही मुक्त हो ॥२९०॥

यथा नाय कश्चित्पुरुषो बन्धनके चिरकालप्रतिबद्धः ।
 तीव्रमन्दस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥२८८॥
 यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बन्धनवशः सन् ।
 कालेन तु बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम् ॥२८९॥
 इति कर्मबन्धनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिभेदमनुभागम् ।
 जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः ॥२९०॥

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः । बन्धस्वरूपज्ञानमात्रं तद्वेतुरित्येके, तदसत्; न कर्मबद्धस्य बन्धस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात्, निगडादिवद्धस्य बन्धस्वरूपज्ञानमात्रवत् । एतेन कर्मबन्धप्रपंचरचनापरिज्ञानमात्रसंतुष्टा उत्थाप्यते ।

पाशा २८८-२९०

गाथायः—[यथा नाम] जैसे [बन्धनके] बन्धनमें [चिरकालप्रतिबद्धः] बहुत समयसे बंधा हुआ [कश्चित् पुरुषः] कोई पुरुष [तस्य] उस बन्धनके [तीव्रमन्दस्वभावं] तीव्र-मन्द स्वभावको [कालं च] और कालको (अर्थात् यह बन्धन इतने कालसे है इसप्रकार) [विजानाति] जानता है, [यदि] किन्तु यदि [न अपि छेदं करोति] उस बन्धनको स्वयं नहीं काटता [तेन न मुच्यते] तो वह उससे मुक्त नहीं होता [तु] और [बन्धनवशः सन्] बन्धनवश रहता हुआ [बहुकेन अपि कालेन] बहुत कालमें भी [सः नरः] वह पुरुष [विमोक्षम् न प्राप्नोति] बन्धनसे छूटनेरूप मुक्तिको प्राप्त नहीं करता; [इति] इसीप्रकार जीव [कर्मबन्धनानां] कर्म-बन्धनोंके [प्रदेशस्थितिप्रकृतिम् एवम् अनुभागम्] प्रदेश, स्थिति, प्रकृति और अनुभागको [जानन् अपि] जानता हुआ भी [न मुच्यते] (कर्मबन्धसे) नहीं छूटता, [च यदि सः एव शुद्धः] किन्तु यदि वह स्वयं (रागादिको दूर करके) शुद्ध होता है [मुच्यते] तभी छूटता है—मुक्त होता है ।

टीकाः—आत्मा और बन्धको द्विधाकरण (अर्थात् आत्मा और बन्धको अलग अलग कर देना) सो मोक्ष है । कितने ही लोग कहते हैं कि 'बन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र मोक्षका कारण है (अर्थात् बन्धके स्वरूपको जाननेमात्रसे ही मोक्ष होता है), किन्तु यह असत् है; कर्मसे बंधे हुए (जीव)को बन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि जैसे वेड़ी आदिसे बंधे हुए (जीव)को बन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र बन्धसे मुक्त होनेका कारण नहीं है । उसीप्रकार कर्मसे बंधे हुए (जीव)को कर्मबन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र कर्मबन्धसे मुक्त होनेका कारण नहीं है । इस कथनसे, उनका उत्थापन (खरडन) किया गया है जो कर्मबन्धके प्रपंचका (-विस्तारकी) रचनाके ज्ञानमात्रसे सन्तुष्ट हो रहे हैं ।

भावार्थः—कोई अन्यमती यह मानते हैं कि बन्धके स्वरूपको जान लेनेसे ही मोक्ष हो जाता है । उनकी इस मान्यताका इस कथनसे निराकरण कर दिया गया है । जाननेमात्रसे ही बन्ध नहीं कट जाता, किन्तु वह काटनेसे ही कटता है ।

जह बंधे चिंतंतो बंधणवद्धो ए पावइ विमोक्खं ।

तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ए पावइ विमोक्खं ॥२६१॥

यथा बंधाश्चितयन् बंधनवद्धो न प्राप्नोति विमोक्षम् ।

तथा बन्धाश्चितयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षम् ॥२९१॥

बंधचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतुरित्यन्ये, तदप्यसत्; न कर्मबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धवत् । एतेन कर्मबन्धविषयचिंताप्रबन्धात्मकविशुद्ध-धर्मध्यानांधबुद्धयो बोध्यन्ते ।

अब यह कहते हैं कि बन्धका विचार करते रहनेसे भी बन्ध नहीं कटता:—

गाथा २९१

गाथार्थ:—[यथा] जैसे [बन्धनवद्धः] बन्धनसे बंधा हुआ पुरुष [बंधान् चितयन्] बन्धोंका विचार करनेसे [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मुक्तिको प्राप्त नहीं करता (अर्थात् बन्धसे नहीं छूटता), [तथा] इसीप्रकार [जीवः अपि] जीव भी [बंधान् चितयन्] बन्धोंका विचार करनेसे [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मोक्षको प्राप्त नहीं करता ।

टीका:—अन्य कितने ही लोग यह कहते हैं कि 'बंध सम्बन्धी विचारशृङ्खला मोक्षका कारण है', किन्तु यह भी असत् है; कर्मसे बंधे हुए (जीव) को बंध सम्बन्धी विचारकी शृङ्खला मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदिसे बंधे हुए (पुरुष) को उस बन्ध सम्बन्धी विचारशृङ्खला (-विचारकी परंपरा) बन्धसे छूटनेका कारण नहीं है उसीप्रकार कर्मसे बंधे हुए (पुरुष) की कर्म बन्ध सम्बन्धी विचारशृङ्खला कर्मबन्धसे मुक्त होनेका कारण नहीं है । इस (कथन) से, कर्मबन्ध सम्बन्धी विचारशृङ्खलात्मक विशुद्ध (-शुभ) धर्मध्यानसे जिनकी बुद्धि अन्ध है, उन्हें समझाया जाता है ।

भावार्थ:—कर्मबन्धकी चिन्तामें मन लगा रहे तो भी मोक्ष नहीं होता । यह तो धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है । जो केवल (मात्र) शुभ परिणामसे ही मोक्ष मानते हैं उन्हें यहाँ उपदेश दिया गया है कि—शुभ परिणामसे मोक्ष नहीं होता ।

“यदि बंधके स्वरूपके ज्ञानमात्रसे भी मोक्ष नहीं होता और बन्धके विचार करनेसे भी मोक्ष नहीं होता । तब फिर मोक्षका कारण क्या है ?” ऐसा प्रश्न होने पर अब मोक्षका उपाय बताते हैं :—

जो बंधनसे बद्ध हो नहीं बन्धचिंतासे छुटे ।

त्यों जीव भी इन बन्धकी चिंता करे से नहीं छुटे ॥२९१॥

कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति चेत्—

जह बंधे छित्तण य बंधणवद्धो उ पावइ विमोक्षं ।

तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्षं ॥२६२॥

यथा बंधांश्चित्त्वा च बंधनवद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षम् ।

तथा बंधांश्चित्त्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षम् ॥२९२॥

कर्मवद्धस्य बन्धच्छेदो मोक्षहेतुः, हेतुत्वात्, निगडादिवद्धस्य बन्धच्छेदवत् । एतेन उभयेऽपि पूर्वं आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे व्यापार्यते ।

किमयमेव मोक्षहेतुरिति चेत्—

बंधाणं च सहावं वियाणिञ्चो अप्पणो सहावं च ।

बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्षणं कुणइ ॥२६३॥

गाथा २९२

गाथार्थः—[यथा च] जैसे [बंधनवद्धः तु] बंधनवद्ध पुरुष [बंधान् छित्त्वा] बन्धनोंको छेद कर [विमोक्षम् प्राप्नोति] मुक्तिको प्राप्त हो जाता है, [तथा च] इसीप्रकार [जीवः] जीव [बंधान् छित्त्वा] बन्धनोंको छेदकर [विमोक्षम् संप्राप्नोति] मोक्षको प्राप्त करता है ।

टीकाः—कर्मसे बंधे हुए (पुरुष)को बन्धका छेद मोक्षका कारण है, क्योंकि जैसे वेड़ी आदिसे बद्धको बंधका छेद बंधसे छूटनेका कारण है उसीप्रकार कर्मसे बंधे हुएको कर्म बन्धका छेद कर्मबंधसे छूटनेका कारण है । इस (कथन)से, पूर्वकथित दोनोंको (जो बंधके स्वरूपके ज्ञानमात्रसे सन्तुष्ट हैं तथा जो बन्धका विचार किया करते हैं उनको-) आत्मा और बन्धके द्विधाकरणमें व्यापार कराया जाता है (अर्थात् आत्मा और बन्धको भिन्न भिन्न करनेके प्रति लगाया जाता है—उद्यम कराया जाता है-) ।

‘मात्र यही (बन्धच्छेद ही) मोक्षका कारण क्यों है ?’ ऐसा प्रश्न होने पर अब उसका उत्तर देते हैं :—

जो बन्धनोंसे बद्ध वी नर बन्धच्छेदनसे छूटे ।

त्यों जीव भी इन बन्धनोंका छेद कर मुक्ती वरे ॥२९२॥

रे जानकर बन्धन स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्मका ।

जो बन्धमें हि विरक्त होवें, कर्म मोक्ष करें अहा ॥२९३॥

बन्धानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च ।

बन्धेषु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥२९३॥

य एव निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विकारकारकं बन्धानां च स्वभावं विज्ञाय, बन्धेभ्यो विरमति, स एव सकलकर्ममोक्षं कुर्यात् । एतेनात्मबन्धयोर्द्विधाकरणस्य मोक्षहेतुत्वं नियम्यते ।

केनात्मबन्धौ द्विधा क्रियेते इति चेत्—

जीवो बंधो य तथा छिज्जंति स्वलक्षणेषु हि णियणहिं ।

प्रज्ञाछेदणएण उ छियणा णाणत्तमावणणा ॥२९४॥

जीवो बन्धश्च तथा छियेते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम् ।

प्रज्ञाछेदनकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ ॥२९४॥

गाथा २९३

गाथार्थः—[बन्धानां स्वभावं च] बन्धोंके स्वभावको [आत्मनः स्वभावं च] और आत्माके स्वभावको [विज्ञाय] जानकर [बंधेषु] बन्धोंके प्रति [यः] जो [विरज्यते] विरक्त होता है, [सः] वह [कर्मविमोक्षणं करोति] कर्मसे मुक्त होता है ।

टीकाः—जो, निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभावको और उस (आत्मा)के विकार करनेवाले बंधके स्वभावको जानकर, बंधोंसे विरक्त होता है, वही समस्त कर्मोंसे मुक्त होता है । इस (कथन) से, ऐसा नियम किया जाता है कि आत्मा और बंधका द्विधाकरण (पृथकरण) ही मोक्षका कारण है । (अर्थात् आत्मा और बंधको भिन्न भिन्न करना ही मोक्षका कारण है ऐसा निर्णीत किया जाता है ।)

‘आत्मा और बंध किस (साधन)के द्वारा द्विधा (अलग) किये जाते हैं ?’ ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं :—

गाथा २९४

गाथार्थः—[जीवः च तथा बंधः] जीव तथा बंध [नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां] नियत स्वलक्षणोंसे (अपने-अपने निश्चित लक्षणोंसे) [छियेते] छेदे जाते हैं; [प्रज्ञाछेदनकेन] प्रज्ञारूपी

छेदन करो जीव बन्धका तुम नियत निज निज चिह्नसे ।

प्रज्ञा-छैनीसे छेदते दोनों पृथक हो जाय हैं ॥२९४॥

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां, निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणा-
संभवात्, भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणम् । तथा हि तौ छिन्नौ नानात्वमवश्यमेवापद्येते; ततः
प्रज्ञयैवात्मबन्धयोर्द्विधाकरणम् । ननु कथमात्मबन्धौ चेत्यचेतकभावेनात्यंतप्रत्यासत्तेरेकीभूतौ
भेदविज्ञानाभावादेकचेतकवद्वच्यवहियमाणौ प्रज्ञया छेतुं शक्येते ? नियतस्वलक्षणसूक्ष्मान्तः-
संधिसावधाननिपातनादिति बुध्येमहि । आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं
स्वलक्षणम् । तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपप्रादाय निवर्तते
तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयः, तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्;
समस्तसहक्रमप्रवृत्तानंतपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः, इति
यावत् । बंधस्य तु आत्मद्रव्यासाधारणा रागादयः स्वलक्षणम् । न च रागादय आत्मद्रव्य-

छैनीके द्वारा [छिन्नौ तु] छेदे जाने पर [नानात्वम् अप्राप्तौ] वे नानापनको प्राप्त होते हैं अर्थात्
अलग हो जाते हैं ।

टीका:—आत्मा और बंधके द्विधा करनेरूप कार्यमें कर्ता जो आत्मा उसके #करण संबंधी
+मीमांसा करने पर, निश्चयतः (निश्चयनयसे) अपनेसे भिन्न करणका अभाव होनेसे भगवती प्रज्ञा ही
(-ज्ञानस्वरूप बुद्धि ही) छेदनात्मक (छेदनके स्वभाववाला) करण है । उस प्रज्ञाके द्वारा उनका छेद
करने पर वे अवश्य ही नानात्वको प्राप्त होते हैं; इसलिये प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्धका द्विधा किया
जाता है (अर्थात् प्रज्ञारूपी करण द्वारा ही आत्मा और बन्ध जुड़े किये जाते हैं) ।

(यहाँ प्रश्न होता है कि—) आत्मा और बन्ध जो कि ÷चेत्यचेतकभावके द्वारा अत्यन्त
निकटताके कारण (—एक जैसे) हो रहे हैं, और भेदविज्ञानके अभावके कारण, मानो वे एक चेतक ही
हों ऐसा जिनका व्यवहार किया जाता है, (अर्थात् जिन्हें एक आत्माके रूपमें ही व्यवहारमें माना जाता
है) उन्हें प्रज्ञाके द्वारा वास्तवमें कैसे छेदा जा सकता है ?

(इसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं:—) आत्मा और बन्धके नियत स्वलक्षणोंकी
सूक्ष्म अन्तःसंधिमें (अन्तरंगकी संधिमें) प्रज्ञाछैनीको सावधान होकर पटकनेसे (डालनेसे, मारनेसे)
उनको छेदा जा सकता है—अर्थात् उन्हें अलग किया जा सकता है; ऐसा हम जानते हैं ।

आत्माका स्वलक्षण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्योंसे असाधारण है (—वह अन्य द्रव्योंमें
नहीं है) । वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्यायको व्याप्त होकर प्रवर्तता है और

* करण=साधन; करण नामका कारक । +मीमांसा=गहरी विचारणा; तपास समालोचना ।

÷ आत्मा चेतक है और बंध चेत्य है; वे दोनों अज्ञान दशामें एकसे अनुभवमें आते हैं ।

साधारणतां विभ्राणाः प्रतिभासंते, नित्यमेव चैतन्यचमत्कारादतिरिक्तत्वेन प्रतिभासमानत्वात् । न च यावदेव समस्तस्वपर्यायव्यापि चैतन्यं प्रतिभाति तावन्त एव रागादयः प्रतिभान्ति, रागादीनंतरेणापि चैतन्यस्यात्मलाभसंभावनात् । यत्तु रागादीनां चैतन्येन सहैवोत्प्लवनं तच्चेत्यचेतकभावप्रत्यासत्तेरेव, नैकद्रव्यत्वात्; चैत्यमानस्तु रागादिरात्मनः, प्रदीप्यमानो घटादिः प्रदीपस्य प्रदीपकतामिव, चेतकतामेव प्रथयेत्, न पुना रागादिताम् । एवमपि तयोरत्यंतप्रत्यासत्त्या भेदसंभावनाभावादानादिरस्त्येकत्वव्यामोहः, स तु प्रज्ञयैव छिद्यत एव ।

निवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्यायको ग्रहण करके निवर्तता है वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायों आत्मा हैं इसप्रकार लक्षित करना (लक्षणसे पहचानना) चाहिये (अर्थात् जिन जिन गुण पर्यायोंमें चैतन्यलक्षण व्याप्त होता है वे सब गुणपर्यायों आत्मा हैं, ऐसा जानना चाहिये) क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षणसे लक्ष्य है (अर्थात् चैतन्यलक्षणसे ही पहचाना जाता है) । और समस्त सहवर्ती तथा क्रमवर्ती अनन्त पर्यायोंके साथ चैतन्यका अविनाभावी भाव होनेसे चिन्मात्र ही आत्मा है ऐसा निश्चय करना चाहिये । इतना आत्माके स्वलक्षणके सम्बन्धमें है ।

(अब बन्धके स्वलक्षणके सम्बन्धमें कहते हैं:—) बन्धका स्वलक्षण तो आत्मद्रव्यसे असाधारण ऐसे रागादि हैं । यह रागादिक आत्म द्रव्यके साथ साधारणता धारण करते हुये प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि वे सदा चैतन्यचमत्कारसे भिन्नरूप प्रतिभासित होते हैं । और जितना, चैतन्य आत्माकी समस्त पर्यायोंमें व्याप्त होता हुआ प्रतिभासित होता है, उतने ही, रागादिक प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि रागादिके बिना भी चैतन्यका आत्मलाभ संभव है (अर्थात् जहाँ रागादि न हों वहाँ भी चैतन्य होता है) । और जो, रागादिकी चैतन्यके साथ ही उत्पत्ति होती है वह चेत्यचेतकभाव (ज्ञेयज्ञायकभाव) की अति निकटताके कारण ही है, एकद्रव्यत्त्वके कारण नहीं; जैसे (दीपकके द्वारा) प्रकाशित किया जानेवाला घटादिक (पदार्थ) दीपकके प्रकाशकत्वको ही प्रगट करते हैं—घटत्वादिको नहीं, इसप्रकार (आत्माके द्वारा) चेतित होनेवाले रागादिक (अर्थात् ज्ञानमें ज्ञेयरूपसे ज्ञात होनेवाले रागादि भाव) आत्माके चेतकत्वको ही प्रगट करते हैं—रागादिकत्वको नहीं ।

ऐसा होने पर भी उन दोनों (—आत्मा और बन्ध)की अत्यन्त निकटताके कारण भेदसंभावनाका अभाव होनेसे अर्थात् भेद दिलाई न देनेसे (अज्ञानीको) अनादि कालसे एकत्वका व्यामोह (भ्रम) है; वह व्यामोह प्रज्ञा द्वारा ही अवश्य छेदा जाता है ।

भावार्थः—आत्मा और बन्ध दोनोंको लक्षणभेदसे पहचान कर बुद्धिरूपी छैनीसे छेद कर भिन्न भिन्न करना चाहिये ।

* स्रग्धरा *

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
 सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
 आत्मानं मग्नमंतःस्थिरविशदलसद्गाम्नि चैतन्यपूरे
 बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥१८१॥

आत्मा तो अमूर्तिक है और बन्ध सूक्ष्म पुद्गलपरमाणुओंका स्कंध है इसलिये छद्मस्थके ज्ञानमें दोनों भिन्न प्रतीत नहीं होते, मात्र एक स्कन्ध ही दिखाई देता है (अर्थात् दोनों एकपिण्डरूप दिखाई देते हैं); इसलिये अनादि अज्ञान है । श्रीगुरुओंका उपदेश प्राप्त करके उनके लक्षण भिन्न भिन्न अनुभव करके जानना चाहिये कि चैतन्यमात्र तो आत्माका लक्षण है और रागादिक बन्धका लक्षण है, तथापि वे मात्र ज्ञेयज्ञायकभावकी अति निकटतासे वे एक जैसे ही दिखाई देते हैं । इसलिये तीक्ष्ण बुद्धिरूपी छैनीको—जो कि उन्हें भेदकर भिन्न करनेका शस्त्र है उसे—उनकी सूक्ष्मसंधिको ढूंढकर उसमें सावधान (निष्प्रमाद) होकर पटकना चाहिये । उसके पड़ते ही दोनों भिन्न भिन्न दिखाई देने लगते हैं । और ऐसा होने पर, आत्माको ज्ञानभावमें ही और बन्धको अज्ञानभावमें रखना चाहिये । इसप्रकार दोनोंको भिन्न करना चाहिये ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[इयं शिता प्रज्ञाछेत्री] यह प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी [निपुणैः] प्रवीण पुरुषोंके द्वारा [कथम् अपि] किसी भी प्रकारसे (—यत्नपूर्वक) [सावधानैः] सावधानतया (निष्प्रमादतया) [पातिता] पटकने पर, [आत्म-कर्म-उभयस्य सूक्ष्मे अन्तःसन्धिबन्धे] आत्मा और कर्म—दोनोंके सूक्ष्म अन्तरंग सन्धिके बन्धमें [रभसात्] शीघ्र [निपतति] पड़ती है । किसप्रकार पड़ती है ? [आत्मानम् अन्तःस्थिर-विशद-लसद्-गाम्नि चैतन्यपूरे मग्नम्] वह आत्माको तो जिसका तेज अन्तरंगमें स्थिर और निर्मलतया दैवीप्यमान है ऐसे चैतन्यप्रवाहमें मग्न करती हुई [च] और [बन्धम् अज्ञानभावे नियमितम्] बन्धको अज्ञानभावमें निश्चल (नियत) करती हुई—[अभितः भिन्नभिन्नौ कुर्वती] इसप्रकार आत्मा और बन्धको सर्वतः भिन्न भिन्न करती हुई पड़ती है ।

भाषार्थः—यहाँ आत्मा और बन्धको भिन्न भिन्न करनेरूप कार्य है । उसका कर्ता आत्मा है, वहाँ करणके त्रिना कर्ता किसके द्वारा कार्य करेगा ? इसलिये करण भी आवश्यक है । निश्चयनयसे कर्तासे करण भिन्न नहीं होता; इसलिये आत्मासे अभिन्न ऐसी यह बुद्धि ही इस कार्यमें करण है । आत्माके अनादि बन्ध ज्ञानावरणादिकर्म है, उसका कार्य भावबन्ध तो रागादिक है तथा नोकर्म शरीरादिक है । इसलिये बुद्धिके द्वारा आत्माको शरीरसे, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मसे तथा रागादिक भावकर्मसे भिन्न एक चैतन्यभावमात्र अनुभवी ज्ञानमें ही लीन रखना सो यही (आत्मा और बन्धको) दूर करना है । इसीसे सर्व कर्मोंका नाश होता है, और सिद्धपदकी प्राप्ति होती है, ऐसा जानना चाहिये ।-१८१- -

आत्मबन्धौ द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यमिति चेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जति स्वलक्षणोहि णियएहिं ।

बंधो छेएयव्वो सुद्धो अप्पा य धित्तव्वो ॥२९५॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम् ।

बन्धश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥२९५॥

आत्मबंधौ हि तावन्नियतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेत्तव्यौ; ततो रागादिलक्षणः समस्त एव बन्धो निर्मोक्तव्यः, उपयोगलक्षणः शुद्ध आत्मैव गृहीतव्यः । एतदेव किलात्मबन्धयोर्द्विधा-करणस्य प्रयोजनं यद्धन्त्यागेन शुद्धात्मोपादानम् ।

‘आत्मा और बन्धका द्विधा करके क्या करना चाहिये’ । ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं:—

गाथा २९५

गाथार्थः—[तथा] इसप्रकार [जीवः बन्धः च] जीव और बन्ध [नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां] अपने निश्चित स्वलक्षणोंसे [छिद्येते] छेदे जाते हैं । [बंधः] वहाँ, बन्धको [छेत्तव्यः] छेदना चाहिए अर्थात् छोड़ना चाहिये [च] और [शुद्धः आत्मा] शुद्ध आत्माको [गृहीतव्यः] ग्रहण करना चाहिये ।

टीका:—आत्मा और बन्धको प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षणोंके ज्ञानसे सर्वथा ही छेद अर्थात् भिन्न करना चाहिये; तत्पश्चात्, रागादिक जिसका लक्षण है ऐसे समस्त बन्धको तो छोड़ना चाहिये तथा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसे शुद्ध आत्माको ही ग्रहण करना चाहिये । वास्तवमें यही आत्मा और बंधके द्विधा करनेका प्रयोजन है कि बन्धके त्यागसे (अर्थात् बन्धका त्याग करके) शुद्ध आत्माको ग्रहण करना ।

भावार्थः—शिष्यने प्रश्न किया था कि आत्मा और बन्धको द्विधा करके क्या करना चाहिये ? उसका यह उत्तर दिया है कि बन्धका तो त्याग करना और शुद्ध आत्माका ग्रहण करना ।

(‘आत्मा और बन्धको प्रज्ञाके द्वारा भिन्न तो किया परन्तु आत्माको किसके द्वारा ग्रहण किया जाये ?’—इस प्रश्नकी तथा उसके उत्तरकी गाथा कहते हैं:—

छेदन होवे जीव बन्धका जहँ नियत निज २ चिह्न से ।

वह छोड़ना इस बन्धको, जीव ग्रहण करना शुद्धको ॥२९५॥

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाएव घित्तव्वो ॥२६६॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा ।

यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥२९६॥

ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः, शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्यतो, विभजत इव, प्रज्ञैककरणत्वात् । अतो यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ।

कथमयमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति चेत्—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे ति णायव्वा ॥२९७॥

गाथा २९६

वाथार्थः—(विषय पूछता है कि—) [सः आत्मा] वह (शुद्ध) आत्मा [कथं] कैसे [गृह्यते] ग्रहण किया जाय ? (आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि—) [प्रज्ञया तु] प्रज्ञाके द्वारा [सः आत्मा] वह (शुद्ध) आत्मा [गृह्यते] ग्रहण किया जाता है । [यथा] जैसे [प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [विभक्तः] भिन्न किया, [तथा] उसीप्रकार [प्रज्ञया एव] प्रज्ञाके द्वारा ही [गृहीतव्यः] ग्रहण करना चाहिये ।

टीकाः—यह शुद्ध आत्मा किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिये ? प्रज्ञाके द्वारा ही यह शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि शुद्ध आत्माको, स्वयं निजको ग्रहण करनेमें प्रज्ञा ही एक करण है—जैसे भिन्न करनेमें प्रज्ञा ही एक करण था । इसलिये जैसे प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया था उसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये ।

भावार्थः—भिन्न करने और ग्रहण करनेमें करण अलग-अलग नहीं हैं; इसलिये प्रज्ञाके द्वारा ही आत्माको भिन्न किया और प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये ।

अब प्रश्न होता है कि—इस आत्माको प्रज्ञाके द्वारा कैसे ग्रहण करना चाहिये ? इसका उत्तर कहते हैंः—

यह जीव कैसे ग्रहण हो ? जीवका ग्रहण प्रज्ञाहि से ।

ज्यों अलग प्रज्ञासे किया, त्यों ग्रहण भी प्रज्ञाहि से ॥२९६॥

कर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, चेतक है सो ही मैं हि हूँ ।

अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही जानना ॥२९७॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः ।

अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९७॥

यो हि नियतस्वलक्षणवलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता, सोऽयमहं; ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवहियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायातोऽत्यंतं मत्तो भिन्नाः । ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि । यत्किंल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतय एव; चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये । अथवा—न चेतये; न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये; किन्तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि ।

गाथा २९७

गाथार्थः—[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] (आत्माको) इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये कि—[यः चेतयिता] जो चेतनेवाला (चेतनस्वरूप आत्मा) है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिये ।

टीकाः—नियत स्वलक्षणका अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक (चेतनेवाला, चैतन्यस्वरूप आत्मा) है सो यह मैं हूँ; और अन्य स्वलक्षणोंसे लक्ष्य (अर्थात् चैतन्यलक्षणके अतिरिक्त अन्य लक्षणोंसे जाननेयोग्य) जो यह शेष व्यवहाररूप भाव हैं, वे सभी, चेतकस्वरूपी व्यापकके व्याप्य नहीं होते इसलिये, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं । इसलिये मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिये ही, अपनेमेंसे ही, अपनेमें ही, अपनेको ही ग्रहण करता हूँ । आत्माकी, चेतना ही एक क्रिया है इसलिये, मैं ग्रहण करता हूँ अर्थात् मैं चेतता ही हूँ; चेतता हुआ ही चेतता हूँ; चेतते हुए द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुयेके लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुयेसे ही चेतता हूँ, चेततेमें ही चेतता हूँ, चेततेको ही चेतता हूँ । अथवा —न तो चेतता हूँ; न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुयेके द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुयेके लिए चेतता हूँ, न चेतते हुयेसे चेतता हूँ, न चेतते हुयेमें चेतता हूँ, न चेतते हुयेको चेतता हूँ; किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र (—चैतन्यमात्र) भाव हूँ ।

भावार्थः—प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया वह चेतक मैं हूँ और शेष भाव मुझसे पर हैं; इसलिये (अभिन्न छह कारकोंसे) मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिये ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझे ही ग्रहण करता हूँ ।

* शार्दूलविक्रीडित *

भित्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेदं हि यच्छक्यते
 चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
 भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
 भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥१८२॥

‘ग्रहण करता हूँ’ अर्थात् ‘चेतता हूँ’, क्योंकि चेतना ही आत्माकी एक क्रिया है। इसलिये मैं चेतता ही हूँ; चेतनेवाला ही, चेतनेवालेके द्वारा ही, चेतनेवालेके लिये ही, चेतनेवालेसे ही, चेतनेवालेमें ही, चेतनेवालेको ही चेतता हूँ। अथवा द्रव्यदृष्टिसे तो—मुझमें छह कारकोंके भेद भी नहीं हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ।—इसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण करना चाहिये अर्थात् अपनेको चेतयिताके रूपमें अनुभव करना चाहिये।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[यत् भेदं हि शक्यते सर्वम् अपि स्वलक्षणबलात् भित्वा] जो कुछ भी भेदा जा सकता है उस सबको स्वलक्षणके बलसे भेदकर, [चिन्मुद्रा—अंकित—निर्विभागमहिमा शुद्धः चिद् एव अहम् अस्मि] जिसकी चिन्मुद्रासे अंकित निर्विभाग महिमा है (अर्थात् चैतन्यकी मुद्रासे अंकित विभाग रहित जिसकी महिमा है) ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ। [यदि कारकाणि वा यदि धर्माः वा यदि गुणाः भिद्यन्ते, भिद्यन्ताम्] यदि कारकके, अथवा धर्मोंके, या गुणोंके भेद हों, तो भले हों; [विभौ विशुद्धे चिति भावे काचन भिदा न अस्ति] किन्तु शुद्ध (—समस्त विभावोंसे रहित—) #विभु, ऐसा चैतन्यभावमें तो कोई भेद नहीं है। (इसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण किया जाता है।)

भावार्थः—जिनका स्वलक्षण चैतन्य नहीं है ऐसे परभाव तो मुझसे भिन्न हैं, मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्य ही हूँ। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकभेद, सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व आदि धर्मभेद और ज्ञान, दर्शन आदि गुणभेद यदि कथंचित् हों तो भले हों; परन्तु शुद्ध चैतन्यमात्र भावमें तो कोई भेद नहीं है।—इसप्रकार शुद्धनयसे अभेदरूप आत्माको ग्रहण करना चाहिये । १८२ ।

(आत्माको शुद्ध चैतन्यमात्र तो ग्रहण कराया; अब सामान्य चेतना दर्शनज्ञानसामान्यमय है इसलिये अनुभवमें दर्शनज्ञानस्वरूप आत्माको इसप्रकार अनुभव करना चाहिये—सो कहते हैं:—)

* विभु = दृढ़ अचल; नित्य, समर्थ; सर्व गुणपर्यायोंमें व्यापक ।

परणाए धित्तवो जो दृष्टा सो अहं तु णिच्चयदो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२६८॥

परणाए धित्तवो जो णादा सो अहं तु णिच्चयदो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२६९॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः ।

अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९८॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः ।

अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९९॥

चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः
स्वलक्षणमेव । ततोऽहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि । यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव; पश्यन्नेव

गाथा २९८-२९९

गाथार्थः—[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये कि—[यः दृष्टा] जो देखनावाला है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिये ।

[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये कि—[यः ज्ञाता] जो जाननेवाला है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिये ।

टीकाः—चेतना दर्शनज्ञानरूप भेदोंका उल्लंघन नहीं करती है इसलिये, चेतकत्वकी भाँति दर्शकत्व और ज्ञातृत्व आत्माका स्वलक्षण ही है । इसलिये मैं देखनेवाला आत्माको ग्रहण करता हूँ । 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'देखता ही हूँ'; देखता हुआ ही देखता हूँ, देखते हुएके द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुयेके लिये ही देखता हूँ, देखते हुयेसे ही देखता हूँ, देखते हुयेमें ही देखता हूँ, देखते हुयेको ही देखता हूँ ।

कर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, दृष्टा है सो ही मैं हि हूँ ।

अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही जानना ॥२९८॥

कर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, ज्ञाता है सो ही मैं हि हूँ ।

अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही—जानना ॥२९९॥

पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेव पश्यामि । अथवा—न पश्यामि; न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यंतं पश्यामि; किन्तु सर्वविशुद्धो दृष्टमात्रो भावोऽस्मि । अपि च—ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि । यत्किल गृह्णामि तज्ज्ञानाम्येव; जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि । अथवा—न जानामि; न जानन् जानामि, न जानता जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि, न जानंतं जानामि; किन्तु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि ।

अथवा—नहीं देखता; न देखते हुएको देखता हूँ, न देखते हुएके द्वारा देखता हूँ, न देखते हुएके लिये देखता हूँ, न देखते हुयेसे देखता हूँ, न देखते हुयेमें देखता हूँ, न देखते हुएको देखता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ । और इसीप्रकार—मैं जाननेवाले आत्माको ग्रहण करता हूँ । 'ग्रहण करता हूँ, अर्थात् 'जानता ही हूँ'; जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुएके द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुएके लिये ही जानता हूँ, जानते हुएसे ही जानता हूँ, जानते हुएमें ही जानता हूँ, जानते हुएको ही जानता हूँ । अथवा—नहीं जानता; न जानते हुएको जानता हूँ, नहीं जानते हुएके द्वारा जानता हूँ, न जानते हुएके लिये जानता हूँ, न जानते हुयेसे जानता हूँ, न जानते हुएमें जानता हूँ, न जानते हुएको जानता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्ध ज्ञप्ति (—जाननक्रिया) मात्र भाव हूँ । (इसप्रकार देखनेवाले आत्माको तथा जाननेवाले आत्माको कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकोंके भेदपूर्वक ग्रहण करके, तत्पश्चात् कारकभेदोंका निषेध करके आत्माको अर्थात् अपनेको दर्शनमात्र भावरूप तथा ज्ञानमात्र भावरूप अनुभव करना चाहिये अर्थात् अभेदरूपसे अनुभव करना चाहिये ।

(भावार्थः—इन तीन गाथाओंमें, प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण करनेको कहा गया है । 'ग्रहण करना' अर्थात् किसी अन्य वस्तुको ग्रहण करना अथवा लेना नहीं है; किन्तु चेतनाका अनुभव करना ही आत्माका 'ग्रहण करना' है । पहली गाथामें सामान्य चेतनाका अनुभव कराया गया है । वहाँ, अनुभव करनेवाला, जिसका अनुभव किया जाता है वह, और जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है वह—इत्यादि कारकभेदरूपसे आत्माको कहकर, अभेदविवक्षामें कारकभेदका निषेध करके, आत्माको एक शुद्ध चैतन्यमात्र कहा गया है ।

अब इन दो गाथाओंमें दृष्टा तथा ज्ञाताका अनुभव कराया है, क्योंकि चेतनासामान्य दर्शनज्ञान-विशेषोंका उल्लंघन नहीं करती । यहाँ भी, वह कारकरूप भेद-अनुभवन कराके, और तत्पश्चात् अभेद-अनुभवनकी अपेक्षासे कारकभेदको दूर कराके, दृष्टाज्ञातामात्रका अनुभव कराया है ।)

ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ? उच्यते—चेतना तावत्प्रतिभासरूपा; सा तु, सर्वेषामेव वस्तुनां सामान्यविशेषात्मकत्वात्, द्वैरूप्यं नातिक्रामति । ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने । ततः सा ते नातिक्रामति । यद्यतिक्रामति, सामान्यविशेषातिक्रान्तत्वाच्चेतनैव न भवति । तदभावे द्वौ दोषौ—स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्या-चेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा । ततस्तदोषभयादर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगन्तव्या ।

* शार्दूलविक्रीडित *

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ॥
तस्यागे जडता चित्तोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥१८३॥

(टीका:—) यहाँ प्रश्न होता है कि—चेतना दर्शनज्ञानभेदोंका उल्लंघन क्यों नहीं करती कि जिससे चेतनेवाला दृष्टा तथा ज्ञाता होता है ? इसका उत्तर कहते हैं:—प्रथम तो चेतना प्रतिभासरूप है । वह चेतना द्विरूपताका उल्लंघन नहीं करती, क्योंकि समस्त वस्तुएँ सामान्य विशेषात्मक हैं । (सभी वस्तुएँ सामान्यविशेषस्वरूप हैं । इसलिये उन्हें प्रतिभासनेवाली चेतना भी द्विरूपताका उल्लंघन नहीं करती ।) उसके जो दो रूप हैं वे दर्शन और ज्ञान हैं । इसलिये वह उनका (—दर्शनज्ञानका) उल्लंघन नहीं करती । यदि चेतना दर्शनज्ञानका उल्लंघन करे तो सामान्यविशेषका उल्लंघन करनेसे चेतना ही न रहे (अर्थात् चेतनाका अभाव हो जायेगा) । उसके अभावमें दो दोष आते हैं—(१) अपने गुणका नाश होनेसे चेतनको अचेतनत्व आ जायेगा, अथवा (२) व्यापक (चेतना)के अभावमें व्याप्य ऐसा चेतन (आत्मा)का अभाव हो जायेगा । इसलिये उन दोषोंके भयसे चेतनाको दर्शनज्ञानस्वरूप ही अंगीकार करना चाहिये ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

इत्लोकार्थः—[जगति हि चेतना अद्वैता] जगतमें निश्चयतः चेतना अद्वैत है [अपि चैत् सा दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्] तथापि यदि वह दर्शनज्ञानरूपको छोड़ दे [तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्] तो सामान्यविशेषरूपके अभावसे (वह चेतना) [अस्तित्वम् एव त्यजेत्] अपने अस्तित्वको ही छोड़ देगी; और [तत्-स्यागे] इसप्रकार चेतना अपने अस्तित्वको छोड़ने पर, (१) [चित्तः अपि जडता भवति] चेतनके जडत्व आ जायेगा—अर्थात् आत्मा जड़ हो जाय [च] और (२) [व्यापकात् विना व्याप्यः आत्मा अन्तम् उपैति] व्यापक (चेतना)के विना व्याप्य जो आत्मा वह नष्ट हो जायेगा (—इसप्रकार दो दोष आते हैं) । [तेन चित् नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपा अस्तु] इसलिये चेतना नियमसे दर्शनज्ञानरूप ही हो ।

* इन्द्रवज्रा *

एकश्चित्चिन्मय एव भावो
 भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
 ग्राह्यस्तत्तच्चिन्मय एव भावो
 भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥१८४॥

को एवम ऋणिज्ज बुहो एउं सव्वे पराइए भावे ।
 मज्झमिणं ति य वयणं जाणंती अप्पयं सुद्धं ॥३००॥

भावार्थः—समस्त वस्तुयें सामान्यविशेषात्मक हैं। इसलिए उन्हें प्रतिभासनेवाली चेतना भी सामान्यप्रतिभासरूप (-दर्शनरूप) और विशेषप्रतिभासरूप (-ज्ञानरूप) होनी चाहिए। यदि चेतना अपनी दर्शनज्ञानरूपताको छोड़ दे तो चेतनाका ही अभाव होने पर, या तो चेतन आत्माको (अपने चेतना गुणका अभाव होने पर) जड़त्व आ जायेगा, अथवा तो व्यापकके अभावसे व्याप्य ऐसे आत्माका अभाव हो जायेगा। (चेतना आत्माकी सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त होनेसे व्यापक है और आत्मा चेतन होनेसे चेतनाका व्याप्य है। इसलिए चेतनाका अभाव होने पर आत्माका भी अभाव हो जायेगा।) इसलिये चेतनाको दर्शनज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिए।

यहाँ तात्पर्य यह है कि—सांख्यमतावलम्बी आदि कितने ही लोग सामान्य चेतनाको ही मानकर एकान्त कथन करते हैं, उनका निषेध करनेके लिए यहाँ यह बताया गया है कि 'वस्तुका स्वरूप सामान्य-विशेषरूप है इसलिए चेतनाको सामान्यविशेषरूप अंगीकार करना चाहिए'। १८३।

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[चितः] चैतन्यका (आत्माका) तो [एकः चिन्मयः एव भावः] एक चिन्मय ही भाव है, और [ये परे भावाः] जो अन्यभाव हैं [ते किल परेषाम्] वे वास्तवमें दूसरोंके भाव हैं; [ततः] इसलिये [चिन्मयः भावः एव ग्राह्यः] (एक) चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है, [परे भावाः सर्वतः एव हेयाः] अन्य भाव सर्वथा त्याज्य हैं। १८४।

अब इस उपदेशकी गाथा कहते हैं:—

सर्व भाव जो परकीय जाने, शुद्ध जाने आत्मकी ।
 वह कौन ज्ञानी "मेरा है यह" यों वचन बोलै अहो ॥३००॥

को नाम भयोद्बुधः ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान् ।
ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धम् ॥३००॥

यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात्, स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति, शेषांश्च सर्वानिव भावान् परकीयान् जानाति । एवं च जानन् कथं परभावान्मयामी इति ब्रूयात् ? परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसम्बन्धस्यासंभवात् । अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः, शेषाः सर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धान्तः ।

* शार्दूलविक्रीडित *

सिद्धांतोऽयमुदात्तचिच्चरित्तैर्भौक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

गाथा ३००

गाथार्थः—[सर्वान् भावान्] सर्व भावोंको [परकीयान्] दूसरेका [ज्ञात्वा] जानकर [कः नाम बुधः] कौन ज्ञानी, [आत्मानं] अपनेको [शुद्धम्] शुद्ध [जानन्] जानता हुआ, [इदम् मम] 'यह मेरा है' (-'यह भाव मेरे हैं') [इति च वचनं] ऐसा वचन [भयोत्] बोलेगा ?

टीकाः—जो (पुरुष) परके और आत्माके नियत स्वलक्षणोंके विभागमें पढ़नेवाली प्रज्ञाके द्वारा ज्ञानी होता है, वह वास्तवमें एक चिन्मात्र भावको अपना जानता है और शेष सर्व भावोंको दूसरोंका जानता है । ऐसा जानता हुआ (वह पुरुष) परभावोंको 'यह मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा ? (नहीं कहेगा) क्योंकि परमें और अपनेमें निश्चयसे स्वस्वामिसम्बन्धका असम्भव है । इसलिये, सर्वथा चिद्भाव ही (एकमात्र) ग्रहण करनेयोग्य है, शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य हैं—ऐसा सिद्धान्त है ।

भावार्थः—लोकमें भी यह न्याय है कि—जो सुबुद्धि और न्यायवान होता है वह दूसरेके घनादिको अपना नहीं कहता । इसीप्रकार जो सम्यग्ज्ञानी है, वह समस्त परद्रव्योंको अपना नहीं मानता । किन्तु अपने निजभावको ही अपना जानकर ही ग्रहण करता है ।

अथ इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[उदात्तचित्तचरित्तैः मोक्षार्थिभिः] जिनके चित्तका चरित्र उदात्त (-उदार, उच्च, उज्ज्वल) है ऐसे मोक्षार्थी [अग्रयं सिद्धान्तः] इस सिद्धान्तका [सेव्यताम्] सेवन करें कि—[अहम् शुद्धं चिन्मयम् एकम् परमं ज्योतिः एव सदा एव अस्मि] मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति

* अनुष्टुभ् *

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।

बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥१८६॥

धैर्याई अपराहे जो कुर्वइ सो उ संकिदो भमइ ।
 या बज्जेजं केण वि चोरो ति जणमिह वियरंतो ॥३०१॥
 जो ए कुणइ अपराहे सो एिस्संको उ जणवए भमइ ।
 ए वि तस्स बज्जिहुं जे चिंता उप्पज्जइ क्याइ ॥३०२॥
 एरमिह सावराहो बज्जापि अहं तु संकिदो चेया ।
 जइ पुए णिरावराहो एिस्संकोहं ए बज्जापि ॥३०३॥

ही हैं; [तु] और [एते ये पृथग्लक्षणाः विविधाः भावाः समुल्लसन्ति ते ग्रहं न अस्मि] जो यह भिन्न
 लक्षणवाले विविध प्रकारके भाव प्रगट होते हैं वे मैं नहीं हूँ, [यतः अत्र ते समग्राः अपि मम परद्रव्यम्]
 क्योंकि वे सभी मेरे लिये परद्रव्य हैं । १८५ ।

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[परद्रव्यग्रहं कुर्वन्] जो परद्रव्यको ग्रहण करता है [अपराधवान्] वह अपराधी
 है [बध्येत एव] इसलिये बन्धमें पड़ता है, [स्वद्रव्ये संवृतः यतिः] और जो स्वद्रव्यमें ही संवृत है
 (अर्थात् जो अपने द्रव्यमें ही गुप्त-मग्न है—संतुष्ट है, परद्रव्यका ग्रहण नहीं करता) ऐसा यति
 [अनपराधः] निरपराधी है [न बध्येत] इसलिये बंधता नहीं है । १८६ ।

अब इस कथनको दृष्टान्तपूर्वक गाथा द्वारा कहते हैं:—

अपराध चौर्यादिक करै जो पुरुष वी शक्ति फिरै ।
 को लोकमें फिरते हुएको, चोर जान जु हाथ ले ॥३०१॥
 अपराध जो करता नहीं, निःशंक लोकविपै फिरै ।
 “बंध जाऊँ गा” ऐसी कभी, चिंता न उसको होय है ॥३०२॥
 त्यों आत्मा अपराधी “मैं बंधता हूँ” यों हि शशंक है ।
 अरु निरपराधी आत्मा, “नाही बंधूँ” निःशंक है ॥३०३॥

स्तेयादीनपराधान् यः करोति स तु शंकितो भ्रमति ।
 मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन् ॥३०१॥
 यो न करोत्यपराधान् स निशंकस्तु जनपदे भ्रमति ।
 नापि तस्य बद्धं यच्चितोत्पद्यते कदाचित् ॥३०२॥
 एवमस्मि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेत्पिता ।
 यदि पुनर्निरपराधो निशंकोऽहं न बध्ये ॥३०३॥

यथात्र लोके य एव परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति, यस्तु तं न करोति तस्य सा न संभवति; तथात्मापि य एवाशुद्धः सन् परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति, यस्तु शुद्धः संस्तं न करोति तस्य सा न संभवतीति नियमः । अतः सर्वथा सर्वपरकीयभावपरिहारेण शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः, तथा सत्येव निरपराधत्वात् ।

गाथा ३०१-३०३

गाथार्थः—[यः] जो पुरुष [स्तेयादीन् अपराधान्] चोरी आदिके अपराध [करोति] करता है [सः तु] वह [जने विचरन्] लोकमें घूमता हुआ [केन अपि] मुझे कोई [चौरः इति] चोर समझकर [मा बध्ये] पकड़ न ले, इसप्रकार [शंकितः भ्रमति] शंकित होता हुआ घूमता है; [यः] जो पुरुष [अपराधान्] अपराध [न करोति] नहीं करता [सः तु] वह [जनपदे] लोकमें [निशंकः भ्रमति] निःशंक घूमता है, [यद्] क्योंकि [तस्य] उसे [बद्धं चिन्ता] बंधनेकी चिन्ता [कदाचित् अपि] कभी भी [न उत्पद्यते] उत्पन्न नहीं होती । [एवम्] इसीप्रकार [चेतयिता] अपराधी आत्मा [सापराधः अस्मि] मैं अपराधी हूँ [बध्ये तु ग्रहं] इसलिये मैं बँधूँगा' इसप्रकार [शंकितः] शंकित होता है, [यदि पुनः] और यदि [निरपराधः] अपराध रहित (आत्मा) हो तो [ग्रहं न बध्ये] 'मैं नहीं बँधूँगा' इसप्रकार [निशंकः] निःशंक होता है ।

टीकाः—जैसे इस जगत्में जो पुरुष, परद्रव्यका ग्रहण जिसका लक्षण है ऐसा अपराध करता है उसीको बन्धकी शंका होती है और जो अपराध नहीं करता उसे बन्धकी शंका नहीं होती, इसीप्रकार आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ, परद्रव्यका ग्रहण जिसका लक्षण है ऐसा अपराध करता है उसीको बन्धकी शंका होती है तथा जो शुद्ध वर्तता हुआ अपराध नहीं करता उसे बन्धकी शंका नहीं होती—ऐसा नियम है । इसलिये सर्वथा समस्त परकीय भावोंके परिहार द्वारा (अर्थात् परद्रव्यके सर्व भावोंको छोड़कर) शुद्ध आत्माको ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराधता होती है ।

भावार्थः—यदि मनुष्य चोरी आदि अपराध करे तो उसे बन्धनकी शंका हो; निरपराधको शंका क्यों होगी ? इसीप्रकार यदि आत्मा परद्रव्यका ग्रहणरूप अपराध करे तो उसे बन्धकी शंका अवश्य होगी;

को हि नामायमपराधः ?—

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयद्वं ।
अपगतराधो जो खलु चैया सो होइ अवराधो ॥३०४॥
जो पुण्ण एिरवराधो चैया एिस्संकिञ्चो उ सो होइ ।
आराहणए एिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥३०५॥

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थम् ।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥३०४॥
यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निश्शंकितस्तु स भवति ।
आराधनया नित्यं वर्तते अहमिति जानन् ॥३०५॥

यदि अपनेको शुद्ध अनुभव करे, परका ग्रहण न करे, तो बन्धकी शंका क्यों होगी ? इसलिये परद्रव्यको छोड़कर शुद्ध आत्माका ग्रहण करना चाहिये । तभी निरपराध हुआ जाता है ।

अब प्रश्न होता है कि यह 'अपराध' क्या है ? उसके उत्तरमें अपराधका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा ३०४-३०५

गाथार्थः—[संसिद्धिराधसिद्धं] संसिद्धि, *राध, सिद्ध, [साधितम्-आराधितं च] साधित और आराधित—[एकार्थम्] ये एकार्थवाचो शब्द है; [यः खलु चेतयिता] जो आत्मा [अपगतराधः] 'अपगतराध' अर्थात् राधसे रहित है [सः] वह आत्मा [अपराधः] अपराध [भवति] है ।

[पुनः] और [यः चेतयिता] जो आत्मा [निरपराधः] निरपराध है [सः तु] वह [निश्शंकितः भवति] निःशंक होता है; [अहं इति जानन्] 'जो शुद्ध आत्मा है सो ही मैं हूँ' ऐसा जानता हुआ [आराधनया] आराधनासे [नित्यं वर्तते] सदा वर्तता है ।

* राध=आराधना; प्रव्रजता; कृपा; सिद्धि; पूर्णता; सिद्ध करना; पूर्ण करना ।

संसिद्धि, सिद्धि जु राध, अरु साधित अराधित एरु है ।
ये राधसे जो रहित है, वो आत्मा अपराध है ॥३०४॥
अरु आत्मा जो निरपराधी, होय है निःशङ्क वो ।
वर्ते सदा आराधनासे, जानता "मैं" आत्मको ॥३०५॥

परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः । अपगतो राधो यस्य चेतयितुः सोऽपराधः । अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधः, तेन सह यश्चेतयिता वर्तते सापराधः । स तु परद्रव्यग्रहणसद्भावेन शुद्धात्मसिद्धयभावाद्बन्धशंकासंभवे सति स्वयमशुद्धत्वादनाराधक एव स्यात् । यस्तु निरपराधः स समग्रपरद्रव्यपरिहारेण शुद्धात्मसिद्धिसद्भावाद्बन्धशंकाया असंभवे सति उपयोगैकलक्षणशुद्ध आत्मैक एवाहमिति निश्चिन्वन् नित्यमेव शुद्धात्मसिद्धिलक्षणयाराधनया वर्तमानत्वादारधक एव स्यात् ।

* मालिनी *

अनवरतमन्तैर्बध्यते सापराधः

स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।

नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो

भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥१८७॥

टीका:—परद्रव्यके परिहारसे शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधन सो राध है । जो आत्मा 'अपगतराध' अर्थात् राधरहित हो वह आत्मा अपराध है । अथवा (दूसरा समासविग्रह इसप्रकार है :) जो भाव राध रहित हो वह भाव अपराध है; उस अपराधयुक्त जो आत्मा वर्तता हो वह आत्मा सापराध है । वह आत्मा, परद्रव्यके ग्रहणके सद्भाव द्वारा शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभावके कारण बन्धकी शंका होती है इसलिये स्वयं अशुद्ध होनेसे, अनाराधक ही है । और जो आत्मा निरपराध है वह, समग्र परद्रव्यके परिहारसे शुद्ध आत्माकी सिद्धिके सद्भावके कारण बन्धकी शंका नहीं होती इसलिए 'उपयोग ही जिसका एक लक्षण है ऐसा एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ' इसप्रकार निश्चय करता हुआ शुद्ध आत्माकी सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसी आराधना पूर्वक सदा वर्तता है इसलिए, आराधक ही है ।

भावार्थ:—संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित—इन शब्दोंका एक ही अर्थ है, यहाँ शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधनका नाम 'राध' है । जिसके वह राध नहीं है वह आत्मा सापराध है और जिसके वह राध है वह आत्मा निरपराध है । जो सापराध है उसे बन्धकी शंका होती है इसलिए वह स्वयं अशुद्ध होनेसे अनाराधक है; और जो निरपराध है वह निःशंक होता हुआ अपने उपयोगमें लीन होता है इसलिए उसे बन्धकी शंका नहीं होती, इसलिए 'जो शुद्ध आत्मा है वही मैं हूँ' ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके एक भावरूप निश्चय आराधनका आराधक ही है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[सापराधः] सापराध आत्मा [अनवरतम्] निरन्तर [अनन्तः] अनन्त पुद्गल-परमाणुरूप कर्मोंसे [बध्यते] बँधता है; [निरपराधः] निरपराध आत्मा [बन्धनम्] बन्धनको [जातु] कदापि [स्पृशति न एव] स्पर्श नहीं करता । [भयम्] जो सापराध आत्मा है वह तो [नियतम्]

ननु किमनेन शुद्धात्मोपासनप्रयासेन ? यतः प्रतिक्रमणादिनैव निरपराधो भवत्यात्मा; सापराधस्याप्रतिक्रमणादेस्तदनपोहकत्वेन विषकुम्भत्वे सति प्रतिक्रमणादेस्तदनपोहकत्वेनामृतकुम्भत्वात् । उक्तं च व्यवहाराचारसूत्रे—अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव । अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो ॥१॥ पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य । णिंदा गरहा सोही अट्टविहो अमयकुम्भो दु ॥२॥

नियमसे [स्वम् अशुद्धं भजन्] अपनेको अशुद्ध सेवन करता हुआ [सापराधः] सापराध है; [निरपराधः] निरपराध आत्मा तो [साधु] भलीभाँति [शुद्धात्मसेवी भवति] शुद्ध आत्माका सेवन करनेवाला होता है । १७७ ।

(यहाँ व्यवहारनयावलम्बी अर्थात् व्यवहारनयको अवलम्बन करनेवाला तर्क करता है कि:—)
“शुद्ध आत्माकी उपासनाका प्रयास करनेका क्या काम है ? क्योंकि प्रतिक्रमण आदिसे ही आत्मा निरपराध होता है; क्योंकि सापराधके, जो अप्रतिक्रमण आदि हैं वे, अपराधको दूर करनेवाले न होनेसे, विषकुम्भ हैं, इसलिये जो प्रतिक्रमणादि हैं वे; अपराधको दूर करनेवाले होनेसे अमृतकुम्भ हैं । व्यवहारका कथन करनेवाले आचारसूत्रमें भी कहा है कि:—

अप्पडिकमणमपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।

अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो ॥१॥

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।

णिंदा गरहा सोही अट्टविहो अमयकुम्भो दु ॥२॥ अत्रोच्यते—

अर्थः—“अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि—यह (आठ प्रकारका) विषकुम्भ है । १।

१प्रतिक्रमण, २प्रतिसरण, ३परिहार, ४धारणा, ५निवृत्ति, ६निन्दा, ७गर्हा और ८शुद्धि—यह आठ प्रकारका अमृतकुम्भ है । २।”

१-प्रतिक्रमण = कृत दोषोंका निराकरण ।

२-प्रतिसरण = सम्यक्त्वादि गुणोंमें प्रेरणा ।

३-परिहार = मिथ्यात्न-रागादि दोषोंका निवारण ।

४-धारणा = पंचनमस्कारादि मंत्र, प्रतिमा इत्यादि बाह्य द्रव्योंके आलम्बन द्वारा चित्तको स्थिर करना ।

५-निवृत्ति = बाह्य विषयकषायादि इच्छामें प्रवर्तमान चित्तको हटा लेना ।

६-निन्दा = आत्मसाक्षीपूर्वक दोषोंका प्रगट करना ।

७-गर्हा = गुरुघाक्षीसे दोषोंका प्रगट करना ।

८-शुद्धि = दोष होने पर प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि करना ।

अत्रोच्यते—

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियती य ।
 णिंदा गरहा सोही अट्टविहो होइ विसकुम्भो ॥३०६॥
 अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चैव ।
 अणियती य अणिंदागरहासोही अमयकुम्भो ॥३०७॥

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च ।
 निंदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुम्भः ॥३०६॥
 अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव ।
 अनिवृत्तिश्चानिंदाऽगर्हाऽशुद्धिरमृतकुम्भः ॥३०७॥

उपरोक्त तर्कका समाधान करते हुए आचार्यदेव (निश्चयनयकी प्रधानतासे) गाथा द्वारा करते हैं:—

गाथा ३०६-३०७

अन्वयायं:—[प्रतिक्रमणं] प्रतिक्रमण, [प्रतिसरणं] प्रतिसरण, [परिहारः] परिहार, [धारणा] धारणा, [निवृत्तिः] निवृत्ति, [निन्दा] निन्दा, [गर्हा] गर्हा [च शुद्धिः] और शुद्धि— [अष्टविधः] यह आठ प्रकारका [विषकुम्भः] विषकुम्भ [भवति] है (क्योंकि इसमें कर्तृत्वकी बुद्धि सम्भवित है) ।

[अप्रतिक्रमणम्] अप्रतिक्रमण, [अप्रतिसरणम्] अप्रतिसरण, [अपरिहारः] अपरिहार, [अधारणा] अधारणा, [अनिवृत्तिः च] अनिवृत्ति, [अनिन्दा] अनिन्दा, [अगर्हा] अगर्हा [च एव] और [अशुद्धिः] अशुद्धि—[अमृतकुम्भः] यह अमृतकुम्भ है (क्योंकि इससे कर्तृत्वका निषेध है—कुछ करना ही नहीं है, इसलिये बन्ध नहीं होता) ।

प्रतिक्रमण अरु प्रतिसरण त्यों परिहरण, निवृत्ति धारणा ।
 अरु शुद्धि, निंदा, गर्हणा, ये अष्टविध विषकुम्भ है ॥३०६॥
 अनप्रतिक्रमण अनप्रतिसरण, अनपरिहरण अनधारणा ।
 अनिवृत्ति, अनगर्हा, अनिद, अशुद्धि अमृतकुम्भ है ॥३०७॥

यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्धयभावस्वभावत्वेन स्वयमेवा-
 पराधत्वाद्विषकुम्भ एव; किं तस्य विचारेण ? यस्तु द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराध-
 विषदोषापरकषणसमर्थत्वेनामृतकुम्भोऽपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादिरूपां
 तार्तीयिकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्यकरणासमर्थत्वेन विषकक्षार्थकारित्वाद्विषकुम्भः एव स्यात् ।
 अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीया भूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां
 सर्वकषपत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि अमृतकुम्भत्वं
 साधयति । तयैव च निरपराधो भवति चेतीयिता । तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादेरप्यपराध एव ।
 अतस्तृतीयभूमिकयैवं निरपराधत्वमित्यवतिष्ठते । तत्प्राप्त्यर्थं स्वायं द्रव्यप्रतिक्रमणादिः । ततो
 मेति मंस्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति, किंतु द्रव्यप्रतिक्रमणादिना न मुंचति, अन्यदपि
 प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणाद्यगोचराप्रतिक्रमणादिरूपं शुद्धात्मसिद्धिलक्षणमतिदुष्करं किमपि कारयति ।
 वक्ष्यते चात्रैव—*कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणोयवित्थरविसेसं॥ ततो णियत्तए अप्पयं तु जो
 सो पडिक्कमणं ॥ इत्यादि ॥

टीकाः—प्रथम तो जो अज्ञानीजनसाधारण (-अज्ञानी लोगोंको साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि
 हैं वे तो शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभावरूप स्वभाववाले हैं इसलिये स्वयमेव अपराधरूप होनेसे विषकुम्भ
 ही है; उनका विचार करनेका क्या प्रयोजन है? (क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं।) और जो
 द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं वे सब अपराधरूपी विषके दोषको (क्रमशः) कम करनेमें समर्थ होनेसे
 अमृतकुम्भ हैं (ऐसा व्यवहार आचारसूत्रमें कहा है) तथापि प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादिसे विलक्षण
 ऐसी अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमिकाको न देखनेवाले पुरुषको वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि (अपराध
 काटनेरूप) अपना कार्य करनेको असमर्थ होनेसे विपक्ष (अर्थात् बन्धका) कार्य करते होनेसे विषकुम्भ
 ही है। जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है वह, स्वयं शुद्धात्माकी सिद्धिरूप होनेके कारण समस्त
 अपराधरूपी विषके दोषोंको सर्वथा नष्ट करनेवाली होनेसे, साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है और इसप्रकार
 (वह तीसरी भूमि) व्यवहारसे द्रव्यप्रतिक्रमणादिको भी अमृतकुम्भत्व साधती है। उस तीसरी भूमिसे
 ही आत्मा निरपराध होता है। उस (तीसरी भूमि)के अभावमें द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही है।
 इसलिये, तीसरी भूमिसे ही निरपराधत्व है ऐसा सिद्ध होता है। उसकी प्रातिके लिये ही यह द्रव्यप्रति-
 क्रमणादि हैं। ऐसा होनेसे यह नहीं मानना चाहिये कि (निश्चयनयका) शास्त्र द्रव्यप्रतिक्रमणादिको छुड़ाता
 है। तब फिर क्या करता है? द्रव्यप्रतिक्रमणादिसे छुड़ा नहीं देता—(अटका नहीं देता, संतोष नहीं
 मनवा देता); इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादिसे अगोचर अप्रतिक्रमणादिरूप,
 शुद्ध आत्माकी सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसा, अति दुष्कर कुछ करवाता है। इस ग्रन्थमें ही आगे
 कहेंगे कि—

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम् ।
आत्मन्येवालानित च चित्त-
मासंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥१८८॥

अर्थः—अनेकप्रकारके विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंसे जो अपने आत्माको निवृत्त कराता है वह आत्मा प्रतिक्रमण है । इत्यादि ।

भावार्थः—व्यवहारनयावलम्बीने कहा था कि—“लगे हुये दोषोंका प्रतिक्रमणादि करनेसे ही आत्मा शुद्ध होता है, तब फिर पहलेसे ही शुद्धात्माके आलम्बनका खेद करनेका क्या प्रयोजन है ? शुद्ध होनेके बाद उसका आलम्बन होगा; पहलेसे ही आलम्बनका खेद निष्फल है ।” उसे आचार्य समझते हैं किः—जो द्रव्य प्रतिक्रमणादि हैं वे दोषोंके मिटानेवाले हैं, तथापि शुद्ध आत्मा स्वरूप जो कि प्रतिक्रमणादिसे रहित हैं उसके अवलम्बनके बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही हैं, वे दोषोंके मिटानेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि निश्चयकी अपेक्षासे युक्त ही व्यवहारनय मोक्षमार्गमें है, केवल व्यवहारका ही पक्ष मोक्षमार्गमें नहीं है, बन्धका ही मार्ग है । इसलिये यह कहा है कि—अज्ञानीके जो अप्रतिक्रमणादिक हैं सो तो विषकुम्भ है ही; उसका तो कहना ही क्या है ? किन्तु व्यवहारचारित्र्यमें जो प्रतिक्रमणादिक कहे हैं वे भी निश्चयनयसे विषकुम्भ ही हैं, क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्रमणादिसे रहित, शुद्ध, अप्रतिक्रमणादि-स्वरूप ही है ।

अब इस कथनका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[अतः] इस कथनसे, [सुख-आसीनतां गताः] सुखासीन (सुखसे बैठे हुए) [प्रमादिनः] प्रमादी जीवोंको [हताः] हत कहा है (अर्थात् उन्हें मोक्षका सर्वथा अनधिकारी कहा है), [चापलम् प्रलीनम्] चापल्यका (—अविचारित कार्यका) प्रलय किया है (अर्थात् आत्मप्रतीतिसे रहित क्रियाओंको मोक्षके कारणमें नहीं माना), [आलम्बनम् उन्मूलितम्] आलम्बनको उखाड़ फेंका है (अर्थात् सम्यग्दृष्टिके द्रव्यप्रतिक्रमण इत्यादिको भी निश्चयसे बन्धका कारण मानकर हेय कहा है), [आसंपूर्ण-विज्ञान-घन-उपलब्धेः] जबतक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्माकी प्राप्ति न हो तबतक [आत्मनि एव चित्तम् आलानितं च] (शुद्ध) आत्मारूपी स्तम्भसे ही चित्तको बाँध रखा है (—अर्थात् व्यवहारके आलम्बनसे अनेक प्रवृत्तियोंमें चित्त भ्रमण करता था उसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मामें ही लगानेको कहा है क्योंकि वही मोक्षका कारण है) । १८८ ।

यहाँ निश्चयनयसे प्रतिक्रमणादिको विषकुम्भ कहा और अप्रतिक्रमणादिको असृतकुम्भ कहा इसलिये यदि कोई विपरीत समझकर प्रतिक्रमणादिको छोड़कर प्रमादी हो जाये तो उसे समझानेके लिये कलशरूप काव्य कहते हैंः—

* वसन्ततिलका *

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
 तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।
 तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
 किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८९॥

* पृथ्वी *

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
 कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः ।
 अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
 मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥१९०॥

श्लोकार्थः—[यत्र प्रतिक्रमणम् एव विषं प्रणीतं] (हे भाई !), जहाँ प्रतिक्रमणको ही विष कहा है, [तत्र अप्रतिक्रमणम् एव सुधा कुतः स्यात्] वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँसे हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता ।) [तत्] तब फिर [जनः अधः अधः प्रपतन् किं प्रमाद्यति] मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है ? [निष्प्रमादः] निष्प्रमाद होता हुआ [ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वम् किं न अधिरोहति] ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ता ?

भावार्थः—अज्ञानावस्थामें जो अप्रतिक्रमणादि होते हैं उनकी तो बात ही क्या ? किन्तु यहाँ तो, शुभप्रवृत्तिरूप द्रव्यप्रतिक्रमणादिका पक्ष छुड़ानेके लिये उन्हें (द्रव्यप्रतिक्रमणादिको) निश्चयनयकी प्रधानतासे विषकुम्भ कहा है क्योंकि वे कर्मबन्धके ही कारण हैं, और प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादिसे रहित ऐसी तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है तथा प्रतिक्रमणादिसे रहित होनेसे अप्रतिक्रमणादिरूप है, उसे अमृतकुम्भ कहा है अर्थात् वहाँके अप्रतिक्रमणादिको अमृतकुम्भ कहा है । तृतीय भूमिपर चढ़ानेके लिये आचार्यदेवने यह उपदेश दिया है । प्रतिक्रमणादिको विषकुम्भ कहनेकी बात सुनकर जो लोग उल्टे प्रमादी होते हैं उनके सम्बन्धमें आचार्य कहते हैं कि—‘यह लोग नीचे ही नीचे क्यों गिरते हैं ? तृतीय भूमिमें ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते ?’ जहाँ प्रतिक्रमणको विषकुम्भ कहा है वहाँ उसका निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ हो सकता है, अज्ञानीका नहीं । इसलिये जो अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ कहे हैं वे अज्ञानीके अप्रतिक्रमणादि नहीं जानना चाहिये, किन्तु तीसरी भूमिके शुद्ध आत्मामय जानना चाहिये । १८६ ।

अब इस अर्थको दृढ़ करता हुआ काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[कषाय-भर-गौरवात् अलसता प्रमादः] कषायके भारसे भारी होनेसे आलस्यका होना सो प्रमाद है; [यतः प्रमादकलितः अलसः शुद्धभावः कथं भवति] इसलिये यह प्रमादयुक्त

• शार्दूलविक्रीडित •

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१९१॥

आलस्यभाव शुद्धभाव कैसे हो सकता है ? [अतः स्वरसनिर्भरे स्वभावे नियमितः भवन् मुनिः] इसलिये निजरससे परिपूर्ण स्वभावमें निरचल होनेवाला मुनि [परमशुद्धतां व्रजति] परम शुद्धताको प्राप्त होता है [वा] अथवा [अचिरात् मुच्यते] शीघ्र-अल्पकालमें ही-(कर्मबन्धसे) छूट जाता है ।

भावार्थः—प्रसाद तो कपायके गौरवसे होता है इसलिये प्रमादीके शुद्ध भाव नहीं होता । जो मुनि उद्यमपूर्वक स्वभावमें प्रवृत्त होता है वह शुद्ध होकर मोक्षको प्राप्त करता है । १६० ।

अब, मुक्त होनेका अनुक्रम-दर्शक काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[यः किल अशुद्धिविधायि परद्रव्यं तत् समग्रं त्यक्त्वा] जो पुरुष वास्तवमें अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्यको छोड़कर [स्वयं स्वद्रव्ये रतिम् एति] स्वयं स्वद्रव्यमें लीन होता है, [सः] वह पुरुष [नियतम्] नियमसे [सर्व-अपराध-च्युतः] सर्व अपराधोंसे रहित होता हुआ, [बन्ध-ध्वंसम् उपेत्य नित्यम् उदितः] बन्धके नाशको प्राप्त होकर नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान) होता हुआ, [स्व-ज्योतिः-अच्छ-उच्छलत्-चैतन्य-अमृत-पूर-पूर्ण-महिमा] अपनी ज्योतिसे (आत्म-स्वरूपके प्रकाशसे) निर्मलतया उच्छलता हुआ जो चैतन्यरूपी अमृतके प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा [शुद्धः भवन्] शुद्ध होता हुआ, [मुच्यते] कर्मोंसे मुक्त होता है ।

भावार्थः—जो पुरुष, पहले समस्त परद्रव्यका त्याग करके निज द्रव्यमें (आत्मस्वरूपमें) लीन होता है, वह पुरुष समस्त रागादिक अपराधोंसे रहित होकर आगामी बन्धका नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञानको प्राप्त करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मोंका नाश करके, मोक्षको प्राप्त करता है । यह, मोक्ष होनेका अनुक्रम है । १६१ ।

अब मोक्ष अधिकारको पूर्ण करते हुए उसके अन्तिममंगलरूप पूर्ण ज्ञानकी महिमाका (सर्वथा शुद्ध हुए आत्मद्रव्यकी महिमाका) कलशरूप काव्य कहते हैंः—

* संदाक्रान्ता *

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धम् ।

एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं

पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१९२॥

इति मोक्षो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रद्वारिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ मोक्षप्ररूपकः
अष्टमोऽंकः ॥

श्लोकार्थः—[बंधच्छेदात् अतुलम् प्रक्षय्यम् मोक्षम् फलयत्] कर्मबन्धके छेदनेसे अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्षका अनुभव करता हुआ, [नित्य-उद्योत-स्फुटित-सहज-अवस्थम्] नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी खिल उठी है ऐसा, [एकांत-शुद्धम्] एकांत शुद्ध (—कर्ममलके न रहनेसे अत्यन्त शुद्ध), [एकाकार-स्व-रस-भरतः अत्यन्त-गम्भीर-धीरम्] और एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकारमें परिणमित) निजरसकी अतिशयतासे जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा [एतत् पूर्णं ज्ञानम्] यह पूर्ण ज्ञान [ज्वलितम्] प्रकाशित हो उठा है (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ है), और [स्वस्य अचले महिम्नि लीनम्] अपनी अचल महिमामें लीन हुआ है ।

भावार्थः—कर्मका नाश करके मोक्षका अनुभव करता हुआ, अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप, अत्यन्त शुद्ध, समस्त ज्ञेयाकारोंको गौण करता हुआ, अत्यन्त गम्भीर (जिसका पार नहीं है ऐसा) और धीर (आकुञ्जितारहित)—ऐसा पूर्ण ज्ञान प्रगट देदीप्यमान होता हुआ, अपनी महिमामें लीन होगया ॥१९२॥

टीकाः—इसप्रकार मोक्ष (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गया ।

भावार्थः—रंगभूमिमें मोक्षतत्त्वका स्वाँग आया था । जहाँ ज्ञान प्रगट हुआ वहाँ उस मोक्षका स्वाँग रंगभूमिसे बाहर निकल गया ।

* सवैया *

य्यो नर कोय परथो हृदबंधन बंधस्वरूप लखै दुखकारी,
चित्त करै निति कैम कटे यह तौऊ छिदै नहि नैक टिकारी ।
छेदनकूँ गहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुय धारी,
यों लुध लुद्धि घसाय दुधा करि कर्म रु आतम आप गहारी ॥

इसप्रकार श्री समयसारकी (श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागमकी) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित समयसार व्याख्या-

आत्मख्याति नामक मोक्ष प्ररूपक अष्टम अंक समाप्त ।

* आठवाँ मोक्ष अधिकार समाप्त *

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानम् ।

● मन्दाक्रान्ता ●

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः ॥१९३॥

—::: दोहा :::—

सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम ।

परकूं करै न भोगवै, जानै #जपि तसु नाम ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि—“अब सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।”

मोक्षतत्त्वके स्वाँगके निकल जानेके बाद सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। रंगभूमिमें जीव-अजीव, कर्ताकर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये आठ स्वाँग आये, उनका नृत्य हुआ और वे अपना अपना स्वरूप बताकर निकल गये। अब सर्व स्वाँगोंके दूर होने पर एकाकार सर्वविशुद्ध-ज्ञान प्रवेश करता है।

उसमें प्रथम ही, मंगलरूपसे ज्ञानपुञ्ज आत्माकी महिमाका काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[अखिलान् कर्तृ-भोक्त्रु-आदि-भावान् सम्यक् प्रलयम् नीत्वा] समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावोंको सम्यक् प्रकारसे (भलीभाँति) नाशको प्राप्त कराके [प्रतिपदम्] पद पद पर

* अनुष्टुम् *

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।

अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥१९४॥

अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टान्तपुरस्सरमाख्याति—

दवियं जं उप्पज्जइ गुणोहिं तं तेहिं जाणसु अणणणं ।

जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणणणमिह ॥३०८॥

(अर्थात् कर्मोके क्षयोपशमके निमित्तसे होनेवाली प्रत्येक पर्यायमें) [बन्ध-मोक्ष-प्रवृत्तः दूरीभूतः] बन्ध-मोक्षकी रचनासे दूर वर्तता हुआ, [शुद्धः शुद्धः] शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् रागादि मल तथा आवरणसे रहित), [स्वरस-विसर-आपूर्ण-पुण्य-अचल-अचिः] जिसका पवित्र अचल तेज निसरसके (-ज्ञानरसके, ज्ञानचेतनारूपी रसके) विस्तारसे परिपूर्ण है ऐसा, और [टंकोत्कीर्ण-प्रकट-महिमा] जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण प्रगट है ऐसा यह, [अयं ज्ञानपुञ्जः स्फूर्जति] ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है ।

भावार्थः—शुद्धनयका विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह कर्तृत्वभोक्तृत्वके भावोंसे रहित है, बन्धमोक्षकी रचनासे रहित है, परद्रव्यसे और परद्रव्यके समस्त भावोंसे रहित होनेसे शुद्ध है, निजरसके प्रवाहसे पूर्ण वैदीप्यमान ज्योतिरूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है । ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है । १६३ ।

अब सर्वविशुद्ध ज्ञानको प्रगट करते हैं । उसमें प्रथम, 'आत्मा कर्ता-भोक्ताभावसे रहित है' इस अर्थका, आगामी गाथाओंका सूचक श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[कर्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः न] कर्तृत्व इस चित्स्वरूप आत्माका स्वभाव नहीं है, [वेदयितृत्ववत्] जैसे भोक्तृत्व स्वभाव नहीं है । [अज्ञानात् एव अयं कर्ता] वह अज्ञानसे ही कर्ता है, [तद्-अभावात् अकारकः] अज्ञानका अभाव होने पर अकर्ता है । १६४ ।

अब, आत्माका अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

जो द्रव्य उपजे जिन गुणोंसे, उनसे जान अनन्य वी ।

है जातमें कटकादि, पर्यायोंसे कनक अनन्य ज्यों ॥३०८॥

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
 तं जीवमजीवं वा तेहिमणणं वियाणाहि ॥३०६॥
 ए कुदोचि वि उप्पणो जम्हा कज्जं ए तेण सो आदा ।
 उप्पादेदि ए किंचि वि कारणमवि तेण ए स होइ ॥३१०॥
 कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
 उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ए दीसए अण्णा ॥३११॥

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत् ।

यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कलकमनन्यदिह ॥३०८॥

जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे ।

तं जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥३०९॥

न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा ।

उत्पादयति न किंचिदपि कारणमपि तेन न स भवति ॥३१०॥

कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि ।

उत्पद्यंते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ॥३११॥

गाथा ३०८-३११

गाथार्थः— [यत् द्रव्यं] जो द्रव्यं [गुणः] जिन गुणोंसे [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [तैः] उन गुणोंसे [तत्] उसे [अनन्यत् जानीहि] अनन्य जानो; [यथा] जैसे [इह] जगतमें [कटकादिभिः पर्यायैः तु] कड़ा इत्यादि पर्यायोंसे [कलकम्] सुवर्णं [अनन्यत्] अनन्य है वैसे ।

[जीवस्य अजीवस्य तु] जीव और अजीवके [ये परिणामाः तु] जो परिणाम [सूत्रे दर्शिताः] सूत्रमें बताये हैं, [तैः] उन परिणामोंसे [तं जीवम् अजीवं वा] उस जीव अथवा अजीवको [अनन्यं विजानीहि] अनन्य जानो ।

जीव-अजीवके परिणाम जो, शास्त्रोंविषे जिनवर कहे ।

वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणामसे ॥३०९॥

उपजे न आत्मा कोइसे, इससे न आत्मा कार्य है ।

उपजावता नहि कोइको, इससे न कारण भी बने ॥३१०॥

रे ! कर्म-आश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतारके ।

आश्रित हुवे उपजे नियमसे, अन्य नहि सिद्धी दिखै ॥३११॥

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः, एवंमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्याद् कङ्कणादिपरिणामैः काञ्चनवत् । एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्; तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिध्यति; तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिध्यति । अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ।

[यस्मात्] क्योंकि [कुतश्चिद् अपि] किसीसे भी [न उत्पन्नः] उत्पन्न नहीं हुआ [तेन] इसलिये [सः आत्मा] वह आत्मा [कार्यं न] (किसीका) कार्य नहीं है, [किञ्चिद् अपि] और किसीको [न उत्पादयतिः] उत्पन्न नहीं करता [तेन] इसलिये [सः] वह [कारणम् अपि] (किसीका) कारण भी [न भवति] नहीं है ।

[नियमात्] नियमसे [कर्मप्रतीत्य] कर्मके आश्रयसे (—कर्मका अवलम्बन लेकर) [कर्ता] कर्ता होता है; [तथा च] और [कर्तारं प्रतीत्य] कर्तके आश्रयसे [कर्माणि उत्पद्यते] कर्म उत्पन्न होते हैं; [अन्या तु] अन्य किसी प्रकारसे [सिद्धिः] कर्ताकर्मकी सिद्धि [न दृश्यते] नहीं देखी जाती ।

टीकाः—प्रथम तो जीव क्रमवद्ध ऐसे अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमवद्ध अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामोंसे उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्णका कंकण आदि परिणामोंके साथ तादात्म्य है उसीप्रकार सर्व द्रव्योंका अपने परिणामोंके साथ तादात्म्य है । इसप्रकार जीव अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीवके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्योंका अन्यद्रव्यके साथ उत्पाद्य-उत्पादक भावका अभाव है; उसके (कार्यकारणभावके) सिद्ध न होने पर, अजीवके जीवका कर्मत्व सिद्ध नहीं होता; और उसके (—अजीवके जीवका कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्ता-कर्मकी अन्यनिरपेक्षतया (अन्यद्रव्यसे निरपेक्षतया या, स्वद्रव्यमें ही) सिद्धि होनेसे जीवके अजीवका कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता । इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है ।

भावायः—सर्व द्रव्योंके परिणाम भिन्न भिन्न हैं । सभी द्रव्य अपने अपने परिणामोंके कर्ता हैं; वे उन परिणामोंके कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं । निश्चयसे किसीका किसीके साथ कर्ताकर्मसम्बन्ध नहीं है । इसलिये जीव अपने ही परिणामोंका कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं । इसीप्रकार अजीव अपने परिणामोंका ही कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं । इसीप्रकार जीव दूसरेके परिणामोंका अकर्ता है ।

‘इसप्रकार जीव अकर्ता है तथापि उसे वन्ध होता है यह अज्ञानकी महिमा है’ इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

* शिखरिणी *

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः

स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः ।

तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः ।

स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥१९५॥

चेया उ पयडीअट्टं उप्पज्जइ विणस्सइ ।

पयडी वि चेययट्टं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥

एवं बंधो उ दुग्गहं वि अणणोणणप्पच्चया हवे ।

अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥

इत्योकार्थः—[स्वरसतः विशुद्धः] जो निजरससे विशुद्ध है, और [स्फुरत्-चित्-ज्योतिर्भिः छुरित-भुवन्-आभोग-भवनः] जिसकी स्फुरायमान होती हुई चैतन्यज्योतियोंके द्वारा लोकका समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है ऐसा जिसका स्वभाव है, [अयं जीवः] ऐसा यह जीव [इति] पूर्वोक्त प्रकारसे (परद्रव्यका तथा परभावोंका) [अकर्ता स्थितः] अकर्ता सिद्ध हुआ, [तथापि] तथापि [अस्य] उसे [इह] इस जगतमें [प्रकृतिभिः] कर्म प्रकृतियोंके साथ [यद् बन्धः किल स्यात्] जो यह (प्रगट) बन्ध होता है [सः खलु अज्ञानस्य कः अपि गहनः महिमा स्फुरति] सो वह वास्तवमें अज्ञानकी कोई गहन महिमा स्फुरायमान है ।

भावार्थः—जिसका ज्ञान सर्व ज्ञेयोंमें व्याप्त होनेवाला है ऐसा यह जीव शुद्धनयसे परद्रव्यका कर्ता नहीं है, तथापि उसे कर्मका बन्ध होता है यह अज्ञानकी कोई गहन महिमा है—जिसका पार नहीं पाया जाता । १९५ ।

(अब अज्ञानकी इस महिमाको प्रगट करते हैंः—)

पर जीव प्रकृतीके निमित्त जु, उपजता नशता अरे !

अरु प्रकृतिका जीवके निमित्त, विनाश अरु उत्पाद है ॥३१२॥

अन्योन्यके जु निमित्तसे यों, बंध दोनोंका बने ।

इस जीव प्रकृती उभयका, संसार इससे होय है ॥३१३॥

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति ।
 प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ॥३१२॥
 एवं बन्धस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत् ।
 आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥३१३॥

अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य
 करणात्कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति; प्रकृतिरपि चेतयितृनिमित्त-
 मुत्पत्तिविनाशावासादयति । एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेऽन्योन्यनिमित्तनैमित्तिक-
 भावेन द्वयोरपि बन्धो दृष्टः, ततः संसारः, तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः ।

गाथा ३१२-३१३

गाथार्थः—[चेतयिता तु] चेतक अर्थात् आत्मा [प्रकृत्यर्थम्] प्रकृतिके निमित्तसे
 [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [विनश्यति] और नष्ट होता है, [प्रकृतिः अपि] तथा प्रकृति भी
 [चेतकार्थम्] चेतक अर्थात् आत्माके निमित्तसे [उत्पद्यते] उत्पन्न होती है [विनश्यति] तथा
 नष्ट होती है । [एवं] इसप्रकार [अन्योन्यप्रत्ययात्] परस्पर निमित्तसे [द्वयोः अपि] दोनोंका—
 [आत्मनः प्रकृतेः च] आत्माका और प्रकृतिका—[बन्धः तु भवेत्] बन्ध होता है, [तेन] और
 इससे [संसारः] संसार [जायते] उत्पन्न होता है ।

टीकाः—यह आत्मा, (उसे) अनादि संसारसे ही (अपने और परके भिन्न भिन्न) निश्चित
 स्वलक्षणोंका ज्ञान (भेदज्ञान) न होनेसे दूसरेका और अपना एकत्वका अध्यास करनेसे कर्ता होता
 हुआ, प्रकृतिके निमित्तसे उत्पत्ति-विनाशको प्राप्त होता है; प्रकृति भी आत्माके निमित्तसे उत्पत्ति-
 विनाशको प्राप्त होती है (अर्थात् आत्माके परिणामानुसार परिणमित होती है) । इसप्रकार—यद्यपि वे
 आत्मा और प्रकृतिके कर्ताकर्मभावका अभाव है, तथापि—परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे दोनोंके बन्ध
 देखा जाता है, इससे संसार है और इसीसे उनके (आत्मा और प्रकृतिके) कर्ताकर्मका व्यवहार है ।

भावार्थः—आत्माके और ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतिओंके परमार्थसे कर्ताकर्मभावका अभाव
 है तथापि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावके कारण बन्ध होता है, इससे संसार है और इसीसे कर्ताकर्मपनका
 व्यवहार है ।

(अब यह कहते हैं कि—'जबतक आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उपजना-विनशना न छोड़े तबतक
 वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, असंयत है' :—)

जा एत पयडीअट्टं चैया एव विमुञ्चए ।

अयाणओ हवे ताव मिञ्चाइड्डी असंजओ ॥३१४॥

जया विमुञ्चए चैया कम्मफलमणंतयं ।

तया विमुक्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥३१५॥

यावदेप प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुञ्चति ।

अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥३१४॥

यदा विमुञ्चति चेतयिता कर्मफलमनंतकम् ।

तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥३१५॥

यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं न मुञ्चति, तावत्स्वपरयोरैकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति, स्वपरयोरैकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति, स्वपरयोरैकत्वपरिणत्या चासंयतो भवति; तावदेव च परात्मनोरैकत्वाध्यासस्य कारणात्कर्ता

गाथा ३१४-३१५

नायार्थः—[यावत्] जबतक [एषः चेतयिता] यह आत्मा [प्रकृत्यर्थ] प्रकृतिके निमित्तसे उपजना-विनशना [न एव विमुञ्चति] नहीं छोड़ता; [तावत्] तबतक वह [अज्ञायकः] अज्ञायक (अज्ञानी) है, [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि है, [असंयतः भवेत्] असंयत है ।

[यदा] जब [चेतयिता] आत्मा [अनन्तकम् कर्मफलम्] अनन्त कर्म फलको [विमुञ्चति] छोड़ता है, [तदा] तब वह [ज्ञायकः] ज्ञायक है, [दर्शकः] दर्शक है, [मुनिः] मुनि है, [विमुक्तः भवति] विमुक्त अर्थात् बन्धसे रहित है ।

टीकाः—जबतक यह आत्मा, (स्व-परके भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंका ज्ञान (भेदज्ञान) न होनेसे, प्रकृतिके स्वभावको—जो कि अपनेको बन्धका निमित्त है उसको—नहीं छोड़ता, तबतक स्व-परके एकत्वज्ञानसे अज्ञायक (अज्ञानी) है, स्वपरके एकत्वदर्शितसे (एकत्वरूप भ्रान्तनसे) मिथ्यादृष्टि है और स्वपरकी एकत्वपरिणतसे असंयत है; और तभी तक परके तथा अपने एकत्वका अध्यास करनेसे

उ-याद-व्यय प्रकृतीनिमित्तं जु, जय हि तद नहि परितजे ।

अज्ञानि, मिथ्यात्वी, असंयत, तव हि तद वो जीव रहे ॥३१४॥

ये आतमा जय ही करमका, फल अनंता परितजे ।

ज्ञायक तथा दर्शक तथा मुनि वो हि कर्मविमुक्त है ॥३१५॥

भवति । यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं मुंचति, तदा स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन दर्शको भवति, स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च संयतो भवति; तदैव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति ।

* अनुष्टुभ् *

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववचितः ।

अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः ॥१९६॥

अज्ञानी कर्मफलं पश्यदिसहावद्विभ्रौ तु वेदेइ ।

जाणी पुण कर्मफलं जाणइ उदियं ए वेदेइ ॥३१६॥

कर्ता है । और जब यही आत्मा (अपने और परके भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंके ज्ञानके (भेदज्ञानके) कारण प्रकृतिके स्वभावको—जो कि अपनेको बन्धका निमित्त है उसको—छोड़ता है, तब स्वपरके विभागज्ञानसे (भेदज्ञानसे) ज्ञायक है, स्वपरके विभागदर्शनसे (भेददर्शनसे) दर्शक है और स्वपरकी विभागपरिणतिसे (भेदपरिणतिसे) संयत है; और तभी स्व-परके एकत्वका अध्यास न करनेसे अकर्ता है।

सावार्थः—जबतक यह आत्मा स्व-परके लक्षणको नहीं जानता तबतक वह भेदज्ञानके अभावके कारण कर्मप्रकृतिके उदयको अपना समझकर परिणामित होता है; इसप्रकार मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, असंयमी होकर, कर्ता होकर, कर्मका बन्ध करता है । और जब आत्माको भेदज्ञान होता है तब वह कर्ता नहीं होता, इसलिये कर्मका बन्ध नहीं करता, ज्ञानादृष्टारूपसे परिणामित होता है ।

“इसीप्रकार भोक्तृत्व भी आत्माका स्वभाव नहीं है” इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं—

श्लोकार्थः—[कर्तृत्ववत्] कर्तृत्वकी भांति [भोक्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः स्मृतः न] भोक्तृत्व भी इस चैतन्यका (चितस्वरूप आत्माका) स्वभाव नहीं कहा है । [अज्ञानात् एव अयं भोक्ता] वह अज्ञानसे ही भोक्ता है, [तद्-प्रभावात् अवेदकः] अज्ञानका अभाव होनेपर वह अभोक्ता है । १९६ ।

अब इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं—

अज्ञानी स्थित प्रकृती स्वभाव सु, कर्मफलको वेदता ।

अरु ज्ञानि तो जाने उदयगत कर्मफल, नहीं भोगता ॥३१६॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते ।

ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते ॥३१६॥

अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमप्यहंतया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते । ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञानसद्भावात् स्वपरयोर्विभागज्ञानेन, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन, स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहंतया अनुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव, न पुनः तस्याहंतयाऽनुभितुमशक्यत्वाद्देदयते ।

• शार्दूलविक्रीडित •

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको

ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।

इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां

शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥१९७॥

गाथा ३१६

गाथार्थः—[अज्ञानी] अज्ञानी [प्रकृतिस्वभावस्थितः तु] प्रकृतिके स्वभावमें स्थित रहता हुआ [कर्मफलं] कर्मफलको [वेदयते] वेदता (भोगता) है [पुनः ज्ञानी] और ज्ञानी तो [उदितं कर्मफलं] उदितमें आये हुए (उदयागत) कर्मफलको [जानाति] जानता है, [न वेदयते] भोगता नहीं है ।

टीकाः—अज्ञानी शुद्ध आत्माके ज्ञानके अभावके कारण स्वपरके एकत्वज्ञानसे, स्वपरके एकत्वदर्शनसे और स्वपरकी एकत्वपरिणतिसे प्रकृतिके स्वभावमें स्थित होनेसे प्रकृतिके स्वभावको भी 'अहं' रूपसे अनुभव करता हुआ (अर्थात् प्रकृतिके स्वभावको भी 'यह मैं हूँ' इसप्रकार अनुभवन करता हुआ) कर्मफलको वेदता-भोगता है; और ज्ञानी तो शुद्धात्माके ज्ञानके सद्भावके कारण स्वपरके विभागज्ञानसे, स्वपरके विभागदर्शनसे और स्वपरकी विभागपरिणतिसे प्रकृतिके स्वभावसे निवृत्त (-दूरवर्ती) होनेसे शुद्ध आत्माके स्वभावको एकको ही 'अहं' रूपसे अनुभव करता हुआ उदित कर्मफलको, उसके ज्ञेयमात्रताके कारण, जानता ही है, किन्तु उसका 'अहं' रूपसे अनुभवमें आना अशक्य होनेसे, (उसे) नहीं भोगता ।

भावार्थः—अज्ञानीको तो शुद्धात्माका ज्ञान नहीं है इसलिये जो कर्म उदयमें आता है उसीको वह निजरूप जानकर भोगता है; और ज्ञानीको शुद्ध आत्माका अनुभव होगया है इसलिये वह उस प्रकृतिके उदयको अपना स्वभाव नहीं जानता हुआ उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है, भोक्ता नहीं होता ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[अज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-निरतः नित्यं वेदकः भवेत्] अज्ञानी प्रकृतिस्वभावमें लीन-रक्त होनेसे (-उसीको अपना स्वभाव जानता है इसलिये-) सदा वेदक है, [तु] और [ज्ञानी

अज्ञानी वेदक एवेति नियम्यते—

ए सुयह पयडिमभव्यो सुदृष्टु वि अज्भाहृण सत्थाणि ।
गुडदुद्धं पि पिवंता ए पणया णिविसा हुंति ॥३१७॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्टुवपि अधीत्य शास्त्राणि ।

गुडदुधमपि पिवंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति ॥३१७॥

यथात्र विषधरो विषभावं स्वयमेव न मुंचति, विषभावमोचनसमर्थसशर्करक्षीरपानाच्च न मुंचति; तथा क्लिामव्यः प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव न मुंचति, प्रकृतिस्वभावमोचनसमर्थद्रव्यश्रुत-ज्ञानाच्च न मुंचति, नित्यमेव भावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात् । अतो नियम्य-तेऽज्ञानी प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वाद्देदक एव ।

प्रकृति-स्वभाव-विरतः जातुचित् वेदकः नो] ज्ञानी तो प्रकृतिस्वभावसे विरक्त होनेसे (-उसे परका स्वभाव जानता है इसलिए-) कदापि वेदक नहीं है । [इति एवं नियमं निरूप्य] इसप्रकारके नियमको भलीभांति विचार करके—निश्चय करके [निपुणैः अज्ञानिता त्यज्यताम्] निपुण पुरुषो ! अज्ञानीपनको छोड़ दो और [शुद्ध-एक-आत्ममये महसि] शुद्ध-एक-आरामाय तेजमें [अचलितैः] निश्चल होकर [ज्ञानिता आसेव्यताम्] ज्ञानीपनेका सेवन करो । १६७ ।

अब, यह नियम बताया जाता है कि 'अज्ञानी वेदक ही है' (अर्थात् अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम है) :—

शार्था ३१७

शार्थार्थः—[सुष्टु] भली भांति [शास्त्राणि] शास्त्रोंको [अधीत्य अपि] पढ़कर भी [अभव्यः] अभव्य जीव [प्रकृति] प्रकृतिको (अर्थात् प्रकृतिके स्वभावको) [न मुञ्चति] नहीं छोड़ता, [गुडदुग्धं] जैसे मीठे दूधको [पिवंतः अपि] पीते हुए भी [पन्नगाः] सर्प [निर्विषाः] निर्विष [न भवंति] नहीं होते ।

टीकाः—जैसे इस जगतमें सर्प विषभावको अपने आप नहीं छोड़ता, और विषभावके मिटानेमें समर्थ-मिश्री सहित दुग्धपानसे भी नहीं छोड़ता, इसीप्रकार वास्तवमें अभव्य जीव प्रकृतिस्वभावको अपने आप नहीं छोड़ता और प्रकृतिस्वभावको छुड़ानेमें समर्थभूत द्रव्यश्रुतके ज्ञानसे भी नहीं छोड़ता; क्योंकि उसे सदा ही, भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञानके अभावके कारण अज्ञानीपन है । इसलिये यह नियम

सद्वीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृति अभव्य नहीं तजे ।

ज्यों दूध-गुड़ पीता हुआ भी सर्प नहीं निर्विष बने ॥३१७॥

ज्ञानी त्ववेदक एवेति नियम्यते—

णिन्वेयसमावण्यो णाणी कम्मफलं वियाणेइ ।

मधुरं कटुर्यं बहुविधमवेयञ्चो तेष सो होइ ॥३१८॥

निर्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति ।

मधुरं कटुकं बहुविधमवेदकस्तेन स भवति ॥३१८॥

ज्ञानी तु निरस्तभेदभावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानसद्भावेन परतोऽत्यंतविरक्तत्वात् प्रकृति-
स्वभावं स्वयमेव मुंचति, ततोऽमधुरं मधुरं वा कर्मफलमुदितं ज्ञातृत्वात् कैवल्यमेव जानाति, न
पुनर्ज्ञानि सति परद्रव्यस्याहंतयाऽनुभवितुमयोग्यत्वाद्देदयते । अतो ज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरक्त-
त्वादवेदक एव ।

किया जाता है (ऐसा नियम सिद्ध होता है) कि अज्ञानी प्रकृतिस्वभावमें स्थिर होनेसे वेदक (भोक्ता)
ही है ।

भावार्थः—इस गायामें, यह नियम बताया है कि अज्ञानी कर्मफलका भोक्ता ही है ।—यहाँ
अभव्यका उदाहरण युक्त है । जैसे—अभव्यका स्वयमेव यह स्वभाव होता है कि द्रव्यश्रुतका ज्ञान आदि
बाह्य कारणोंके मिलने पर भी अभव्य जीव, शुद्ध आत्माके ज्ञानके अभावके कारण, कर्मोंदयको भोगनेके
स्वभावको नहीं बदलता; इसलिये इस उदाहरणसे स्पष्ट हुआ कि शास्त्रोंका ज्ञान इत्यादि होने पर भी
जबतक जीवको शुद्ध आत्माका ज्ञान नहीं है अर्थात् अज्ञानीपन है तबतक वह नियमसे भोक्ता ही है ।

अब, यह नियम करते हैं कि—ज्ञानी तो कर्मफलका अवेदक ही हैः—

गाथा ३१८

गाथार्थः—[निर्वेदसमापन्नः] निर्वेद (वैराग्य)को प्राप्त [ज्ञानी] ज्ञानी [मधुरं कटुकं]
मीठे-कड़वे [बहुविधम्] अनेक प्रकारके [कर्मफलं] कर्मफलको [विजानाति] जानता है [तेन]
इसलिये [सः] वह [अवेदकः भवति] अवेदक है ।

टीकाः—ज्ञानी तो जिसमेंसे भेद दूर हो गये हैं ऐसा भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसे
शुद्धात्मज्ञानके सद्भावके कारण, परसे अत्यन्त विरक्त होनेसे प्रकृति (कर्मोंदय)के स्वभावको स्वयमेव
छोड़ देता है इसलिये उदयमें आये हुए अमधुर या मधुर कर्मफलको ज्ञातापनेके कारण मात्र जानता ही
है, किन्तु ज्ञानके होने पर (—ज्ञान हो तब) परद्रव्यको 'अहं' रूपसे अनुभव करनेकी अयोग्यता होनेसे
(उस कर्मफलको) नहीं वेदता । इसलिये, ज्ञानी प्रकृतिस्वभावसे विरक्त होनेसे अवेदक ही है ।

वैराग्यप्राप्त जु ज्ञानिजन है, कर्मफल को जानता ।

कड़वे-मधुर बहुभाँतिकी, इससे अवेदक है अहा ॥३१८॥

* वसन्ततिलका *

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।

जानन्परं करणवेदनयोरभावा-

च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥१९८॥

ए वि कुव्वइ ए वि वेयइ एणी कम्माइं बहुपयाराइं ।

जाणइ पुणं कम्मफलं बंधं पुणं च पावं च ॥३१६॥

भावार्थः—जो जिससे विरक्त होता है उसे वह अपने वश तो भोगता नहीं है, और यदि परवश होकर भोगता है तो वह परमार्थसे भोक्ता नहीं कहलाता। इस न्यायसे ज्ञानी—जो कि प्रकृतिस्वभावको (कर्मोदय)को अपना न जाननेसे उससे विरक्त है वह—स्वयमेव तो प्रकृतिस्वभावको नहीं भोगता, और उदयकी बलवत्तासे परवश होता हुआ निर्बलतासे भोगता है तो उसे परमार्थसे भोक्ता नहीं कहा जा सकता, व्यवहारसे भोक्ता कहलाता है। किन्तु व्यवहारका तो यहाँ शुद्धनयके कथनमें अधिकार ही नहीं है; इसलिए ज्ञानी अभोक्ता ही है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[ज्ञानी कर्म न करोति च न वेदयते] ज्ञानी कर्मको न तो करता है और न भोगता है, [तत्स्वभावम् अयं किल केवलम् जानाति] वह कर्मके स्वभावको मात्र जानता ही है। [परं जानन्] इसप्रकार मात्र जानता हुआ [करण-वेदनयोः अभावात्] करने और भोगनेके अभावके कारण [शुद्ध-स्वभाव-नियतः सः हि मुक्तः एव] शुद्ध स्वभावमें निश्चल ऐसा वह वास्तवमें मुक्त ही है।

भावार्थः—ज्ञानी कर्मका स्वाधीनतया कर्ता—भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है; इसलिए वह मात्र शुद्धस्वभावरूप होता हुआ मुक्त ही है। कर्म उदयमें आता भी है, फिर भी वह ज्ञानीका क्या कर सकता है ? जबतक निर्बलता रहती है तबतक कर्म जोर चला ले; किन्तु ज्ञानी क्रमशः शक्ति बढ़ाकर अन्तमें कर्मका समूल नाश करेगा ही।। १६८।

अब इसी अर्थको पुनः दृढ़ करते हैं:—

करता नहीं, नहीं वेदता, ज्ञानी कर्म बहुभाँतिको ।

वस जानता ये बंध त्यों ही कर्मफल शुभ अशुभको ॥३१९॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ।

जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च ॥३१९॥

ज्ञानी हि कर्मचेतनाशून्यत्वेन कर्मफलचेतनाशून्यत्वेन च स्वयमकर्तृत्वादवेदयितृत्वाच्च न कर्म करोति न वेदयते च; किंतु ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्मबंधं कर्मफलं च शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति ।

कृत एतत् ?—

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चैव ।

जाणह य बंधमोक्खं कम्मदयं णिज्जरं चैव ॥३२०॥

दृष्टिः यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव ।

जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव ॥३२०॥

गाथा ३१९

गाथार्थः—[ज्ञानी]-ज्ञानी [बहु-प्रकाराणि]-बहुत प्रकारके [कर्माणि] कर्मोंको [न अपि करोति,] न तो करता है, [न अपि वेदयति]-और न भोगता ही है; [पुनः] किन्तु [पुण्यं च पापं च] पुण्य और पापरूप [बंधं] कर्मबन्धको [कर्मफलं] तथा कर्मफलको [जानाति] जानता है ।

टीकाः—ज्ञानी कर्म चेतना रहित होनेसे स्वयं अकर्ता है, और कर्मफलचेतना रहित होनेसे स्वयं अभोक्ता है, इसलिए वह कर्मको न तो करता है और न भोगता है; किन्तु ज्ञानचेतनामय होनेसे मात्र ज्ञाता ही है इसलिए वह शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्धको तथा कर्मफलको मात्र जानता ही है ।

अब प्रश्न होता है कि—(ज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है) यह कैसे है ? इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

गाथा ३२०

गाथार्थः—[यथा एव दृष्टिः] जैसे नेत्र (दृश्य पदार्थोंको करता-भोगता नहीं है, किन्तु देखता ही है), [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानम्] ज्ञान [अकारकं] अकारक [अवेदकं च एव] तथा अवेदक है, [च] और [बंधमोक्खं] बन्ध, मोक्ष, [कम्मोदयं] कर्मोदय [निर्जरां च एव] तथा निर्जराको [जानाति] जानता ही है ।

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहीं कारक, नहीं वेदक अहो ।

जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्षको ॥३२०॥

यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यंतविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिंडवत्स्वयमौष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात्, किन्तु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति; तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यंतविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च, किन्तु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबन्धं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति ।

टीका:—जैसे इस जगतमें नेत्र दृश्य पदार्थसे अत्यन्त भिन्नताके कारण उसे करने-वेदने (-भोगने)में असमर्थ होनेसे, दृश्य पदार्थको न तो करता है और न भोगता है—यदि ऐसा न हो तो अग्निको देखनेसे, *संधु-क्षणकी भाँति, अपनेको (-नेत्रको) अग्निका कर्तृत्व (जलाना), और लोहेके गोलेकी भाँति अपनेको (नेत्रको) अग्निका अनुभव, दुर्निवार होना चाहिये: (अर्थात् यदि नेत्र दृश्य पदार्थको करता और भोगता हो तो नेत्रके द्वारा अग्नि जलनी चाहिये और नेत्रको अग्निकी उष्णताका अनुभव अवश्य होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये नेत्र दृश्य पदार्थका कर्ता भोक्ता नहीं है) —किन्तु केवल दर्शनमात्रस्वभाववाला होनेसे वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है; इसीप्रकार ज्ञान भी, स्वयं (नेत्रकी भाँति) देखनेवाला होनेसे, कर्मसे अत्यन्त भिन्नताके कारण निश्चयसे उसके करने-वेदने (भोगने)में असमर्थ होनेसे, कर्मको न तो करता है और न वेदता (भोगता) है; किन्तु केवल ज्ञानमात्र-स्वभाववाला (-जाननेका स्वभाववाला) होनेसे कर्मके बन्धको तथा मोक्षको, और कर्मके उदयको तथा निर्जराको मात्र जानता ही है ।

भावार्थ:—ज्ञानका स्वभाव नेत्रकी भाँति दूरसे जानना है; इसलिये ज्ञानके कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना अज्ञान है। यहाँ कोई पूछता है कि—“ऐसा तो केवलज्ञान है। और शेष तो जबतक मोहकर्मका उदय है तबतक सुखदुःखरागादिरूप परिणमन होता ही है, तथा जबतक दर्शनावरण, ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायका उदय है तबतक अदर्शन, अज्ञान तथा असमर्थता होती ही है; तब फिर केवलज्ञान होनेसे पूर्व ज्ञातादृष्टापन कैसे कहा जा सकता है ?” उसका समाधान:—पहलेसे ही यह कहा जा रहा है कि जो स्वतंत्रतया करता-भोगता है, वह परमार्थसे कर्ता-भोक्ता कहलाता है। इसलिए जहाँ मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञानका अभाव हुआ वहाँ परद्रव्यके स्वामित्वाका अभाव हो जाता है और तब जीव ज्ञानी होता हुआ स्वतन्त्रतया किसीका कर्ता-भोक्ता नहीं होता; तथा अपनी निर्बलतासे कर्मके उदयकी बलवत्तासे जो कार्य होता है वह परमार्थदृष्टिसे उसका कर्ता-भोक्ता नहीं कहा जाता। और उस कार्यके निमित्तसे कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है तो भी उसे यहाँ बन्धमें नहीं गिना जाता। मिथ्यात्व है वही संसार है। मिथ्यात्वके जानेके बाद संसारका अभाव ही होता है। समुद्रमें एक बूँदकी गिनती ही क्या है ?

* संधुक्षण = संधुक्षण; अग्नि जलानेवाला पदार्थ; अग्निकी नेतानेवाली वस्तु ।

* अनुष्टुभ् *

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः ।

सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मृशुक्षताम् ॥१९९॥

लोयस्स कुणह विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।

समणाणं पि थ अण्णा जइ कुब्बइ छव्विहे काये ॥३२१॥

लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसैसो ।

लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अण्णओ कुणह ॥३२२॥

और इतना विशेष ज्ञानना चाहिये कि—केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्मस्वरूप ही हैं और श्रुतज्ञानी भी शुद्धनयके अवलम्बनसे आत्माको ऐसा ही अनुभव करते हैं; प्रत्यक्ष और परोक्षका ही भेद है। इसलिये श्रुतज्ञानीको ज्ञान-श्रद्धानकी अपेक्षासे ज्ञाता-दृष्टापन ही है और चारित्रिकी अपेक्षासे प्रतिपक्षी कर्मका जितना उदय है उतना घात है और उसे नष्ट करनेका उद्यम भी है। जब कर्मका अभाव हो जायेगा तब साक्षात् यथाख्यात चारित्र प्रगट होगा और तब केवलज्ञान प्रगट होगा। यहाँ सम्यग्दृष्टिको जो ज्ञानी कहा जाता है सो वह मिथ्यात्वके अभावकी अपेक्षासे कहा जाता है। यदि ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा लें तो सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेषकी अपेक्षा लें तो जबतक किंचित्मात्र भी अज्ञान है तबतक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता—जैसे सिद्धान्त ग्रन्थोंमें भावोंका वर्णन करते हुए, जबतक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक अर्थात् वारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है। इसलिये यहाँ जो ज्ञानी-अज्ञानीपन कहा है वह सम्यक्त्व-मिथ्यात्वकी अपेक्षासे ही जानना चाहिये।

अत्र, जो—जैन साधु भी—सर्वथा एकान्तके आशयसे आत्माको कर्ता ही मानते हैं उतका निषेध करते हुए, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

इलोकार्थः—[ये तु तमसा तताः आत्मानं कर्तारम् पश्यन्ति] जो अज्ञान-अंधकारसे आच्छादित होते हुए आत्माको कर्ता मानते हैं, [मुमुक्षताम् अपि] वे भले ही मोक्षके इच्छुक हों तथापि [सामान्यजनवत्] सामान्य (लौकिक) जनको भाँति [तेषां मोक्षः न] उनकी भी मुक्ति नहीं होती। १९९।

अब इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं:—

ज्यों लोक माने “देव, नारक आदि जीव विष्णु करे” ।

त्यों श्रमण भी माने कभी, “षट्कायको आत्मा करे” ॥३२१॥

तो लोक-मुनि सिद्धांत एक हि, भेद इसमें नहीं दिखे ।

विष्णु करे ज्यों लोकमतमें, श्रमणमत आत्मा करे ॥३२२॥

एवं ए को वि मोक्षो दीप्तइ लोयसमणाए दोरहंपि ।
 णित्यं कुर्वताणं सदेवमणुजासुरे लोए ॥३२३॥

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्वान् ।

श्रमणानामपि चात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान् ॥३२१॥

लोकश्रमणानामेकः सिद्धान्तो यदि न दृश्यते विशेषः ।

लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥३२२॥

एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वेषामपि ।

नित्यं कुर्वतां सदेवमणुजासुरान् लोकान् ॥३२३॥

ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तते; लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोतीत्यपसिद्धान्तस्य समत्वात् । ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः ।

गाथा ३२१-३२३

गाथार्थः—[लोकस्य] लोकके (लौकिक जनोंके) मतमें [सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्वान्] देव, नारकी, तिर्यच, मनुष्य-प्राणियोंको [विष्णुः] विष्णु [करोति] करता है; [च] और [यदि] यदि [श्रमणानाम् अपि] श्रमणों (मुनियों)के मन्तव्यमें भी [षड्विधान् कायान्] छह कायके जीवोंको [आत्मा] आत्मा [करोति] करता हो [यदि लोकश्रमणानाम्] तो लोक और श्रमणोंका [एकः सिद्धान्तः] एक ही सिद्धान्त हो गया, [विशेषः न दृश्यते] उनमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता; (क्योंकि) [लोकस्य] लोकके मतमें [विष्णुः] विष्णु [करोति] करता है [श्रमणानाम् अपि] और श्रमणोंके मतमें भी [आत्मा] आत्मा [करोति] करता है । (इसलिये कर्तृत्वकी मान्यतामें दोनों समान हुए) । [एवं] इसप्रकार, [सदेवमणुजासुरान् लोकान्] देव, मनुष्य और असुर लोकको [नित्यं कुर्वताम्] सदा करते हुए (अर्थात् तीनों लोकके कर्ताभावसे निरन्तर प्रवर्तमान) ऐसे [लोकश्रमणानां द्वेषाम् अपि] वे लोक और श्रमण-दोनोंका भी [कोऽपि मोक्षः] कोई मोक्ष [न दृश्यते] दिखाई नहीं देता ।

टीकाः—जो आत्माको कर्ता ही देखते—मानते हैं, वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकताको अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि, लौकिक जनोंके मतमें परमात्मा विष्णु देवनारकादि कार्य करता है, और

इसप्रकार लौकिक मुनी उभयका मोक्ष कोई नहीं दिखे ।

जो देव, मानव, असुरके त्रयलोक को नित्यहि करे ॥३२३॥

• अतुष्टुम् •

नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।

कर्तृकर्मत्वसंबन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

व्यवहारभासिएण उ परद्रव्यं मम भणंति अविदियत्या ।

जाणंति णिच्छयेण उ ए य मह परमाणुमित्तमवि किंचि ॥३२४॥

उन (लोकोत्तर भी मुनियों)के मतमें अपना आत्मा वे कार्य करता है—इसप्रकार (दोनोंमें)
•अपसिद्धान्तकी समानता है। इसलिये आत्माके नित्य कर्तृत्वकी उनकी मान्यताके कारण, लौकिक
जनोंकी भाँति, लोकोत्तर पुरुषों (मुनियों)का भी मोक्ष नहीं होता।

भाषार्थः—जो आत्माको कर्ता मानते हैं, वे भले ही मुक्ति हो गये हों तथापि वे लौकिकजन जैसे
ही हैं; क्योंकि, लोक ईश्वरको कर्ता मानता है और उन मुनियोंने आत्माको कर्ता माना है—इसप्रकार
दोनोंकी मान्यता समान हुई। इसलिये जैसे लौकिक जनोंकी मोक्ष नहीं होती उसीप्रकार उन मुनियोंकी
भी मुक्ति नहीं है। जो कर्ता होगा वह कार्यके फलको भी अवश्य भोगेगा और जो फलको भोगेगा उसकी
मुक्ति कैसी ?

अब आगेके श्लोकमें यह कहते हैं कि—परद्रव्य और आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ?
इसलिये उनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध भी नहीं है:—

श्लोकार्थः—[परद्रव्य-प्रात्मतत्त्वयोः सर्वः अपि सम्बन्धः नास्ति] परद्रव्य और आत्मतत्त्वका
(कोई भी) सम्बन्ध नहीं है; [कर्तृ-कर्माव-सम्बन्ध-प्रभावे] इसप्रकार कर्तृत्व-कर्मत्वके सम्बन्धका
अभाव होनेसे, [तत्कर्तृता कुतः] आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कहाँसे हो सकता है ?

भाषार्थः—परद्रव्य और आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तब फिर उनमें कर्ताकर्मसम्बन्ध
कैसे हो सकता है ? इसप्रकार-जहाँ कर्ताकर्मसम्बन्ध नहीं है, वहाँ आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कैसे हो
सकता है ? । २०० ।

• अपसिद्धान्त = मिथ्या अर्थात् भूल भरा सिद्धान्त ।

व्यवहारसूद अतत्त्वविद् परद्रव्यको मेरा कहे ।

“अणुमात्र भी मेरा न” हानी जानता निश्चय हि से ॥३२४॥

जह को वि एरो जंपइ अम्हं गामविसयणयररट्टं ।
 ण य हुंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥
 एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीसंसयं हवइ एसो ।
 जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥३२६॥
 तम्हा ण मे त्ति एच्चा दोसहं वि एयाण कत्तविसायं ।
 परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥३२७॥

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः ।
 जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किञ्चित् ॥३२४॥
 यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम् ।
 न च भवंति तस्य तानि तु भणति च सोहेन स आत्मा ॥३२५॥
 एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः ।
 यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥३२६॥
 तस्माच्च ये इति ज्ञात्वा द्वेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायम् ।
 परद्रव्ये जानन् जानीयात् दृष्टिरहितानाम् ॥३२७॥

अत्र, “जो व्यवहारनयके कथनको ग्रहण करके यह कहते हैं कि ‘परद्रव्य मेरा है,’ और इसप्रकार व्यवहारको ही निश्चय मानकर आत्माको परद्रव्यका कर्ता मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं,” इत्यादि अर्थकी सूचक गाथायें दृष्टान्त सहित कहते हैं:—

गाथा ३२४-३२७

गाथायः—[अविदितार्थाः] जिन्होंने पदार्थके स्वरूपको नहीं जाना है ऐसे पुरुष [व्यवहार-भाषितेन तु] व्यवहारके वचनोंको ग्रहण करके [परद्रव्यं मम] ‘परद्रव्य मेरा है’ [भणंति] ऐसा

उयों पुरुष कोई कहे “हमारा ग्राम, पुर अरु देश है” ।
 पर वो नहीं उसका अरे ! जीव मोहसे “मेरा” कहे ॥३२५॥
 इस रीत ही जो ज्ञानि भी ‘सुझ’ जानता परद्रव्यको ।
 वो जरूर मिथ्यात्वी बने, निजरूप करता अन्यको ॥३२६॥
 इससे “न मेरा” जान जीव, परद्रव्यमें इन उभयकी ।
 कर्तृत्वबुद्धी जानता, जाने सुदृष्टीरहितकी ॥३२७॥

अज्ञानिन एव व्यवहारविमूढाः परद्रव्यं ममेदमिति पश्यन्ति । ज्ञानिनस्तु निश्चयप्रतिबुद्धाः परद्रव्यकणिकामात्रमपि न ममेदमिति पश्यन्ति । ततो यथात्र लोके कश्चिद् व्यवहारविमूढः परकीयग्रामवासी ममायं ग्राम इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः, तथा यदि ज्ञान्यपि कथंचिद् व्यवहारविमूढो भूत्वा परद्रव्यं ममेदमिति पश्येत् तदा सोऽपि निस्संशयं परद्रव्यमात्मानं कुर्वाणो मिथ्यादृष्टिरेव स्यात् । अतस्तत्त्वं जानन् पुरुषः सर्वमेव परद्रव्यं न ममेति ज्ञात्वा लोकश्रमणानां द्वेषामपि योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात् ।

कहते हैं, [तु] परन्तु ज्ञानी जन [निश्चयेन जानन्ति] निश्चयसे जानते हैं कि [किंचित्] 'कोई [परमाणुमात्रम् अपि] परमाणुमात्र भी [न च मम] मेरा नहीं है' ।

[यथा] जैसे [कः अपि नरः] कोई मनुष्य [अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्] 'हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर, हमारा राष्ट्र' [जल्पति] इसप्रकार कहता है, [तु] किन्तु [तानि] वे [तस्य] उसके [न च भवन्ति] नहीं हैं, [मोहेन च] मोहसे [सः आत्मा] वह आत्मा [भ्रमति] 'मेरे हैं' इसप्रकार कहता है; [एवम् एव] इसीप्रकार [यः ज्ञानी] जो ज्ञानी भी [परद्रव्यं मम] 'परद्रव्य मेरा है' [इति जानन्] ऐसा जानता हुआ [आत्मानं करोति] परद्रव्यको निजरूप करता है, [एषः] वह [निःसंशयं] निःसंदेह अर्थात् निश्चयतः [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [भवति] होता है ।

[तस्मात्] इसलिये तत्त्वज्ञ [न मे इति ज्ञात्वा] 'परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, [एतेषां द्वेषाम् अपि] इन दोनोंका (-लोकका और श्रमणका)-[परद्रव्ये] परद्रव्यमें [कर्तृव्यवसायं जानन्] कर्तृत्वके व्यवसायको जानते हुए, [जानीयात्] यह जानते हैं कि [दृष्टिरहितानाम्] यह व्यवसाय सम्यग्दर्शनसे रहित पुरुषोंका है ।

टीकाः—अज्ञानीजन ही व्यवहारविमूढ (व्यवहारमें ही विमूढ) होनेसे परद्रव्यको ऐसा देखते-मानते हैं कि 'यह मेरा है'; ? और ज्ञानीजन निश्चयप्रतिबुद्ध (निश्चयके ज्ञाता) होनेसे परद्रव्यकी कणिकामात्रको भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते मानते । इसलिये, जैसे इस जगतमें कोई व्यवहारविमूढ ऐसा दूसरेके गाँवमें रहनेवाला मनुष्य 'यह ग्राम मेरा है' इसप्रकार देखता-मानता हुआ मिथ्यादृष्टि (विपरीत दृष्टिवाला) है, उसीप्रकार ज्ञानी भी किसी प्रकारसे व्यवहारविमूढ होकर परद्रव्यको 'यह मेरा है' इसप्रकार देखे-माने तो उससमय वह भी निःसंशयतः अर्थात् निश्चयतः, परद्रव्यको निजरूप करता हुआ, मिथ्यादृष्टि ही होता है । इसलिये तत्त्वज्ञ पुरुष 'समस्त परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, यह सुनिश्चिततया जानता है कि—'लोक और श्रमण-दोनोंके जो यह परद्रव्यमें कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनकी सम्यग्दर्शनरहितताके कारण ही है' ।

* वसन्ततिलका *

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं
संबंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृं मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥२०१॥

* वसंततिलका *

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः ।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥२०२॥

भावार्थः—जो व्यवहारसे मोही होकर परद्रव्यके कर्तृत्वको मानते हैं, वे—लौकिकजन हों या मुनिजन हों—मिथ्यादृष्टि ही हैं। यदि ज्ञानी भी व्यवहारमूढ़ होकर परद्रव्यको 'अपना' मानता है, तो वह मिथ्यादृष्टि ही होता है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[यतः क्योकि [इह] इस लोकमें [एकस्य वस्तुनः अन्यतरेण सार्धं सकलः अपि सम्बन्धः एव निषिद्धः] एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, [तत्] इसलिये [वस्तुभेदे] जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं वहाँ [कर्तृकर्मघटना अस्ति न] कर्ताकर्मघटना नहीं होती—[मुनयः च जनाः च] इसप्रकार मुनिजन और लौकिकजन [तत्त्वम् अकर्तृ पश्यन्तु] तत्त्वको (—वस्तुके यथार्थ स्वरूपको) अकर्ता देखो, (यह श्रद्धामें लाओ कि—कोई किसीका कर्ता नहीं है, परद्रव्य परका अकर्ता ही है) । २०१ ।

“जो पुरुष ऐसा वस्तुस्वभावका नियम नहीं जानते वे अज्ञानी होते हुए कर्मको करते हैं; इसप्रकार भावकर्मका कर्ता अज्ञानसे चेतन ही होता है।”—इस अर्थका, एवं आगामी गाथाओंका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—(आचार्यदेव खेदपूर्वक कहते हैं किः) [बत] अरे !! [ये तु इमम् स्वभावनियमं न कलयन्ति] जो इस वस्तुस्वभावसे नियमको नहीं जानते [ते वराकाः] वे बेचारे, [अज्ञानमग्न-महसः] जिनका (पुरुषार्थरूप—पराक्रमरूप) तेज अज्ञानमें डूब गया है ऐसे, [कर्म कुर्वन्ति] कर्मको करते हैं; [ततः एव हि] इसलिये [भावकर्मकर्ता चेतनः एव स्वयं भवति] भावकर्मका कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, [अन्यः न] अन्य कोई नहीं ।

मिच्छतं जइ पयडी मिच्छाइट्टी करेइ अण्णाणं ।
 तम्हा अचेयणा ते पयडी एणु कारगो पत्तो ॥३२८॥
 अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छतं ।
 तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्टी ए पुण जीवो ॥३२९॥
 अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छतं ।
 तम्हा दोहिं कयं तं दोषिण वि भुंजंति तस्स फलं ॥३३०॥
 अह ए पयडी ए जीवो पुग्गलदव्वं करेहि मिच्छतं ।
 तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छतं तं तु ए हु मिच्छा ॥३३१॥

भावार्थः—वस्तुके स्वरूपके नियमको नहीं जानता इसलिये परद्रव्यका कर्ता होता हुआ अज्ञानी (-मिथ्यादृष्टि) जीव स्वयं ही अज्ञानभावमें परिणमित होता है; इसप्रकार अपने भावकर्मका कर्ता अज्ञानी स्वयं ही है, अन्य नहीं। २०२।

अब, '(जीवके) जो मिथ्यात्वभाव होता है उसका कर्ता कौन है?'—इस बातकी भलीभाँति चर्चा करके, 'भावकर्मका कर्ता (अज्ञानी) जीव ही है' यह युक्तिपूर्वक सिद्ध करते हैं:—

मिथ्यात्व प्रकृति ही अगर, मिथ्यात्व जो जीवको करे ।
 तो तो अचेतन प्रकृति ही कारक बने तुल्ल मतविषे । ॥३२८॥
 अथवा करे जो जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको ।
 तो तो बने मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य आत्मा नहीं बने ॥३२९॥
 जो जीव अरु प्रकृती करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्यको ।
 तो उभयकृत जो होय तत्फल भोग भी हो उभयको ॥३३०॥
 जो प्रकृति नहीं नहीं जीव करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्यको ।
 पुद्गलद्रव्य मिथ्यात्व अकृत, क्या न यह मिथ्या कहो ? ॥३३१॥

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानम् ।
 तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारका प्राप्ता ॥३२८॥
 अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वम् ।
 तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ॥३२९॥
 अथ जीवस्प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वम् ।
 तस्मात् द्वाभ्यां कृतं तत् द्वावपि भुञ्जाते तस्य फलम् ॥३३०॥
 अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वम् ।
 तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तच्च न खलु मिथ्या ॥३३१॥

गाथा ३२८-३३१

गाथार्थः—[यदि] यदि [मिथ्यात्वं प्रकृतिः] मिथ्यात्व नामक (मोहनीय कर्मकी) प्रकृति
 [आत्मानम्] आत्माको [मिथ्यादृष्टि] मिथ्यादृष्टि [करोति] करती है ऐसा माना जाये, [तस्मात्]
 तो [ते] तुम्हारे मतमें [अचेतना प्रकृतिः] अचेतन प्रकृति [ननु कारका प्राप्ता] (मिथ्यात्वभावकी)
 कर्ता हो गई ! (इसलिये मिथ्यात्वभाव अचेतन सिद्ध हुआ !)

[अथवा] अथवा, [एषः जीवः] यह जीव. [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यके [मिथ्यात्वम्]
 मिथ्यात्वको [करोति] करता है ऐसा माना जाये, [तस्मात्] तो [पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिः]
 पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा !—[न पुनः जीवः] जीव नहीं !

[अथ] अथवा यदि [जीवः तथा प्रकृतिः] जीव और प्रकृति दोनों [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गल-
 द्रव्यको [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्वभावरूप [कुरुते] करते हैं ऐसा माना जाये, [तस्मात्] तो [द्वाभ्यां
 कृतं तत्] जो दोनोंके द्वारा किया [तस्य फलम्] उसका फल [द्वौ अपि भुञ्जाते] दोनों भोगेंगे !

[अथ] अथवा यदि [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्यको [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्वभावरूप [न
 प्रकृतिः कुरुते] न तो प्रकृति करती है [न जीवः] और न जीव करता है (—दोनोंमेंसे कोई नहीं
 करता) ऐसा माना जाय, [तस्मात्] तो [पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं] पुद्गलद्रव्य स्वभावसे ही मिथ्यात्व-
 भावरूप सिद्ध होगा, [तत् तु न खलु मिथ्या] क्या यह वास्तवमें मिथ्या नहीं है ?

(इससे यह सिद्ध होता है कि अपने मिथ्यात्वभावका—भावकर्मका—कर्ता जीव ही है ।)

जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता, तस्याचेतनप्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषंगत् । स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता, जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावकर्मणि क्रियमाद्ये पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषंगत् । न च जीवः प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ, जीववदचेतनायाः प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषंगत् । न च जीवः प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादि-भावकर्मणो द्वावप्यकर्तारौ, स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषंगत् । ततो जीवः कर्ता, स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धम् ।

टोकाः—जीव ही मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है; क्योंकि यदि वह (भावकर्म) अचेतन प्रकृतिका कार्य हो तो उसे (भावकर्मकी) अचेतनत्वका प्रसंग आ जायेगा । जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है; क्योंकि यदि जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वादि भावकर्मको करे तो पुद्गलद्रव्यको चेतनत्वका प्रसंग आ जायेगा । और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्मके कर्ता हैं ऐसा भी नहीं है; क्योंकि यदि वे दोनों कर्ता हों तो जीवकी भाँति अचेतन प्रकृतिको भी उस (-भावकर्म)का फल भोगनेका प्रसंग आ जायेगा । और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्मके अकर्ता हों सो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि यदि वे दोनों अकर्ता हों तो स्वभावसे ही पुद्गलद्रव्यको मिथ्यात्वादि भावका प्रसंग आ जायेगा । इससे यह सिद्ध हुआ कि—जीव कर्ता है और अपना कर्म कार्य है (अर्थात् जीव अपने मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है और अपना भावकर्म अपना कार्य है) ।

भावार्थः—इन गथाओंमें यह सिद्ध किया है कि भावकर्मका कर्ता जीव ही है । यहाँ यह जानना चाहिये कि—परमार्थसे अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके भावका कर्ता नहीं होता इसलिये जो चेतनके भाव हैं उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है । इस जीवके अज्ञानसे जो मिथ्यात्वादि भावरूप जो परिणाम हैं वे चेतन हैं, जड़ नहीं; अशुद्धनिश्चयनसे उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है । इसप्रकार वे परिणाम चेतन हैं, इसलिये उनका कर्ता भी चेतन ही है; क्योंकि चेतनकर्मका कर्ता चेतन ही होता है—यह परमार्थ है । अभेददृष्टिमें तो जीव शुद्धचेतनामात्र ही है, किन्तु जब वह कर्मके निमित्तसे परिणामित होता है तब वह उन उन परिणामोंसे युक्त होता है और तब परिणाम-परिणामीकी भेददृष्टिमें अपने अज्ञानभावरूप परिणामोंका कर्ता जीव ही है । अभेददृष्टिमें तो कर्ताकर्मभाव ही नहीं है, शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है । इसप्रकार यथार्थतया समझना चाहिये कि चेतनकर्मका कर्ता चेतन ही है ।

—अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

* शार्दूलविक्रीडित *

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुपगमात्कृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥२०३॥

* शार्दूलविक्रीडित *

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैप कथंचिदित्यचलिता चैश्चिच्छ्रुतिः क्रीपिता ।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविज्ञया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥२०४॥

श्लोकार्थः—[कर्म कार्यत्वात् अकृतं न] जो कर्म (अर्थात् भावकर्म) है वह कार्य है, इसलिये वह अकृत नहीं हो सकता अर्थात् किसीके द्वारा किये बिना नहीं हो सकता । [च] और [तत् जीव-प्रकृत्योः द्वयोः कृतिः न] ऐसा भी नहीं है कि वह (भावकर्म) जीव और प्रकृति दोनोंकी कृति हो, [अज्ञायाः प्रकृतेः स्व-कार्य-फल-भुग्-भाव-अनुपगमात्] क्योंकि यदि वह दोनोंका कार्य हो तो ज्ञानरहित (जड़) प्रकृतिको भी अपने कार्यका फल भोगनेका प्रसंग आ जायेगा । [एकस्याः प्रकृतेः न] और वह (भावकर्म) एक प्रकृतिकी कृति (अकेली प्रकृतिका कार्य-) भी नहीं है, [अचित्त्वलसनात्] क्योंकि प्रकृतिका तो अचेतनत्व प्रगट है अर्थात् प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है । [ततः] इसलिये [अस्य कर्ता जीवः] उस भावकर्मका कर्ता जीव ही है [चिद्-अनुगं] और चेतनका अनुसरण करनेवाला अर्थात् चेतनके साथ अन्वयरूप (चेतनके परिणामरूप-) ऐसा [तत्] वह भावकर्म [जीवस्य एव कर्म] जीवका ही कर्म है [यत्] क्योंकि [पुद्गलः ज्ञाता न] पुद्गल तो ज्ञाता नहीं है (इसलिये वह भावकर्म पुद्गलका कर्म नहीं हो सकता) ।

भावार्थः—चेतनकर्म चेतनके ही होता है; पुद्गल जड़ है, इसलिये उसके चेतनकर्म कैसे हो सकता है । २०३ ।

अब आगेकी गाथाओंमें, जो भावकर्मका कर्ता भी कर्मको ही मानते हैं उन्हें समझानेके लिये स्याद्वादके अनुसार वस्तुस्थिति कहेंगे; पहले उसका सूचक काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[कश्चित् हतकैः] कोई आत्माके घातक (सर्वथा एकान्तवादी) [कर्म एव कर्तृ प्रवितर्क्य] कर्मको ही कर्ता विचार कर [आत्मनः कर्तृतां क्षिप्त्वा] आत्माके कर्तृत्वको उड़ाकर,

कम्मोहि दु अणणी किज्जइ णणी तहेव कम्मोहिं ।
 कम्मोहि सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मोहिं ॥३३२॥
 कम्मोहि सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मोहिं ।
 कम्मोहि य मिञ्चत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजयं चैव ॥३३३॥
 कम्मोहि भमाडिज्जइ उह्महो चावि तिरियलोयं च ।
 कम्मोहि चैव किज्जइ सुहासुहं जित्ति यं किञ्चि ॥३३४॥
 जम्हा कम्मं कुब्बइ कम्मं देई हरत्ति जं किञ्चि ।
 तम्हा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३३५॥

‘[एषः आत्मा कथञ्चित् कर्ता] यह आत्मा कथञ्चित् कर्ता है’ [इति अचलिता श्रुतिः कोपिता] ऐसा कहनेवाली अचलित श्रुतिको कोपित करते हैं (—निर्बाध जिनवाणीकी विराधना करते हैं) ; [उद्धत-मोह-मुद्रित-धियां तेषाम् बोधस्य संशुद्धये] जिनकी बुद्धि तीव्र मोहसे मुद्रित होगई है ऐसे उन आत्मघातकोंके ज्ञानकी संशुद्धिके लिये (निम्नलिखित गाथाओं द्वारा) [वस्तुस्थितिः स्तूपते] वस्तुस्थिति कही जाती है—[स्याद्वाद-प्रतिबन्ध-लब्ध-विजया] जिस वस्तुस्थितिने स्याद्वादके प्रतिबन्धसे विजय प्राप्त की है (अर्थात् जो वस्तुस्थिति स्याद्वादरूप नियमसे निर्बाधतया सिद्ध होती है ।

कर्महि करें अज्ञानि त्योंही ज्ञानि भी कर्महि करें ।
 कर्महि सुलाते जीवको, त्यों कर्म ही जाग्रत करें ॥३३२॥
 अरु कर्म ही करते सुखी, कर्महि दुखी जीवको करे ।
 कर्महि करे विश्यात्वि त्योंहि, असंयमी कर्महि करें ॥३३३॥
 कर्महि भ्रमावे ऊर्ध्व लोक रु, अधः अरु तिर्यक् विपै ।
 अरु कुञ्ज भी जो शुभ या अशुभ, उन सर्वको कर्महि करे ॥३३४॥
 करता करम, देता करम, हरता करम—सब कुञ्ज करे ।
 इस हेतुसे यह है सुनिश्चित जीव अकारक सर्व है ॥३३५॥

पुरिसिञ्चियाहिलासी इच्छीकर्मं च पुरिसमहिलसइ ।
 एसा आयरियपरंपरागया एरिसी दु सुई ॥३३६॥
 तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी उ अम्ह उवएसे ।
 जम्हा कर्मं चेव हि कर्मं अहिलसइ इदि भणियं ॥३३७॥
 जम्हा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी ।
 एएणच्छेण किर भरणइ परघायणामित्ति ॥३३८॥
 तम्हा ए को वि जीवो वघायओ अत्थि अम्ह उवएसे ।
 जम्हा कर्मं चेव हि कर्मं घाएदि इदि भणियं ॥३३९॥
 एवं संसुवएसं जे उ परुवित्ति एरिसं समणा ।
 तेसिं पयडी कुवइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥

भावायं:—कोई एकान्तवादी सर्वथा एकान्ततः कर्मका कर्ता कर्मको ही कहते हैं और आत्माको अकर्ता ही कहते हैं; वे आत्माके घातक हैं । उनपर जिनवाणीका कोप है, क्योंकि स्याद्वादसे वस्तुस्थितिको निर्वाधतया सिद्ध करनेवाली जितवाणी तो आत्माको कथंचित् कर्ता कहती है । आत्माको अकर्ता ही

'पुंकर्म इच्छे नारिको स्त्रीकर्म इच्छे पुरुषको' ।
 ऐसी श्रुती आचार्यदेव परंपरा अवतीर्ण है ॥३३६॥
 इस रीत 'कर्महि कर्मको इच्छै'—कहा है शास्त्रमें ।
 अब्रह्मचारी यों नहीं को जीव हम उपदेशमें ॥३३७॥
 अरु जो हने परको, हनन हो परसे, वोह प्रकृति है ।
 —इस अर्थमें परघात नामक कर्मका निर्देश है ॥३३८॥
 इसी रीत 'कर्महि कर्मको हनता' कहा है शास्त्रमें ।
 इससे न को भी जीव है हिसक जु हम उपदेशमें ॥३३९॥
 यों सांख्यका उपदेश ऐसा जो श्रमण वर्णन करे ।
 उस मतसे सब प्रकृति करे जीव तो अकारक सर्व है ! ॥३४०॥

अहवा मरणसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणइ ।
 एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स ॥३४१॥
 अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयमिह ।
 ए वि सो सक्कइ ततो हीणो अहिओ य काउं जे ॥३४२॥
 जीवस्स जीवरुवं वित्थरदो जाण लोयमित्तं खु ।
 ततो सो किं हीणो अहिओ य क्हं कुणइ दव्वं ॥३४३॥
 अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं ।
 तम्हा ए वि अप्पा अप्पयं तु समयमप्पणो कुणइ ॥३४४॥

कहनेवाले एकान्तवादियोंकी बुद्धि उक्तट मिथ्यात्वसे ढक गई है, उनके मिथ्यात्वको दूर करनेके लिये आचार्यदेव स्याद्वादानुसार जैसी वस्तुस्थिति है वह, निम्नलिखित गाथाओंमें कहते हैं । २०४ ।

‘आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, कर्थाचित् कर्ता भी है’ इस अर्थकी गाथायें अब कहते हैं:—

अथवा तु माने ‘आतमा मेरा स्वआत्माको करे’ ।
 तो ये जो तुल्ल मंतव्य भी मिथ्या स्वभाव हि तुल्ल अरे ॥३४१॥
 जीव नित्य है त्यों, है असंख्यप्रदेशि दर्शित समयमें ।
 उससे न उसको हीन, त्योंहि न अधिक कोई कर सके ॥३४२॥
 विस्तारसे जीवरूप जीवका, लोकमात्र प्रमाण है ।
 क्या उससे हीन रु अधिक बनता द्रव्यको कैसे करे ॥३४३॥
 माने तुं ‘ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव स्थित रहे’ ।
 तो यों सि यह आत्मा स्वयं निज आतमाको नहिं करे ॥३४४॥

कर्मयिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः ।
 कर्मभिः स्नाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ॥३३२॥
 कर्मभिः सुखी क्रियते दुःखी क्रियते तथैव कर्मभिः ।
 कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥३३३॥
 कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमथश्चापि तिर्यग्लोकं च ।
 कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावद्यत्किञ्चित् ॥३३४॥
 यस्मात्कर्म करोति कर्म ददाति हरतीति यत्किञ्चित् ।
 तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवन्त्यापन्नाः ॥३३५॥
 पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति ।
 एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः ॥३३६॥

साध्या ३३२-३४४

गायार्थः—“[कर्मभिः तु] कर्म [अज्ञानी क्रियते] (जीवको) अज्ञानी करते हैं [तथा एव]
 उसी तरह [कर्मभिः ज्ञानी] कर्म (जीवको) ज्ञानी करते हैं, [कर्मभिः स्नाप्यते] कर्म सुलाते हैं
 [तथा एव] उसी तरह [कर्मभिः जागर्यते] कर्म जगाते हैं, [कर्मभिः सुखी क्रियते] कर्म सुखी करते
 हैं [तथा एव] उसी तरह [कर्मभिः दुःखी क्रियते] कर्म दुःखी करते हैं, [कर्मभिः च मिथ्यात्वं
 नीयते] कर्म मिथ्यात्वको प्राप्त कराते हैं [च एव] और [असंयमं नीयते] कर्म असंयमको प्राप्त
 कराते हैं, [कर्मभिः] कर्म [ऊर्ध्वं अथः च अपि तिर्यग्लोकं च] ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोकमें
 [भ्राम्यते] भ्रमण कराते हैं, [यत्किञ्चित् यावत् शुभाशुभं] जो कुछ भी जितना शुभ और अशुभ
 है वह सब [कर्मभिः च एव क्रियते] कर्म ही करते हैं । [यस्मात्] इसलिये [कर्म करोति] कर्म
 करता है, [कर्म ददाति] कर्म देता है, [हरति] कर्म हर लेता है—[इति यत्किञ्चित्] इसप्रकार जो
 कुछ भी करता है वह कर्म ही करता है, [तस्मात् तु] इसलिये [सर्वजीवाः] सभी जीव [अकारकाः
 आपन्नाः भवन्ति] अकारक (अकर्ता) सिद्ध होते हैं ।

और, [पुरुषः] पुरुषवेदकर्म [स्त्र्यभिलाषी] स्त्रीका अभिलाषी है [च] और [स्त्रीकर्म]
 स्त्रीवेदकर्म [पुरुषम् अभिलषति] पुरुषको अभिलाषा करता है—[एषा आचार्यपरंपरागता ईदृशी तु

तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भणितम् ॥३३७॥
यस्माद्धंति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः ।
एतेनार्थेन किल भण्यते परघातनामेति ॥३३८॥
तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हंतीति भणितम् ॥३३९॥
एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशं श्रमणाः ।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥३४०॥

श्रुतिः] ऐसी यह आचार्यकी परम्परासे आई हुई श्रुति है; [तस्मात्] इसलिये [अस्माकम् उपदेशे] हमारे उपदेशमें तो [कः अपि जीवः] कोई भी जीव [अब्रह्मचारी न] अब्रह्मचारी नहीं है, [यस्मात्] क्योंकि [कर्म च एव हि] कर्म ही [कर्म अभिलषति] कर्मकी अभिलाषा करता है [इति भणितम्] ऐसा कहा है ।

और, [यस्मात् परं हंति] जो परको मारता है [च] और [परेण हन्यते] जो परके द्वारा मारा जाता है [सा प्रकृतिः] वह प्रकृति है—[एतेन अर्थेन किल] इस अर्थमें [परघातनाम इति भण्यते] परघातनामकर्म कहा जाता है, [तस्मात्] इसलिये [अस्माकम् उपदेशे] हमारे उपदेशमें [कः अपि जीवः] कोई भी जीव [उपघातकः न अस्ति] उपघातक (मारनेवाला) नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म च एव हि] कर्म ही [कर्म हंति] कर्मको मारता है [इति भणितम्] ऐसा कहा है ।

(आचार्यदेव कहते हैं किः—) [एवं तु] इसप्रकार [ईदृशं सांख्योपदेशं] ऐसा सांख्यमतका उपदेश [ये श्रमणाः] जो श्रमण (जैन मुनि) [प्ररूपयंति] प्ररूपित करते हैं [तेषां] उनके मतमें [प्रकृतिः करोति] प्रकृति ही करती है [आत्मानः च सर्वे] और आत्मा तो सब [अकारकाः] अकारक है ऐसा सिद्ध होता है !

[अर्थवत्] अथवा (कर्तृत्वका पक्ष सिद्ध करनेके लिये) [अन्यथे] यदि तुम यह मानते हो कि [मम आत्मा] मेरा आत्मा [आत्मनः] अपने [आत्मानम्] (द्रव्यरूप) आत्माको

अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति ।

एष मिथ्यास्वभावः तवैतज्जानतः ॥३४१॥

आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये ।

नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ॥३४२॥

जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु ।

ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यम् ॥३४३॥

यथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतम् ।

तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ॥३४४॥

[करोति] करता है, [एतत् जानतः तव] तो ऐसा जानने वालेका-तुम्हारा [एषः मिथ्या-स्वभावः] यह मिथ्यात्वभाव है; [यद्] क्योंकि—[समये] सिद्धान्तमें [आत्मा] आत्माको [नित्यः] नित्य, [असंख्येयप्रदेशः] असंख्यात-प्रदेशी [दर्शितः तु] बताया गया है, [ततः] उससे [सः] वह [हीनः अधिकः च] हीन या अधिक [कर्तुं न अपि शक्यते] नहीं किया जा सकता; [विस्तरतः] और विस्तारसे भी [जीवस्य जीवरूपं] जीवका जीवरूप [खलु] निश्चयसे [लोकमात्रं जानीहि] लोकमात्र जानो; [ततः] उससे [किं सः हीनः अधिकः वा] क्या वह हीन अथवा अधिक होता है ? [द्रव्यम् कथं करोति] तब फिर (आत्मा) द्रव्यको (अर्थात् द्रव्यरूप आत्माको) कैसे करता है ?

[अथ] अथवा यदि [ज्ञायकः भावः तु] ज्ञायक भाव तो [ज्ञानस्वभावेन तिष्ठति] ज्ञानस्वभावसे स्थित रहता है' [इति मतम्] ऐसा माना जाये, [तस्मात् अपि] तो इससे भी [आत्मा स्वयं] आत्मा स्वयं [आत्मनः आत्मानं तु] अपने आत्माको [न करोति] नहीं करता यह सिद्ध होगा ।

(इसप्रकार कर्तृत्वको सिद्ध करनेके लिये विवक्षाको बदलकर जो पक्ष कहा है वह घटित नहीं होता ।)

(इसप्रकार, यदि कर्मका कर्ता कर्म ही माना जाये तो स्याद्वादके साथ विरोध आता है; इसलिये आत्माको अज्ञान-अवस्थामें कथंचित् अपने अज्ञानभावरूप कर्मका कर्ता मानना चाहिये, जिससे स्याद्वादके साथ विरोध नहीं आता ।)

कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति, ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव ज्ञानिनं करोति, ज्ञानावरणाख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव स्वापयति, निद्राख्यकर्मोदय-मंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव जागरयति, निद्राख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव सुखयति, सद्ब्रह्माख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव दुःखयति, असद्ब्रह्माख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव मिथ्यादृष्टिं करोति, मिथ्यात्वकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैवासंयतं करोति, चारित्रमोहाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैवोर्ध्वाध्वास्तिर्यग्लोकं भ्रमयति, आनुपूर्व्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । अपरमपि यथावर्तिकाचिच्छुभाशुभं तत्चावत्सकलमपि कर्मैव करोति, प्रशस्ताप्रशस्तरागाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । यत एवं समस्तमपि स्वतंत्रं कर्म करोति, कर्म ददाति, कर्म हरति च, ततः सर्व एव जीवाः नित्यमेवैकैतैनाकर्तार एवेति निश्चिनुमः । किञ्च—श्रुतिरप्येनमर्थमाह; पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलपति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म

टोकाः—(यहाँ पूर्वपक्ष इसप्रकार है :) “कर्म ही आत्माको अज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्मके उदयके बिना उसकी (—अज्ञानकी) अनुपपत्ति है; कर्म ही (आत्माको) ज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्मके क्षयोपशमके बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही सुखाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्मके उदयके बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही जगता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्मके क्षयोपशमके बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही सुखी करता है, क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्मके उदयके बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही दुःखी करता है, क्योंकि असातावेदनीय नामक कर्मके उदयके बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही मिथ्यादृष्टि करता है, क्योंकि मिथ्यात्वकर्मके उदयके बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही असंयमी करता है, क्योंकि चारित्रमोह नामक कर्मके उदयके बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही ऊर्ध्वलोकमें, अधोलोकमें और तिर्यग्लोकमें भ्रमण कराता है, क्योंकि आनुपूर्वी नामक कर्मके उदयके बिना उसकी अनुपपत्ति है; दूसरा भी जो कुछ जितना शुभ-अशुभ है वह सब कर्म ही करता है, क्योंकि प्रशस्त-अप्रशस्त राग नामक कर्मके उदयके बिना उनकी अनुपपत्ति है । इसप्रकार सब कुछ स्वतंत्रतया कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है, इसलिये हम यह निश्चय करते हैं कि—सभी जीव सदा एकान्तसे अकर्ता ही हैं । और श्रुति (भगवानकी वाणी, शास्त्र) भी इसी अर्थको कहती है; क्योंकि, (वह श्रुति) ‘पुरुषवेद नामक कर्म स्त्रीकी अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुषकी अभिलाषा करता है’ इस वाक्यसे कर्मको ही कर्मकी अभिलाषाके कर्तृत्वके समर्थन द्वारा और जीवके अन्नह्यचर्यके कर्तृत्वका असमर्थनके द्वारा जीवको अन्नह्यचर्यके कर्तृत्वका निषेध करती है, तथा ‘जो परको हनता है और जो परके द्वारा हना जाता है वह परघातकर्म है’ इस वाक्यसे कर्मको ही कर्मके घातका कर्तृत्व होनेके समर्थन द्वारा जीवके घातके कर्तृत्वका निषेध करती है, और इसप्रकार (अन्नह्यचर्यके तथा घातके कर्तृत्वके निषेध द्वारा) जीवका सर्वथा ही अकर्तृत्व बतलाती है ।”

पुमांसमभिलषति इति वाक्येन कर्मण एव कर्माभिलाषकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वासमर्थनेन च जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वप्रतिषेधात्, तथा यत्परं हंति, येन च परेण हन्यते तत्परघातकमेति वाक्येन कर्मण एव कर्मघातकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्य घातकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वथैवाकर्तृत्वज्ञापनात् । एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयन्ति; तेषां प्रकृतेरेकांतेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकांतेनाकर्तृत्वापत्तेः जीवः कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुम् । यस्तु कर्म आत्मनोऽज्ञानादिसर्वभावान् पर्यायरूपान् करोति, आत्मा त्वात्मानमेवैकं द्रव्यरूपं करोति, ततो जीवः कर्तेति श्रुतिकोपो न भवतीत्यभिप्रायः स मिथ्यैव । जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्योऽसंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च । तत्र न तावन्नित्यस्य कार्यत्व-मुपपन्नं, कृतकत्वानित्यत्वयोरेकत्वविरोधात् । न चावस्थितासंख्येयप्रदेशस्यैकस्य पुद्गलस्कन्धस्येव प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणद्वारेणापि तस्य कार्यत्वं, प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणे सति तस्यैकत्वव्याघातात् । न

(आचार्यदेव कहते हैं कि:—) इसप्रकार ऐसे सांख्यमतको, अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के अपराधसे सूत्रके अर्थको न जाननेवाले कुछ श्रमणाभास प्ररूपित करते हैं, उनकी, एकान्तसे प्रकृतिके कर्तृत्वकी मान्यतासे, समस्त जीवोंके एकान्तसे अकर्तृत्व आ जाता है इसलिये 'जीव कर्ता है' ऐसी जो श्रुति है उसका कोप दूर करना अशक्य हो जाता है (अर्थात् भगवानकी वाणीकी विराधना होती है) । और, 'कर्म आत्माके अज्ञानादि सर्व भावोंको—जो कि पर्यायरूप हैं उन्हें—करता है, और आत्मा तो आत्माको ही एकको द्रव्यरूपको करता है इसलिये जीव कर्ता है; इसप्रकार श्रुतिका कोप नहीं होता'—ऐसा जो अभिप्राय है वह मिथ्या ही है । (इसीको समझते हैं:—) जीव तो द्रव्यरूपसे नित्य है, असंख्यात-प्रदेशी है और लोक परिमाण है । उसमें प्रथम, नित्यका कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि कृतकत्वके और नित्यत्वके एकत्वका विरोध है । (आत्मा नित्य है इसलिये वह कृतक अर्थात् किसीके द्वारा किया गया नहीं हो सकता ।) और अवस्थित असंख्य-प्रदेशज्ञाले एक (आत्मा) को पुद्गलस्कन्धकी भाँति, प्रदेशोंके प्रक्षेपण-आकर्षण द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि प्रदेशोंका प्रक्षेपण तथा आकर्षण हो तो उसके एकत्वका व्याघात हो जायेगा । (स्कन्ध अनेक परमाणुओंका बना हुआ है, इसलिये उसमेंसे परमाणु निकल जाते हैं तथा उसमें आते भी हैं; परन्तु आत्मा निश्चित असंख्यात-प्रदेशज्ञाला एक ही द्रव्य है इसलिये वह अपने प्रदेशोंको निकाल नहीं सकता तथा अधिक प्रदेशोंको ले नहीं सकता ।) और सकल लोकरूपी घरके विस्तारसे परिमित जिसका निश्चित निजविस्तार-संग्रह है (अर्थात् जिसका लोक जितना निश्चित भाग है) उसके (आत्माके) प्रदेशोंके संकोच-विकास द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि प्रदेशोंके संकोच-विस्तार होने पर भी, सूखे-गीले चमड़ेकी भाँति, निश्चित निजविस्तारके कारण उसे (आत्माको) हीनाधिक नहीं किया जा सकता । (इसप्रकार आत्माके द्रव्यरूप आत्माका कर्तृत्व नहीं बन

चापि सकललोकवास्तुविस्तारपरिमितनियतनिजाभोगसंग्रहस्य प्रदेशसंकोचनविकाशनद्वारेण तस्य कार्यत्वं, प्रदेशसंकोचनविकाशनयोरपि शुष्कार्द्रचर्मवत्प्रतिनियतनिजविस्ताराद्वीनाधिकस्य तस्य कर्तृमशक्यत्वात् । यस्तु वस्तुस्वभावस्य सर्वथापौढुमशक्यत्वात् ज्ञायको भावो ज्ञानस्वभावेन सर्वदैव तिष्ठति, तथा तिष्ठंश्च ज्ञायककर्तृत्वयोरत्यंतविरुद्धत्वान्मिथ्यात्वादिभावानां न कर्ता भवति, भवंति च मिथ्यात्वादिभावाः, ततस्तेषां कर्मैव कर्तुं प्ररूप्यत इति वासनोन्मेषः स तु नितरामात्मात्मानं करोतीत्यभ्युपगममुपहंत्येव । ततो ज्ञायकस्य भावस्य सामान्यापेक्षया ज्ञानस्वभावावस्थितत्वेऽपि कर्मजानां मिथ्यात्वादिभावानां ज्ञानसमयेऽनादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञान-शून्यत्वात् परमात्मेति जानतो विशेषापेक्षया त्वज्ञानरूपस्य ज्ञानपरिणामस्य करणात्कर्तृत्वमनु-मंतव्यं; तावद्यावच्चदादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानपूर्णत्वादात्मानमेवात्मेति जानतो विशेषापेक्षयापि ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परिणममानस्य केवलं ज्ञातृत्वात्साक्षादकर्तृत्वं स्यात् ।

सकता ।) और, "वस्तुत्वभावका सर्वथा मिटना अशक्य होनेसे ज्ञायक भाव ज्ञानस्वभावसे ही सदा स्थित रहता है और इसप्रकार स्थित रहता हुआ, ज्ञायकत्व और कर्तृत्वके अत्यन्त विरुद्धता होनेसे, मिथ्यात्वादि भावोंका कर्ता नहीं होता; और मिथ्यात्वादि भाव तो होते हैं; इसलिये उनका कर्ता कर्म ही है इसप्रकार प्ररूपित किया जाता है"—ऐसी जो वासना (अभिप्राय मुक्ताव) प्रगट की जाती है वह भी 'आत्मा आत्माको करता है' इस (पूर्वोक्त) मान्यताका अतिशयता पूर्वक घात करती है (क्योंकि सदा ज्ञायक माननेसे आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हुआ) ।

इसलिये, ज्ञायक भाव सामान्य अपेक्षासे ज्ञानस्वभावसे अवस्थित होने पर भी, कर्मसे उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावोंके ज्ञानके समय, अनादि कालसे ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञानसे शून्य होनेसे, परको आत्माके रूपमें जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षासे अज्ञानरूप ज्ञानपरिणामको करता है (—अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञानका परिणामन उसको करता है) इसलिये, उसके कर्तृत्वको स्वीकार करना (अर्थात् ऐसा स्वीकार करना कि वह कर्थाचित् कर्ता है) वह भी तबतक कि जबतक भेदविज्ञानके प्रारम्भसे ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञानसे पूर्ण (अर्थात् भेद विज्ञान सहित) होनेके कारण आत्माको ही आत्माके रूपमें जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव), विशेष अपेक्षासे भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणामसे परिणमित होता हुआ (—ज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञानका परिणामन उसरूप ही परिणमित होता हुआ), मात्र ज्ञातृत्वके कारण साक्षात् अकर्ता हो ।

भावायः—कितने ही जैन मुनि भी स्याद्वाद-वाणीको भलीभाँति न समझ कर सर्वथा एकान्तका अभिप्राय करते हैं और विवक्षाको बदलकर यह कहते हैं कि—“आत्मा तो भावकर्मका अकर्ता ही है, कर्मप्रकृतिका उदय ही भावकर्मको करता है; अज्ञान, ज्ञान, सोना, जागना, सुख, दुःख, मिथ्यात्व, असंयम, चार गतियोंमें भ्रमण—इन सबको, तथा जो कुछ भी शुभ-अशुभ भाव है उन सबको कर्म ही करता है; जीव

* शार्दूलविक्रीडित *

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
 कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधोपादधः ।
 ऊर्ध्वम् तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
 पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥२०५॥

तो अकर्ता है।" और वे मुनि शास्त्रका भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि—“वेदके उदयसे स्त्री-पुरुषका विकार होता है और उपघात तथा परघात प्रकृतिके उदयसे परस्पर घात होता है।” इसप्रकार, जैसे सांख्यमतबलम्बी सब कुछ प्रकृतिका ही कार्य मानते हैं और पुरुषको अकर्ता मानते हैं उसीप्रकार, अपनी बुद्धिके दोषसे इन मुनियोंकी भी ऐसी ही ऐकान्तिक मान्यता हुई। इसलिए जिनवाणी तो स्याद्वादरूप है, अतः सर्वथा एकान्तको माननेवाले उन मुनियों पर जिनवाणीका कोप अवश्य होता है। जिनवाणीके कोपके भयसे यदि वे विवक्षाको बदलकर यह कहें कि—“भावकर्मका कर्ता कर्म है और अपने आत्माका (अर्थात् अपनेको) कर्ता आत्मा है, इसप्रकार हम आत्माको कथंचित् कर्ता कहते हैं, इसलिए वाणीका कोप नहीं होता;” तो उनका यह कथन भी मिथ्या ही है। आत्मा द्रव्यसे नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकपरिमाण है, इसलिए उसमें तो कुछ नवीन करना नहीं है; और जो भावकर्मरूप पर्यायें हैं उनका कर्ता तो वे मुनि कर्मको ही कहते हैं; इसलिये आत्मा तो अकर्ता ही रहा। तब फिर वाणीका कोप कैसे मिट गया ? इसलिये आत्माके कर्तृत्व-अकर्तृत्वकी विवक्षाको यथार्थ मानना ही स्याद्वादको यथार्थ मानना है। आत्माके कर्तृत्व-अकर्तृत्वके सम्बन्धमें सत्यार्थ स्याद्वाद-प्ररूपण इसप्रकार है—

आत्मा सामान्य अपेक्षासे तो ज्ञानस्वभावमें ही स्थित है; परन्तु मिथ्यात्वादि भावोंको जानते समय, अनादि कालसे ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञानके अभावके कारण, ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावोंको आत्माके रूपमें जानता है, इसलिए इसप्रकार विशेष अपेक्षासे अज्ञानरूप ज्ञानपरिणामको करनेसे कर्ता है; और जब भेदविज्ञान होनेसे आत्माको ही आत्माके रूपमें जानता है तब विशेष अपेक्षासे भी ज्ञानरूप परिणाममें ही परिणामित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहनेसे साक्षात् अकर्ता है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[अमी आर्हताः अपि-] यह आर्हत् मतके अनुयायी अर्थात् जैन भी [पुरुषं] आत्माको, [सांख्याः इव] सांख्यमतियोंकी भाँति, [अकर्तारम् मा स्पृशन्तु] (सर्वथा) अकर्ता मत मानो; [भेद-अवबोधात् अथः] भेदज्ञान होनेसे पूर्व [तं किल] उसे [सदा] निरन्तर [कर्तारम् कलयन्तु] कर्ता मानो, [तु] और [ऊर्ध्वम्] भेदविज्ञान होनेके बाद [उद्धत-बोध-धाम-नियतं स्वयं प्रत्यक्षम् एनम्] उद्धत *ज्ञानधाम (ज्ञानमन्दिर, ज्ञानप्रकाश)में निश्चित इस

* ज्ञानधाम = ज्ञानमन्दिर; ज्ञानप्रकाश ।

• मालिनी •

क्षणिकमिदमिहैकं कल्पयित्वात्मतत्त्वं

निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्तोर्विभेदम् ।

अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः

स्वयमयमभिषिचंश्चिच्चमत्कार एव ॥२०६॥

स्वयंप्रत्यक्ष आरमाको [च्युत-कर्तृ भावम् अचलं एकं परम् ज्ञातारम्] कर्तृत्व रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही [पश्यन्तु] देखो ।

भावार्थः—सांख्यमतावलम्बी पुरुषको सर्वथा एकान्तसे अकर्ता, शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानते हैं । ऐसा माननेसे पुरुषको संसारके अभावका प्रसंग आता है; और यदि प्रकृतिको संसार माना जाये तो वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है, उसे सुखदुःखादिका संवेदन नहीं है, तो उसे संसार कैसा ? ऐसे अनेक दोष एकान्त मान्यतामें आते हैं । सर्वथा एकान्त वस्तुका स्वरूप ही नहीं है । इसलिये सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं; और यदि जैन भी ऐसा मानें तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं । इसलिए आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि—सांख्यमतियोंकी भाँति जैन आत्माको सर्वथा अकर्ता न मानें; जबतक स्व-परका भेदविज्ञान न हो तबतक तो उसे रागादिका—अपने चेतनरूप भावकर्मोंका—कर्ता मानो, और भेदविज्ञान होनेके बाद शुद्ध विज्ञानघन, समस्त कर्तृत्वके भावसे रहित, एक ज्ञाता ही मानो । इसप्रकार एक ही आत्मामें कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व—ये दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध होते हैं । ऐसा स्याद्वाद मत जैनोंका है; और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है । ऐसा (स्याद्वादानुसार) माननेसे पुरुषको संसार-मोक्ष आदिकी सिद्धि होती है; और सर्वथा एकान्त माननेसे सर्व निश्चय-व्यवहारका लोप होता है । २०५ ।

आगेकी गाथाओंमें; 'कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है' ऐसा माननेवाले क्षणिकवादी बौद्धमतियोंकी सर्वथा एकान्त मान्यतामें दूषण बतायेंगे और स्याद्वादानुसार जिसप्रकार वस्तुस्वरूप अर्थात् कर्ताभोक्तापन है उसप्रकार कहेंगे । उन गाथाओंका सूचक काव्य प्रथम कहते हैं:—

श्लोकाथः—[इह] इस जगत्में [एकः] कोई एक तो (अर्थात् क्षणिकवादी बौद्धमती) [इदम् आत्मतत्त्वं क्षणिकम् कल्पयित्वा] इस आत्मतत्त्वको क्षणिक कल्पित करके [निज-मनसि] अपने मनमें [कर्तृ-भोक्तोः विभेदं विधत्ते] कर्ता और भोक्ताका भेद करते हैं (-कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, ऐसा मानते हैं); [तस्य विमोहं] उनके मोहको (अज्ञानको) [अयम् चित्त-चमत्कारः एव स्वयंम्] यह चैतन्यचमत्कार ही स्वयं [नित्य-अमृत-प्रोघैः] नित्यतारूप अमृतके प्रोघ (-समूहः)के द्वारा [अभिषिचन्] अभिषिचन करता हुआ, [अपहरति] दूर करता है ।

* अनुष्टुम् *

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।

अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा ॥२०७॥

भावार्थः—क्षणिकवादी कर्ता-भोक्तामें भेद मानते हैं, अर्थात् वे यह मानते हैं कि—प्रथम क्षणमें जो आत्मा था वह दूसरे क्षणमें नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि—हम उसे क्या समझायें ? यह चैतन्य ही उसका अज्ञान दूर कर देगा—कि जो (चैतन्य) अनुभवगोचर नित्य है। प्रथम क्षणमें जो आत्मा था वही द्वितीय क्षणमें कहता है कि 'मैं जो पहले था वही हूँ'; इसप्रकारका स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान आत्माकी नित्यता बतलाता है। यहाँ बौद्धमती कहता है कि—'जो प्रथम क्षणमें था वही मैं दूसरे क्षणमें हूँ' ऐसा मानना वह तो अनादिकालीन अविद्यासे भ्रम है; यह भ्रम दूर हो तो तत्त्व सिद्ध हो, और समस्त क्लेश मिटे। उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—'हे बौद्ध ! तू यह तो तर्क (-दलील) करता है उस सम्पूर्ण तर्कको करनेवाला एक ही आत्मा है या अनेक आत्मा हैं ? और तेरे सम्पूर्ण तर्कको एक ही आत्मा सुनता है ऐसा मान कर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होनेतक अनेक आत्मा बदल जाते हैं ऐसा मानकर तर्क करता है ? और तेरी सम्पूर्ण तर्क एकही आत्मा सुनता है ऐसा मानकर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होने तक अनेक आत्मामें पलट जाते हैं ऐसा मानकर तर्क करता है ? यदि अनेक आत्मा बदल जाते हों तो तेरे सम्पूर्ण तर्कको तो कोई आत्मा सुनता नहीं है; तब फिर तर्क करनेका क्या प्रयोजन है* ? यों अनेक प्रकारसे विचार करने पर तुम्हें ज्ञात होगा कि आत्माको क्षणिक मानकर प्रत्यभिज्ञानको भ्रम कह देना वह यथार्थ नहीं है। इसलिये यह समझना चाहिये कि—आत्माको एकान्ततः नित्य या एकान्ततः अनित्य मानना वह दोनों भ्रम हैं, वस्तुस्वरूप नहीं; हम (जैन) कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहते हैं वही सत्यार्थ है।" २०६।

पुनः क्षणिकवादका युक्ति द्वारा निषेध करता हुआ, और आगेकी गायार्थोंका सूचक काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[वृत्ति-अंश-भेदतः] वृत्त्यंशोंके अर्थात् पर्यायके भेदके कारण [अत्यन्तं वृत्तिमत्-नाश-कल्पनात्] 'वृत्तिमान् अर्थात् द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है' ऐसी कल्पनाके द्वारा [अन्यः करोति] 'अन्य करता है और [अन्यः भुङ्क्ते] 'अन्य भोगता है' [इति एकान्तः मा चकास्तु] ऐसा एकान्त प्रकाशित मत करो।

* यदि यह कहा जाये कि 'आत्मा तो नष्ट हो जाता है किन्तु वह संस्कार छोड़ता जाता है' तो यह भी यथार्थ नहीं है; यदि आत्मा नष्ट हो जाये तो आधारके बिना संस्कार कैसे रह सकता है ? और यदि कदाचित् एक आत्मा संस्कार छोड़ता जाये, तो भी उस आत्माके संस्कार दूसरे आत्मामें प्रविष्ट हो जायें ऐसा नियम न्यायसंगत नहीं है।

केहिचि दु पञ्जएहिं विणस्सए एव केहिचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा कुब्बदि सो वा अरणो व एयंतो ॥३४५॥

केहिचि दु पञ्जएहिं विणस्सए एव केहिचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अरणो व एयंतो ॥३४६॥

जो चेव कुणइ सो चिय ए वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥

अरणो करेइ अरणो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४८॥

भावार्थः—द्रव्यकी पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं इसलिये बौद्ध यह मानते हैं कि 'द्रव्य ही सर्वथा, नष्ट होता है'। ऐसी एकान्त मान्यता मिथ्या है। यदि पर्यायवान पदार्थका ही नाश हो जाये तो पर्याय-किसके आश्रयसे होगी ? इसप्रकार दोनोंके नाशका प्रसंग आनेसे शून्यका प्रसंग आता है। २०७।

अब निम्नलिखित गाथाओंमें अनेकान्तको प्रगट करके क्षणिकवादका स्पष्टतया निषेध करते हैं:—

पर्याय कुब्बसे नष्ट जीव, कुब्बसे न जीव विनष्ट है ।
इससे करै है वो हि या को अन्य—नहिं एकान्त है ॥३४५॥

पर्याय कुब्बसे नष्ट जीव, कुब्बसे न जीव विनष्ट है ।
यों जीव वेदै वो हि या को अन्य—नहिं एकान्त है ॥३४६॥

जीव जो करै वह भोगता नहिं—जिसका यह सिद्धांत है ।
अर्हतके मतका नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है ॥३४७॥

जीव अन्य करता, अन्य वेदे—जिसका यह सिद्धांत है ।
अर्हतके मतका नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है ॥३४८॥

कैश्चित् पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित् जीवः ।

यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांतः ॥३४५॥

कैश्चित् पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित् जीवः ।

यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः ॥३४६॥

यश्चैव करोति स चैव न वेदयते यस्य एष सिद्धान्तः ।

स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनाहृतः ॥३४७॥

अन्यः करोत्यन्यः परिभुङ्क्ते यस्य एष सिद्धान्तः ।

स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनाहृतः ॥३४८॥

गाथा ३४५-३४८

गाथार्थः—[यस्मात्] क्योंकि [जीवः] जीव [कैश्चित् पर्यायैः तु] कितनी ही पर्यायोंसे [विनश्यति] नष्ट होता है [तु] और [कैश्चित्] कितनी ही पर्यायोंसे [न एव] नष्ट नहीं होता, [तस्मात्] इसलिये [सः वा करोति] '(जो भोगता है) वही करता है' [अन्यः वा] अथवा 'दूसरा ही करता है' [न एकान्तः]-ऐसा एकान्त नहीं है (-स्याद्वाद है) ।

[यस्मात्] क्योंकि [जीवः] जीव [कैश्चित् पर्यायैः तु] कितनी ही पर्यायोंसे [विनश्यति] नष्ट होता है [तु] और [कैश्चित्] कितनी ही पर्यायोंसे [न एव] नष्ट नहीं होता, [तस्मात्] इसलिये [सः वा वेदयते] '(जो करता है) वही भोगता है' [अन्यः वा] अथवा 'दूसरा ही भोगता है' [न एकान्तः] ऐसा एकान्त नहीं है (-स्याद्वाद है) ।

'[यः च एव करोति] जो करता है [सः च एव न वेदयते] वही नहीं भोगता' [एषः यस्य सिद्धान्तः] ऐसा जिसका सिद्धान्त है, [सः जीवः] वह जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि, [अनाहृतः] अनाहृत (अहृतके मतको न माननेवाला) [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

'[अन्यः करोति] दूसरा करता है [अन्यः परिभुङ्क्ते] और दूसरा भोगता है' [एषः यस्य सिद्धान्तः] ऐसा जिसका सिद्धान्त है, [सः जीवः] वह जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि, [अनाहृतः] अनाहृत (-अजैन) [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

यतो हि प्रतिसमयं संभवदगुरुलघुगुणपरिणामद्वारेण क्षणिकत्वादचलितचैतन्यान्यव्यगुण-
द्वारेण नित्यत्वाच्च जीवः कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति, कैश्चि न विनश्यतीति द्विस्वभावो
जीवस्वभावः । ततो य एव करोति स एवान्यो वा वेदयते, य एव वेदयते स एवान्यो वा
करोतीति नास्त्येकांतः । एवमनेकांतेऽपि यस्तत्क्षणवर्तमानस्यैव परमार्थसत्त्वेन वस्तुत्वमिति
वस्त्वंशेऽपि वस्तुत्वमध्यास्य शुद्धनयलोभाद्भ्रजुसूत्रैकांते स्थित्वा य एव करोति स एव न वेदयते,
अन्यः करोति अन्यो वेदयते इति पश्यति स मिथ्यादृष्टिरेव द्रष्टव्यः, क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानां
वृत्तिमत्तश्चैतन्यचमत्कारस्य टंकोत्कीर्णस्यैवांतःप्रतिभासमानत्वात् ।

टीकाः—जीव, प्रतिसमय संभवते (-होनेवाले) अगुरुलघुगुणके परिणाम द्वारा क्षणिक होनेसे
और अचलित चैतन्यके अन्वयरूप गुण द्वारा नित्य होनेसे, कितनी ही पर्यायोंसे विनाशको प्राप्त होता है
और कितनी ही पर्यायोंसे विनाशको नहीं प्राप्त होता है—इसप्रकार दो स्वभाववाला जीवस्वभाव है; इसलिये
'जो करता है वही भोगता है' अथवा 'दूसरा ही भोगता है' 'जो भोगता है वही करता है' अथवा 'दूसरा
ही करता है'—ऐसा एकान्त नहीं है । इसप्रकार अनेकान्त होने पर भी, 'जो (पर्याय) उससमय होती
है, उसीको परमार्थ सत्त्व है, इसलिये वही वस्तु है' इसप्रकार वस्तुके अंशमें वस्तुत्वका अध्यास करके
शुद्धनयके लोभसे ऋजुसूत्रनयके एकान्तमें रहकर जो यह देखता—मानता है कि "जो करता है वही नहीं
भोगता, दूसरा करता है और दूसरा भोगता है," उस जीवको मिथ्यादृष्टि ही देखना—मानना चाहिये;
क्योंकि, वृत्त्यंशों (पर्यायों)का क्षणिकत्व होने पर भी, वृत्तिमान (पर्यायमान) जो चैतन्यचमत्कार
(आत्मा) है वह तो टंकोत्कीर्ण (नित्य) ही अन्तरंगमें प्रतिभासित होता है ।

भावार्थः—वस्तुका स्वभाव जिनवाणीमें द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा है; इसलिये स्याद्वादसे ऐसा
अनेकान्त सिद्ध होता है कि पर्याय-अपेक्षासे तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य-अपेक्षासे नित्य है । जीव भी
वस्तु होनेसे द्रव्यपर्यायस्वरूप है । इसलिये, पर्यायदृष्टिसे देखा जाये तो कार्यको करती है एक पर्याय, और
भोगती है दूसरी पर्याय; जैसे—मनुष्यपर्यायने शुभाशुभ कर्म किये और उनका फल देवादिपर्यायने भोगा ।
यदि द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो, जो करता है वही भोगता है; जैसे कि—मनुष्यपर्यायमें जिस जीवद्रव्यने
शुभाशुभ कर्म किये, उसी जीवद्रव्यने देवादि पर्यायमें स्वयं किये गये कर्मके फलको भोगा ।

इसप्रकार वस्तुका स्वरूप अनेकान्तरूप सिद्ध होने पर भी, जो जीव शुद्धनयको समझे बिना
शुद्धनयके लोभसे वस्तुके एक अंशको (-वर्तमान कालमें वर्तती पर्यायको) ही वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनयके
विषयका एकान्त पकड़कर यह मानता है कि 'जो करता है वही नहीं भोगता—अन्य भोगता है, और जो
भोगता है वही नहीं करता—अन्य करता है,' वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अरहन्तके मतका नहीं है; क्योंकि,
पर्यायोंका क्षणिकत्व होने पर भी, द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तो अनुभवगोचर नित्य है; प्रत्यभिज्ञानसे ज्ञात

* शार्दूलविक्रीडित *

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
 कालोपाधिवलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
 चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धजुसूत्रे रतै-
 रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥२०८॥

होता है कि 'जो मैं बालक अवस्थामें था वही मैं तरुण अवस्थामें था और वही मैं वृद्ध अवस्थामें हूँ।' इसप्रकार जो कथंचित् नित्यरूपसे अनुभवगोचर है—स्वसंवेदनमें आता है और जिसे जिनवाणी भी ऐसा ही कहती है, उसे जो नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है ऐसा समझना चाहिए ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[आत्मानं परिशुद्धम् ईप्सुभिः परैः ग्रन्धकः] आत्माको सम्पूर्णतया शुद्ध चाहनेवाले अन्य किन्हीं ग्रन्धोंने—[पृथुकैः] बालिशजनोंने (वौद्धोंने)—[काल-उपाधि-बलात् अपि तत्र ग्रधिकाम् अशुद्धिम् मत्वा] कालकी उपाधिके कारण भी आत्मामें अधिक अशुद्धि मानकर [अतिव्याप्तिं प्रपद्य] अतिव्याप्तिको प्राप्त होकर, [शुद्ध-ऋजुसूत्रे रतैः] शुद्ध-ऋजुसूत्रनयमें रत होते हुए [चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य] चैतन्यको क्षणिक कल्पित करके, [अहो एषः आत्मा व्युज्झितः] इस आत्माको छोड़ दिया; [निःसूत्र-मुक्ता-ईक्षिभिः हारवत्] जैसे हारके सूत्र (डोरे)को न देखकर मात्र मोतियोंको ही देखनेवाले हारको छोड़ देते हैं ।

भावार्थः—आत्माको सम्पूर्णतया शुद्ध माननेके इच्छुक वौद्धोंने विचार किया कि "यदि आत्माको नित्य माना जायें तो नित्यमें कालकी अपेक्षा होती है इसलिये उपाधि लग जायेगी; इसप्रकार कालकी उपाधि लगनेसे आत्माको बहुत बड़ी अशुद्धि आ जायेगी और इससे अतिव्याप्ति दोष लगेगा ।" इस दोषके भयसे उन्होंने शुद्ध ऋजुसूत्रनयका विषय जो वर्तमान समय है, उतना मात्र (-क्षणिक ही-) आत्माको माना और उसे (आत्माको) नित्यानित्यस्वरूप नहीं माना । इसप्रकार आत्माको सर्वथा क्षणिक माननेसे उन्हें नित्यानित्यस्वरूप—द्रव्यपर्यायस्वरूप सत्यार्थ आत्माकी प्राप्ति नहीं हुई; मात्र क्षणिक पर्यायमें आत्माकी कल्पना हुई; किन्तु वह आत्मा सत्यार्थ नहीं है ।

मोतियोंके हारमें, डोरेमें अनेक मोती पिराये होते हैं; जो मनुष्य उस हार नामक वस्तुको मोतियों तथा डोरे सहित नहीं देखता—मात्र मोतियोंको ही देखता है, वह पृथक् पृथक् मोतियोंको ही ग्रहण करता है, हारको छोड़ देता है; अर्थात् उसे हारकी प्राप्ति नहीं होती । इसीप्रकार जो जीव आत्माके एक चैतन्यभावको ग्रहण नहीं करते और समय समय पर वर्तनापरिणामरूप उपयोगकी प्रवृत्तिको देखकर आत्माको अनित्य कल्पित करके, ऋजुसूत्रनयका विषय जो वर्तमान-समयमात्र क्षणिकत्व है उतना मात्र

शार्दूलविक्रीहित

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिन्त्यताम् ।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ॥२०९॥

ही आत्माको मानते हैं (अर्थात् जो जीव आत्माको द्रव्यपर्यायस्वरूप नहीं मानते—मात्र क्षणिक पर्यायरूप ही मानते हैं), वे आत्माको छोड़ देते हैं; अर्थात् उन्हें आत्माकी प्राप्ति नहीं होती । २०८ ।

अब इस कान्यमें आत्मानुभव करनेको कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[कर्तुः च वेदयितुः युक्तिवशतः भेदः अस्तु वा अभेदः अपि] कर्ताका और भोक्ताका युक्तिके वशसे भेद हो या अभेद हो, [वा कर्ता च वेदयिता मा भवतु] अथवा कर्ता और भोक्ता दोनों न हों; [वस्तु एव सचिन्त्यताम्] वस्तुका ही अनुभव करो । [निपुणैः सूत्रे इव इह आत्मनि प्रोता चित्-चिन्तामणि-मालिका क्वचित् भेत्तुं न शक्या] जैसे चतुर पुरुषोंके द्वारा ढोरेमें पिरियोई गई मणियोंकी माला भेदी नहीं जा सकती, उसीप्रकार आत्मामें पिरोई गई चैतन्यरूप चिन्तामणिकी माला भी कभी किसीसे भेदी नहीं जा सकती; [इयम् एका] ऐसी यह आत्मारूपी माला एक ही, [नः अभितः अपि चकास्तु एव] हमें सम्पूर्णतया प्रकाशमान हो (अर्थात् नित्यत्व, अनित्यत्व आदिके विकल्प छूटकर हमें आत्माका निर्विकल्प अनुभव हो) ।

भावार्थः—आत्मा वस्तु होनेसे द्रव्यपर्यायात्मक है; इसलिये उसमें चैतन्यके परिणामनस्वरूप पर्यायके भेदोंकी अपेक्षासे तो कर्ता-भोक्ताका भेद है और चिन्मात्र द्रव्यकी अपेक्षासे भेद नहीं है; इसप्रकार भेद-अभेद हो अथवा चिन्मात्र अनुभवनमें भेद-अभेद क्यों कहना चाहिये ? (आत्माको) कर्ता-भोक्ता ही न कहना चाहिए, वस्तुमात्रका अनुभव करना चाहिए । जैसे मणियोंकी मालामें मणियोंकी और ढोरेकी विवक्षासे भेद-अभेद है परन्तु मालामात्रके ग्रहण करने पर भेदाभेद-विकल्प नहीं है, इसीप्रकार आत्मामें पर्यायोंकी और द्रव्यकी विवक्षासे भेद-अभेद है परन्तु आत्मवस्तुमात्रका अनुभव करने पर विकल्प नहीं है । आचार्यदेव कहते हैं कि—ऐसा निर्विकल्प आत्माका अनुभव हमें प्रकाशमान हो । २०९ ।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक कान्य कहते हैं:—

* रथोद्धता *

व्यावहारिकदृशैव केवलं
कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते
कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥२१०॥

जह सिष्पिञ्चो उ कर्मं कुञ्चइ ए य सो उ तम्मञ्चो होइ ।
तह जीवो वि य कर्मं कुञ्चइ ए य तम्मञ्चो होइ ॥३४६॥
जह सिष्पिञ्चो उ करणेहिं कुञ्चइ ए य सो उ तम्मञ्चो होइ ।
तह जीवो करणेहिं कुञ्चइ ए य तम्मञ्चो होइ ॥३५०॥
जह सिष्पिञ्चो उ करणाणि गियहइ ण य सो उ तम्मञ्चो होइ ।
तह जीवो करणाणि उ गियहइ ए य तम्मञ्चो होइ ॥३५१॥

श्लोकार्थः—[केवलं व्यावहारिकदृशा एव कर्तृ च कर्म विभिन्नम् इष्यते] केवल व्यावहारिक दृष्टिसे ही कर्ता और कर्म भिन्न माने जाते हैं; [निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते] यदि निश्चयसे वस्तुका विचार किया जाये, [कर्तृ च कर्म सदा एकम् इष्यते] तो कर्ता और कर्म सदा एक माना जाता है ।

भावार्थः—मात्र व्यवहार-दृष्टिसे ही भिन्न द्रव्योंमें कर्तृत्व-कर्मत्व माना जाता है; निश्चय-दृष्टिसे तो एक ही द्रव्यमें कर्तृत्व-कर्मत्व घटित होता है । २१० ।

अब इस कथनको दृष्टान्त द्वारा गाथामें कहते हैं:—

ज्यों शिल्पि कर्म करे परंतु वो नहीं तन्मय बने ।
त्यों कर्मको आत्मा करे पर वो नहीं तन्मय बने ॥३४९॥
ज्यों शिल्पि करणोंसे करे पर वो नहीं तन्मय बने ।
त्यों जीव करणोंसे करे पर वो नहीं तन्मय बने ॥३५०॥
ज्यों शिल्पि करण ग्रहे परंतु वो नहीं तन्मय बने ।
त्यों जीव करणोंको ग्रहे पर वो नहीं तन्मय बने ॥३५१॥

जह सिप्पि उं कम्मफलं भुंजइ ए य सो उ तम्मओ होइ ।
 तह जीवो कम्म फलं भुंजइ ए य तम्मओ होइ ॥३५२॥
 एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
 सुणु णिच्चंयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होइ ॥३५३॥
 जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तथा अणणो से ।
 तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणणो से ॥३५४॥
 जइ चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होइ ।
 ततो सिया अणणो तह चिट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति ।

तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ॥३४९॥

गाथा ३४९-३५५

गाथायं:—[यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी (—स्वर्णकार—सोनी आदि कलाकार) । [कर्म] कुण्डल आदि कर्म (कार्य) [करोति] करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न च भवति] तन्मय (—उत्समय, कुण्डलादिमय) नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [जीवः अपि च] जीव भी [कर्म] पुण्य-पापादि पुद्गल कर्म [करोति] करता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (पुद्गलकर्ममय) नहीं

शिल्पी करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने ।

त्यों जीव करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने ॥३५२॥

—इस भाँति मत व्यवहारका संक्षेपसे वक्तव्य है ।

सुन लो वचन परमार्थका, परिणामविषयक जो हि है ॥३५३॥

शिल्पी करे चेष्टा अवरु, उस ही से शिल्पि अनन्य है ।

त्यों जीव कर्म करे अवरु, उस ही से जीव अनन्य है ॥३५४॥

चेष्टित हुआं शिल्पी निरंतर दुखित जैसे होय है ।

अरु दुखसे शिल्पि अनन्य, त्यों जीव चेष्टमान दुखी बने ॥३५५॥

यथा शिल्पिकस्तु करणैः करोति न च स तु तन्मयो भवति ।
 तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ॥३५०॥
 यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न च स तु तन्मयो भवति ।
 तथा जीवः करणानि तु गृह्णाति न च तन्मयो भवति ॥३५१॥
 यथा शिल्पी तु कर्मफलं भुङ्क्ते न च स तु तन्मयो भवति ।
 तथा जीवः कर्मफलं भुङ्क्ते न च तन्मयो भवति ॥३५२॥
 एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन ।
 शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ॥३५३॥
 यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः ।
 तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ॥३५४॥
 यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति ।
 तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ॥३५५॥

होता । [यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी [करणैः] हथौड़ा आदि करणों (साधनों)के द्वारा [करोति] (कर्म) करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न भवति] तन्मय (हथौड़ा आदि करणमय) नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [जीवः] जीव [करणैः] (मन-वचन-कार्यरूप) करणोंके द्वारा [करोति] (कर्म) करता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (मन-वचन-कार्यरूप करणमय) नहीं होता । [यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी [करणानि] करणोंको [गृह्णाति] ग्रहण करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न भवति] तन्मय नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [जीवः] जीव [करणानि तु] करणोंको [गृह्णाति] ग्रहण करता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (करणमय) नहीं होता । [यथा] जैसे [शिल्पी तु] शिल्पी [कर्मफलं] कुण्डल आदि कर्मके फलको (खान-पानादिको) [भुङ्क्ते] भोगता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न च भवति] तन्मय (खानपानादिमय) नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [जीवः] जीव [कर्मफलं] पुण्यपापादि पुद्गलकर्मके फलको (पुद्गलपरिणामरूप सुखदुःखादिको) [भुङ्क्ते] भोगता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (पुद्गलपरिणामरूप सुखदुःखादिमय) नहीं होता ।

[एवं तु] इसप्रकार तो [व्यवहारस्य दर्शनं] व्यवहारका मत [समासेन] संक्षेपसे [वक्तव्यं] कहनेयोग्य है । [निश्चयस्य वचनं] (अब) निश्चयका वचन [शृणु] सुनो [यत्] जो कि [परिणामकृतं तु भवति] परिणाम विषयक है ।

यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुंडलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, हस्त-
कुट्टकादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्यपरिणामात्मकानि
करणानि गृह्णाति, ग्रामादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कुंडलादिकर्मफलं भुंक्ते च, नत्वनेकद्रव्यत्वेन
ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्व-
व्यवहारः । तथात्मापि पुण्यपापादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, कायवाङ्मनोभिः
पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, कायवाङ्मनांसि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि
गृह्णाति, सुखदुःखादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुंक्ते च, नत्वनेकद्रव्यत्वेन
ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्व-
व्यवहारः । यथा च स एव शिल्पी चिकीर्षुश्चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति,
दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति
तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः । तथात्मापि
चिकीर्षुश्चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं
भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव
कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः ।

[यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी [चेष्टां करोति] चेष्टारूप कर्म (अपने परिणामरूप
कर्म) को करता है [तथा च] और [तस्याः अनन्यः भवति] उससे अनन्य है, [तथा] उसीप्रकार
[जीवः अपि च] जीव भी [कर्म करोति] (अपने परिणामरूप) कर्मको करता है [च] और
[तस्मात् अनन्यः भवति] उससे अनन्य है । [यथा] जैसे [चेष्टां कुर्वाणः] चेष्टारूप कर्म करता हुआ
[शिल्पिकः तु] शिल्पी [निश्चयदुःखितः भवति] नित्य दुःखी होता है [तस्मात् च] और उससे
(दुःखसे) [अनन्यः स्यात्] अनन्य है, [तथा] उसीप्रकार [चेष्टमानः] चेष्टा करता हुआ (अपने
परिणामरूप कर्मको करता हुआ) [जीवः] जीव [दुःखी] दुःखी होता है (और दुःखसे अनन्य है) ।

टीका:—जैसे—शिल्पी (स्वर्णकार आदि) कुण्डल आदि जो परद्रव्यपरिणामात्मक कर्म करता
है, हथौड़ा आदि परद्रव्यपरिणामात्मक करणोंके द्वारा करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य परिणामात्मक
करणोंको ग्रहण करता है और कुण्डल आदि कर्मका जो ग्रामादि परद्रव्यपरिणामात्मक फल उसको
भोगता है, किन्तु अनेकद्रव्यत्वके कारण उससे (कर्म, करण आदिसे) अन्य होनेसे तन्मय (कर्मकरणा-
दिमय) नहीं होता; इसलिये निमित्तनैमित्तिकभावमात्रसे ही वहाँ कर्तृ-कर्मत्वका और भोक्ता-
भोग्यत्वका व्यवहार है; इसीप्रकार—आत्मा भी पुण्यपापादि जो पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक (पुद्गल-
द्रव्यके परिणामस्वरूप) कर्मको करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक करणोंके द्वारा
करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक करणोंको ग्रहण करता है और पुण्यपापादि कर्मके

* नर्दटक *

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः

स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।

न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया

स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥२११॥

सुख-दुःखादि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक फलको भोगता है, परन्तु अनेकद्रव्यत्वके कारण उनसे अन्य होनेसे तन्मय नहीं होता; इसलिये निमित्त-नैमित्तिकभावमात्रसे ही वहाँ कर्तृत्व-कर्मत्व और भोक्ताभोग्यत्वका व्यवहार है ।

और जैसे—वही शिल्पी, करनेका इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (अर्थात् कुण्डलादि करनेके अपने परिणामरूप और हस्तादिके व्यापाररूप) जो स्वपरिणामात्मक कर्मको करता है तथा दुःखस्वरूप ऐसा जो चेष्टारूप कर्मके स्वपरिणामात्मक फलको भोगता है, और एक द्रव्यत्वके कारण उनसे (कर्म और कर्मफलसे) अनन्य होनेसे तन्मय (—कर्ममय और कर्मफलमय) है; इसलिये परिणाम-परिणामीभावसे वहीं कर्ता-कर्मपनका और भोक्ता-भोग्यपनका निश्चय है; उसीप्रकार—आत्मा भी, करनेका इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (—रागादिपरिणामरूप और प्रदेशोंके व्यापाररूप) ऐसा जो आत्मपरिणामात्मक कर्म उसको करता है तथा दुःखस्वरूप ऐसा जो चेष्टारूप कर्मके आत्मपरिणामात्मक फल उसको भोगता है, और एकद्रव्यत्वके कारण उनसे अनन्य होनेसे तन्मय है; इसलिये परिणाम-परिणामीभावसे वहीं कर्ता-कर्मपनका और भोक्ता-भोग्यपनका निश्चय है ।

अब, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[ननु परिणामः एव किल विनिश्चयतः कर्म] वास्तवमें परिणाम ही निश्चयसे कर्म है, और [सः परिणामिनः एव भवेत्, अपरस्य न भवति] परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामीका ही होता है, अन्यका नहीं (क्योंकि परिणाम अपने अपने द्रव्यके आश्रित हैं, अन्यके परिणामका अन्य आश्रय नहीं होता); [इह कर्म कर्तृशून्यम् न भवति] और कर्म कर्ताके बिना नहीं होता, [च वस्तुनः एकतया स्थितिः इह न] तथा वस्तुकी एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्याय-स्वरूप होनेसे सर्वथा नित्यत्व वाधासहित है); [ततः तद् एव कर्तृ भवतु] इसलिये वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्मकी कर्ता है (—यह निश्चयसिद्धान्त है) । २११ ।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

* पृथ्वी *

बहिलुं ठति यद्यपि स्फुटदन्तशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्वप्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः किलरयते ॥२१२॥

* रथोद्धता *

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो
येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः
किं करोति हि बहिलुं ठनपि ॥२१३॥

इलोकार्थः—[स्वयं स्फुटत्-अनन्त-शक्तिः] जिसको स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है ऐसी वस्तु [बहिः यद्यपि लुठति] अन्य वस्तुके बाहर यद्यपि लोटती है [तथापि अन्य-वस्तु अपरवस्तुनः अन्तरम् न विशति] तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तुके भीतर प्रवेश नहीं करती, [यतः सकलम् एव वस्तु स्वभाव-नियतम् इष्यते] क्योंकि समस्त वस्तुएँ अपने अपने स्वभावमें निश्चित हैं ऐसा माना जाता है । (आचार्यदेव कहते हैं कि—) [इह] ऐसा होने पर भी [मोहितः] मोहित जीव, [स्वभाव-चलन-आकुलः] अपने स्वभावसे चलित होकर आकुल होता हुआ, [किम् क्लेशयते] क्यों क्लेश पाता है ?

भावार्थः—वस्तुस्वभाव तो नियमसे ऐसा है कि किसी वस्तुमें कोई वस्तु नहीं मिलती । ऐसा होने पर भी, यह मोही प्राणी, 'परद्वेषोंके साथ अपनेको पारमार्थिक सम्बन्ध है' ऐसा मान कर, क्लेश पाता है, यह महा अज्ञान है । २१२ ।

पुनः आगेकी गाथाओंका सूचक दूसरा काव्य कहते हैंः—

इलोकार्थः—[इह च] इस लोकमें [येन एकम् वस्तु अन्यवस्तुनः न] एक वस्तु अन्य वस्तुकी नहीं है, [तेन खलु वस्तु तत् वस्तु] इसलिये वास्तवमें वस्तु वस्तु ही है—[अयम् निश्चयः] यह निश्चय है । [कः अपरः] ऐसा होनेसे कोई अन्य वस्तु [अपरस्य बहिः लुठन् अपि हि] अन्य वस्तुके बाहर लोटती हुई भी [किं करोति] उसका क्या कर सकती है ?

* रथोद्धता *

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः

किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम् ।

व्यावहारिकदृष्टौ तन्मतं

नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१४॥

भावार्थः—वस्तुका स्वभाव तो ऐसा है कि एक वस्तु अन्य वस्तुको नहीं बदला सकती। यदि ऐसा न हो तो वस्तुका वस्तुत्व ही न रहे। इसप्रकार जहाँ एक वस्तु अन्यको परिणामित नहीं कर सकती वहाँ एक वस्तुने अन्यका क्या किया ? कुछ नहीं। चेतन-वस्तुके साथ पुद्गल एक-त्रैत्रावगाहरूपसे रह रहे हैं तथापि वे चेतनको जड़ बनाकर अपनेरूपमें परिणामित नहीं कर सके; तब फिर पुद्गलने चेतनका क्या किया ? कुछ भी नहीं।

इससे यह समझना चाहिये कि—व्यवहारसे परद्रव्योंका और आत्माका ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध होने पर भी परद्रव्य ज्ञायकका कुछ भी नहीं कर सकते और ज्ञायक परद्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता। २१३।

अब, इसी अर्थको दृढ़ करनेवाला तीसरा काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[वस्तु] एक वस्तु [स्वयम् परिणामिनः अन्य-वस्तुनः] स्वयं परिणामित होती हुई अन्य वस्तुका [किञ्चन अपि कुरुते] कुछ भी कर सकती है—[यत् तु]—ऐसा जो माना जाता है, [तत् व्यावहारिक-दृशा एव मतम्] वह व्यवहारदृष्टिसे ही माना जाता है। [निश्चयात्] निश्चयसे [इह अन्यत् किम् अपि न अस्ति] इस लोकमें अन्य वस्तुको अन्य वस्तु कुछ भी नहीं है (अर्थात् एक वस्तुको अन्य वस्तुके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है)।

भावार्थः—एक द्रव्यके परिणामनमें अन्य द्रव्यको निमित्त देखकर यह कहना कि 'अन्य द्रव्यने यह किया', वह यह व्यवहारनयकी दृष्टिसे ही है; निश्चयसे तो उस द्रव्यमें अन्य द्रव्यने कुछ भी नहीं किया है। वस्तुके पर्यायस्वरूपके कारण वस्तुका अपना ही एक अवस्थासे दूसरी अवस्थारूप परिणामन होता है; उसमें अन्य वस्तु अपना कुछ भी नहीं मिला सकती।

इससे यह समझना चाहिये कि—परद्रव्यरूप ज्ञेय पदार्थ उनके भावसे परिणामित होते हैं और ज्ञायक आत्मा अपने भावरूप परिणामन करता है; वे एक दूसरेका परस्पर कुछ नहीं कर सकते। इसलिये यह व्यवहारसे ही माना जाता है कि 'ज्ञायक परद्रव्योंको जानता है' निश्चयसे ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है। २१४।

जह सेडिया दु ए परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
 तह जाणओ दु ए परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
 जह सेडिया दु ए परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
 तह पासओ दु ए परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥
 जह सेडिया दु ए परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
 तह संजओ दु ए परस्स संजओ संजओ सो दु ॥३५८॥
 जह सेडिया दु ए परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
 तह दंसणं दु ए परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३५९॥
 एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते ।
 सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥

('खडिया मिट्टी अर्थात् पोतनेका घृना या कलई तो खडिया मिट्टी ही है'—यह निश्चय है; 'खडिया-स्वभावरूपसे परिणमित खडिया दीवाल-स्वभावरूप परिणमित दीवालको सफेद करती है' यह कहना भी व्यवहार कथन है । इसीप्रकार 'ज्ञायक तो ज्ञायक ही है'—यह निश्चय है; 'ज्ञायकस्वभावरूप परिणमित ज्ञायक परद्रव्यस्वभावरूप परिणत परद्रव्योंको जानता है' यह कहना भी व्यवहारकथन है ।)
 ऐसे निश्चय-व्यवहार कथनको अब गाथाओं द्वारा दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट कहते हैं:—

ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका वस सेटिका ।
 ज्ञायक नहीं त्यों अन्यका, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा ॥३५६॥
 ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका वस सेटिका ।
 दर्शक नहीं त्यों अन्यका, दर्शक अहो दर्शक तथा ॥३५७॥
 ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका वस सेटिका ।
 संयत नहीं त्यों अन्यका, संयत अहो संयत तथा ॥३५८॥
 ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका वस सेटिका ।
 दर्शन नहीं त्यों अन्यका, दर्शन अहो दर्शन तथा ॥३५९॥
 यों ज्ञान-दर्शन-चरितविषयक कथन नय परमार्थका ।
 सुनलो वचन संक्षेपसे, इस विषयमें व्यवहारका ॥३६०॥

जह परद्रव्यं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
 तह परद्रव्यं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६१॥
 जह परद्रव्यं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
 तह परद्रव्यं पस्सइ जीवो वि सयेण भावेण ॥३६२॥
 जह परद्रव्यं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
 तह परद्रव्यं दिजहइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६३॥
 जह परद्रव्यं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
 तह परद्रव्यं सदहइ सम्पदिट्ठी सहावेण ॥३६४॥
 एवं व्यवहारस्स दु विणिञ्चओ णाणदंसणचरित्ते ।
 अण्णिओ अण्णोसु वि पज्जएसु एमेव णायव्शो ॥३६५॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।

तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥३५६॥

गाथा ३५६-३६५

गाथार्थः—(यद्यपि व्यवहारसे परद्रव्योका और आत्माका ज्ञेय-ज्ञायक, दृश्यदर्शक, त्याज्य-त्याजक इत्यादि सम्बन्ध है, तथापि निश्चयसे तो इसप्रकार हैः—) [यथा] जैसे [सेटिका तु] खड़ियां

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभावसे ।
 ज्ञाता भी त्यों ही जानता, परद्रव्यको निज भावसे ॥३६१॥
 ज्यों श्वेत करती सेटिका परद्रव्य आप स्वभावसे ।
 आत्मा भी त्यों ही देखता परद्रव्यको निज भावसे ॥३६२॥
 ज्यों श्वेत करती सेटिका परद्रव्य आप स्वभावसे ।
 ज्ञाता भी त्यों ही त्यागता, परद्रव्यको निज भावसे ॥३६३॥
 ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभावसे ।
 सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्यको निज भावसे ॥३६४॥
 यों ज्ञान-दर्शन-चरितमें निर्णय कृहा व्यवहारका ।
 वरु अन्य पर्यय विषयमें भी इस प्रकार हि जानता ॥३६५॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।

तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥३५७॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।

तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु ॥३५८॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।

तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु ॥३५९॥

एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे ।

शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन ॥३६०॥

यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।

तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६१॥

मिट्टी या पीतनेका चूना या कलई [परस्य न] परकी (दीवाल-आदिकी) नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] वह तो कलई ही है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञायकः तु] ज्ञायक (जाननेवाला, आत्मा) [परस्य न] परका (परद्रव्यका) नहीं है, [ज्ञायकः] ज्ञायक [सः तु ज्ञायकः] वह तो ज्ञायक ही है । [यथा] जैसे [सेटिका तु] कलई [परस्य न] परकी नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] वह तो कलई ही है, [तथा] उसीप्रकार [दर्शकः तु] दर्शक (देखनेवाला, आत्मा) [परस्य न] परका नहीं है, [दर्शकः] दर्शक [सः तु दर्शकः] वह तो दर्शक ही है [यथा] जैसे [सेटिका तु] कलई [परस्य न] परकी (दीवाल-आदिकी) नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] वह तो कलई ही है, [तथा] उसीप्रकार [संयतः तु] संयत (त्याग करनेवाला, आत्मा) [परस्य न] परका (परद्रव्यका) नहीं है, [संयतः] संयत [सः तु संयतः] यह तो संयत ही है । [यथा] जैसे [सेटिका तु] कलई [परस्य न] परकी नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] यह तो कलई ही है, [तथा] उसीप्रकार [दर्शनं तु] दर्शन अर्थात् श्रद्धान [परस्य न] परका नहीं है, [दर्शनं तत्तु दर्शनं] दर्शन वह तो दर्शन ही है अर्थात् श्रद्धान वह तो श्रद्धान ही है ।

यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
 तथा परद्रव्यं पश्यति जीवोऽपि स्वकेन भावेन ॥३६२॥
 यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
 तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६३॥
 यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
 तथा परद्रव्यं श्रद्धात्ते सम्यग्दृष्टिः स्वभावेन ॥३६४॥
 एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
 क्षणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः ॥३६५॥

[एवं तु] इसप्रकार [ज्ञानदर्शनचरित्रे] ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यमें [निश्चयनयस्य भाषितं] निश्चयनयका कथन है । [तस्य च] और उस सम्बन्धमें [समासेन] संक्षेपसे [व्यवहारनयस्य वक्तव्यं] व्यवहारनयका कथन [शृणु] सुनो ।

[यथा] जैसे [सेटिका] कलई [आत्मनः स्वभावेन] अपने स्वभावसे [परद्रव्यं] (दीवाल आदि) परद्रव्यको [सेटयति] सफेद करती है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञाता अपि] ज्ञाता भी [स्वकेन भावेन] अपने स्वभावसे [परद्रव्यं] परद्रव्यको [जानाति] जानता है । [यथा] जैसे [सेटिका] कलई [आत्मनः स्वभावेन] अपने स्वभावसे [परद्रव्यं] परद्रव्यको [सेटयति] सफेद करती है, [तथा] उसीप्रकार [जीवः अपि] जीव भी [स्वकेन भावेन] अपने स्वभावसे [परद्रव्यं] परद्रव्यको [पश्यति] देखता है । [यथा] जैसे [सेटिका] कलई [आत्मनः स्वभावेन] अपने स्वभावसे [परद्रव्यं] परद्रव्यको [सेटयति] सफेद करती है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञाता अपि] ज्ञाता भी [स्वकेन भावेन] अपने स्वभावसे [परद्रव्यं] परद्रव्यको [विजहाति] त्यागता है । [यथा] जैसे [सेटिका] कलई [आत्मनः स्वभावेन] अपने स्वभावसे [परद्रव्यं] परद्रव्यको [सेटयति] सफेद करती है, [तथा] उसीप्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [स्वभावेन] अपने स्वभावसे [परद्रव्यं] परद्रव्यको [श्रद्धात्ते] श्रद्धान करता है । [एवं तु] इसप्रकार [ज्ञानदर्शनचरित्रे] ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यमें [व्यवहारनयस्य विनिश्चयः] व्यवहारनयका निर्णय [भणितः] कंहा है; [अन्येषु पर्यायेषु अपि] अन्य पर्यायोंमें भी [एवं एव ज्ञातव्यः] इसीप्रकार जानना चाहिये ।

सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम् । तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि-
परद्रव्यम् । अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न
भवतीति तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति
तत्तदेव भवति, यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवती
कुड्यादिरैव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव
प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका
कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या
सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किंतु
स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि
सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः । यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टान्तिकः—चेतयितात्र तावद्
ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम् । तस्य तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादिपरद्रव्यम्— अथात्र पुद्गलादेः

टोकाः—इस जगतमें कलई है वह श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है । दीवार-आदि
परद्रव्य व्यवहारसे उस कलईका श्वैत्य है (अर्थात् कलईके द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ है) । अब,
'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य जो दीवार आदि परद्रव्यकी है या नहीं ?'—इसप्रकार उन
दोनोंके तात्त्विक (पारमार्थिक) सम्बन्धका यहाँ विचार किया जाता है—यदि कलई दीवार-आदि
परद्रव्यकी हो तो क्या हो वह प्रथम विचार करते हैं—'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे
आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है (-पृथक् द्रव्य नहीं);'—ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित
(अर्थात् विद्यमान) होनेसे, कलई यदि दीवार-आदिकी हो तो कलई वह दीवार-आदि ही होगी (अर्थात्
कलई दीवार-आदि स्वरूप ही होनी चाहिये, दीवार-आदिसे पृथक् द्रव्य नहीं होना चाहिये); ऐसा होने
पर, कलईके स्वद्रव्यका उच्छेद (नाश) हो जायेगा । परन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक
द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध किया है । इससे (यह सिद्ध हुआ कि)
कलई दीवार-आदिकी नहीं है । (अब आगे और विचार करते हैं—) यदि कलई दीवार-आदिकी नहीं
है, तो कलई किसकी है ? कलईकी ही कलई है । (इस) कलईसे भिन्न ऐसी दूसरी कौनसी कलई है
कि जिसकी (यह) कलई है ? (इस) कलईसे भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप
अंश ही हैं । यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है । तब फिर
कलई किसीकी नहीं है, कलई कलई ही है—यह निश्चय है (इसप्रकार दृष्टान्त कहा) । जैसे यह दृष्टान्त
है, उसीप्रकार यहाँ यह दार्ष्टान्त है—इस जगतमें चेतयिता है (चेतनेवाला अर्थात् आत्मा है) वह
ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है । पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहारसे उस चेतयिताका

परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—
यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तच्चदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव
भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः
स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न
भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ?
चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न
खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ?
न किमपि । तर्हि न कस्यापि ज्ञायकः, ज्ञायको ज्ञायक एवेति निश्चयः । किं च सेटिकात्र
तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम् । तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम् । अथात्र
कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो

(आत्माका) ज्ञेय (—ज्ञात होनेयोग्य) है । अब, 'ज्ञायक (—जाननेवाला) चेतयिता, ज्ञेय जो पुद्गलादि
परद्रव्य उनका है या नहीं ?'—इसप्रकार यहाँ उन दोनोंके तात्त्विक सम्बन्धका विचार करते हैं:—
यदि चेतयिता पुद्गलादिका हो तो क्या हो इसका प्रथम विचार करते हैं:—'जिसका जो होता है वह
वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है;—'ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित
(—विद्यमान) होनेसे, चेतयिता यदि पुद्गलादिका हो तो चेतयिता वह पुद्गलादि ही होवे (अर्थात्
चेतयिता पुद्गलादिस्वरूप ही होना चाहिये, पुद्गलादिसे भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिये); ऐसा होने
पर, चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायेगा । किन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका
अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध कर दिया है । इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि)
चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है । (अब आगे और विचार करते हैं:—) यदि चेतयिता पुद्गलादिका नहीं
है तो किसका है ? चेतयिताका ही चेतयिता है । इस चेतयितासे भिन्न ऐसा दूसरा कौनसा चेतयिता है
कि जिसका (यह) चेतयिता है ? (इस) चेतयितासे भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो
स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं । यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है ।
तब फिर ज्ञायक किसका नहीं है । ज्ञायक ज्ञायक ही है—यह निश्चय है ।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया है कि : 'आत्मा परद्रव्यको जानता है'—यह व्यवहार—कथन है;
'आत्मा अपनेको जानता है'—इस कथनमें भी स्व-स्वामिअंशरूप व्यवहार है; 'ज्ञायक ज्ञायक ही है'—
यह निश्चय है ।)

और (जिसप्रकार ज्ञायकके सम्बन्धमें दृष्टान्त-दार्ष्टान्तपूर्वक कहा है) इसीप्रकार दर्शकके
सम्बन्धमें कहा जाता है:—इस जगतमें कलई श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है । दीवार-आदि
परद्रव्य व्यवहारसे उस कलईका श्वैत्य (कलईके द्वारा श्वेत किये जानेयोग्य पदार्थ) है । अब, 'श्वेत

मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिपिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतराऽन्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः । यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टान्तिकः—चेतयितात्र तावद्दर्शनगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम् । तस्य तु व्यवहारेण दृश्यं पुद्गलादि-परद्रव्यम् । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य दृश्यस्य दर्शकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव

करनेवाली कलई, श्वेत कराने योग्य दीवार-आदि परद्रव्यकी है या नहीं ?—इसप्रकार उन दोनोंके तात्त्विक सम्बन्धका यहाँ विचार किया जाता है:—यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्यकी हो तो क्या हो यह प्रथम विचार करते हैं:—'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है;—ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत (-विद्यमान) होनेसे, कलई यदि दीवार-आदिकी हो तो कलई उन दीवार-आदि ही होनी चाहिये (अर्थात् कलई दीवार-आदि स्वरूप ही होनी चाहिये); ऐसा होने पर, कलईके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा । किन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध किया गया है । इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदिकी नहीं है । (-आगे और विचार करते हैं :) यदि कलई दीवार-आदिकी नहीं है तो कलई किसकी है ? कलईकी ही कलई है । (इस) कलईसे भिन्न ऐसी दूसरी कौनसी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है ? (इस) कलईसे भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं । यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है । तब फिर कलई किसीकी नहीं है, कलई कलई ही है—यह निश्चय है । जैसे यह दृष्टान्त है, उसीप्रकार यह दार्ष्टान्त है:—इस जगत्में चेतयिता दर्शन गुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है । पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहारसे उस चेतयिताका दृश्य है । अब, 'दर्शक (-देखनेवाला या श्रद्धान करनेवाला) चेतयिता, दृश्य (-देखनेयोग्य या श्रद्धान करनेयोग्य) जो पुद्गलादि परद्रव्योंका है या नहीं ?—इसप्रकार उन दोनोंके तात्त्विक सम्बन्धका यहाँ विचार करते हैं:—यदि चेतयिता पुद्गलादिका हो तो क्या हो यह पहले विचार करते

प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि दर्शकः, दर्शको दर्शक एवेति निश्चयः ।

अपि च सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम् । तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम् । अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबन्धो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबन्धे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या

हैं—‘जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है’—ऐसा तार्किक सम्बन्ध जीवन्त होनेसे, चेतयिता यदि पुद्गलादिका हो तो चेतयिता पुद्गलादि ही होना चाहिये । (—अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि स्वरूप ही होना चाहिये) ऐसा होने पर, चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा । किन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध कर दिया है । इससे (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है । (आगे और विचार करते हैं) चेतयिता यदि पुद्गलादिका नहीं है । तो चेतयिता किसका है ? चेतयिताका ही चेतयिता है । (इस) चेतयितासे भिन्न दूसरा ऐसा कौनसा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है ? (इस) चेतयितासे भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं । यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है । तब फिर दर्शक किसीका नहीं है, दर्शक दर्शक ही है—यह निश्चय है ।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि: ‘आत्मा परद्रव्यको देखता है अथवा श्रद्धा करता है’—यह व्यवहार कथन है; ‘आत्मा अपनेको देखता है अथवा श्रद्धा करता है’—इस कथनमें भी स्व-स्वामि अंशरूप व्यवहार है; ‘दर्शक दर्शक ही है’—यह निश्चय है ।)

और (जिसप्रकार ज्ञायक तथा दर्शकके सम्बन्धमें दृष्टान्त-दाष्टीन्तसे कहा है) इसीप्रकार अपोहक (त्याग करनेवाले)के सम्बन्धमें कहा जाता है:—इस जगतमें कलई है वह श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाव-वाला द्रव्य है । दीवार-आदि परद्रव्य व्यवहारसे उस कलईका श्वैत्य है (अर्थात् कलई द्वारा श्वेत किये

सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः । यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टान्तिकः—चेतयितात्र तावद् ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावं द्रव्यम् । तस्य तु व्यवहारेणापोहं पुद्गलादिपरद्रव्यम् । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्यापोहस्यापोहकरचेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तच्चदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्तपुच्छेदः । ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता

जाने योग्य पदार्थ) । अब, 'श्वेत, करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य जो दीवार-आदि परद्रव्यकी है या नहीं ?'—इसप्रकार उन दोनोंके तात्त्विक सम्बन्धका यहाँ विचार किया जाता है:—यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्यकी हो तो क्या हो, सो पहले विचार करते हैं:—'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है;—'ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत (विद्यमान) होनेसे, कलई यदि दीवार-आदिकी हो तो कलई वह दीवार-आदि ही होनी चाहिए, (—अर्थात् कलई भीत-आदि स्वरूप ही होनी चाहिये); ऐसा होने पर, कलईके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायेगा परन्तु द्रव्यका उच्छेद नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध किया गया है । इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदिकी नहीं है । (आगे और विचार करते हैं) यदि कलई दीवार-आदिकी नहीं है तो कलई किसकी है ? कलईकी ही कलई है । (इस) कलईसे भिन्न ऐसी दूसरी कौनसी कलई है जिसकी (यह) कलई है ? (इस) कलईसे भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं । यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है । तब फिर कलई किसकी नहीं है, कलई कलई ही है—यह निश्चय है । जैसे यह दृष्टान्त है, उसीप्रकार यहाँ नीचे दार्ष्टान्त दिया जाता है:—इस जगत्में जो चेतयिता है वह, जिसका ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण, परके अपोहनस्वरूप (—त्यागस्वरूप) स्वभाव है ऐसा द्रव्य है । पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहारसे उस चेतयिताका अपोह (त्याग्य) है । अब, 'अपोहक (—त्याग करनेवाला) चेतयिता, अपोह (—त्याग्य) जो पुद्गलादि परद्रव्यका है या नहीं ?'—इसप्रकार उन दोनोंका तात्त्विक सम्बन्ध यहाँ विचार किया जाता है:—यदि चेतयिता पुद्गलादिका हो तो क्या हो यह पहले विचार करते हैं : 'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है;—'ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत होनेसे, चेतयिता यदि पुद्गलादिका हो तो चेतयिता उस पुद्गलादि ही होना

भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुरस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंश-व्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्याप्यपोहकः, अपोहकोऽपोहक एवेति निश्चयः ।

अथ व्यवहारव्याख्यानम्—यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्य-स्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्त-केनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्त-केनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवहियते, तथा चेतयितापि ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितुनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्य-

चाहिये (—अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि स्वरूप ही होना चाहिये); ऐसा होने पर, चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायेगा । परन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका अन्यद्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध किया है । इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है । (आगे और विचार करते हैं;) यदि चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है तो चेतयिता किसका है ? चेतयिताका ही चेतयिता है । (इस) चेतयितासे भिन्न ऐसा दूसरा कौनसा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है ? (इस) चेतयितासे भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं । यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुञ्ज भी साध्य नहीं है । तब फिर अपोहक (—त्याग करनेवाला) किसीका नहीं है, अपोहक अपोहक ही है—यह निश्चय है ।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि : 'आत्मा परद्रव्यको त्यागता है'—यह व्यवहार कथन है; 'आत्मा ज्ञानदर्शनमय ऐसा निजको ग्रहण करता है'—ऐसा कहनेमें भी स्व-स्वामिअंशरूप व्यवहार है; 'अपोहक अपोहक ही है'—यह निश्चय है ।)

अब व्यवहारका विवेचन किया जाता है:—जिसप्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली यही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणामित न होती हुई और दीवार-आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणामित न करती हुई, दीवार-आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (—दीवार-आदिके—) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार-आदि परद्रव्यको, अपने (—कलईके) स्वभावसे श्वेत करती है,—ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला

मानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवहियते । किंच—यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भर-
स्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेना-
परिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना
कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन
श्वेतयतीति व्यवहियते, तथा चेतयितापि दर्शनगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्य-
स्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्त-
केनात्मनो दर्शनगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितुनिमित्त-
केनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन पश्यतीति व्यवहियते । अपि

चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यको
अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसमें निमित्त हैं ऐसे अपने ज्ञानगुणसे
परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने
(-पुद्गलादिके-) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यको, अपने (-चेतयिताके-)
स्वभावसे जानता है—ऐसा व्यवहार किया जाता है ।

और (जिसप्रकार ज्ञानगुणका व्यवहार कहा है) इसीप्रकार दर्शनगुणका व्यवहार कहा जाता
है:—जिसप्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्यके स्वभावरूप
परिणमित न होती हुई और दीवार-आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई,
दीवार-आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न
होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (-दीवार-आदिके-) स्वभावके परिणाम द्वारा
उत्पन्न होनेवाले दीवार-आदि परद्रव्यको अपने (-कलईके-) स्वभावसे श्वेत करती है—ऐसा व्यवहार
किया जाता है; इसीप्रकार दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके
स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता
हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा
उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (-पुद्गलादिके-) स्वभावके परिणाम
द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यको अपने (-चेतयिताके-) स्वभावसे देखता है अथवा श्रद्धा करता
है—ऐसा व्यवहार किया जाता है ।

और (जिसप्रकार ज्ञान-दर्शन गुणका व्यवहार कहा है) इसीप्रकार चारित्रगुणका व्यवहार
कहा जाता है:—जैसे श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्यके स्वभावरूप
परिणमित न होती हुई और दीवार-आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई,

व—यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुण-निर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवहियते, तथा चेतयितापि ज्ञानदर्शनगुण-निर्भरपरापोहनात्मकस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहना-त्मकस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेनापोहतीति व्यवहियते । एवमयमात्मनो ज्ञानदर्शनचारित्र-पर्यायाणां निश्चयव्यवहारप्रकारः । एवमेवान्येषां सर्वेषामपि पर्यायाणां द्रष्टव्यः ।

दीवार-आदि परद्रव्य जिनको निमित्त है ऐसे अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (-दीवार-आदिके-) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुये दीवार-आदि परद्रव्यको, अपने (-कलई-)के स्वभावसे श्वेत करती है—ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार जिसका ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण, परके अपोहनस्वरूप स्वभाव है ऐसा चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण पर-अपोहनात्मक (-परके त्यागस्वरूप) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (-पुद्गलादिके-) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यको, अपने (-चेतयिताके-) स्वभावसे अपोहता है अर्थात् त्याग करता है—इसप्रकार व्यवहार किया जाता है।

इसप्रकार यह, आत्माके ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर्यायोंका निश्चय-व्यवहार प्रकार है। इसीप्रकार अन्य समस्त पर्यायोंका भी निश्चय-व्यवहार प्रकार समझना चाहिये।

भावार्थः—शुद्धनयसे आत्माका एक चेतनामात्र स्वभाव है। उसके परिणाम जानना, देखना, श्रद्धा करना, निवृत्त होना इत्यादि हैं। वहाँ निश्चयनयसे विचार किया जाये तो आत्माको परद्रव्यका ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, दर्शक नहीं कहा जा सकता, श्रद्धान करनेवाला नहीं कहा जा सकता, त्याग करनेवाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि परद्रव्यके और आत्माके निश्चयसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जो ज्ञान, दर्शन, श्रद्धान, त्याग इत्यादि भाव हैं, वे स्वयं ही हैं; भाव-भावकका भेद कहना वह भी व्यवहार है। निश्चयसे भाव और भाव करनेवालेका भेद नहीं है।

• शार्दूलविक्रीडित •

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यांतरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२१५॥

अब व्यवहारनयके सम्बन्धमें । व्यवहारनयसे आत्माको परद्रव्यका ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धान करनेवाला, त्याग करनेवाला कहा जाता है; क्योंकि परद्रव्य और आत्माके निमित्तनैमित्तिकभाव है । ज्ञानादि भावोंका परद्रव्य निमित्त होता है इसलिये व्यवहारीजन कहते हैं कि—आत्मा परद्रव्यको जानता है, परद्रव्यको देखता है, परद्रव्यका श्रद्धान करता है, परद्रव्यका त्याग करता है ।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहारके प्रकारको जानकर यथावत् (जैसा कहा है उसीप्रकार) श्रद्धान करना ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[शुद्ध-द्रव्य-निरूपण-अर्पित-मतेः तत्त्वं समुत्पश्यतः] जिसने शुद्ध द्रव्यके निरूपणमें बुद्धिको लगाया है, और जो तत्त्वका अनुभव करता है, उस पुरुषको [एक-द्रव्य-गतं किम्-अपि द्रव्य-अन्तरं जातुचित् न चकास्ति] एक द्रव्यके भीतर कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ कदापि भासित नहीं होता । [यत्तु ज्ञानं ज्ञेयम् अवैति तत् अयं शुद्ध-स्वभाव-उदयः] ज्ञान ज्ञेयको जानता है वह तो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है । [जनाः] जब कि ऐसा है तब फिर लोग [द्रव्य-अन्तर-चुम्बन-आकुलधियः] ज्ञानको अन्य द्रव्यके साथ स्पर्श होनेकी मान्यतासे आकुल बुद्धिवाले होते हुए [तत्त्वात्] तत्त्वसे (शुद्ध स्वरूपसे) [किंच्यवन्ते] क्यों च्युत होते हैं ?

भावार्थः—शुद्धनयकी दृष्टिसे तत्त्वका स्वरूप विचार करनेपर अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमें प्रवेश दिखाई नहीं देता । ज्ञानमें अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं सो तो यह ज्ञानकी स्वच्छताका स्वभाव है; कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञानको स्पर्श नहीं करते । ऐसा होनेपर भी, ज्ञानमें अन्य द्रव्योंका प्रतिभास देखकर यह लोग ऐसा मानते हुए ज्ञानस्वरूपसे च्युत होते हैं कि 'ज्ञानको परस्त्रेयोंके साथ परमार्थ सम्बन्ध है'; यह उनका अज्ञान है । उन पर करुणा करके आचार्यदेव कहते हैं कि—यह लोग तत्त्वसे क्यों च्युत हो रहे हैं ? २१५ ।

पुनः इसी अर्थको दृढ़ करते हुए कहते हैं:—

* मन्दाक्रान्ता *



शुद्धद्रव्यस्वरसम्भवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥२१६॥

* मन्दाक्रान्ता *

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम् ।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥२१७॥

श्लोकार्थः—[शुद्ध-द्रव्य-स्वरस-भवनत्] शुद्ध द्रव्यका (आत्मा आदि द्रव्यका) निजरसरूप (—ज्ञानादि स्वभावमें) परिणमन होता है इसलिये, [शेषम् अन्यत्-द्रव्यं किं स्वभावस्य भवति] क्या शेष कोई अन्य द्रव्य उस (ज्ञानादि) स्वभावका हो सकता है ? (नहीं ।) [यदि वा स्वभावः किं तस्य स्यात्] अथवा क्या वह (ज्ञानादि स्वभाव) किसी अन्य द्रव्यका हो सकता है ? (नहीं । परमार्थसे एक द्रव्यका अन्य द्रव्यके साथ सम्बन्ध नहीं है ।) [ज्योत्स्नारूपं भुवं स्नपयति] चाँदनीका रूप पृथ्वीको उज्ज्वल करता है [भूमिः तस्य न एव अस्ति] तथापि पृथ्वी चाँदनीकी कदापि नहीं होती; [ज्ञानं ज्ञेयं सदा कलयति] इसप्रकार ज्ञान ज्ञेयको सदा जानता है [ज्ञेयम् अस्य अस्ति न एव] तथापि ज्ञेय ज्ञानका कदापि नहीं होता ।

भावार्थः—शुद्धनयकी दृष्टिसे देखा जाये तो किसी द्रव्यका स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता । जैसे चाँदनी पृथ्वीको उज्ज्वल करती है किन्तु पृथ्वी चाँदनीकी किञ्चित्मात्र भी नहीं होती, इसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता है किन्तु ज्ञेय ज्ञानका किञ्चित्मात्र भी नहीं होता । आत्माका ज्ञानस्वभाव है इसलिये उसकी स्वच्छतामें ज्ञेय स्वयमेव भलकता है, किन्तु ज्ञानमें उन ज्ञेयोंका प्रवेश नहीं होता । २१६ ।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[तावत् राग-द्वेष-द्वयम् उदयते] रागद्वेषका द्वन्द्व तबतक उदयको प्राप्त होता है [यावत् एतत् ज्ञानं ज्ञानं न भवति] कि जबतक यह ज्ञान ज्ञानरूप न हो [पुनः बोध्यम् बोध्यतां न याति] और ज्ञेय ज्ञेयत्वको प्राप्त न हो । [तत् इदं ज्ञानं न्यक्कृत-अज्ञानभावं ज्ञानं भवतु] इसलिये यह ज्ञान, अज्ञानभावको दूर करके, ज्ञानरूप हो—[येन भाव-अभावौ तिरयन् पूर्णस्वभावः भवति] कि जिससे भाव-अभाव (राग-द्वेष)को रोकता हुआ पूर्णस्वभाव (प्रगट) हो जाये ।

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि एत्थि दु अचेयणे विसये ।
 तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥३६६॥
 दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे कम्मसे ।
 तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्मि कम्ममिहि ॥३६७॥
 दंसणणाणचरित्तं किंचि वि एत्थि दु अचेयणे काये ।
 तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥
 णाणस्य दंसणसस य भणिञ्चो घाञ्चो तथा चरित्तसस ।
 ए वि तहि पुग्गलदव्वसस को वि घाञ्चो उ णिदिट्ठो ॥३६९॥

भावार्थः—जबतक ज्ञान ज्ञानरूप न हो, ज्ञेय ज्ञेयरूप न हो, तबतक रागद्वेष उत्पन्न होता है; इसलिये इस ज्ञान, अज्ञानभावको दूर करके, ज्ञानरूप होओ, कि जिससे ज्ञानमें जो भाव और अभावरूप दो अवस्थाएँ होती हैं वे मिट जायें और ज्ञान पूर्णस्वभावको प्राप्त हो जायें। यह प्रार्थना है। २१७।

‘ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न है, आत्माके दर्शनज्ञानचारित्रादि कोई गुण परद्रव्योंमें नहीं है’ ऐसा जाननेके कारण सम्यग्दृष्टिको विषयोंके प्रति राग नहीं होता; और रागद्वेषादि जड़ विषयोंमें भी नहीं होते; वे मात्र अज्ञानदशामें-प्रवर्तमान जीवके परिणाम हैं।—इस अर्थकी गाथाएँ कहते हैं:—

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहि अचेतन विषयसं ।
 इस हेतुसे यह आत्मा क्या हन सके उन विषयसं ? ॥३६६॥
 चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहि अचेतन कर्मसं ।
 इस हेतुसे यह आत्मा क्या हन सके उन कर्मसं ? ॥३६७॥
 चारित्र-दर्शन-ज्ञान किञ्चित् नहि अचेतन कायसं ।
 इस हेतुसे यह आत्मा क्या हन सके उन कायसं ? ॥३६८॥
 है ज्ञानका, सम्यक्तका, उपधात चारित्तका कहा ।
 वहाँ और कुछ भी नहि कहा उपधात पुद्गलद्रव्यका ॥३६९॥

जीवस्य जे गुणा केह एत्थि खलु ते परेसु दब्बेसु ।
 तन्हा सम्माहट्टिसस एत्थि रागो उ विसएसु ॥३७०॥
 रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणरणपरिणामा ।
 एएण कारणेण उ सदादिसु एत्थि रागादि ॥३७१॥

दर्शनज्ञानचारित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने विषये ।

तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु विषयेषु ॥३६६॥

दर्शनज्ञानचारित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि ।

तस्मात्किं हंति चेतयिता तत्र कर्मणि ॥३६७॥

दर्शनज्ञानचारित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने काये ।

तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु कायेषु ॥३६८॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य च भणितो घातस्तथा चारित्रस्य ।

नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोऽपि घातस्तु निर्दिष्टः ॥३६९॥

गाथा ३६६-३७१

गाथार्थः—[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने विषये तु] अचेतन विषयमें
 [किञ्चित् अपि] किञ्चित् मात्र भी [न अस्ति] नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [चेतयिता] आत्मा
 [तेषु विषयेषु] उन विषयोंमें [किं हंति] क्या घात करेगा ?

जो जीवके गुण है नियत वे कोई नहि परद्रव्यमें ।

इस हेतुसे सद्दृष्टि जीवको राग नहि है विषयमें ॥३७०॥

अरु राग, द्वेष, विमोह तो जीवके अनन्य परिणाम हैं ।

इस हेतुसे शब्दादि विषयोंमें नहीं रागादि हैं ॥३७१॥

जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु ।

तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नारित रागस्तु विषयेषु ॥३७०॥

रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः ।

एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः ॥३७१॥

[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने कर्मणि तु] अचेतन कर्ममें [किञ्चित् अपि] किञ्चित् मात्र भी [न अस्ति] नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [चेतयिता] आत्मा [तत्र कर्मणि] उन कर्ममें [किं हति] क्या घात करेगा ? (कुछ भी घात नहीं कर सकता ।)

[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने काये तु] अचेतन कायमें [किञ्चित् अपि] किञ्चित् मात्र भी [न अस्ति] नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [चेतयिता] आत्मा [तेषु कायेषु] उन कायोंमें [किं हति] क्या घात करेगा ? (कुछ भी घात नहीं कर सकता ।)

[ज्ञानस्य] ज्ञानका, [दर्शनस्य च] और दर्शनका [तथा चारित्रस्य] तथा चारित्रका [घाताः भणितः] घात कहा है, [तत्र] वहाँ [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यका [घातः तु] घात [किः अपि] किञ्चित् मात्र भी [न अपि निर्दिष्टः] नहीं कहा है । (अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्रके घात होने पर पुद्गलद्रव्यका घात नहीं होता ।)

(इसप्रकार) [ये केचित्] जो कोई [जीवस्य गुणाः] जीवके गुण हैं, [ते खलु] वे वास्तवमें [परेषु द्रव्येषु] पर द्रव्यमें [न संति] नहीं हैं, [तस्मात्] इसलिये [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टिके [विषयेषु] विषयोंके प्रति [रागः तु] राग [न अस्ति] नहीं है ।

[च] और [रागः द्वेषः मोहः] राग, द्वेष और मोह [जीवस्य एव] जीवके ही [अनन्य परिणामाः] अनन्य (एकरूप) परिणाम हैं, [एतेन कारणेन तु] इस कारणसे [रागादयः] रागादिक [शब्दादिषु] शब्दादि विषयोंमें (भी) [न संति] नहीं हैं ।

(रागद्वेषादि न तो सम्यग्दृष्टि आत्मामें हैं और न जड़ विषयोंमें, वे मात्र अज्ञानदशामें रहनेवाले जीवके परिणाम हैं ।)

यद्धि यत्र भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते; यत्र च यद्भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते । यच्च यत्र न भवति तत्तद्घाते न हन्यते, यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते; यत्र च यन्न भवति तत्तद्घाते न हन्यते, यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते । अथात्मनो धर्मा दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्यघातेऽपि न हन्यन्ते, न च दर्शनज्ञानचारित्राणां घातेऽपि पुद्गलद्रव्यं हन्यते; एवं दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्ये न भवन्तीत्यायाति; अन्यथा तद्घाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते तद्घातस्य दुर्निवारत्वात् । यत एवं ततो ये यावन्तः केचनपि जीवगुणास्ते सर्वेऽपि परद्रव्येषु न संतीति सम्यक् पश्यामः, अन्यथा अत्रापि जीवगुणघाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते जीवगुणघातस्य च दुर्निवारत्वात् । यद्येवं तर्हि कुतः सम्यग्दृष्टेर्भवति रागो विषयेषु ? न कुतोऽपि । तर्हि रागस्य कतरा खानिः ? रागद्वेषमोहा हि जीवस्यैवाज्ञानमयाः परिणामाः, ततः परद्रव्यत्वाद्विषयेषु न संति, अज्ञानाभावात्सम्यग्दृष्टौ तु न भवन्ति । एवं ते विषयेष्वसंतः सम्यग्दृष्टेर्न भवन्तो, न भवन्त्येव ।

टीका:—वास्तवमें जो जिसमें होता है वह उसका घात होनेपर नष्ट होता ही है (अर्थात् आधारका घात होने पर आधेयका घात हो ही जाता है), जैसे दीपकके घात होनेपर (उसमें रहनेवाला) प्रकाश नष्ट हो जाता है; तथा जिसमें जो होता है वह उसका नाश होनेपर अवश्य नष्ट हो जाता है (अर्थात् आधेयका घात होनेपर आधारका घात हो जाता ही है), जैसे प्रकाशका घात होनेपर दीपकका घात हो जाता है । और जो जिसमें नहीं होता वह उसका घात होनेपर नष्ट नहीं होता, जैसे घड़ेका नाश होनेपर *घट-प्रदीपका नाश नहीं होता; तथा जिसमें जो नहीं होता वह उसका घात होनेपर नष्ट नहीं होता, जैसे घट-प्रदीपका घात होनेपर घटका नाश नहीं होता । (इसप्रकारसे न्याय कहा है ।) अब, आत्माके धर्म-दर्शन, ज्ञान और चारित्र-पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर भी नष्ट नहीं होते और दर्शन-ज्ञान-चारित्रका घात होनेपर भी पुद्गलद्रव्यका नाश नहीं होता (यह तो स्पष्ट है); इसलिये इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि—‘दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं’ क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो दर्शन-ज्ञान-चारित्रका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात, और पुद्गलद्रव्यके घात होनेपर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका अवश्य ही घात होना चाहिए । ऐसा होनेसे जीवके जो जितने गुण हैं वे सब परद्रव्योंमें नहीं हैं यह हम भलीभाँति देखते-मानते हैं; क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो, यहाँ भी जीवके गुणोंका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात, और पुद्गलद्रव्यके घात होनेपर जीवके गुणका घात होना अनिवार्य हो जाय । (किन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध हुआ कि जीवके कोई गुण पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं ।)

* घट-प्रदीप—घड़ेमें रखा हुआ दीपक । (परमार्थतः दीपक घड़ेमें नहीं है, घड़ेमें तो घड़ेके ही गुण हैं ।)

* मंदाक्रांता *

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित् ।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥२१८॥

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टिको विषयोंमें राग किस कारणसे होता है ? उत्तरः—किसी भी कारणसे नहीं होता । (प्रश्नः—) तब फिर रागकी खान (उत्पत्ति स्थान) कौनसी है ? (उत्तरः—) राग-द्वेष-मोह, जीवके ही अज्ञानमय परिणाम हैं (अर्थात् जीवका अज्ञान ही रागादिको उत्पन्न करनेकी खान है); इसलिये वे रागद्वेषमोह, विषयोंमें नहीं हैं क्योंकि विषय परद्रव्य हैं, और वे सम्यग्दृष्टिमें (भी) नहीं हैं क्योंकि उसके अज्ञानका अभाव है; इसप्रकार रागद्वेषमोह, विषयोंमें न होनेसे और सम्यग्दृष्टिके (भी) न होनेसे, (वे) हैं ही नहीं ।

भावार्थः—आत्माके अज्ञानमय परिणामरूप रागद्वेषमोह उत्पन्न होनेपर आत्माके दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यादि गुणोंका घात होता है, किन्तु गुणोंके घात होनेपर भी अचेतन पुद्गलद्रव्यका घात नहीं होता; और पुद्गलद्रव्यके घात होनेपर दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यादिका घात नहीं होता; इसलिये जीवके कोई भी गुण पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं । ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टिको अचेतन विषयोंमें रागादिक नहीं होते । रागद्वेषमोह पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं, वे जीवके ही अस्तित्वमें अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं; जब अज्ञानका अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि होता है, तब राग-द्वेषादि उत्पन्न नहीं होते । इसप्रकार रागद्वेषमोह न तो पुद्गलद्रव्यमें हैं और न सम्यग्दृष्टिमें भी होते हैं, इसलिये शुद्धद्रव्यदृष्टिसे देखनेपर वे हैं ही नहीं, और पर्यायदृष्टिसे देखनेपर वे जीवको अज्ञान अवस्थामें हैं । ऐसा जानना चाहिये ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[इह ज्ञानम् हि अज्ञानभावात् राग-द्वेषौ भवति] इस जगतमें ज्ञान ही अज्ञानभावसे रागद्वेषरूप परिणमित होता है; [वस्तुत्व-प्रणिहित-दृशा दृश्यमानौ तौ किञ्चित् न] वस्तुत्वमें स्थापित (—एकाग्र की गई) दृष्टिसे देखनेपर (अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे देखनेपर), वे रागद्वेष कुछ भी नहीं हैं (—द्रव्यरूप पृथक् वस्तु नहीं हैं) । [ततः सम्यग्दृष्टिः तत्त्वदृष्ट्या तौ स्फुटं क्षपयतु] इसलिये (आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि) सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टिसे उन्हें (रागद्वेषको) स्पष्टतया क्षय करो, [येन पूर्ण-अचल-अचिः सहजं ज्ञानज्योतिः ज्वलति] कि जिससे, पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है ऐसी (दैवीप्यमान) सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो ।

भावार्थः—रागद्वेष कोई पृथक् द्रव्य नहीं है, वे (रागद्वेषरूप परिणाम) जीवके अज्ञानभावसे होते हैं; इसलिये सम्यग्दृष्टि होकर तत्त्वदृष्टिसे देखा जाये तो वे (रागद्वेष) कुछ भी वस्तु नहीं हैं ऐसा दिखाई देता है, और घातिकर्मका नाश होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है । २१८ ।

* शालिनी *

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
 नान्यद्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि ।
 सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
 व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२१९॥

अणद्विविण अणद्वियस ए कीर ए गुणपात्रो ।
 तस्मा उ सर्वद्रव्या उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः ।

तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यन्ते स्वभावेन ॥३७२॥

अब आगेकी गाथामें यह कहेंगे कि 'अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यको गुण उत्पन्न नहीं कर सकता' इसका सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[तत्त्वदृष्ट्या] तत्त्वदृष्टिसे देखा जाये तो, [राग-द्वेष-उत्पादकं अन्यत् द्रव्यं किञ्चन अपि न वीक्ष्यते] रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित्मात्र भी दिखाई नहीं देता, [यस्मात् सर्व-द्रव्य-उत्पत्तिः स्वस्वभावेन अन्तः अत्यन्तं व्यक्ता चकास्ति] क्योंकि सर्व द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने स्वभावसे ही होती हुई अन्त रंगमें अत्यन्त प्रगट (स्पष्ट) प्रकाशित होती है ।

भावार्थः—रागद्वेष चेतनके ही परिणाम हैं । अन्य द्रव्य आत्माको रागद्वेष उत्पन्न नहीं करा सकता; क्योंकि सर्व द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने अपने स्वभावसे ही होती है, अन्य द्रव्यमें अन्य द्रव्यके गुणपर्यायोंकी उत्पत्ति नहीं होती । २१६ ।

अब इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ३७२

गाथार्थः—[अन्यद्रव्येण] अन्य द्रव्यसे [अन्यद्रव्यस्य] अन्य द्रव्यके [गुणोत्पादः] गुणकी उत्पत्ति [न क्रियते] नहीं की जा सकती; [तस्मात् तु] इससे (यह सिद्धान्त हुआ कि) [सर्वद्रव्याणि] सर्व द्रव्य [स्वभावेन] अपने अपने स्वभावसे [उत्पद्यन्ते] उत्पन्न होते हैं ।

को द्रव्य दूसरे द्रव्यमें उत्पाद नहीं गुणका करे ।

इस हेतुसे सब ही द्रव्य उत्पन्न आप स्वभावसे ॥३७२॥

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शंक्यं; अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पाद-
करणस्यायोगात्; सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात् । तथाहि—मृत्तिका कुंभभावेनोत्पद्यमाना
किं कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते; किं मृत्तिकास्वभावेन ? यदि कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा
कुंभकरणाहंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुषशरीराकारः कुंभः स्यात् । न च तथास्ति,
द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् । यद्येवं तर्हि मृत्तिका कुंभकारस्वभावेन
नोत्पद्यते, किंतु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात् । एवं च सति
मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुंभकारः कुंभस्योत्पादक एव; मृत्तिकैव कुंभकारस्वभाव-
मस्पृशंती स्वस्वभावेन कुंभभावेनोत्पद्यते । एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्य-
मानानि किं निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यते, किं स्वस्वभावेन ? यदि निमित्तभूतद्रव्यांतर-
स्वभावेनोत्पद्यन्ते तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात् । न च तथास्ति, द्रव्यांतर-
स्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् । यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्य-
स्वभावेनोत्पद्यन्ते, किंतु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात् । एवं च
सति सर्वद्रव्याणां स्वस्वभावानतिक्रमान्न निमित्तभूतद्रव्यांतराणि स्वपरिणामस्योत्पादकान्येव;
सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावमस्पृशंति स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेनोत्पद्यन्ते । अतो
न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः ।

टीकाः—और भी ऐसी शंका नहीं करना चाहिये कि—परद्रव्य जीवको रागादि उत्पन्न करते हैं;
क्योंकि अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोंको उत्पन्न करनेकी अयोग्यता है; क्योंकि सर्व द्रव्योंका
स्वभावसे ही उत्पाद होता है । यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझाई जा रही है:—

मिट्टी घटभावरूपसे उत्पन्न होती हुई कुम्हारके स्वभावसे उत्पन्न होती है या मिट्टीके ? यदि
कुम्हारके स्वभावसे उत्पन्न होती हो तो जिसमें घटको बनानेके अहंकारसे भरा हुआ पुरुष विद्यमान है और
जिसका हाथ (घड़ा बनानेका) व्यापार करता है ऐसे पुरुषके शरीराकार घट होना चाहिये । परन्तु ऐसा
तो नहीं होता, क्योंकि अन्यद्रव्यके स्वभावसे किसी द्रव्यके परिणामका उत्पाद देखनेमें नहीं आता । यदि
ऐसा है तो फिर मिट्टी कुम्हारके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होती, परन्तु मिट्टीके स्वभावसे ही उत्पन्न होती है
क्योंकि (द्रव्यके) अपने स्वभावरूपसे द्रव्यके परिणामका उत्पाद देखा जाता है । ऐसा होनेसे, मिट्टी
अपने स्वभावको उल्लंघन नहीं करती इसलिये, कुम्हार घड़ेका उत्पादक है ही नहीं; मिट्टी ही, कुम्हारके
स्वभावको स्पृशं न करती हुई अपने स्वभावसे कुम्भभावरूपसे उत्पन्न होती है ।

* मालिनी *

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
 कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।
 स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
 भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२२०॥

इसीप्रकार—सभी द्रव्य स्वपरिणामपर्यायसे (अर्थात् अपने परिणाम भावरूपसे) उत्पन्न होते हुए, निमित्तभूत अन्यद्रव्योंके स्वभावसे उत्पन्न होते हैं कि अपने स्वभावसे ? यदि निमित्तभूत अन्यद्रव्योंके स्वभावसे उत्पन्न होते हों तो उनके परिणाम निमित्तभूत अन्यद्रव्योंके आकारके होने चाहिये । परन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि अन्यद्रव्यके स्वभावरूपसे किसी द्रव्यके परिणामका उत्पाद दिखाई नहीं देता । जब कि ऐसा है तो सर्व द्रव्य निमित्तभूत अन्यद्रव्योंके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होते, परन्तु अपने स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि (द्रव्यके) अपने स्वभावरूपसे द्रव्यके परिणामका उत्पाद देखनेमें आता है । ऐसा होनेसे, सर्व द्रव्य अपने स्वभावको उल्लंघन न करते होनेसे, निमित्तभूत अन्य द्रव्य अपने (अर्थात् सर्व द्रव्योंके) परिणामोंके उत्पादक हैं ही नहीं, सर्व द्रव्य ही, निमित्तभूत अन्यद्रव्यके स्वभावको स्पर्श न करते हुए, अपने स्वभावसे अपने परिणामभावरूपसे उत्पन्न होते हैं ।

इसलिये (आचार्यदेव कहते हैं कि) हम जीवके रागादिका उत्पादक परद्रव्यको नहीं देखते (—मानते) कि जिस पर कोप करें ।

भाषार्थः—आत्माको रागादि उत्पन्न होते हैं सो वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं । यदि निश्चयनयसे विचार किया जाये तो अन्यद्रव्य रागादिका उत्पन्न करनेवाला नहीं है, अन्यद्रव्य उनका निमित्तमात्र है, क्योंकि अन्य द्रव्यके अन्य द्रव्य गुणपर्याय उत्पन्न नहीं करता यह नियम है । जो यह मानते हैं—ऐसा एकान्त प्रहण करते हैं कि—परद्रव्य ही मुझमें रागादिक उत्पन्न करते हैं, वे त्रयविभागको नहीं समझते, वे मिथ्यादृष्टि हैं । यह रागादिक जीवके सस्वमें उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है—ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है । इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—हम राग-द्वेषकी उत्पत्तिमें अन्य द्रव्यपर क्यों कोप करें ? राग-द्वेषका उत्पन्न होना तो अपना ही अपराध है ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[इह] इस आत्मामें [यत् राग-द्वेष-दोष-प्रसूतिः भवति] जो रागद्वेषरूप दोषोंकी उत्पत्ति होती है [तत्र परेषां कतरत् अपि दूषणं नास्ति] उसमें परद्रव्यका कोई भी दोष नहीं

रथोद्धता

रागजन्मनि निमित्तां पर-
द्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं
शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः ॥२२१॥

है, [तत्र स्वयम् अपराधी अयम् अबोधः सर्पति] वहाँ तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलाता है;—
[विदितम् भवतु] इसप्रकार विदित हो और [अबोधः अस्तं यातु] अज्ञान अस्त हो जाये; [बोधः
अस्ति] मैं तो ज्ञान हूँ ।

भावार्थः—अज्ञानी जीव परद्रव्यसे रागद्वेषकी उत्पत्ति होती हुई मानकर परद्रव्यपर कोप करता है कि—‘वह परद्रव्य मुझे रागद्वेष उत्पन्न कराता है, उसे दूर करूँ। ऐसे अज्ञानी जीवको समझानेके लिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि—रागद्वेषकी उत्पत्ति अज्ञानसे आत्मामें ही होती है और वे आत्माके ही अशुद्ध परिणाम हैं । इसलिये इस अज्ञानको नाश करो, सम्यग्ज्ञान प्रगट करो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव करो; परद्रव्यको रागद्वेषका उत्पन्न करनेवाला मानकर उसपर कोप न करो । २२० ।

अब इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये और आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

-श्लोकार्थः—[ये तु राग-जन्मनि परद्रव्यम् एव निमित्तां कलयन्ति] जो रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यका ही निमित्तत्व (—कारणत्व) मानते हैं, (अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते,) [ते शुद्ध-
बोध-विधुर-अंध-बुद्धयः] वे-जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञानसे रहित अंध है ऐसे (अर्थात् जिनकी बुद्धि शुद्धनयके विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूपके ज्ञानसे रहित अंध है ऐसे)—[मोह-वाहिनीं न हि उत्तरन्ति]
—मोहनदीको पार नहीं कर सकते ।

भावार्थः—शुद्धनयका विषय आत्मा अनन्त शक्तिवान्, चैतन्यचमत्कारमात्र, नित्य, अभेद, एक है। वह अपने ही अपराधसे रागद्वेषरूप परिणमित होता है। ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित कराता है उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है, और उसमें आत्माका कोई पुरुषार्थ ही नहीं है। जिन्हें आत्माके ऐसे स्वरूपका ज्ञान नहीं है वे यह मानते हैं कि परद्रव्य आत्माको जिसप्रकार परिणामन कराता है उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है। ऐसा माननेवाले मोहरूपी नदीको पार नहीं कर सकते (अथवा मोह-सैन्यको नहीं हरा सकते), उनके रागद्वेष नहीं मिटते; क्योंकि रागद्वेष करनेमें यदि अपना पुरुषार्थ हो तो वह उनके मिटानेमें भी हो सकता है, किन्तु यदि दूसरेके कराये ही रागद्वेष होता हो तो पर तो रागद्वेष कराया ही करे, तब आत्मा उन्हें कहांसे मिटा सकेगा ? इसलिये रागद्वेष अपने किये होते हैं और अपने मिटाये मिटते हैं—इसप्रकार कथंचित् मानना सो सम्यग्ज्ञान है । २२१ ।

णिंदियसंश्रुयत्रयणाणि पोरगला परिणमंति बहुयाणि ।
 ताणि सुणिऊण रूसइ तूसइ य पुणो अहं भणिओ ॥३७३॥
 पोरगलदब्बं संहत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अरणो ।
 तम्हा ए तुमं भणिओ किंवि वि किं रूससि अबुद्धो ॥३७४॥
 असुहो सुहो व सहो ए तं भणइ सुणसु मंति सो चेव ।
 ए य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सहं ॥३७५॥
 असुहं सुहं व रूवं ए तं भणइ पिच्छं पंति सो चेव ।
 ए य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ॥३७६॥
 असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घं मंति सो चेव ।
 ए य एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं ॥३७७॥

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दादिरूप परिणमते पुद्गल आत्मासे कहीं यह नहीं कहते हैं कि 'तू हमें जान', और आत्मा भी अपने स्थानसे छूटकर उन्हें जाननेको नहीं जाता। दोनों सर्वथा स्वतंत्रतया अपने अपने स्वभावसे ही परिणमित होते हैं। इसप्रकार आत्मा परके प्रति उदासीन (—सम्बन्ध रहित, तटस्थ) है, तथापि अज्ञानी जीव स्पर्शादिको अच्छे-बुरे मानकर रागीद्वेषी होता है यह उसका अज्ञान है।

इस अर्थकी गाथा कहते हैं:—

पुद्गलदरव बहु भंति निंदा-स्तुतिवचनरूप परिणमे ।
 सुनकर उन्हें 'मुझको कहा' गिन रोष तोष जु जीव करे ॥३७३॥
 पुद्गलदरव शब्दत्वपरिणत, उसका गुण जो अन्य है ।
 तो नहीं कहा कुछ भी तुझे, हे अवुध ! रोष तू क्यों करे ॥३७४॥
 शुभ या अशुभ जो शब्द वो 'तू सुन मुझे' न तुझे कहे ।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे कर्णगोचर शब्दको ॥३७५॥
 शुभ या अशुभ जो रूप वो 'तू देख मुझको' नहीं कहे ।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे चक्षुगोचर रूपको ॥३७६॥
 शुभ या अशुभ जो गंध वो 'तू सूंघ मुझको' नहीं कहे ।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे घ्राणगोचर गंधको ॥३७७॥

असुहो सुहो व रसो ए तं भणइ रसय मंति सो चैव ।
 ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं ॥३७८॥
 असुहो सुहो व फासो ए तं भणइ फुससु मंति सो चैव ।
 ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं ॥३७९॥
 असुहो सुहो व गुणो ए तं भणइ बुज्झ मंति सो चैव ।
 ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं ॥३८०॥
 असुहं सुहं व दव्वं ए तं भणइ बुज्झ मंति सो चैव ।
 ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दव्वं ॥३८१॥
 एयं तु जाणिऊण उवसमं एव गच्छई मूढो ।
 णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥३८२॥

निन्दितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि ।
 तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥३७३॥

गाथा ३७३-३८२

गाथार्थः—[बहुकानि] बहुत प्रकारके [निन्दितसंस्तुतवचनानि] निन्दाके और स्तुतिके वचनरूपमें [पुद्गलाः] पुद्गल [परिणमंति] परिणमित होते हैं; [तानि श्रुत्वा पुनः] उन्हें सुनकर

शुभ या अशुभ रस कोई भी 'तू चाख मुझको' नहीं कहे ।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे रसनगोचर स्वादको ॥३७८॥
 शुभ या अशुभ जो स्पर्श वो 'तू स्पर्श मुझको' नहीं कहे ।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे कायगोचर स्पर्शको ॥३७९॥
 शुभ या अशुभ गुण कोई भी 'तू जान मुझको' नहीं कहे ।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर गुण अरे ॥३८०॥
 शुभ या अशुभ जो द्रव्य वो 'तू जान मुझको' नहीं कहे ।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर द्रव्य रे ॥३८१॥
 यह जानकर भी मूढ जीव पावे नहीं उपशम अरे ।
 शिव बुद्धिको पाया नहीं वो पर ग्रहण करना चहे ॥३८२॥

पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः ।
 तस्मान्न त्वं भणितः किञ्चिदपि किं रूपस्यचुद्धः ॥३७४॥
 अशुभः शुभो वा शब्दो न त्वां भणति शृणु मामिति स एव ।
 न चैति विनिर्ग्रहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दम् ॥३७५॥
 अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव ।
 न चैति विनिर्ग्रहीतुं चक्षुर्विषयमागतं रूपम् ॥३७६॥
 अशुभः शुभो वा गंधो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव ।
 न चैति विनिर्ग्रहीतुं घ्राणविषयमागतं गन्धम् ॥३७७॥
 अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव ।
 न चैति विनिर्ग्रहीतुं रसनविषयमागतं तु रसम् ॥३७८॥

अज्ञानी जीव [अहं भणितः] 'मुझसे कहा' ऐसा मानकर [रूपति तुष्यति च] रोष और संतोष करता है (अर्थात् क्रोध करता है और प्रसन्न होता है) ।

[पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य [शब्दत्वपरिणतं] शब्दरूपसे परिणमित हुआ है; [तस्य गुणः] उसका गुण [यदि अन्यः] यदि (तुझसे) अन्य है, [तस्मात्] तो हे अज्ञानी जीव ! [त्वं न किञ्चित् अपि भणितः] तुझसे कुछ भी नहीं कहा है; [अचुद्धः] तू अज्ञानी होता हुआ [किं रूपसि] क्यों रोष करता है ?

[अशुभः वा शुभः शब्दः] अशुभ अथवा शुभ शब्द [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् शृणु इति] 'तू मुझे सुन'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थानसे च्युत होकर), श्रोत्रविषयम् आगतं शब्दम्] श्रोत्र-इन्द्रियके विषयमें आये हुए शब्दको [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करनेको (-जाननेको) नहीं जाता ।

[अशुभं वा शुभं रूपं] अशुभ अथवा शुभ रूप [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् पश्य इति] 'तू मुझे देख'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थानसे छूटकर), [चक्षुर्विषयम् आगतं] चक्षु-इन्द्रियके विषयमें आये हुए [रूपम्] रूपको [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करनेको नहीं जाता ।

[अशुभः वा शुभः गंधः] अशुभ अथवा शुभ गंध [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहती कि [माम् जिघ्र इति] 'तू मुझे सूँघ'; [सः एव च] और आत्मा भी [घ्राणविषयम् आगतं गंधम्] घ्राण-इन्द्रियके विषयमें आई हुई गंधको [विनिर्ग्रहीतुं न एति] (अपने स्थानसे च्युत होकर) ग्रहण करने नहीं जाता ।

अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव ।

न चैति विनिर्ग्रहीतुं कायविषयमागतं स्पर्शम् ॥३७९॥

अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।

न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणम् ॥३८०॥

अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।

न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यम् ॥३८१॥

एतत्तु ज्ञात्वा उपशमं नैव गच्छति मूढः ।

विनिर्ग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवाप्तप्राप्तः ॥३८२॥

[अशुभः वा शुभः रसः] अशुभ अथवा शुभ रस [त्वां न भणति] तुभक्ते यह नहीं कहता कि [माम् रसय इति] 'तू मुझे चख'; [सः एव च] और आत्मा भी [रसनविषयम् आगतं तु रसम्] रसना-इन्द्रियके विषयमें आये हुए रसको (अपने स्थानसे च्युत होकर), [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता ।

[अशुभः वा शुभः स्पर्शः] अशुभ अथवा शुभ स्पर्श [त्वां न भणति] तुभक्ते यह नहीं कहता कि [माम् स्पृश इति] 'तू मुझे स्पर्श कर'; [सः एव च] और आत्मा भी, [कायविषयम् आगतं स्पर्शम्] कायके (स्पर्श-इन्द्रियके) विषयमें आये हुए स्पर्शको (अपने स्थानसे च्युत होकर), [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता ।

[अशुभः वा शुभः गुणः] अशुभ अथवा शुभ गुण [त्वां न भणति] तुभक्ते यह नहीं कहता कि [माम् बुध्यस्व इति] 'तू मुझे जान'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थानसे च्युत होकर), [बुद्धिविषयम् आगतं तु गुणम्] बुद्धिके विषयमें आये हुए गुणको [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता ।

[अशुभं वा शुभं द्रव्यं] अशुभ अथवा शुभ द्रव्य [त्वां न भणति] तुभक्ते यह नहीं कहता कि [माम् बुध्यस्व इति] 'तू मुझे जान'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थानसे च्युत होकर), [बुद्धिविषयम् आगतं द्रव्यम्] बुद्धिके विषयमें आये हुए द्रव्यको [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता ।

[एतत्तु ज्ञात्वा] ऐसा जानकर भी [मूढः] मूढ जीव [उपशमं न एव गच्छति] उपशमको प्राप्त नहीं होता; [च] और [शिवाप्त बुद्धिं अप्राप्तः च स्वयं] शिव बुद्धिको (कल्याणकारी बुद्धिको, सम्पन्नानको) न प्राप्त हुआ स्वयं [परस्य विनिर्ग्रहमनाः] परको ग्रहण करनेका मन करता है ।

यथेह बहिरर्थो घटपटादिः, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा, 'मां प्रकाशय' इति स्वप्रकाशने न प्रदीपं प्रयोजयति, न च प्रदीपोप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तं प्रकाशयितुमायाति; किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्तत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते । स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन् कमनीयोऽकमनीयो वा घटपटादिर्न मनागपि विक्रियायै कल्प्यते । तथा बहिरर्थाः शब्दो, रूपं, गंधो, रसः, स्पर्शो, गुणद्रव्ये च, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा, 'मां शृणु, मां पश्य, मां जिघ्र, मां रसय, मां स्पृश, मां बुध्यस्व' इति स्वज्ञाने नात्मानं प्रयोजयति, न चात्माप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् ज्ञातुमायाति; किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्तत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव जानीते । स्वरूपेणैव जानतश्चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयंतः कमनीया अकमनीया वा शब्दादयो बहिरर्था न मनागपि विक्रियायै कल्प्येरन् । एवमात्मा प्रदीपवत् परं प्रति उदासीनो नित्यमेवेति वस्तुस्थितिः, तथापि यद्रागद्वेषौ तदज्ञानम् ।

टीका:—प्रथम दृष्टान्त कहते हैं : इस जगतमें बाह्यपदार्थ—घटपटादि—,जैसे देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त नामक पुरुषको हाथ पकड़कर किसी कार्यमें लगाता है इसीप्रकार, दीपकको स्वप्रकाशनमें (अर्थात् बाह्यपदार्थको प्रकाशित करनेके कार्यमें) नहीं लगाता कि 'तू मुझे प्रकाशित कर', और दीपक भी लोहचुम्बक-पाषाणसे खींची गई लोहेकी सुईकी भाँति अपने स्थानसे च्युत होकर उसे (-बाह्यपदार्थको) प्रकाशित करने नहीं जाता; परन्तु, वस्तुस्वभाव दूसरेसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिये तथा वस्तुस्वभाव परको उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिये, दीपक जैसे बाह्यपदार्थकी असमीपतामें अपने स्वरूपसे ही प्रकाशता है । उसीप्रकार बाह्यपदार्थकी समीपतामें भी अपने स्वरूपसे ही प्रकाशता है । (इसप्रकार) अपने स्वरूपसे ही प्रकाशता है ऐसे दीपकको, वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त होता हुआ मनोहर या अमनोहर घटपटादि बाह्यपदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करता ।

इसीप्रकार दार्ष्टान्त कहते हैं : बाह्य पदार्थ—शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श तथा गुण और द्रव्य—, जैसे देवदत्त यज्ञदत्तको हाथ पकड़कर किसी कार्यमें लगाता है उसीप्रकार, आत्माको स्वज्ञानमें (बाह्यपदार्थोंके जाननेके कार्यमें) नहीं लगाते कि 'तू मुझे सुन, तू मुझे देख, तू मुझे सूँघ, तू मुझे चख, तू मुझे स्पर्श कर, तू मुझे जान', और आत्मा भी लोहचुम्बक-पाषाणसे खींची गई लोहेकी सुईकी-भाँति अपने स्थानसे च्युत होकर उन्हें (-बाह्यपदार्थोंको) जाननेको नहीं जाता; परन्तु, वस्तुस्वभाव परके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिये तथा वस्तुस्वभाव परको उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिये, आत्मा जैसे बाह्य पदार्थोंकी असमीपतामें (अपने स्वरूपसे ही जानता है) उसीप्रकार बाह्यपदार्थोंकी समीपतामें भी अपने

* शार्दूलविक्रीहित *

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।
तद्वस्तुस्थितिवोधवन्ध्यधिषणा एते किंज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुंचंत्युदासीनताम् ॥२२२॥

स्वरूपसे ही जानता है । (इसप्रकार) अपने स्वरूपसे ही जानते हुए उस (आत्मा)को, वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त मनोहर अथवा अमनोहर शब्दादि बाह्यपदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते ।

इसप्रकार आत्मा दीपककी भाँति परके प्रति सदा उदासीन (अर्थात् सम्बन्धरहित; तटस्थ) है—ऐसी वस्तुस्थिति है, तथापि जो रागद्वेष होता है सो अज्ञान है ।

भावायः—शब्दादिक जड़ पुद्गलद्रव्यके गुण हैं । वे आत्मासे कहीं यह नहीं कहते, कि 'तू हमें ग्रहण कर (अर्थात् तू हमें जान)'; और आत्मा भी अपने स्थानसे च्युत होकर उन्हें ग्रहण करनेके लिये (—जाननेके लिये) उनकी ओर नहीं जाता । जैसे शब्दादिक समीप न हों तब आत्मा अपने स्वरूपसे ही जानता है, इसीप्रकार शब्दादिक समीप हों तब भी आत्मा अपने स्वरूपसे ही जानता है । इसप्रकार अपने स्वरूपसे ही जाननेवाले ऐसे आत्माको अपने अपने स्वभावसे ही परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित्-मात्र भी विकार नहीं करते, जैसे कि अपने स्वरूपसे ही प्रकाशित होनेवाले दीपकको घटपटादि पदार्थ विकार नहीं करते । ऐसा वस्तुस्वभाव है, तथापि जीव शब्दको सुनकर, रूपको देखकर, गंधको सूँघकर, रसका स्वाद लेकर, स्पर्शको छूकर, और गुण-द्रव्यको जानकर, उन्हें अच्छा बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, वह अज्ञान ही है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[पूर्ण-एक-अच्युत-शुद्ध-बोध-महिमा अयं बोद्धा] पूर्ण, एक, अच्युत और (—निर्विकार) ज्ञान जिसकी महिमा है ऐसा यह ज्ञायक आत्मा [बोध्यात्] ज्ञेय पदार्थोंसे [काम् अपि विक्रियां न यायात्] किंचित् मात्र भी विक्रियाको प्राप्त नहीं होता, [दीपः प्रकाश्यात् इव] जैसे दीपक प्रकाश्य (—प्रकाशित होने योग्य घटपटादि) पदार्थोंसे विक्रियाको प्राप्त नहीं होता । [ततः इतः] तब फिर [तद्व-वस्तुस्थिति-बोध वन्ध्य-धिषणाः एते अज्ञानिनः] जिनकी बुद्धि ऐसी वस्तुस्थितिके ज्ञानसे रहित है, ऐसे यह अज्ञानी जीव [किम् सहजाम् उदासीनताम् मुञ्चन्ति, रागद्वेषमयीभवन्ति] अपनी सहज उदासीनताको क्यों छोड़ते हैं तथा रागद्वेषमय क्यों होते हैं ? (इसप्रकार आचार्यदेवने सोच किया है ।)

* शार्दूलविक्रीडित *

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
 पूर्वामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
 दूरारूढचारित्रवैभवबलाच्चंचच्चिद्विर्मयीं
 विदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम् ॥२२३॥

भावार्थः—जैसे दीपकका स्वभाव घटपटादिको प्रकाशित करनेका है उसीप्रकार ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयको जाननेका ही है। ऐसा वस्तुस्वभाव है। ज्ञेयको जाननेमात्रसे ज्ञानमें विकार नहीं होता। ज्ञेयोंको जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर, आत्मा रागीद्वेषी—विकारी होता है जो कि अज्ञान है। इसलिये आचार्यदेवने सोच किया है कि—‘वस्तुका स्वभाव तो ऐसा है, फिर भी यह आत्मा अज्ञानी होकर राग-द्वेषरूप क्यों परिणमित होता है? अपनी स्वाभाविक उदासीन-अवस्थारूप क्यों नहीं रहता?’ इसप्रकार आचार्यदेवने जो सोच किया है सो उचित ही है, क्योंकि जबतक शुभ राग है तबतक प्राणियोंको अज्ञानसे दुःखी देखकर करुणा उत्पन्न होती है और उससे सोच भी होता है। २२२।

अब आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[राग-द्वेष-विभाव-मुक्त-महसः] जिनका तेज रागद्वेषरूपी विभावसे रहित है, [नित्यं स्वभाव-स्पृशः] जो सदा (अपने चैतन्यचमत्कारमात्र) स्वभावको स्पर्श करनेवाले हैं, [पूर्व-आगामि-समस्त-कर्म-विकलाः] जो भूतकालके तथा भविष्यकालके समस्त कर्मोंसे रहित हैं और [तदात्व-उदयात् भिन्नाः] जो वर्तमान कालके कर्मोंद्वयसे भिन्न हैं, [दूर-आरूढ-चारित्र-वैभव-बलात् ज्ञानस्य संचेतनाम् विदन्ति] वे (—ऐसे ज्ञानी—) अति प्रबल चारित्रके वैभवके बलसे ज्ञानकी संचेतनाका अनुभव करते हैं—[चञ्चत्-चिद्व-विर्मयीं] जो ज्ञानचेतना-चमकती हुई चैतन्यज्योतिमय है और [स्व-रस-प्रभिषिक्त-भुवनाम्] जिसने अपने (ज्ञानरूपी) रससे समस्त लोकको सींचा है।

भावार्थः—जिनका रागद्वेष दूर हो गया, अपने चैतन्यस्वभावको जिन्होंने अंगीकार किया और अतीत, अनागत तथा वर्तमान कर्मका समत्व दूर होगया है ऐसे ज्ञानी सर्व परद्वयोंसे अलग होकर चारित्र अंगीकार करते हैं। उस चारित्रके बलसे, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे भिन्न जो अपनी चैतन्यकी परिणमनस्वरूप ज्ञानचेतना है उसका अनुभव करते हैं।

यहाँ यह तात्पर्य समझना चाहिये कि:—जीव पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे भिन्न अपनी ज्ञानचेतनाका स्वरूप आगम-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण और स्वसंवेदनप्रमाणसे जानता है और उसका श्रद्धान (प्रतीति) दृढ़ करता है; यह तो अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्थामें भी होता है। और जब अप्रमत्त अवस्था होती है तब जीव अपने स्वरूपका ही ध्यान करता है; उससमय, उसने जिस

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमण्येयवित्थरविसैसं ।
 तत्तो णियत्तए अण्णयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥३८३॥
 कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावहिह वज्जह भविससं ।
 तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥३८४॥
 जं सुहमसुहसुदिरणं संपडि य अण्येयवित्थरविसैसं ।
 तं दोसं जो चैयइ सो खलु आलोयणं चैया ॥३८५॥

ज्ञानचेतनाका प्रथम श्रद्धान क्रिया था उसमें वह लीन होता है और श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करके, साक्षात् #ज्ञानचेतनारूप हो जाता है । २२३ ।

जो अतीत कर्मके प्रति ममत्वको छोड़ दे वह आत्मा प्रतिक्रमण है, जो अनागतकर्म न करनेकी प्रतिज्ञा करे (अर्थात् जिन भावोंसे आगामी कर्म बँधें उन भावोंका ममत्व छोड़े) वह आत्मा प्रत्याख्यान है और जो उदयमें आये हुए वर्तमान कर्मका ममत्व छोड़े वह आत्मा आलोचना है; सदा ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनापूर्वक प्रवर्तमान आत्मा चारित्र है ।—ऐसे चारित्रका विधान इन गायार्थों द्वारा करते हैं:—

* केवलज्ञानी जीवके साक्षात् ज्ञानचेतना होती है । केवलज्ञान होनेसे पूर्व भी, निर्विकल्प अनुभवके समय जीवके उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है । यदि ज्ञानचेतनाके उपयोगात्मकत्वको मुख्य न किया जाये तो, सम्प्रवृद्धिके ज्ञानचेतना निरंतर होती है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं होती; क्योंकि उसका निरन्तर ज्ञानके स्वामित्वभावसे परिणमन होता है, कर्मके और कर्मफलके स्वामित्वभावसे परिणमन नहीं होता ।

शुभ और अशुभ अनेकविध, कै कर्म पूरव जो क्रिये ।
 उनसे निवर्ते आत्मको, वो आत्मा प्रतिक्रमण है ॥३८३॥
 शुभ अरु अशुभ भावी करमका बंध हो जिन भावमें ।
 उससे निवर्तन जो करे वो आत्मा पच्चक्खाण है ॥३८४॥
 शुभ और अशुभ अनेकविध हैं उदित जो इस कालमें ।
 उन दोषको जो चेतता, आलोचना वह जीव है ॥३८५॥

एिञ्चं पञ्चखाणं कुञ्चइ एिञ्चं पडिकमदि यो य ।

एिञ्चं आलोचयइ सो हु चरित्तं हवइ चैया ॥३८६॥

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषम् ।

तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम् ॥३८३॥

कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिन् भावे बध्यते भविष्यत् ।

तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥३८४॥

यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषम् ।

तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ॥३८५॥

- नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च ।

नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ॥३८६॥

गाथा ३८३-३८६

गाथार्थः—[पूर्वकृतं] पूर्वकृतं [यत्] जो [अनेकविस्तरविशेषम्] अनेक प्रकारके विस्तार-
वाला [शुभाशुभम् कर्म] (ज्ञानावरणीय आदि) शुभाशुभ कर्म है, [तस्मात्] उससे [यः] जो
आत्मा [आत्मानं तु] अपनेको [निवर्तयति] दूर रखता है, [सः] वह आत्मा [प्रतिक्रमणम्]
प्रतिक्रमण करता है ।

[भविष्यत्] भविष्यकालका [यत्] जो [शुभम् अशुभं कर्म] शुभ-अशुभ कर्म [यस्मिन्
भावे च] जिस भावमें [बध्यते] बँधता है । [तस्मात्] उस भावसे [यः] जो आत्मा [निवर्तते]
निवृत्त होता है, [सः चेतयिता] वह आत्मा [प्रत्याख्यानं भवति] प्रत्याख्यान है ।

[संप्रति च] वर्तमान कालमें [उदीर्णं] उदयागत [यत्] जो [अनेकविस्तरविशेषम्]
अनेक प्रकारके विस्तारवाला [शुभम् अशुभम्] शुभ और अशुभ कर्म है [तं दोषं] उस दोषको [यः]
जो आत्मा [चेतयते] चेतता है—अनुभव करता है—ज्ञाताभावसे जान लेता है (अर्थात् उसके स्वामित्व
—कर्तृत्वको छोड़ देता है), [सः चेतयिता] वह आत्मा [खलु] वास्तवमें [आलोचनं] आलोचना है ।

[यः] जो [नित्यं] सदा [प्रत्याख्यानं करोति] प्रत्याख्यान करता है, [नित्यं प्रतिक्रामति
च] सदा प्रतिक्रमण करता है और [नित्यं आलोचयति] सदा आलोचना करता है, [सः चेतयिता]
वह आत्मा [खलु] वास्तवमें [चरित्रं भवति] चरित्र है ।

पचखाण नित्य करे अरू प्रतिक्रमण जो नित्यहि करे ।

नित्यहि करे आलोचना, वो आत्मा चारित्र है ॥३८६॥

यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निर्वर्तयति, स तत्कारणभूतं पूर्वं कर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति । स एव तत्कार्यभूतमुत्तरं कर्म प्रत्याचक्षाणः प्रत्याख्यानं भवति । स एव वर्तमानंकर्मविपाकमात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलभमानः आलोचना भवति । एवमयं नित्यं प्रतिक्रामन्, नित्यं प्रत्याचक्षाणो, नित्यमालोचयंश्च, पूर्वकर्मकार्येभ्य उत्तरकर्मकारणेभ्यो भावेभ्योऽत्यन्तं निवृत्तः, वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलभमानः, स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरन्तरचरणाचारित्रं भवति । चारित्रं तु भवन् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः ।

टीका:—जो आत्मा पुद्गलकर्मके विपाक (उदय)से हुये भावोंसे अपनेको छुड़ाता है (—दूर रखता है), वह आत्मा उन भावोंके कारणभूत पूर्वकर्मोंको (भूतकालके कर्मोंको) प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है; वही आत्मा, उन भावोंके कार्यभूत उत्तरकर्मोंको (भविष्यकालके कर्मोंको) प्रत्याख्यान-रूप करता हुआ प्रत्याख्यान है; वही आत्मा, वर्तमान कर्मविपाकको अपनेसे (—आत्मासे) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ, आलोचना है । इसप्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ, सदा प्रत्याख्यान करता हुआ और सदा आलोचना करता हुआ, पूर्वकर्मोंके कार्यरूप और उत्तरकर्मोंके कारणरूप भावोंसे अत्यन्त निवृत्त होता हुआ, वर्तमान कर्मविपाकको अपनेसे (आत्मासे) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ, अपनेमें ही—ज्ञानस्वभावमें ही—निरन्तर चरनेसे (—आचरण करनेसे) चारित्र है (अर्थात् स्वयं ही चारित्रस्वरूप है) । और चारित्रस्वरूप होता हुआ अपनेको—ज्ञानमात्रको—चेतता (अनुभव करता) है इसलिये (वह आत्मा) स्वयं ही ज्ञानचेतना है, ऐसा आशय है ।

भावार्थ:—चारित्रमें प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाका विधान है । उसमें, पहले लगे हुए दोषोंसे आत्माको निवृत्त करना सो प्रतिक्रमण है, भविष्यमें दोष लगानेका त्याग करना सो प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोषसे आत्माको पृथक् करना सो आलोचना है । यहाँ निश्चयचारित्रको प्रधान करके कथन है; इसलिये निश्चयसे विचार करने पर, जो आत्मा त्रिकालके कर्मोंसे अपनेको भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है । इसप्रकार प्रतिक्रमण स्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्माका निरन्तर अनुभवन ही निश्चयचारित्र है । जो यह निश्चयचारित्र है, वही ज्ञानचेतना (अर्थात् ज्ञानका अनुभवन) है । उसी ज्ञानचेतनासे (अर्थात् ज्ञानके अनुभवनसे) साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है ।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं, जिसमें ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना (अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना)का फल प्रगट करते हैं—

* उपजाति *

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं

प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम् ।

अज्ञानसंचेतनया तु धावन्

बोधस्य शुद्धिं निरुणाद्धि बन्धः ॥२२४॥

वेदंती कर्मफलं अप्पाणं कुण्णइ जो दु कम्मफलं ।

सो तं पुणो वि वंघइ वीयं दुक्खस्स अट्टुविहं ॥३८७॥

वेदंती कम्मफलं मए कयं सुण्णइ जो दु कम्मफलं ।

सो तं पुणो वि वंघइ वीयं दुक्खस्स अट्टुविहं ॥३८८॥

श्लोकार्थः—[नित्यं ज्ञानस्य संचेतनया एव ज्ञानम् अतीव शुद्धम् प्रकाशते] निरन्तर ज्ञानकी संचेतनासे ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है; [तु] और [अज्ञानसंचेतनया] अज्ञानकी संचेतनासे [बन्धः धावन्] बंध दौड़ता हुआ [बोधस्य शुद्धिं निरुणाद्धि] ज्ञानकी शुद्धताको रोकता है, अर्थात् ज्ञानकी शुद्धता नहीं होने देता ।

भावार्थः—किसी (वस्तु)के प्रति एकाग्र होकर उसीका अनुभवरूप स्वाद लिया करना वह उसका संचेतन कहलाता है । ज्ञानके प्रति ही एकाग्र उपयुक्त होकर उस ओर ही ध्यान रखना वह ज्ञानकी संचेतन अर्थात् ज्ञानचेतना है । उससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है । केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर सम्पूर्ण ज्ञानचेतना कहलाती है ।

अज्ञानरूप (अर्थात् कर्मरूप और कर्मफलरूप) उपयोगको करना, उसीकी ओर (—कर्म और कर्मफलकी ओर ही—) एकाग्र होकर उसीका अनुभव करना, वह अज्ञानचेतना है । उससे कर्मका बन्ध होता है, जो बन्ध ज्ञानकी शुद्धताको रोकता है । २२४ ।

अब इसीको गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

जो कर्मफलको वेदता जीव कर्मफल निजरूप करे ।

वो पुनः बाँधे अष्टविधके कर्मको—दुःखबीजको ॥३८७॥

जो कर्मफलको वेदता जाने 'कर्मफल मैं किया' ।

वो पुनः बाँधे अष्टविधके कर्मको—दुःखबीजको ॥३८८॥

वेदंती कर्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।

सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुःखस्स अट्टविहं ॥३८६॥

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलम् ।

स तत्पुनरपि बध्नाति वीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥३८७॥

वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलम् ।

स तत्पुनरपि बध्नाति वीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥३८८॥

वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यश्चेतयिता ।

स तत्पुनरपि बध्नाति वीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥३८९॥

गाथा ३८७-३८९

गाथार्थः—[कर्मफलम् वेदयमानः] कर्मके फलका वेदन करता हुआ [यः तु] जो आत्मा [कर्मफलम्] कर्मफलको [आत्मानं करोति] निजरूप करता (-मानता) है, [सः] वह [पुनः अपि] फिरसे भी [अष्टविधम् तत्] आठ प्रकारके कर्मको—[दुःखस्य बीजं] दुःखके बीजको—[बध्नाति] बाँधता है ।

[कर्मफलं वेदयमानः] कर्मके फलका वेदन करता हुआ [यः तु] जो आत्मा [कर्मफलम् मया कृतं जानाति] यह जानता (मानता) है कि 'कर्मफल मैंने किया है,' [सः] वह [पुनः अपि] फिरसे भी [अष्टविधम् तत्] आठ प्रकारके कर्मको—[दुःखस्य बीजं] दुःखके बीजको—[बध्नाति] बाँधता है ।

[कर्मफलं वेदयमानः] कर्मफलको वेदन करता हुआ [यः चेतयिता] जो आत्मा [सुखितः दुःखितः च] सुखी और दुःखी [भवति] होता है, [सः] वह [पुनः अपि] फिरसे भी [अष्टविधम् तत्] आठ प्रकारके कर्मको—[दुःखस्य बीजं] दुःखके बीजको—[बध्नाति] बाँधता है ।

जो कर्मफलको वेदता जीव सुखी दुःखी होय है ।

वो पुनः बाँधे अष्टविधके कर्मको—दुःखबीजको ॥३८९॥

ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना । सा द्विधा—कर्मचेतना कर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना; ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना । सा तु समस्तापि संसारबीजं; संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात् । ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणाज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसंन्यासभावनां सकलकर्मफलसंन्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूता भगवती ज्ञानचेतनैवैका नित्यमेव नाटयितव्या । तत्र तावत्सकलकर्मसंन्यासभावनां नाटयति—

(अर्था)

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।

परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥२२५॥

टीका:—ज्ञानसे अन्यमें (—ज्ञानके सिवा अन्य भागोंमें) ऐसा चेतना (—अनुभव करना) कि 'यह मैं हूँ', सो अज्ञानचेतना है । वह दो प्रकारकी है—कर्मचेतना और कर्मफलचेतना । उसमें, ज्ञानसे अन्यमें (अर्थात् ज्ञानके सिवा अन्य भागोंमें) ऐसा चेतना कि 'इसको मैं करता हूँ', वह कर्मचेतना है; और ज्ञानसे अन्यमें ऐसा चेतना कि 'इसे मैं भोगता हूँ', वह कर्मफलचेतना है । (इसप्रकार अज्ञानचेतना दो प्रकारसे है ।) वह समस्त अज्ञानचेतना संसारका बीज है; क्योंकि संसारके बीज जो आठ प्रकारके (ज्ञानावरणादि) कर्म, उनका बीज वह अज्ञानचेतना है (अर्थात् उससे कर्मोंका बन्ध होता है) । इसलिये मोक्षार्थी पुरुषको अज्ञानचेतनाका प्रलय करनेके लिये सकल कर्मोंके संन्यास (—त्याग) की भावनाको तथा सकल कर्मफलके संन्यासकी भावनाको नचाकर, स्वभावभूत ऐसी भगवती ज्ञानचेतनाको ही एकको सदा नचाना चाहिए ।

इसमें पहले, सकल कर्मोंके संन्यासकी भावनाको नचाते हैं:—

(वहाँ प्रथम, काव्य कहते हैं:—)

श्लोकार्थः—[त्रिकालविषयं] त्रिकालके (—अर्थात् अतीत, वर्तमान और अनागत काल संबंधी) [सर्वं कर्म] समस्त कर्मको [कृत-कारित-अनुमननैः] कृत-कारित-अनुमोदनासे और—[मनः-वचन-कायैः] मन-वचन-कायसे [परिहृत्य] त्याग करके [परमं नैष्कर्म्यम् अवलम्बे] मैं परम नैष्कर्म्यका (—उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्थाका) अवलम्बन करता हूँ । (इसप्रकार, समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है ।) । २२५ ।

(अब टीकामें प्रथम, प्रतिक्रमण-कल्प अर्थात् प्रतिक्रमणकी विधि कहते हैं:—)

(प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है कि:—)

यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १ । यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २ । यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३ । यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४ । यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ५ । यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ६ । यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ७ । यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ८ । यदहमकार्षं, यत्कुर्वतमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ९ । यदहमचीकरं, यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे

जो मैंने (अतीतकालमें कर्म) किया, कराया और दूसरे करते हुएका अनुमोदन किया, मनसे, वचनसे, तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । (कर्म करना, कराना और अन्य करनेवालेका अनुमोदन करना वह संसारका बीज है यह जानकर उस दुष्कृतके प्रति हेयबुद्धि आई तब जीवने उसके प्रतिक्रिया समत्व छोड़ा, यही उसका मिथ्या करना है) । १ ।

जो मैंने (अतीत कालमें कर्म) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । २ । जो मैंने (पूर्वमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, मनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३ । जो मैंने (पूर्वमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वचनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४ ।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ५ । जो मैंने (पूर्वमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ६ । जो मैंने (पूर्वमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ७ ।

जो मैंने (पूर्वमें) किया और कराया मनसे, वचनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ८ । जो मैंने (पूर्वमें) किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे और कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ९ । जो मैंने (पूर्वमें) कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । १० ।

तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३८ । यदहमचीकरं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३९ । यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४० । यदहमकार्षं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४१ । यदहमचीकरं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४२ । यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४३ । यदहमकार्षं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४४ । यदहमचीकरं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४५ । यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४६ । यदहमकार्षं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४७ । यदहमचीकरं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४८ । यत्कुर्वतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४९ ।

दुष्कृत मिथ्या हो । ३८ । जो मैंने (पूर्वमें) कराया वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३९ । जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४० ।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४१ । जो मैंने (पूर्वमें) कराया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४२ । जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४३ । जो मैंने (पूर्वमें) किया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४४ । जो मैंने (पूर्वमें) कराया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४५ । जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४६ । जो मैंने (पूर्वमें) किया कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४७ । जो मैंने (पूर्वमें) कराया कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४८ । जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४९ ।

(इन ४९ भंगोंके भीतर, पहले भंगमें कृत, कारित, अनुमोदना—ये तीन लिये हैं और उनपर मन, वचन, काय—ये तीन लगाये हैं । इसप्रकार बने हुए इस एक भंगको# '३३' की समस्यासे—संज्ञासे—पहिचाना जा सकता है । २ से ४ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनाके तीनों लेकर उनपर मन,

कृत, कारित, अनुमोदना—यह तीनों लिये गये हैं सो उन्हें बतानेके लिए पहले '३' का अंक रखना चाहिये; और फिर मन, वचन, काय—यह तीन लिये हैं—सो इन्हें बतानेके लिये उसीके पास दूसरा '३' का अंक रखना चाहिये । इसप्रकार यह '३३' की समस्या हुई ।

* आर्या *

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२६॥

इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः ।

वचन, कायमेंसे दो दो लगाए हैं । इसप्रकार बने हुए इन तीनों भंगोंको '३२' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है । ५ से ७ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनाके तीनों लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे एक एक लगाया है । इन तीनों भंगोंको '३१' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है । ८ से १० तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनों लगाए हैं । इन तीन भंगोंको '२३' की संज्ञावाले भंगोंके रूपमें पहिचाना जा सकता है । ११ से १६ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे दो दो लगाये हैं । इन नौ भंगोंको '२२' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है । २० से २८ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे एक एक लगाया है । इन नौ भंगोंको '२१' की संज्ञावाले भंगोंके रूपमें पहिचाना जा सकता है । २६ से ३१ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे एक एक लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं । इन तीनों भंगोंको '१३' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है । ३२ से ४० तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे दो दो लगाये हैं । इन नौ भंगोंको '१२' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है । ४१ से ४६ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे एक एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे एक एक लगाया है । इन नौ भंगोंको '११' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है । इसप्रकार सब मिलाकर ४६ भंग हुये ।)

अब इस कथनका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[यद् ग्रहम् मोहात् अकार्षम्] मैंने जो मोहसे अथवा अज्ञानसे (भूतकालमें) कर्म किये हैं, [तत् समस्तम् अपि कर्म प्रतिक्रम्य] उन समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण करके [निष्कर्मणि चैतन्य-प्रात्मनि प्रात्मनि चैतन्यम् वर्ते] मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही (—निजसे ही—) निरन्तर वर्त रहा हूँ (इसप्रकार ज्ञानी अनुभव करता है) ।

भावार्थः—भूत कालमें किये गये कर्मको ४६ भंगपूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मामें लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्माका अनुभव करे, इसकी यह विधि

—कृत, कारित, अनुमोदना तीनों लिये हैं यह बतानेके लिये पहले '३' का अंक रखना चाहिये; और फिर मन, वचन, कायमेंसे दो लिये हैं यह बतानेके लिये '३' के पास '२' का अंक रखना चाहिये । इसप्रकार '३२' की संज्ञा हुई ।

न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति १ । न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति २ । न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च कायेन चेति ३ । न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति ४ । न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति ५ । न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा चेति ६ । न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति ७ । न करोमि, न कारयामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ८ । न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ९ । न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति १० । न करोमि, न

है। 'मिथ्या' कहनेका प्रयोजन इसप्रकार है:—जैसे, किसीने पहले धन कमाकर घरमें रख छोड़ा था; और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया तब उसे भोगनेका अभिप्राय नहीं रहा; उससमय, भूत कालमें जो धन कमाया था वह नहीं कमानेके समान ही है; इसीप्रकार, जीवने पहले कर्म बन्ध किया था; फिर जब उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फलमें लीन न हुआ, तब भूतकालमें जो कर्म बाँधा था वह नहीं बाँधनेके समान मिथ्या ही है। २२६।

इसप्रकार प्रतिक्रमण-कल्प (अर्थात् प्रतिक्रमणकी विधि) समाप्त हुआ ।

(अब टीकामें आलोचनाकल्प कहते हैं:—)

मैं (वर्तमानमें कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायसे । १ ।

मैं (वर्तमानमें कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा वचनसे । २ । मैं (वर्तमानमें) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, तथा कायसे । ३ । मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे तथा कायसे । ४ ।

मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे । ५ । मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे । ६ । मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, कायासे । ७ ।

न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायासे । ८ । न तो मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायासे । ९ । न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायासे । १० ।

चेति २८ । न करोमि मनसा च वाचा च कायेन चेति २९ । न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३० । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३१ । न करोमि मनसा च वाचा चेति ३२ । न कारयामि मनसा च वाचा चेति ३३ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति ३४ । न करोमि मनसा च कायेन चेति ३५ । न कारयामि मनसा च कायेन चेति ३६ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ३७ । न करोमि वाचा च कायेन चेति ३८ । न कारयामि वाचा च कायेन चेति ३९ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ४० । न करोमि मनसा चेति ४१ । न कारयामि मनसा चेति ४२ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ४३ । न करोमि वाचा चेति ४४ । न कारयामि वाचा चेति ४५ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ४६ । न करोमि कायेन चेति ४७ । न कारयामि कायेन चेति ४८ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ४९ ।

न मैं करता हूँ मनसे, वचनसे तथा कायासे । २६ । न मैं कराता हूँ मनसे, वचनसे तथा कायासे । ३० । मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन नहीं करता मनसे, वचनसे तथा कायासे । ३१ ।

न तो मैं करता हूँ मनसे तथा वचनसे । ३२ । न मैं कराता हूँ मनसे तथा वचनसे । ३३ । न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ मनसे तथा वचनसे । ३४ । न मैं करता हूँ मनसे तथा कायासे । ३५ । न मैं कराता हूँ मनसे तथा कायासे । ३६ । न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ मनसे तथा कायासे । ३७ । न मैं करता हूँ वचनसे तथा कायासे । ३८ । न मैं कराता हूँ वचनसे तथा कायासे । ३९ । न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ वचनसे तथा कायासे । ४० ।

न मैं करता हूँ मनसे । ४१ । न मैं कराता हूँ मनसे । ४२ । न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ मनसे । ४३ । न मैं करता हूँ वचनसे । ४४ । न मैं कराता हूँ वचनसे । ४५ । न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ वचनसे । ४६ । न मैं करता हूँ कायासे । ४७ । न मैं कराता हूँ कायासे । ४८ । न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ कायासे । ४९ ।

(इसप्रकार, प्रतिक्रमणके समान आलोचनामें भी ४६ भंग कहे ।)

अब इस कथनका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

✽ आर्या ✽

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२७॥

इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः ।

न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति १ । न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति २ । न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति ३ । न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति ४ । न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि,

श्लोकार्थः—(निश्चय चारित्रको अंगीकार करनेवाला कहता है कि—)[मोहविलासविजृम्भितम् इदम् उदयत् कर्म] मोहके विलाससे फैला हुआ जो यह उदयमान (उदयमें आता हुआ) कर्म [सकलम् आलोच्य] उस सबकी आलोचना करके (-उन सर्व कर्मोंकी आलोचना करके-) [निष्कर्मणि चतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते] मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही निरन्तर वर्त रहा हूँ ।

भावार्थः—वर्तमान कालमें कर्मका उदय आता है उसके विषयमें ज्ञानी यह विचार करता है कि—पहले जो कर्म बाँधा था उसका यह कार्य है, मेरा तो यह कार्य नहीं । मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ । उसकी दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है । उस दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्तिके द्वारा मैं इस उदयागत कर्मको देखने-जाननेवाला हूँ । मैं अपने स्वरूपमें ही प्रवर्तमान हूँ । ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है । २२७ ।

इसप्रकार आलोचनाकल्प समाप्त हुआ ।

(अब टीकामें प्रत्याख्यानकल्प अर्थात् प्रत्याख्यानकी विधि कहते हैं:—)

(प्रत्याख्यान करनेवाला कहता है कि:—)

मैं (भविष्यमें कर्म) न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे । १ । मैं (भविष्यमें कर्म) न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा वचनसे । २ । मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा कायसे । ३ । मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे तथा कायसे । ४ ।

मनसा चेति ४२ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ४३ । न करिष्यामि वाचा चेति ४४ । न कारयिष्यामि वाचा चेति ४५ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ४६ । न करिष्यामि कायेन चेति ४७ । न कारयिष्यामि कायेन चेति ४८ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ४९ ।

* आर्या *

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२८॥

इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः ।

मैं न तो करूँगा मनसे । ४१ । मैं न तो कराऊँगा मनसे । ४२ । मैं न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा मनसे । ४३ । मैं न तो करूँगा वचनसे । ४४ । मैं न तो कराऊँगा वचनसे । ४५ । मैं न तो अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा वचनसे । ४६ । मैं न तो करूँगा कायसे । ४७ । मैं न तो कराऊँगा कायसे । ४८ । मैं न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा कायसे । ४९ ।

(इसप्रकार, प्रतिक्रमणके समान ही प्रत्याख्यातमें भी ४६ भंग कहे ।)

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—(प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि:—) [भविष्यत् समस्तं कर्म प्रत्याख्याय] भविष्यके समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान (—त्याग) करके, [निरस्त—संमोहः निष्कर्मणि चैतन्य—आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते] जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही (—अपनेसे ही—) निरन्तर वर्त रहा हूँ ।

भावार्थः—निश्चयचारित्र्यमें प्रत्याख्यानका विधान ऐसा है कि—समस्त आगामी कर्मोंसे रहित, चैतन्यकी प्रवृत्तिरूप (अपने) शुद्धोपयोगमें रहना सो प्रत्याख्यान है । इससे ज्ञानी आगामी समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूपमें रहता है ।

यहाँ तात्पर्य इसप्रकार जानना चाहिये:—व्यवहारचारित्र्यमें तो प्रतिज्ञामें जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है । यहाँ निश्चयचारित्र्यकी प्रधानतासे कथन है इसलिये शुद्धोपयोगसे विपरीत सर्व कर्म आत्माके दोषस्वरूप हैं । उन समस्त कर्मचेतनास्वरूप परिणामोंका—तीनों कालके कर्मोंका—प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्मचेतनासे भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्माके ज्ञानश्रद्धान द्वारा और उसमें स्थिर होनेके विधान द्वारा निष्प्रमाद दशाको प्राप्त होकर श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करनेके सन्मुख होता है । यह, ज्ञानीका कार्य है । २२८ ।

• उपजाति •

समस्तमित्येषमपास्य कर्म
त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी ।
विलीनमोहो रहितं विकारै-
श्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे ॥२२९॥

अथ सकलकर्मफलसंन्यासभावनां नाटयति—

• आर्या •

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥२३०॥

इसप्रकार प्रत्याख्यानकरुण समाप्त हुआ ।

अब समस्त कर्मोंके संन्यास (त्याग)की भावनाको नचानेके सम्बन्धका कथन समाप्त करते हुए,
कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थ:—(शुद्धनयका अवलंबन करनेवाला कहता है कि—) [इति एवम्] पूर्वोक्त प्रकारसे
[त्रैकालिकं समस्तम् कर्म] तीनोंकालके समस्त कर्मोंको [अप्राप्त्य] दूर करके-छोड़कर, [शुद्धनय-
अवलंबी] शुद्धनयावलंबी (अर्थात् शुद्धनयका अवलंबन करनेवाला) और [विलीन-मोहः] विलीन
मोह (अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है) ऐसा मैं [अथ] अब [विकारैः रहितं चिन्मात्रम्
आत्मानम्] (सर्व) विकारोंसे रहित चैतन्यमात्र आत्माका [अवलंबे] अवलंबन करता हूँ ॥२२९॥

अब समस्त कर्मफल संन्यासकी भावनाको नचाते हैं:—

(उसमें प्रथम, उस कथनके समुच्चय-अर्थका काव्य कहते हैं:—)

श्लोकार्थ:—(समस्त कर्मफलकी संन्यास भावनाका करनेवाला कहता है कि—) [कर्म-विष-
तरु-फलानि] कर्मरूपी विष वृक्षके फल [मम भुक्तिम् अन्तरेण एव] मेरे द्वारा भोगे बिना ही,
[विगलन्तु] खिर जायें; [अहम् चैतन्य-आत्मानम् आत्मानम् अचलं सञ्चेतये] मैं (अपने) चैतन्य
स्वरूप आत्माका निश्चलतया संचेतन-अनुभव करता हूँ ।

भावार्थ:—ज्ञानी कहता है कि—जो कर्म उदयमें आता है उसके फलको मैं ज्ञातादृष्टारूपसे
जानता-देखता हूँ, उसका भोक्ता नहीं होता, इसलिये मेरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जायें; मैं अपने
चैतन्यस्वरूप आत्मामें लीन होता हुआ उसका ज्ञाता-दृष्टा ही होऊँ ।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि—अविरत, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत दशमें तो ऐसा
ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है, और जब जीव अप्रमत्त दशाको प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव
साक्षात् होता है । २३० ।

नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १ । नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २ । नाहमवधिज्ञानावरणीय-
कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३ । नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४ । नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-
मात्मानमेव संचेतये ५ । नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव
संचेतये ६ । नाहमचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७ ।
नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८ । नाहं केवलदर्शना-
वरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९ । नाहं निद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं
भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १० । नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११ । नाहं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-
मात्मानमेव संचेतये १२ । नाहं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव

(अब टीकामें समस्त कर्मफलके संन्यासकी भावनाको नचाते हैं:—

मैं (ज्ञानी होनेसे) मतिज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ अर्थात् एकाग्रतया अनुभव करता हूँ । (यहाँ 'चेतना' अर्थात् अनुभव करना, वेदना, भोगना । 'सं' उपसर्ग लगनेसे, 'संचेतना' अर्थात् 'एकाग्रतया अनुभव करना' ऐसा अर्थ यहाँ समस्त पाठोंमें समझना चाहिये ।) । १ । मैं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन—अनुभव करता हूँ । २ । मैं अवधिज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ३ । मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ४ । मैं केवलज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ५ ।

मैं चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ६ । मैं अचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ७ । मैं अवधिदर्शनावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ८ । मैं केवलदर्शनावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ९ । मैं निद्रादर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १० । मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ११ । मैं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १२ । मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही

नाहमुच्चैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४२ । नाहं नीचैर्गोत्र-
कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४३ ।

नाहं दानांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४४ । नाहं लाभांत-
रायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४५ । नाहं भोगांतरायकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४६ । नाहमुपभोगांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-
मात्मानमेव संचेतये १४७ । नाहं वीर्यांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव
संचेतये १४८ ।

मैं उच्चगोत्रकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १४२ । मैं
नीचगोत्रकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १४३ ।

मैं दानांतरायकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १४४ । मैं
लाभांतरायकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १४५ । मैं भोगान्त-
रायकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १४६ । मैं उपभोगांतराय-
कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १४७ । मैं वीर्यांतरायकर्मके
फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १४८ । (इसप्रकार ज्ञानी सकल
कर्मोंके फलके संन्यासकी भावना करता है) ।

(यहाँ भावनाका अर्थ बारम्बार चिंतवन करके उपयोगका अभ्यास करना है । जब जीव
सम्यक्दृष्टि-ज्ञानी होता है तब उसे ज्ञान-भ्रद्धान तो हुआ ही है कि 'मैं शुद्धनयसे समस्त कर्म और कर्मके
फलसे रहित हूँ' । परन्तु पूर्ववद्ध कर्म उदयमें आने पर उनसे होनेवाले भावोंका कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल
सम्बन्धी ४६-४६ भंगोंके द्वारा कर्मचेतनाके त्यागकी भावना करके तथा समस्त कर्मोंका फल भोगनेके
त्यागकी भावना करके, एक चैतन्यस्वरूप आत्माको ही भोगना शेष रह जाता है । अविरत, देशविरत और
प्रमत्त अवस्थावाले जीवके ज्ञानभ्रद्धानमें निरन्तर यह भावना तो है ही; और जब जीव अप्रमत्त दशाको
प्राप्त करके एकाम्र चित्तसे ध्यान करे, केवल चैतन्यमात्र आत्मामें उपयोग लगाये और शुद्धोपयोगरूप हो,
तब निश्चयचारित्ररूप शुद्धोपयोगभावसे श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है । उससमय इस भावनाका
फल जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे रहित साक्षात् ज्ञानचेतनारूप परिणामन है वह होता है । पश्चात्
आत्मा अनन्त काल तक ज्ञानचेतनारूप ही रहता हुआ परमानन्दमें मग्न रहता है ।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

वसन्ततिलका

निःशेषकर्मफलसंन्यसनात्मैवं

सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्ते ।

चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं

कालावलीयमचलस्य बहत्वनता ॥२३१॥

वसंततिलका

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्वुमाणां

भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।

आपातकालरमणीयमुदकैरस्यं

निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ॥२३२॥

श्लोकार्थः—(संकल कर्मोंके फलका त्याग करके ज्ञानचेतनाकी भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि:—) [एवं] पूर्वोक्त प्रकारसे [निःशेष-कर्म-फल-संन्यसनात्] समस्त कर्मोंके फलका संन्यास करनेसे [चैतन्य-लक्ष्य आत्मतत्त्वं भृशम् भजतः सर्व-क्रियांतर-विहार-निवृत्त-वृत्ते] मैं चैतन्य लक्षण आत्मतत्त्वको अतिशयतया भोगता हूँ और उसके अतिरिक्त अन्य सर्व क्रियामें विहारसे मेरी वृत्ति निवृत्त है (अर्थात् आत्मतत्त्वके उपभोगके अतिरिक्त अन्य जो उपयोगकी क्रिया—विभावरूप क्रिया उसमें मेरी परिणति विहार—प्रवृत्ति नहीं करती); [अचलस्य मम] इसप्रकार आत्मतत्त्वके उपभोगमें अचल ऐसे मुझे, [इयम् काल-आवली] यह कालकी आवली जो कि [अनन्ता] प्रज्ञाहृत्पसे अनन्त है वह, [बहत्तु] आत्मतत्त्वके उपभोगमें ही बहती रहे; (उपभोगकी प्रवृत्ति अन्यमें कभी भी न जाये) ।

भावार्थः—ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि भानों भावना करता हुआ साक्षात् केवली ही हो गया हो; इससे वह अनन्तकाल तक ऐसा ही रहना चाहता है। और यह योग्य ही है; क्योंकि इसी भावनासे केवली हुआ जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न करनेका परमार्थ उपाय यही है। बाह्य व्यवहारचारित्र इसीका साधनरूप है; और इसके बिना व्यवहारचारित्र शुभकर्मको बाँधता है; वह भोक्षका उपाय नहीं है। २३१।

अब पुनः काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[पूर्व-भाव-कृत-कर्म-विषद्वुमाणां फलानि यः न भुंक्ते] पहले अज्ञानभावसे उपाजित कर्मरूपी विषद्वुसाँके फलको जो पुरुष (उसका स्वामी होकर) नहीं भोगता और [खलु

* स्रग्धरा *

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।

पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानन्दं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥२३३॥

स्वतः एव तृप्तः] वास्तवमें अपनेसे ही (-आत्मस्वरूपसे ही) तृप्त है, [सः प्रापात-काल-रमणीयम् उद्वर्क-रभ्यम् निष्कर्म-शर्मसयम् दशान्तरम् एति] वह पुरुष, जो वर्तमान कालमें रमणीय है और भविष्यकालमें भी जिसका फल रमणीय है ऐसे निष्कर्म-सुखमय दशांतरको प्राप्त होता है (अर्थात् जो पहले संसार अवस्थामें कभी नहीं हुई थी ऐसी भिन्न प्रकारकी कर्म रहित स्वाधीन सुखमयदशाको प्राप्त होता है) ।

भावार्थः—ज्ञानचेतनाकी भावनाका फल यह है। उस भावनासे जीव अत्यन्त तृप्त रहता है—अन्य तृष्णा नहीं रहती, और भविष्यमें केवलज्ञान उत्पन्न करके समस्त कर्मोंसे रहित मोक्ष-अवस्थाको प्राप्त होता है। २३२ ।

‘पूर्वोक्त रीतिसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके त्यागकी भावना करके अज्ञानचेतनाके प्रलयको प्रगटतया नचाकर, अपने स्वभावको पूर्ण करके, ज्ञान चेतनाको नचाते हुए ज्ञानीजन सदाकाल आनन्दरूप रहो’—इस उपदेशका दर्शक काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[अविरतं कर्मणः तत्फलात् च विरतिम् अत्यन्तं भावयित्वा] ज्ञानी जन, अविरत-पनेसे कर्मसे और कर्मफलसे विरतिको अत्यन्त भा कर, (अर्थात् कर्म और कर्मफलके प्रति अत्यन्त विरक्त भावको निरन्तर भा कर), [अखिल-अज्ञान-संचेतनायाः प्रलयनम् प्रस्पष्टं नाटयित्वा] (इस भाँति) समस्त अज्ञानचेतनाके नाशको स्पष्टतया नचाकर, [स्व-रस-परिगत स्वभावं पूर्णं कृत्वा] निजरससे प्राप्त अपने स्वभावको पूर्ण करके, [स्वां ज्ञानसञ्चेतनां सानन्दं नाटयन्तः इतः सर्व-कालं प्रशम-रसम् पिबन्तु] अपनी ज्ञानचेतनाको आनन्द पूर्वक नचाते हुए अबसे सदाकाल प्रशमरसको पियो (अर्थात् कर्मके अभावरूप आत्मिकरसको—अमृतरसको-अभीसे लेकर अनन्तकाल तक पियो । इसप्रकार ज्ञानीजनोंको प्रेरणा की है) ।

भावार्थः—पहले तो त्रिकाल सम्बन्धी कर्मके कर्तृत्वरूप कर्मचेतनाके त्यागकी भावना (४६ भंगपूर्वक) कराई। और फिर १४८ कर्मप्रकृतियोंके उदयरूप कर्मफलके त्यागकी भावना कराई। इसप्रकार अज्ञानचेतनाका प्रलय कराकर ज्ञानचेतनामें प्रवृत्त होनेका उपदेश दिया है। यह ज्ञानचेतना सदा आनन्दरूप अपने स्वभावकी अनुभवरूप—है। ज्ञानीजन सदा उसका उपभोग करो—ऐसा श्रीगुरुओंका उपदेश है। २३३ ।

वंशस्थ

इतः पदार्थप्रथनावगुठनाद्-
विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् ।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्-
विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥२३४॥

सत्त्वं णाणं ए हवइ जम्हा सत्त्वं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्त्वं जिणा विति ॥३६०॥
सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ए याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विति ॥३६१॥
रूढं णाणं ण हवइ जम्हा रूढं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूढं जिणा विति ॥३९२॥
वण्णो णाणं ए हवइ जम्हा वण्णो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विति ॥३९३॥

यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है, इसलिये ज्ञानको कर्तृत्वभोक्त्रत्वसे भिन्न बताया; अब आगेकी गाथाओंमें अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्योंके भावोंसे ज्ञानको भिन्न बताया। पहले उन गाथाओंका सूचक कान्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[इतः इह] यहाँसे अब (इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारमें आगेकी गाथाओंमें यह कहते हैं कि—) [समस्त-वस्तु-व्यतिरेक-निश्चयात् विवेचितं ज्ञानम्] समस्त वस्तुओंके भिन्नत्वके निश्चय द्वारा पृथक् किया गया ज्ञान, [पदार्थ-प्रथन-अवगुठनात् कृतेः विना] पदार्थके विस्तारके साथ

रे ! शास्त्र है नहीं ज्ञान क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं ।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शास्त्र-अन्य प्रभु कहे ॥३९०॥
रे ! शब्द है नहीं ज्ञान, क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु शब्द अन्य-प्रभु कहे ॥३९१॥
रे ! रूप है नहीं ज्ञान, क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं ।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु रूप अन्य प्रभु कहे ॥३९२॥
रे ! वर्ण है नहीं ज्ञान, क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु वर्ण अन्य-प्रभु कहे ॥३९३॥

गंधो णाणं ए हवइ जम्हा गंधो ण याणए किंचि ।
 तम्हा अणणं णाणं अणणं गंधं जिणा विति ॥३६४॥
 ए रसो हु हवइ णाणं जम्हा हु रसो ए याणए किंचि ।
 तम्हा अणणं णाणं रसं य अणणं जिणा विति ॥३६५॥
 फासो ण हवइ णाणं जम्हा फासो ए याणए किंचि ।
 तम्हा अणणं णाणं अणणं फासं जिणा विति ॥३६६॥
 कम्मं णाणं ए हवइ जम्हा कम्मं ए याणए किंचि ।
 तम्हा अणणं णाणं अणणं कम्मं जिणा विति ॥३९७॥
 धम्मो णाणं ण हवइ जम्हा धम्मो ए याणए किंचि ।
 तम्हा अणणं णाणं अणणं धम्मं जिणा विति ॥३९८॥

गुथित होनेसे (-अनेक पदार्थोंके साथ, ज्ञेय-ज्ञान सम्बन्धके कारण; एक जैसा दिखाई देनेसे) उत्पन्न होनेवाली (अनेक प्रकारकी) क्रिया उनसे रहित [एकम् अनाकुलं ज्वलत्] एक ज्ञानक्रियामात्र, अनाकुल (-सर्व आकुलतासे रहित) और वैदीप्यमान होता हुआ, [अवतिष्ठते] निश्चल रहता है।

भावार्थः—आंगामी गाथाओंमें ज्ञानको स्पष्टतया सर्व वस्तुओंसे भिन्न बतलाते हैं ॥३९४॥

अब इसी अर्थकी गाथाएँ कहते हैं:—

रे ! गंध है नहीं ज्ञान, क्योंकि गंध कुछ जाने नहीं ।
 इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु गंध अन्य प्रभू कहे ॥३९४॥
 रे ! रस नहीं है ज्ञान, क्योंकि रस जु कुछ जाने नहीं ।
 इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु अन्य रस-जिनवर कहे ॥३९५॥
 रे ! स्पर्श है नहीं ज्ञान, क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं ।
 इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु स्पर्श अन्य-प्रभू कहे ॥३९६॥
 रे ! कर्म है नहीं ज्ञान, क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं ।
 इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु कर्म अन्य-जिनवर कहे ॥३९७॥
 रे ! धर्म नहीं है ज्ञान, क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं ।
 इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु धर्म अन्य-जिनवर कहे ॥३९८॥

णाणमधम्मो ण हवइ जम्हाधम्मो ण याणए किंचि ।
 तम्हा अणं णाणं अणमधम्मं जिणा विति ॥३६६॥
 कालो णाणं ण हवइ जम्हा कालो ण याणए किंचि ।
 तम्हा अणं णाणं अणं कालं जिणा विति ॥४००॥
 आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणए किंचि ।
 तम्हायासं अणं अणं णाणं जिणा विति ॥४०१॥
 एज्भवसाणं णाणं अज्भवसाणं अचेदणं जम्हा ।
 तम्हा अणं णाणं अज्भवसाणं तद्वा अणं ॥४०२॥

गाथा ३९०-४०४

गायार्थः—[शास्त्रं] शास्त्र [ज्ञानं न भवति] ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [शास्त्रं किंचित् न जानाति] शास्त्र कुछ जानता नहीं है (-वह जड़ है), [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [शास्त्रं अन्यत्] शास्त्र अन्य है—[जिनाः विदन्ति] ऐसा जिनदेव जानते—कहते हैं । [शब्दः ज्ञानं न भवति] शब्द ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [शब्दः किंचित् न जानाति] शब्द कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [शब्दं अन्यं] शब्द अन्य है—[जिनाः विदन्ति] ऐसा जिनदेव जानते हैं—कहते हैं । [रूपं ज्ञानं न भवति] रूप ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [रूपं किंचित् न जानाति] रूप कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम्

नहीं है अधर्म जु ज्ञान, क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं ।

इस हेतुसे है ज्ञान अन्य अधर्म अन्य—जिनवर कहे ॥३९९॥

रे ! काल है नहीं ज्ञान, क्योंकि काल कुछ जाने नहीं ।

इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु काल अन्य—प्रभू कहे ॥४००॥

आकाश है नहीं ज्ञान, क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं ।

इस हेतुसे आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य प्रभू कहे ॥४०१॥

रे ! ज्ञान अध्यवसान नहीं, क्योंकि अचेतन रूप है ।

इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु अन्य अध्यवसान है ॥४०२॥

जम्हा जाणइ णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी ।
 णाणं च जाणयादो अब्बदिरित्तं सुणैयव्वं ॥४०३॥
 णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तयंगपुव्वगयं ।
 धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥४०४॥

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना विन्दन्ति ॥३९०॥
 शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना विन्दन्ति ॥३९१॥
 रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यरूपं जिना विन्दन्ति ॥३९२॥

अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [रूपं अन्यत्] रूप अन्य है—[जिनाः विदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [वराः ज्ञानं न भवति] वरां ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [वराः किञ्चित् न जानाति] वरां कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [वरां अन्यं] वरां अन्य है—[जिनाः विदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [गंधः ज्ञानं न भवति] गंध ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [गंधः किञ्चित् न जानाति] गंध कुछ जानती नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [गंधं अन्यं] गंध अन्य है—[जिनाः विदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [रसः तु ज्ञानं न भवति] रस ज्ञान नहीं है [यस्मात् तु] क्योंकि [रसः किञ्चित् न जानाति] रस कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [रसं च अन्यं] और रस अन्य है—[जिनाः विदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [स्पर्शः ज्ञानं न भवति] स्पर्श ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [स्पर्शः किञ्चित् न जानाति] स्पर्श कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [स्पर्शं अन्यं] स्पर्श अन्य है—[जिनाः विदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [कर्म ज्ञानं न भवति] कर्म ज्ञान

रे ! सर्वदा जाने हि इससे जीव ज्ञायक ज्ञानि है ।

अरु ज्ञान है ज्ञायकसे अव्यतिरिक्त यों ज्ञातव्य है ॥४०३॥

सन्यदत्त्व, अरु संयम, तथा पूर्वागमत् सब सूत्र जो ।

धर्माधरम, दीक्षा सवहि, बुध पुरुष माने ज्ञानको ॥४०४॥

वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना विन्दन्ति ॥३९३॥

गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गन्धो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गंधं जिना विन्दन्ति ॥३९४॥

न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना विन्दन्ति ॥३९५॥

स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना विन्दन्ति ॥३९६॥

कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना विन्दन्ति ॥३९७॥

धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना विन्दन्ति ॥३९८॥

नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म किञ्चित् न जानाति] कर्म कुछ जानता नहीं है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [कर्म अन्यत्] कर्म अन्य है—[जिनाः विदन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [धर्मः ज्ञानं न भवति] धर्म (अर्थात् धर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [धर्मः किञ्चित् न जानाति] धर्म कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [धर्म अन्यं] धर्म अन्य है—[जिनाः विदन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [अधर्मः ज्ञानं न भवति] अधर्म (अर्थात् अधर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अधर्मः किञ्चित् न जानाति] अधर्म कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [अधर्म अन्यम्] अधर्म अन्य है—[जिनाः विदन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [कालः ज्ञानं न भवति] काल ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कालः किञ्चित् न जानाति] काल कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [कालं अन्यं] काल अन्य है—[जिनाः विदन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [आकाशम् अपि ज्ञानं न] आकाश भी ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [आकाशं किञ्चित् न जानाति] आकाश कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है,

ज्ञानमधर्मो न भवतिः यस्मादधर्मो न जानाति किञ्चित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना विन्दन्ति ॥३९९॥

कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किञ्चित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं कालं जिना विन्दन्ति ॥४००॥

आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किञ्चित् ।

तस्मादाकाशमन्यदन्यज्ज्ञानं जिना विन्दन्ति ॥४०१॥

नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतनं यस्मात् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत् ॥४०२॥

यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।

ज्ञानं च ज्ञायकादन्यतिरिक्तं ज्ञातव्यम् ॥४०३॥

ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतम् ।

धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति बुधाः ॥४०४॥

आकाशम् अन्यत्] आकाश अन्य है—[जिनाः विदन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [अध्यवसानं ज्ञानम् न] अध्यवसान ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अध्यवसानम् अचेतनं] अध्यवसान अचेतन है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है [तथा अध्यवसानं अन्यत्] तथा अध्यवसान अन्य है (—ऐसा जिनदेव कहते हैं) ।

[यस्मात्] क्योंकि [नित्यं जानाति] (जीव) निरन्तर जानता है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञायकः जीवः तु] ज्ञायक ऐसा जीव [ज्ञानी] ज्ञानी (—ज्ञानवाला, ज्ञानस्वरूप) है, [ज्ञानं च] और ज्ञान [ज्ञायकात् अन्यतिरिक्तं] ज्ञायकसे अन्यतिरिक्त है ('अभिन्न' है, जुदा नहीं) [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिये ।

[बुधाः] बुध पुरुष (अर्थात् ज्ञानी जन) [ज्ञानं] ज्ञानको ही [सम्यग्दृष्टिं तु] सम्यग्दृष्टि, [संयमं] (ज्ञानको ही) संयम, [अंगपूर्वगतम् सूत्रम्] अंगपूर्वगत सूत्र, [धर्माधर्मं च] और धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) तथा प्रव्रज्याम्] तथा दीक्षा [अभ्युपयान्ति] मानते हैं ।

न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः । न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः । न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः । न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः । न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः । न रसो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः । न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः । न कर्म ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः । न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः । नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः । न कालो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः । नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः । नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः । इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः । अथ जीव एवैको ज्ञानं,

टीका:—श्रुत (अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत) ज्ञान नहीं है, क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और श्रुतके व्यतिरेक (अर्थात् भिन्नता) है । शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द (पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और शब्दके व्यतिरेक (अर्थात् भेद) है । रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और रूपके व्यतिरेक है (अर्थात् दोनों भिन्न हैं) । वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और वर्णके व्यतिरेक है (अर्थात् ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है) । गंध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गंध (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और गंधके व्यतिरेक (—भेद, भिन्नता) है । रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और रसके व्यतिरेक है । स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और स्पर्शके व्यतिरेक है । कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और कर्मके व्यतिरेक है । धर्म (—धर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और धर्मके व्यतिरेक है । अधर्म (—अधर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्म अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और अधर्मके व्यतिरेक है । काल (—कालद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और कालके व्यतिरेक है । आकाश (—आकाशद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और आकाशके व्यतिरेक है । अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और (कर्मादयकी प्रवृत्तिरूप) अध्यवसानके व्यतिरेक है । इसप्रकार यों ज्ञानका समस्त परद्रव्योंके साथ व्यतिरेक निश्चयसाधित देखना चाहिए (अर्थात् निश्चयसे सिद्ध हुआ समझना—अनुभव करना चाहिये) ।

—अब, जीव ही एक ज्ञान है, क्योंकि जीव चेतन है; इसलिये ज्ञानके और जीवके अव्यतिरेक (—अभेद) है । और ज्ञानका जीवके साथ व्यतिरेक किंचित्मात्र भी शंका करने योग्य नहीं है (अर्थात्

चेतनत्वात्; ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः । न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात्ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शंकनीयः । एवं तु सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयमः, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः । अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावव्यतिरेकेण वा अतिव्याप्ति-अव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्यम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापद्य दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा सपवाप्तसंपूर्ण-विज्ञानघनस्वभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धं ज्ञानमेकमवस्थितं द्रष्टव्यम् ।

ज्ञानकी जीवसे भिन्नता होगी ऐसी जरा भी शंका करने योग्य नहीं है), क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है । ऐसा (ज्ञान जीवसे अभिन्न) होनेसे, ज्ञान ही सम्यक्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म (अर्थात् पुण्य-पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या (-दीक्षा, निश्चयचारित्र) है—इसप्रकार ज्ञानका जीवपर्यायोंके साथ भी अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना (अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना—अनुभव करना) चाहिए ।

अब, इसप्रकार सर्व परद्रव्योंके साथ व्यतिरेकके द्वारा और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावोंके साथ अव्यतिरेकके द्वारा अतिव्याप्तिको और अव्याप्तिको दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है ऐसे धर्म-अधर्मरूप (पुण्य-पापरूप, शुभ-अशुभरूप,) परसमयको दूर करके, स्वयं ही प्रव्रज्यारूपको प्राप्त करके (अर्थात् स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप दीक्षाभावको प्राप्त करके), दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें स्थितिरूप स्वसमयको प्राप्त करके, मोक्षमार्गको अपनेमें ही परिणत करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभावको प्राप्त किया है ऐसा, त्यागग्रहणसे रहित, साक्षात् समयसारभूत, परमार्थरूप शुद्धज्ञान एक अवस्थित (-निश्चल) देखना (अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदनसे अनुभव करना) चाहिए ।

भावार्थः—यहाँ ज्ञानको समस्त परद्रव्योंसे भिन्न और अपनी पर्यायोंसे अभिन्न बताया है, इसलिये अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक लक्षण दोष दूर हो गये । आत्माका लक्षण उपयोग है, और उपयोगमें ज्ञान प्रधान है; वह (ज्ञान) अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है इसलिये वह अतिव्याप्तिवाला नहीं है, और अपनी सर्व अवस्थाओंमें है इसलिये अव्याप्तिवाला नहीं है । इसप्रकार ज्ञानलक्षण कहनेसे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष नहीं आते ।

यहाँ ज्ञानको ही प्रधान करके आत्माका अधिकार है, क्योंकि ज्ञानलक्षणसे ही आत्मा सर्व परद्रव्योंसे भिन्न अनुभवगोचर होता है । यद्यपि आत्मामें अनन्त धर्म हैं, तथापि उनमेंसे कितने ही तो छद्मस्थके अनुभवगोचर ही नहीं हैं; उन धर्मोंके कहनेसे छद्मस्थ ज्ञानी आत्माको कैसे पहिचान सकता है ?

शार्दूलविक्रीडित

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं विभ्रत्पृथक्वस्तुता-
मादानोज्जनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३५॥

और कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं, परन्तु उनमेंसे कितने ही तो—अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि तो—अन्य द्रव्योंके साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं इसलिये उनके कहनेसे पृथक् आत्मा नहीं जाना जा सकता, और कितने ही (धर्म) परद्रव्यके निमित्तसे हुये हैं उन्हें कहनेसे परमार्थभूत आत्माका शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जा सकता है ? इसलिये ज्ञानके कहनेसे ही लब्धस्थ ज्ञानी आत्माको पहिचान सकता है ।

यहाँ ज्ञानको आत्माका लक्षण कहा है इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञानको ही आत्मा कहा है; क्योंकि अमेदविवक्षामें गुणगुणीका अमेद होनेसे, ज्ञान है सो ही आत्मा है । अमेदविवक्षामें चाहे ज्ञान कहो या आत्मा—कोई विरोध नहीं है; इसलिये यहाँ ज्ञान कहनेसे आत्मा ही समझना चाहिये ।

टीकामें अन्तमें यह कहा गया है कि—जो, अपनेमें अनादि अज्ञानसे होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमयकी प्रवृत्तिको दूर करके, सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमें प्रवृत्तिरूप स्वसमयको प्राप्त करके, उस स्वसमयरूप परिणामनस्वरूप मोक्षमार्गमें अपनेको परिणामित करके, जो सम्पूर्णविज्ञानघनस्वभावको प्राप्त हुआ है, और जिसमें कोई त्याग-ग्रहण नहीं है, ऐसे साक्षात् समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहा हुआ, शुद्ध, पूर्ण ज्ञानको (पूर्ण आत्मद्रव्यको) देखना चाहिये । यहाँ 'देखना' तीन प्रकारसे समझना चाहिये । १-शुद्धनयका ज्ञान करके पूर्ण ज्ञानका श्रद्धान करना सो प्रथम प्रकारका देखना है । वह अविरत आदि अवस्थामें भी होता है । २-ज्ञान-श्रद्धान होनेके बाद बाह्य सर्व परिग्रहका त्याग करके उसका (-पूर्ण ज्ञानका) अभ्यास करना, उपयोगको ज्ञानमें ही स्थिर करना, जैसा शुद्धनयसे अपने स्वरूपको सिद्ध समान जाना-श्रद्धान किया था वैसा ही ध्यानमें लेकर चित्तको एकाग्र-स्थिर करना, और पुनः पुनः उसीका अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकारका देखना है इसप्रकारका देखना अप्रमत्तदशामें होता है । जहाँ तक उस प्रकारके अभ्याससे केवलज्ञान उत्पन्न न हो वहाँ तक ऐसा अभ्यास निरन्तर रहता है । यह, देखनेका दूसरा प्रकार हुआ । यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञानका शुद्धनयके आश्रयसे परोक्ष देखना है । और ३-जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब साक्षात् देखना है सो यह तीसरे प्रकारका देखना है । उस स्थितिमें ज्ञान सर्व विभावोंसे रहित होता हुआ सबका ज्ञाता-द्रष्टा है, इसलिये यह तीसरे प्रकारका देखना पूर्ण ज्ञानका प्रत्यक्ष देखना है ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[अन्येभ्यः व्यतिरिक्तम्] अन्य द्रव्योंसे भिन्न, [आत्म-नियतं] अपनेमें ही नियत, पृथक्-वस्तुताम्-विभ्रत्] पृथक् वस्तुत्वको धारण करता हुआ (-वस्तुका स्वरूप सामान्यविवेधात्मक

* उपजाति *

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
 तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
 यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः
 पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥२३६॥

* अनुष्टुभ् *

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम् ।
 कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ॥२३७॥

होनेसे स्वयं भी सामान्यविशेषात्मकताको धारण करता हुआ), [आदान-उज्झन-शून्यम्] ग्रहण-त्यागसे रहित, [एतद् अमलं ज्ञानं] यह अमल (-रागादिक मलसे रहित) ज्ञान [तथा-अवस्थितम् यथा] इसप्रकार अवस्थित (-निश्चल) अनुभवमें आता है कि जैसे [मध्य-ग्रादि-अंत-विभाग-मुक्त-सहज-स्फार-प्रभा-भासुरः अस्य शुद्ध-ज्ञान-घनः महिमा] आदि मध्य अन्तरूप विभागोंसे रहित ऐसी सहज फैली हुई प्रभाके द्वारा दैदीप्यमान ऐसी उसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य-उदित रहे (शुद्ध ज्ञानकी पुंजरूप महिमा सदा उदयमान रहे) ।

भावार्थः—ज्ञानका पूर्ण रूप सबको जानना है। वह जब प्रगट होता है तब सर्व विशेषणोंसे सहित प्रगट होता है; इसलिये उसकी महिमाको कोई बिगाड़ नहीं सकता, वह सदा उदित रहती है। २३५।

‘ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका आत्मामें धारण करना सो यही ग्रहण करनेयोग्य सब कुछ ग्रहण किया और त्यागनेयोग्य सब कुछ त्याग किया है’—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[संहृत-सर्व-शक्तेः पूर्णस्य आत्मनः] जिसने सर्व शक्तियोंको समेट लिया है (-अपनेमें लीन कर लिया है) ऐसे पूर्ण आत्माका [आत्मनि इह] आत्मामें [यत् सन्धारणम्] धारण करना [तत् उन्मोच्यम् अशेषतः उन्मुक्तम्] वही छोड़नेयोग्य सब कुछ छोड़ा है [तथा] और [आदेयम् तत् अशेषतः आत्तम्] ग्रहण करनेयोग्य सब ग्रहण किया है ।

भावार्थः—पूर्णज्ञानस्वरूप, सर्व शक्तियोंका समूहरूप जो आत्मा है उसे आत्मामें धारण कर रखना सो यही, जो कुछ त्यागनेयोग्य था उस सबको त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था उसे ग्रहण किया है। यही कृतकृत्यता है। २३६।

‘ऐसे ज्ञानको देह ही नहीं है’—इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[एवं ज्ञानम् परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं अवस्थितम्] इसप्रकार (पूर्वोक्त रीतिसे) ज्ञान परद्रव्यसे पृथक् अवस्थित (-निश्चल रहा हुआ) है; [तत् आहारकं कथम् स्यात् येन अस्य देहः]

अत्ता जस्सामुत्तो ए हु सो आहारओ हवइ एवं ।
 आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पुद्गलमओ उ ॥४०५॥
 ण वि सक्कइ धित्तुं जं ए विमोक्तुं जं य जं परहव्वं ।
 सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ॥४०६॥
 तम्हा उ जो विसुद्धो चेया सो एव गिरहए किंचि ।
 एव विमुच्चइ किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥४०७॥

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवम् ।
 आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु ॥४०५॥
 नापि शक्यते ग्रहीतुं यत् न विमोक्तुं यच्च यत्परद्रव्यम् ।
 स कोऽपि च तस्य गुणः प्रायोगिको वैज्ञसो वाऽपि ॥४०६॥
 तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित् ।
 नैव विमुञ्चति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ॥४०७॥

शङ्क्यते] वह (ज्ञान) आहारक (अर्थात् कर्म-नोकर्मरूप आहार करनेवाला) कैसे हो सकता है कि जिससे उसके देहकी शंका की जा सके ? (ज्ञानके देह हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसके कर्म-नोकर्मरूप आहार ही नहीं है ।) २३७ ।

अब इस अर्थको गाथाओंमें कहते हैं:—

गाथा ४०५-४०७

गाथार्थः—[एवम्] इसप्रकार [यस्य आत्मा] जिसका आत्मा [स्वमूर्तः] अमूर्तिक है [सः खलु] वह वास्तवमें [आहारकः न भवति] आहारक नहीं है; [आहारः खलु] आहार तो [मूर्तः] मूर्तिक है [यस्मात्] क्योंकि [सः तु पुद्गलमयः] वह पुद्गलमय है ।

यों आत्मा जिसका अमूर्तिक वो न आहारक बने ।
 पुद्गलमयी आहार यों आहार तो मूर्तिक अरे ॥४०५॥
 जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहीं, नहीं त्याग उसका हो सके ।
 ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगि अरु वैज्ञसिक है ॥४०६॥
 इस हेतुसे जो शुद्ध आत्मा वो नहीं कुछ भी ग्रहे ।
 छोड़े नहीं कुछ भी अतो ! परद्रव्य जीव अजीवमें ॥४०७॥

ज्ञानं हि परद्रव्यं किञ्चिदपि न गृह्णाति न मुञ्चति च, प्रायोगिकगुणसामर्थ्यात्
वैज्ञानिकगुणसामर्थ्याद्वा ज्ञानेन परद्रव्यस्य गृहीतुं मोक्तुं चाशक्यत्वात् । परद्रव्यं च न
ज्ञानस्यामूर्तात्मद्रव्यस्य मूर्तपुद्गलद्रव्यत्वादाहारः । ततो ज्ञानं नाहारकं भवति । अतो ज्ञानस्य
देहो न शङ्कनीयः ।

[यत् परद्रव्यम्] जो परद्रव्य है [न अपि शक्यते ग्रहितुं यत्] वह ग्रहण नहीं किया जा
सकता [न विमोक्तुं यत् च] और छोड़ा नहीं जा सकता; [सः कः अपि च] ऐसा ही कोई [तस्य]
उसका (—आत्माका) [प्रायोगिकः वा अपि वैज्ञानिकः गुणः] प्रायोगिक तथा वैज्ञानिक गुण है ।

[तस्मात् तु] इसलिये [यः विशुद्धः चेतयिता] जो विशुद्ध आत्मा है [सः] वह [जीवाजीवयोः
द्रव्ययोः] जीव और अजीव द्रव्योंमें (—परद्रव्योंमें) [किञ्चित् न एव गृह्णाति] कुछ भी ग्रहण नहीं
करता [किञ्चित् अपि न एव विमुञ्चति] तथा कुछ भी त्याग नहीं करता ।

टीका:—ज्ञान परद्रव्यको किञ्चित्मात्र भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है, क्योंकि
प्रायोगिक (अर्थात्-पर-निमित्तसे-उत्पन्न) गुणकी सामर्थ्यसे-तथा वैज्ञानिक (अर्थात् स्वाभाविक) गुणकी-
सामर्थ्यसे ज्ञानके द्वारा परद्रव्यका ग्रहण तथा त्याग करना अशक्य है । और, (कर्म-नोकर्मादिरूप)
परद्रव्य ज्ञानका—अमूर्तिक आत्मद्रव्यका—आहार नहीं है, क्योंकि वह मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है;
(अमूर्तिकके मूर्तिक आहार नहीं होता) । इसलिये ज्ञान आहारक नहीं है । इसलिये ज्ञानके देहकी शंका
न करनी चाहिये ।

(यहाँ 'ज्ञान'से 'आत्मा' समझना चाहिये; क्योंकि, अभेद विवक्षासे लक्षणमें ही लक्ष्यका व्यवहार
किया जाता है । इस न्यायसे टीकाकार आचार्यदेव आत्माको ज्ञान ही कहते आये हैं ।)

भावार्थः—ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और आहार तो कर्म-नोकर्मादिरूप पुद्गलमय मूर्तिक है,
इसलिये परमार्थतः आत्माके पुद्गलमय आहार नहीं है । और आत्माका-ऐसा ही स्वभाव है कि वह
परद्रव्यको कदापि ग्रहण नहीं करता;—स्वभावरूप परिणमित हो या विभावरूप परिणमित हो,—अपने
ही परिणामका ग्रहणत्याग होता है, परद्रव्यका ग्रहण-त्याग तो किञ्चित्मात्र भी नहीं होता ।

इसप्रकार आत्माके आहार न होनेसे उसके देह ही नहीं है ।

जब कि आत्माके देह है ही नहीं, इसलिये पुद्गलमय देहस्वरूप लिंग (—वेष, बाह्य चिह्न) मोक्षका
कारण नहीं है—इस अर्थका, आगामी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

॥ अनुष्टुप् ॥

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।

ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणम् ॥२३८॥

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
धितुं वदन्ति मूढा लिंगमिणं मोक्षमगमो ति ॥४०८॥
ण तु होइ मोक्षमगमो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुचित्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयन्ति ॥४०९॥

पापण्डिलिंगानि वा गृहिलिंगानि वा बहुप्रकाराणि ।

गृहीत्वा वदन्ति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्गं इति ॥४०८॥

न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यदेहनिर्ममा अर्हतः ।

लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते ॥४०९॥

श्लोकार्थः—[एवं शुद्धस्य ज्ञानस्य देहः एव न विद्यते] इसप्रकार शुद्धज्ञानके देह ही नहीं है; [ततः ज्ञातुः देहमयं लिंगं मोक्षकारणम् न] इसलिये ज्ञाताको देहमय चिह्न मोक्षका कारण नहीं है । २३८ ।

अथ इसी अर्थको गाथाओं द्वारा कहते हैं—

गाथा ४०८-४०९

गाथार्थः—[बहुप्रकाराणि] बहुत प्रकारके [पाण्डिलिंगानि वा] मुनिलिंगोंको [गृहिलिंगानि वा] अथवा गृहिलिंगोंको [गृहीत्वा] ग्रहण करके [मूढाः] मूढ (अज्ञानी) जन [वदन्ति] यह कहते हैं कि ' [इदं लिंगम्] यह (बाह्य) लिंग [मोक्षमार्गः इति] मोक्षमार्ग है ।'

[तु] परन्तु [लिंगं] लिंग [मोक्षमार्गः न भवति] मोक्षमार्ग नहीं है; [यत्] क्योंकि [अर्हतः] अर्हन्तदेव [देहनिर्ममाः] देहके प्रति निर्मम वर्तते हुये [लिंगम् मुक्त्वा] लिंगको छोड़कर [दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते] दर्शन-ज्ञान-चारित्रका ही सेवन करते हैं ।

मुनिलिंगको अथवा गृहस्थीलिंगको बहुभौतिके ।
ग्रहकर कहत है मूढ़जन, 'यह लिंग मुक्तीमार्ग है' ॥४०८॥
यह लिंग मुक्तीमार्ग नहीं, अर्हत निर्मम देहमें ।
यस लिंग तजकर ज्ञान अरु चारित्र, दर्शन सेवते ॥४०९॥

कैचिद्द्रव्यलिंगमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमानाः संतो मोहेन द्रव्यलिंगमेवोपाददते ।
तदनुपपन्नम्; सर्वेषामेव भगवतामर्हद्देवानां, शुद्धज्ञानमयत्वे सति द्रव्यलिंगाश्रयभूतशरीरममकार-
त्यागात्, तदाश्रितद्रव्यलिंगत्यागेन दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात् ।

अथैतदेव साधयति—

ए वि एष मोक्षमार्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरिताणि मोक्षमार्गं जिणा विंति ॥४१०॥

नाप्येष मोक्षमार्गः पाषंडिगृहिमयानि लिंगानि ।

दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना विंदति ॥४१०॥

टीका:—कितने ही लोग अज्ञानसे द्रव्यलिंगको मोक्षमार्ग मानते हुए मोहसे द्रव्यलिंगको ही ग्रहण करते हैं। यह (-द्रव्यलिंगको मोक्षमार्ग मानकर ग्रहण करना सो) अनुपपन्न अर्थात् अयुक्त है; क्योंकि सभी भगवान अर्हंतदेवोंके, शुद्धज्ञानमयता होनेसे द्रव्यलिंगके आश्रयभूत शरीरके ममत्वका त्याग होता है इसलिये, शरीराश्रित द्रव्यलिंगके त्यागसे दर्शनज्ञानचारित्रकी मोक्षमार्गरूपसे उपासना देखी जाती है (अर्थात् वे शरीराश्रित द्रव्यलिंगका त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्रको मोक्षमार्गके रूपमें सेवन करते हुए देखे जाते हैं) ।

भावार्थ:—यदि देहमय द्रव्यलिंग मोक्षका कारण होता तो अर्हन्तदेव आदि देहका ममत्व छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका सेवन क्यों करते ? द्रव्यलिंगसे ही मोक्ष प्राप्त कर लेते। इससे यह निश्चय हुआ कि—देहमय लिंग मोक्षमार्ग नहीं है; परमार्थतः दर्शनज्ञानचारित्ररूप आत्मा ही मोक्षका मार्ग है।

अब यही सिद्ध करते हैं (अर्थात् द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है—यह सिद्ध करते हैं) :—

गाथा ४१०

गाथार्थ:—[पाषंडिगृहिमयानि लिंगानि] मुनियों और गृहस्थके लिंग (-चित्त) [एषः] यह [मोक्षमार्गः न अपि] मोक्षमार्ग नहीं है; [दर्शनज्ञानचारित्राणि] दर्शन-ज्ञान-चारित्रको [जिनाः] जिनदेव [मोक्षमार्गं विंदति] मोक्षमार्ग कहते हैं।

मुनिर्लिंग अरु गृहीलिंग—ये नहीं लिंग मुक्तोमार्ग है ।

चारित्र-दर्शन-ज्ञानको बस मोक्षमार्ग प्रभू कहे ॥४१०॥

न खलु द्रव्यलिंगं मोक्षमार्गः, शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात् । दर्शनज्ञानचारित्राण्येव
मोक्षमार्गः, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात् ।

यत् एवम्—

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारणहिं वा गहिण् ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुञ्ज मोक्खपहे ॥४११॥

तस्मात् जहित्वा लिंगानि सागारैरनगारकैर्वा गृहीतानि ।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युञ्ज्व मोक्षपथे ॥४११॥

टीका:—द्रव्यलिंग वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि वह (द्रव्यलिंग) शरीराश्रित होनेसे परद्रव्य है । दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वे आत्माश्रित होनेसे स्वद्रव्य हैं ।

भावार्थ:—जो मोक्ष है सो सर्व कर्मोंके अभावरूप आत्मपरिणाम (—आत्माके परिणाम) हैं, इसलिये उसका कारण भी आत्मपरिणाम ही होना चाहिये । दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्माके परिणाम हैं, इसलिये निश्चयसे वही मोक्षका मार्ग है ।

जो लिंग है सो देहमय है; और जो देह है वह पुद्गलद्रव्यमय है; इसलिये आत्माके लिये देह मोक्षमार्ग नहीं है । परमार्थसे अन्य द्रव्यको अन्य द्रव्य कुछ नहीं करता ऐसा नियम है ।

जब कि ऐसा है (अर्थात् यदि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है और दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है) तो इसप्रकार (निम्नप्रकार)से करना चाहिये—यह उपदेश देते हैं:—

गाथा ४११

गाथाार्थ:—[तस्मात्] इसलिये [सागारः] सागारों द्वारा (—गृहस्थों द्वारा) [अनगारकः वा] अथवा अणुगारोंके द्वारा (मुनियोंके द्वारा) [गृहीतानि] ग्रहण किये गये [लिंगानि] लिंगोंको [जहित्वा] छोड़कर, [दर्शनज्ञानचारित्रे] दर्शनज्ञानचारित्रमें—[मोक्षपथे] जो कि मोक्षमार्ग है उसमें—[आत्मानं युञ्ज्व] तू आत्माको लगा ।

यों छोड़कर सागर या अनगार-धारित लिंगको ।

चारित्र-दर्शन-ज्ञानमें तू जोड़ रे । निज आत्मको ॥४११॥

यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्गः, ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्र्येष्वेव,
मोक्षमार्गत्वात्, आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः ।

* अनुष्टुभ् *

दर्शनज्ञानचारित्र्ययात्मा तत्त्वमात्मनः ।

एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥

मोक्षरूपहे अर्पाणं ठवेहि तं देव भाहि तं चैय ।

तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अरणदव्वेसु ॥४१२॥

टीका:—क्योंकि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, इसलिये समस्त द्रव्यलिंगका त्याग करके दर्शनज्ञान-
चारित्र्यमें ही, वह (दर्शनज्ञानचारित्र्य) मोक्षमार्ग होनेसे, आत्माको लगाना योग्य है—ऐसी सूत्रकी
अनुमति है ।

भावार्थ:—यहाँ द्रव्यलिंगको छोड़कर आत्माको दर्शनज्ञानचारित्र्यमें लगानेका वचन है वह
सामान्य परमार्थ वचन है । कोई यह समझेगा कि यह मुनि-श्रावकके व्रतोंके छुड़ानेका उपदेश है । परन्तु
ऐसा नहीं है । जो मात्र द्रव्यलिंगको ही मोक्षमार्ग जानकर वेश धारण करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंगका पक्ष
छुड़ानेका उपदेश दिया है कि—वेशमात्रसे (वेशमात्रसे, बाह्यव्रतमात्रसे) मोक्ष नहीं होता । परमार्थ
मोक्षमार्ग तो आत्माके परिणाम जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य हैं वही है । व्यवहार आचारसूत्रके कथनानुसार
जो मुनि-श्रावकके बाह्य व्रत हैं, वे व्यवहारसे निश्चयमोक्षमार्गके साधक हैं; उन व्रतोंको यहाँ नहीं छुड़ाना
है, किन्तु यह कहा है कि उन व्रतोंका भी संमत्त्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्गमें लगनेसे मोक्ष होता है,
केवल वेशमात्रसे—व्रत मात्रसे मोक्ष नहीं होता ।

अब इसी अर्थको दृढ़ करनेवाली आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थ:—[आत्मनः तत्त्वम् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य-त्रय-आत्मा] आत्माका तत्त्व दर्शनज्ञान-
चारित्र्ययात्मक है (अर्थात् आत्माका यथार्थ रूप दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यके त्रिकस्वरूप है);
[मुमुक्षुणा मोक्षमार्गः एकः एव सदा सेव्यः] इसलिये मोक्षके इच्छुक पुरुषको (यह दर्शनज्ञानचारित्र्य-
स्वरूप) मोक्षमार्ग एक ही सदा सेवन करने योग्य है । २३९ ।

अब इसी उपदेशको गाथा द्वारा कहते हैं:—

तं स्थाप निजक्रो मोक्षपथमें, ध्या, अनुभव तू उसे ।

उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्यमें ॥४१२॥

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व ।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहापीरन्यद्रव्येषु ॥४१२॥

आसंसारत्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि, स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्र्येषु नित्यमेवावस्थापयतिनिश्चलमात्मानं; तथा समस्तचिन्तांतरनिरोधे-नात्यंतमेकाग्रो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्र्याण्येव ध्यायस्व; तथा सकलकर्मकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्र्याण्येव चेतयस्व; तथा द्रव्यस्वभाववशतः प्रतिक्षण-विजृम्भमाणपरिणामतया तन्मयपरिणामो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्र्येष्वेव विहर; तथा ज्ञानरूपमेक-मेवाचलितमवलंबमानो ज्ञेयरूपेणोपाधितया सर्वत एव प्रधावत्स्वपि परद्रव्येषु सर्वेष्वपि मनागपि मा विहापीः ।

गाथा ४१२

गाथार्थः—(हे भव्य !) [मोक्षपथे] तूं मोक्षमार्गमें [आत्मानं स्थापय] अपने आत्माको स्थापित कर, [तं च एव ध्यायस्व] उसीका ध्यान कर, [तं चेतयस्व] उसीको चेत-अनुभव कर [तत्र एव नित्यं विहर] और उसीमें निरन्तर विहार कर; [अन्यद्रव्येषु मा विहापीः] अन्य द्रव्योंमें विहार मत कर ।

टीकाः—(हे भव्य !) स्वयं अर्थात् अपना आत्मा अर्थात् संसारसे लेकर अपनी प्रज्ञाके (-बुद्धिके) दोपसे परद्रव्यमें—रागद्वेषादिमें निरन्तर स्थित रहता हुआ भी, अपनी प्रज्ञाके गुण द्वारा ही उसमेंसे पीछे हटाकर उसे अति निश्चलता पूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमें निरन्तर स्थापित कर; तथा समस्त अन्य चिन्ताके निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यका ही ध्यान कर; तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यको ही चेत-अनुभव कर; तथा द्रव्यके स्वभावके वशसे (अपनेको) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उनके द्वारा (अर्थात् परिणामीपनेके द्वारा तन्मय परिणामवाला (-दर्शनज्ञानचारित्र्यमय परिणामवाला) होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमें ही विहार कर; तथा ज्ञानरूपको एकको ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होनेसे उपाधिरूप हैं ऐसे सर्व ओरसे फैलते हुए समस्त परद्रव्योंमें किंचित् मात्र भी विहार मत कर ।

भावार्थः—परमार्थरूप आत्माके परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य हैं; वही भोक्षमार्ग है । उसीमें (-दर्शनज्ञानचारित्र्यमें ही) आत्माको स्थापित करना चाहिये, उसीका ध्यान करना चाहिये, उसीका अनुभव करना चाहिये और उसीमें विहार (प्रवर्तन) करना चाहिये, अन्य द्रव्योंमें प्रवर्तन नहीं करना चाहिये । यहाँ परमार्थसे यही उपदेश है कि—निश्चय मोक्षमार्गका सेवन करना चाहिए, मात्र व्यवहारमें ही मूढ़ नहीं रहना चाहिए ।

* शार्दूलविक्रीडित *

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराप्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥२४०॥

* शार्दूलविक्रीडित *

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥२४१॥

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[दृग्-ज्ञप्ति-वृत्ति-आत्मकः यः एषः एकः नियतः मोक्षपथः] दर्शन ज्ञान चारित्र-
स्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है, [तत्र एव यः स्थितिम् एति] उसीमें जो पुरुष स्थिति प्राप्त
करता है अर्थात् स्थित रहता है, [तम् अनिशं ध्यायेत्] उसीका निरन्तर ध्यान करता है, [तं चेतति]
उसीको चेतता है—उसीका अनुभव करता है, [च द्रव्यान्तराणि अस्पृशन् तस्मिन् एव निरन्तरं
विहरति] और अन्य द्रव्योंको स्पर्श न करता हुआ उसीमें निरन्तर विहार करता है, [सः नित्य-उदयं
समयस्य सारम् अचिरात् अवश्यं विन्दति] वह पुरुष, जिसका उदय नित्य रहता है ऐसे समयके सारको
(अर्थात् परमात्माके रूपको) अल्पकालमें ही अवश्य प्राप्त करता है अर्थात् उसका अनुभव करता है ।

भावार्थः—निश्चयमोक्षमार्गके सेवनसे अल्प कालमें ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह नियम
है । २४० ।

‘जो द्रव्यलिंगको ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें ममत्व रखते हैं, उन्होंने समयसारको अर्थात् शुद्ध
आत्माको नहीं जाना’—इसप्रकार गाथा द्वारा कहते हैं ।

यहाँ प्रथम उसका सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[ये तु एनं परिहृत्य संवृति-पथ-प्रस्थापितेन आत्मना द्रव्यमये लिंगे ममतां वहन्ति]
जो पुरुष इस पूर्वोक्त परमार्थ स्वरूप मोक्षमार्गको छोड़कर व्यवहार मोक्षमार्गमें स्थापित अपने आत्माके
द्वारा द्रव्यमय लिंगमें ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही हमें मोक्ष प्राप्त करा
देगा), [ते तत्त्व-अवबोध-च्युताः अद्य अपि समयस्य सारम् न पश्यन्ति] वे पुरुष तत्त्वके यथार्थ
ज्ञानसे रहित होते हुए अभीतक समयके सारको (अर्थात् शुद्ध आत्माको) नहीं देखते—अनुभव नहीं

पासंडीलिगेसु व गिहिलिगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुर्वन्ति जे ममत्वं तेहि ण एणं समयसारं ॥४१३॥

पापांडिलिगेसु वा गृहिलिगेसु वा बहुप्रकारेषु ।
कुर्वन्ति ये ममत्वं तेन ज्ञातः समयसारः ॥४१३॥

ये खलु श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिङ्गमकारेण मिथ्याहंकारं कुर्वन्ति तेऽनादिरूढव्यवहारमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः परमार्थसत्यं भगवंतं समयसारं न पश्यन्ति ।

करते । वह समयसार शुद्धात्मा कैसा है ? [निश्च-उद्योतम्] नित्य प्रकाशमान है (अर्थात् कोई प्रतिपक्षी होकर उसके उदयका नाश नहीं कर सकता), [अखण्डम्] अखण्ड है (अर्थात् जिसमें अन्य ज्ञेय आदिके निमित्त खण्ड नहीं होते), [एकम्] एक है (अर्थात् पर्यायोसे अनेक अवस्थारूप होनेपर भी जो एकरूपत्वको नहीं छोड़ता), [अतुल-अलोकं] अतुल (-उपमारहित) प्रकाशवाला है (क्योंकि ज्ञानप्रकाशको सूर्यादिके प्रकाशकी उपमा नहीं दी जा सकती), [स्वभाव-प्रभा-प्राग्भारं] स्वभाव प्रभाका पुंज है (अर्थात् चैतन्यप्रकाशका समूहरूप है), [अमलं] अमल है (अर्थात् रागादि-विकार-रूपी मलसे रहित है) ।

(इसप्रकार, जो द्रव्यलिङ्गमें ममत्व करते हैं उन्हें निश्चय-कारणसमयसारका अनुभव नहीं है; तब फिर उनको कार्यसमयसारकी प्राप्ति कहाँसे होगी ?) । २४१ ।

अब इस अर्थकी गाथा कहते हैं:—

गाथा ४१३

गाथायः—[ये] जो [बहुप्रकारेषु] बहुत प्रकारके [पाषांडिलिगेसु वा] मुनिलिङ्गोंमें [गृहिलिगेसु वा] अथवा गृहस्थलिङ्गोंमें [ममत्वं कुर्वन्ति] ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिङ्ग ही मोक्षका दाता है), [तैः समयसारः न ज्ञातः] उन्होंने समयसारको नहीं जाना ।

टीका:—जो वास्तवमें भ्रमण हैं, मैं श्रमणोपासक (-श्रावक) हूँ इसप्रकार द्रव्यलिङ्गमें ममत्वभावके द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे अनादिरूढ़ (अनादि कालसे समागत) व्यवहारमें मूढ़ (मोही) होते हुये, प्रौढ विवेकवाले निश्चय (-निश्चयनय) पर आरूढ़ न होते हुए, परमार्थसत्य (-जो परमार्थसे सत्यार्थ है ऐसे) भगवान समयसारको नहीं देखते—अनुभव नहीं करते ।

बहुभाँतिके मुनिलिङ्ग जो अथवा गृहस्थलिङ्ग जो ।
ममता करे, उनमें नहीं जाना 'समयके सार'को ॥४१३॥

* वियोगिनी *

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।

तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तंडुलम् ॥२४२॥

* स्वागता *

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितै-

दृश्यते समयसार एव न ।

द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो

ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥२४३॥

भावार्थः—अनादिकालीन परद्रव्यके संयोगसे होनेवाले व्यवहार ही में जो पुरुष मूढ़ अर्थात् मोहित हैं, वे यह मानते हैं कि 'यह बाह्य महाव्रतादिरूप वेश ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा', परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है ऐसे निश्चयको वे नहीं जानते । ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मरूप, शुद्धज्ञानमय समयसारको नहीं देखते ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[व्यवहार-विमूढ-दृष्टयः जनाः परमार्थं नो कलयन्ति] जिनकी दृष्टि (बुद्धि) व्यवहारमें ही मोहित है ऐसे पुरुष परमार्थको नहीं जानते, [इह तुष-बोध-विमुग्ध-बुद्धयः तुषं कलयन्ति, न तण्डुलम्] जैसे जगतमें जिनकी बुद्धि तुषके ज्ञानमें ही मोहित है (—मोहको प्राप्त हुई है) ऐसे पुरुष तुषको ही जानते हैं, तंडुल (—चावल)को नहीं जानते ।

भावार्थः—जो धानके छिलकों पर ही मोहित हो रहे हैं, उन्हींको कूटते रहते हैं, उन्होंने चावलोंको जाना ही नहीं है; इसीप्रकार जो द्रव्यलिङ्ग आदि व्यवहारमें मुग्ध हो रहे हैं (अर्थात् जो शरीरादिकी क्रियामें ममत्व किया करते हैं), उन्होंने शुद्धात्मानुभवनरूप परमार्थको जाना ही नहीं है; अर्थात् ऐसे जीव शरीरादि परद्रव्यको ही आत्मा जानते हैं, वे परमार्थ आत्माके स्वरूपको जानते ही नहीं । २४२ ।

अब आगामी गाथाका सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[द्रव्यलिङ्ग-ममकार-मीलितैः समयसारः एव न दृश्यते] जो द्रव्यलिङ्गमें ममकारके द्वारा अंध-विवेक रहित हैं, वे समयसारको ही नहीं देखते; [यत् इह द्रव्यलिङ्गम् किल अन्यतः] कारण कि इस जगतमें द्रव्यलिङ्ग तो वास्तवमें अन्य द्रव्यसे होता है, [इदम् ज्ञानम् एव हि एकम् स्वतः] मात्र यह ज्ञान ही निजसे (आत्मद्रव्यसे) होता है ।

व्यवहारिञ्चो पुण णञ्चो दोणि वि लिंगाणि भणइ मोक्षपहे ।
णिच्चयणञ्चो ए इच्चइ मोक्षपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे ।

निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिङ्गानि ॥४१४॥

यः खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भवति मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकारः स केवलं व्यवहार एव, न परमार्थः, तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्; यदेव श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्रान्तं दृशिज्ञप्तिप्रवृत्तचित्तमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुपसंचेतनं परमार्थः, तस्यैव स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वात् । ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते, ते समयसारमेव न संचेतयन्ते; य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते, ते एव समयसारं चेतयन्ते ।

भावार्थः—जो द्रव्यलिङ्गमें ममत्वके द्वारा अंध हैं उन्हें शुद्धात्मद्रव्यका अनुभव ही नहीं है, क्योंकि वे व्यवहारको ही परमार्थ मानते हैं इसलिये परद्रव्यको ही आत्मद्रव्य मानते हैं । २४३ ।

‘व्यवहारनय ही मुनिलिङ्गको और श्रावकलिङ्गको—दोनोंको मोक्षमार्ग कहता है, निश्चयनय किसी लिङ्गको मोक्षमार्ग नहीं कहता’—यह गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ४१४

गाथार्थः—[व्यावहारिकः नयः पुनः] व्यवहारनय [द्वे लिंगे अपि] दोनों लिङ्गोंको [मोक्षपथे भणति] मोक्षमार्गमें कहता है (अर्थात् व्यवहारनय मुनिलिङ्ग और गृहीलिङ्गको मोक्षमार्ग कहता है); [निश्चयनयः] निश्चयनय [सर्वलिङ्गानि] सभी (किसी भी) लिङ्गोंको [मोक्षपथे न इच्छति] मोक्षमार्गमें नहीं मानता ।

टीकाः—श्रमण और श्रमणोपासकके भेदसे दो प्रकारके द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग हैं—इसप्रकारका जो प्ररूपण-प्रकार (अर्थात् इसप्रकारकी जो प्ररूपणा) वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं, क्योंकि वह (प्ररूपणा) स्वयं अशुद्ध द्रव्यकी अनुभवनस्वरूप है इसलिये उसको परमार्थताका अभाव है; श्रमण और श्रमणोपासकके भेदोंसे अतिक्रान्त, दर्शनज्ञानमें प्रवृत्तपरिणति मात्र (—मात्र दर्शन-ज्ञानमें प्रवर्तित हुई परिणतिरूप) शुद्ध ज्ञान ही एक है—ऐसा जो निष्तुप (—निर्मल) अनुभवन ही परमार्थ है, क्योंकि वह (अनुभवन) स्वयं शुद्ध द्रव्यका अनुभवनस्वरूप होनेसे उसीके परमार्थत्व है । इसलिये जो व्यवहारको ही परमार्थबुद्धिसे (—परमार्थ मानकर) अनुभव करते हैं, वे समयसारका ही अनुभव नहीं करते; जो परमार्थको परमार्थबुद्धिसे अनुभव करते, वे ही समयसारका अनुभव करते हैं ।

व्यवहारनय, इन लिंग द्वयकी मोक्षके पथमें कहे ।

निश्चय नहीं माने कभी को लिंग मुक्तीपथमें ॥४१४॥

* मालिनी *

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-

रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।

स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-

न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥२४४॥

* अनुष्टुभ् *

इदमेकं जगच्चतुरक्षयं याति पूर्णताम् ।

विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥२४५॥

भावार्थः—व्यवहारनयका विषय तो भेदरूप शुद्धद्रव्य है, इसलिए वह परमार्थ नहीं है; निश्चयनयका विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है, इसलिये वही परमार्थ है। इसलिये, जो व्यवहारको ही निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं वे समयसारका अनुभव नहीं करते; जो परमार्थको परमार्थ मानकर प्रवर्तन करते हैं वे ही समयसारका अनुभव करते हैं (इसलिये वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं)।

‘अधिक कथनसे क्या, एक परमार्थका ही अनुभव करो’—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[अतिजल्पः अनल्पः दुर्विकल्पः अलम् अलम्] बहुत कथनसे और बहुत दुर्विकल्पसे बस होओ, बस होओ; [इह] यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि [अयम् परमार्थः एकः नित्यम् चेत्यताम्] इस एकमात्र परमार्थका ही निरन्तर अनुभव करो; [स्वर-रस-विसर-पूर्ण-ज्ञान-विस्फूर्ति-मात्रात् समयसारात् उत्तरं खलु किञ्चित् न अस्ति] क्योंकि निजरसके प्रसारसे पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार (परमात्मा) उससे उच्च वास्तवमें दूसरा कुछ भी नहीं है (समयसारके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है)।

भावार्थः—पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करना चाहिये; इसके अतिरिक्त वास्तवमें दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है। २४४।

अब अन्तिम गाथामें यह समयसार ग्रंथके अभ्यास इत्यादिका फल कहकर आचार्यभगवान् इस ग्रन्थको पूर्ण करते हैं; उसका सूचक श्लोक पहले कहा जा रहा है:—

श्लोकार्थः—[आनन्दमयम् विज्ञानघनम् अध्यक्षताम् नयत्] आनन्दमय विज्ञानघनको (शुद्ध परमात्माको, समयसारको) प्रत्यक्ष करता हुआ, [इदम् एकम् अक्षयं जगत्-चक्षुः] यह एक (अद्वितीय) अक्षय चक्षु (समयप्राभूत) [पूर्णताम् याति] पूर्णताको प्राप्त होता है।

जो समयपाहुडमिणं पठिहूणं अत्थतच्चञ्चो णाउ' ।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सौख्यं ॥४१५॥

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा ।

अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं सौख्यम् ॥४१५॥

यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य प्रतिपादनात् स्वयं शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदमधीत्य, विश्वप्रकाशनसमर्थपरमार्थभूतचित्प्रकाश-रूपमात्मानं निश्चिन्वन् अर्थतत्त्वतश्च परिच्छिद्य, अस्यैवार्थभूते भगवति एकस्मिन् पूर्णविज्ञानघने परमब्रह्मणि सर्वांशेण स्थास्यति चेतयिता, स साक्षात्क्षणविज्ञानभ्रममाणचिदेकरसनिर्भरस्वभाव-सुस्थितनिराकुलात्मरूपतया परमानन्दशब्दाद्यमुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति ।

भाषार्थः—यह समयप्राभृत ग्रन्थ वचनरूपसे तथा ज्ञानरूपसे—दोनों प्रकारसे जगतको अक्षय (अर्थात् जिसका विनाश न हो ऐसे) अद्वितीय नेत्र समान है, क्योंकि जैसे नेत्र घटपटादिको प्रत्यक्ष दिखलाता है उसीप्रकार समयप्राभृत आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखलाता है । २४५ ।

भव, भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस ग्रन्थको पूर्ण करते हैं इसलिये उसकी महिमाके रूपमें उसके अभ्यास इत्यादिका फल इस गाथामें कहते हैं—

एतदा ४१५

गाथार्थः—[यः चेतयिता] जो आत्मा (—भव्य जीव) [इदं समयप्राभृतं पठित्वा] इस समयप्राभृतको पढ़कर, [अर्थतत्त्वतः ज्ञात्वा] अर्थ और तत्त्वसे जानकर, [अर्थे स्थास्यति] उसके अर्थमें स्थित होगा, [सः] वह [उत्तमं सौख्यम् भविष्यति] उत्तम सौख्यस्वरूप होगा ।

टीकाः—समयसारभूत भगवान् परमात्माका—जो कि विश्वका प्रकाशक होनेसे विश्वसमय है उसका—प्रतिपादन करता है इसलिये जो स्वयं शब्दब्रह्मके समान है ऐसे इस शास्त्रको जो आत्मा भलीभाँति पढ़कर, विश्वको प्रकाशित करनेमें समर्थ ऐसे परमार्थभूत, चैतन्य-प्रकाशरूप आत्माका निश्चय करता हुआ (इस शास्त्रको) अर्थसे और तत्त्वसे जानकर, उसीके अर्थभूत भगवान् एक पूर्णविज्ञानघन परमब्रह्ममें सर्व उद्यमसे स्थित होगा, वह आत्मा, साक्षान् तत्क्षण प्रगट होनेवाले एक चैतन्यरससे परिपूर्ण स्वभावमें सुस्थित और निराकुल (—आकुलता विनाका) होनेसे जो (सौख्य) 'परमानन्द' शब्दसे वाच्य है, उत्तम है और अनाकुलता-लक्षणयुक्त है ऐसा सौख्यस्वरूप स्वयं ही हो जायेगा ।

यह समयप्राभृत पठन करके जान अर्थ रू तत्त्वसे ।

उहरे अर्थमें जीव जो वी, सौख्य उत्तम परिणामे ॥४१५॥

* अनुष्ठम् *

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।

अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमवाधितम् ॥२४६॥

भावार्थः—इस शास्त्रका नाम समयप्राभृत है। समयका अर्थ है पदार्थ अथवा समय अर्थात् आत्मा। उसका कहनेवाला यह शास्त्र है। और आत्मा तो समस्त पदार्थोंका प्रकाशक है। ऐसे विश्वप्रकाशक आत्माको कहता हुआ होनेसे यह समयप्राभृत शब्दब्रह्मके समान है; क्योंकि जो समस्त पदार्थोंका कहनेवाला होता है उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। द्वादशांगशास्त्र शब्दब्रह्म है और इस समयप्राभृतशास्त्रको भी शब्दब्रह्मकी उपमा दी गई है। यह शब्दब्रह्म (अर्थात् समयप्राभृतशास्त्र) परब्रह्मको (अर्थात् शुद्ध परमात्माको) साक्षात् दिखाता है। जो इस शास्त्रको पढ़कर उसके यथार्थ अर्थमें स्थित होगा, वह परब्रह्मको प्राप्त करेगा; और उससे जिसे 'परमानन्द' कहा जाता है ऐसे उत्तम, स्वात्मिक, स्वाधीन, बाधारहित, अविनाशी सुखको प्राप्त करेगा। इसलिये हे भव्य जीवों! तुम अपने कल्याणके लिये इसका अभ्यास करो, इसका श्रवण करो, निरन्तर इसीका स्मरण और ध्यान करो, कि जिससे अविनाशी सुखकी प्राप्ति हो। ऐसा श्री गुरुओंका उपदेश है।

अब इस सर्वविशुद्धज्ञानके अधिकारकी पूर्णताका कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[इति इदम् आत्मनः तत्त्वं ज्ञानमात्रम् अवस्थितम्] इसप्रकार यह आत्माका तत्त्व (अर्थात् परमार्थभूतस्वरूप) ज्ञानमात्र निश्चित हुआ—[अखण्डम्] कि जो (आत्माका) ज्ञानमात्र तत्त्व अखण्ड है (अर्थात् अनेक ज्ञेयाकारोंसे और प्रतिपक्षी कर्मोंसे यद्यपि खण्डखण्ड दिखाई देता है तथापि ज्ञानमात्रमें खण्ड नहीं है), [एकम्] एक है (अर्थात् अखण्ड होनेसे एकरूप है), [अचलम्] अचल है (अर्थात् ज्ञानरूपसे चलित नहीं होता—ज्ञेयरूप नहीं होता), [स्वसंवेद्यम्] स्वसंवेद्य है (अर्थात् अपनेसे ही ज्ञात होनेयोग्य है), [अवाधितम्] और अवाधित है (अर्थात् किसी मिथ्यायुक्तिसे बाधा नहीं पाता)।

भावार्थः—यहाँ आत्माका निज स्वरूप ज्ञान ही कहा है इसका कारण यह है:—आत्मामें अनन्त धर्म हैं; किन्तु उनमें कितने ही तो साधारण हैं, इसलिये वे अतिव्याप्तियुक्त हैं, उनसे आत्माको पहिचाना नहीं जा सकता; और कुछ (धर्म) पर्यायाश्रित हैं—किसी अवस्थामें होते हैं और किसी अवस्थामें नहीं होते, इसलिये वे अव्याप्तियुक्त हैं, उनसे भी आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता। चेतनता यद्यपि आत्माका (अतिव्याप्ति और अव्याप्ति रहित) लक्षण है, तथापि वह शक्तिमात्र है, अदृष्ट है; उसकी व्यक्ति दर्शन और ज्ञान है। उस दर्शन और ज्ञानमें भी ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभवगोचर है; इसलिये उसके द्वारा ही आत्मा पहिचाना जा सकता है। इसलिये यहाँ इस ज्ञानको ही प्रधान करके आत्माका तत्त्व कहा है।

इति श्रीमद्मृतचन्द्रधरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ सर्वविशुद्धज्ञान-
प्ररूपकः नवमोऽङ्कः ॥

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि 'आत्माको ज्ञानमात्र तत्त्ववाला कहा है इसलिये इतना ही परमार्थ है और अन्य धर्म मिथ्या हैं, वे आत्मामें नहीं हैं;' ऐसा सर्वथा एकान्त ग्रहण करनेसे तो मिथ्यादृष्टित्व आ जाता है, विज्ञानद्वैतवादी बौद्धोंका और वेदान्तियोंका मत आ जाता है; इसलिये ऐसा एकान्त बाधासहित है। ऐसे एकान्त अभिप्रायसे कोई मुनिव्रत भी पाले और आत्माका—ज्ञानमात्रका—ध्यान भी करे, तो भी मिथ्यात्व नहीं कट सकता; मन्द कषायोंके कारण भले ही स्वर्ग प्राप्त हो जाये किन्तु मोक्षका साधन तो नहीं होता। इसलिये स्याद्वादसे यथार्थ समझना चाहिये। २४६।

(सबैया)

सर्वविशुद्धज्ञानरूप सदा चिदानन्द करता न भोगता न परद्रव्यभावको,
मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमाहि ते भी ज्ञानरूप नहीं न्यारे न अभावको;
यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूँ भलै सदीव ज्ञानरूप सुखतूप आन न लगावको,
कर्म कर्मफलरूप चेतनाकूँ दूरि टारि ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्ध भावको।

इसप्रकार श्री समयसारकी (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री सप्तवसार
परमागमकी) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीकामें
सर्वविशुद्धज्ञानका प्ररूपक नवमौ अधिकार समाप्त हुआ।



* अनुष्टुभ *

अत्र स्याद्वादशुद्धिर्चर्था वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ॥१॥
 उपायोपेयभावश्च मनाभूयोऽपि चिन्त्यते ॥२४७॥

(यहाँ तक भगवत् कुन्दकुन्दआचार्यकी ४१५ गाथाओंका विवेचन टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने किया है, और उस विवेचनमें कलशरूप तथा सूचनिकारूपसे २४६ काव्य कहे हैं। अब टीकाकार आचार्यदेव विचारते हैं कि—इस शास्त्रमें ज्ञानको प्रधान करके आत्माको ज्ञानमात्र कहते आये हैं, इसलिये कोई यह तर्क करे कि—जैनमत तो स्याद्वाद है; तब क्या आत्माको ज्ञानमात्र कहनेसे एकान्त नहीं हो जाता ? अर्थात् स्याद्वादके साथ विरोध नहीं आता ? और एक ही ज्ञानमें उपायतत्त्व तथा उपेयतत्त्व—दोनों कैसे घटित होते हैं ? ऐसे तर्कका निराकरण करनेके लिये टीकाकार आचार्यदेव यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारके अन्तमें परिशिष्टरूपसे कुछ कहते हैं। उसमें प्रथम श्लोक इसप्रकार है:—

श्लोकार्थः—[अत्र] यहाँ [स्याद्वाद-शुद्धि-अर्थ] स्याद्वादकी शुद्धिके लिये [वस्तु-तत्त्व-व्यवस्थितिः] वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था [च] और [उपाय-उपेय-भावः] (एक ही ज्ञानमें उपाय-उपेयत्व कैसे घटित होता है यह बतलानेके लिये) उपाय-उपेयभावका [मनाभूयः अपि] जरा फिरसे भी [चिन्त्यते] विचार करते हैं।

भावार्थः—वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक अनेकधर्मस्वरूप होनेसे वह स्याद्वादसे ही सिद्ध किया जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वादकी शुद्धता (—प्रमाणिकता, सत्यता, निर्दोषता, निर्मलता, अद्वितीयता) सिद्ध करनेके लिये इस परिशिष्टमें वस्तुस्वरूपका विचार किया जाता है। (इसमें यह भी बताया जायेगा कि इस शास्त्रमें आत्माको ज्ञानमात्र कहा है फिर भी स्याद्वादके साथ विरोध नहीं आता।) और दूसरे, एक ही ज्ञानमें साधकत्व तथा साध्यत्व कैसे बन सकता है यह समझानेके लिये ज्ञानका उपाय-उपेयभाव अर्थात् साधकसाध्यभाव भी इस परिशिष्टमें विचार किया जावेगा। २४७।

(अब प्रथम आचार्यदेव वस्तुस्वरूपके विचार द्वारा स्याद्वादको सिद्ध करते हैं:—)

स्याद्वाद समस्त वस्तुओंके स्वरूपको सिद्ध करनेवाला, अर्हत सर्वज्ञका एक अस्खलित (—निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) 'सब अनेकान्तात्मक है' इसप्रकार उपदेश करता है, क्योंकि समस्त वस्तु अनेकान्त-स्वभाववाली है। ('सर्व वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं' इसप्रकार जो स्याद्वाद कहता है सो वह असत्यार्थ कल्पनासे नहीं कहता, परन्तु जैसा वस्तुका अनेकान्त स्वभाव है वैसा ही कहता है।)

यहाँ आत्मा नामक वस्तुको ज्ञानमात्रतासे उपदेश करनेपर भी स्याद्वादका कोप नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तुके स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व है। वहाँ (अनेकान्तका ऐसा स्वरूप है कि), जो (वस्तु) तत् है वही अतत् है, जो (वस्तु) एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है

स्याद्वादो हि—समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं—शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य । स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति, सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकांतेस्वभावत्वात् । अत्र त्वात्मवस्तुनि ज्ञानमात्रतया अनुशास्यमानेऽपि न तत्परिकोपः, ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांतत्वात् । तत्र यदेव तत्तदेवात्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्य-मित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः । तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यंतश्चक्रचक्रायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात्, वहिःस्वप्नपदं तज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्त-पररूपेणातत्त्वात्, सहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशसमुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात्, अविभागैकद्रव्यव्याप्त-सहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात्, स्त्रद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेन सत्त्वात्, परद्रव्यक्षेत्रकालभावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनाऽसत्त्वात्, अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्त्वेन नित्यत्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्त्वेनानित्यत्वात्, तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव । ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांतः

वहो अनित्य है—इसप्रकार “एक वस्तुमें वस्तुत्वकी उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना अनेकान्त है ।” इसलिये अपनी आत्मवस्तुको भी, ज्ञानमात्रता होने पर भी, तत्त्व-अतत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, सत्त्व-असत्त्व, और नित्यत्व-अनित्यत्वपना प्रकाशता ही है; क्योंकि—उसके (-ज्ञानमात्र आत्मवस्तुके) अन्तरंगमें चक्रचक्रित प्रकाशते ज्ञानस्वरूपके द्वारा तत्पना है, और बाहर प्रगट होते, अनन्त, ज्ञेयत्वको प्राप्त, स्वरूपसे भिन्न ऐसे पररूपके द्वारा (-ज्ञानस्वरूपसे भिन्न ऐसे परद्रव्यके रूप द्वारा-) अतत्पना है (अर्थात् ज्ञान उस-रूप नहीं है); सहभूत (-साथ ही) प्रवर्तमान और क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य-अंशोंके समुदायरूप अविभाग द्रव्यके द्वारा एकत्व है, और अविभाग एक द्रव्यमें व्याप्त, सहभूत प्रवर्तमान तथा क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य-अंशरूप (-चैतन्यके अनन्त अंशोंरूप) पर्यायोंके द्वारा अनेकत्व है; अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूपसे होनेकी शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपनेके द्वारा (अर्थात् ऐसे स्वभाववाली होनेसे) सत्त्व है, और परके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होनेकी शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपनेके द्वारा असत्त्व है; अनादिनिधन अविभाग एक वृत्तिरूपसे परिणतपनेके द्वारा नित्यत्व है, और क्रमशः प्रवर्तमान, एक समयकी मर्यादावाले अनेक वृत्ति-अंशोंरूपसे परिणतपनेके द्वारा अनित्यत्व है । (इसप्रकार ज्ञानमात्र आत्मवस्तुको भी, तत्-अतत्पना इत्यादि दो-दो विरुद्ध शक्तियों स्वयमेव प्रकाशित होती हैं, इसलिये अनेकान्त स्वयमेव प्रकाशित होता है ।)

(प्रश्न —) यदि आत्मवस्तुको, ज्ञानमात्रता होने पर भी, स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशता है, तब फिर अर्हन्त भगवान् उसके साधनके रूपमें अनेकान्तका (स्याद्वादका) उपदेश क्यों देते हैं ?

प्रकाशते, तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेनाऽनुशास्यतेऽनेकांतः ? अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तु-
प्रसिद्धयर्थमिति ब्रूमः । न खल्वनेकांतमंतरेण ज्ञानमात्रमात्मवस्त्वेव प्रसिध्यति । तथाहि—
इह हि स्वभावत एव बहुभावनिर्भरेविश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्
समस्तमेव वस्तु स्वरूपप्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभयभावाध्यासितमेव । तत्र यदायं ज्ञानमात्रो भावः
शेषभावैः सह स्वरूपप्रवृत्तज्ञातज्ञेयसंबन्धतयाऽनादिज्ञेयपरिणमनात् ज्ञानतत्त्वं पररूपेण
प्रतिपद्याज्ञानी भूत्वा नाशमुपैति, तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृत्वेन परिणमनाज्ज्ञानी
कुर्वन्ननेकांत एव तमुद्गमयति ? । यदा तु सर्वं वै खल्विदमात्मेति अज्ञानतत्त्वं स्वरूपेण प्रतिपद्य
विश्वोपादानेनात्मानं नाशयति, तदा पररूपेणातत्त्वं द्योतयित्वा विश्वाद्भिन्नं ज्ञानं दर्शयन्ननेकांत
एव नाशयितुं न ददाति २ । यदानेकज्ञेयाकारैः खंडितसकलैकज्ञानाकारो नाशमुपैति, तदा

(उत्तर—) अज्ञानियोंके ज्ञानमात्र आत्मवस्तुकी प्रसिद्धि करनेके लिये उपदेश देते हैं ऐसा हम
कहते हैं । वास्तवमें अनेकान्त (-स्याद्वाद) के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती ।
इसीको इसप्रकार समझते हैं—

स्वभावसे ही बहुतसे भावोंसे भरे हुए इस विश्वमें सर्व भावोंका स्वभावसे अद्वैत होने पर भी,
द्वैतका निषेध करना अशक्य होनेसे समस्त वस्तु स्वरूपमें प्रवृत्ति और पररूपसे व्यावृत्तिके द्वारा दोनों
भावोंसे अध्यासित है (अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूपमें प्रवर्तमान होनेसे और पररूपसे भिन्न रहनेसे प्रत्येक
वस्तुमें दोनों भाव रह रहे हैं) । वहाँ, जब यह ज्ञानमात्र भाव (-आत्मा), शेष (बाकीके) भावोंके साथ
निज रसके भारसे प्रवर्तित ज्ञाता-ज्ञेयके सम्बन्धके कारण और अनादि कालसे ज्ञेयोंके परिणमनके कारण
ज्ञानतत्त्वको पररूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूपसे अंगीकार करके) अज्ञानी होता हुआ नाशको प्राप्त
होता है, तब (उसे ज्ञानमात्र भावका) स्वरूपसे (-ज्ञानरूपसे) तत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान
ज्ञानरूपसे ही है ऐसा प्रगट करके), ज्ञातारूपसे परिणमनके कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही
(-स्याद्वाद ही) उसका उद्धार करता है—नाश नहीं होने देता । १ ।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'वास्तवमें यह सब आत्मा है' इसप्रकार अज्ञानतत्त्वको स्वरूपसे
(ज्ञानरूपसे) मानकर—अंगीकार करके विश्वके ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है (-सर्वं जगतको निज
रूप मानकर उसका ग्रहण करके जगतसे भिन्न ऐसे अपनेको नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भावका)
पररूपसे अतत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान पररूप नहीं है यह प्रगट करके) विश्वसे भिन्न ज्ञानको
दिखाता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना (-ज्ञानमात्र भावका) नाश नहीं करने देता । २ ।

द्रव्यैकत्वं द्योतयन्ननेकांत एव तद्गुजीवयति ३ । यदा त्वेकज्ञानकारोपादानायानेकज्ञेया-
कारत्यागेनात्मानं नाशयति, तदा पर्यायरनेकत्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति ४ ।
यदा ज्ञायमानपरद्रव्यपरिणमनाद् ज्ञातृद्रव्यं परद्रव्यत्वेन प्रतिपद्यं नाशयति, तदा स्वद्रव्येण
सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तद्गुजीवयति ५ । यदा तु सर्वद्रव्याणि अहमेवेति परद्रव्यं ज्ञातृद्रव्यत्वेन
प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परद्रव्येणासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति ६ । यदा
परक्षेत्रगतज्ञेयार्थपरिणमनात् परक्षेत्रेण ज्ञानं सत् प्रतिपद्यं नाशयति, तदा स्वक्षेत्रेणास्तित्वं
द्योतयन्ननेकांत एव तद्गुजीवयति ७ । यदा तु स्वक्षेत्रे भवनाय परक्षेत्रगतज्ञेयाकारत्यागेन ज्ञानं
तुच्छीकुर्वन्नात्मानं नाशयति, तदा स्वक्षेत्रे एव ज्ञानस्य परक्षेत्रगतज्ञेयाकारपरिणमनस्वभाव-

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनेक ज्ञेयाकारोंके द्वारा (-ज्ञेयोंके आकारों द्वारा) अपना सकल
(अखण्ड, सम्पूर्ण) एक ज्ञान-आकार खण्डित (-खण्ड खण्डरूप) हुआ मानकर नाशको प्राप्त होता है,
तब (उस ज्ञानमात्र भावका) द्रव्यसे एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है—
नष्ट नहीं होने देता । ३ ।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव एक ज्ञान-आकारका ग्रहण करनेके लिये अनेक ज्ञेयाकारोंके त्याग
द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञानमें जो अनेक ज्ञेयोंके आकार आते हैं उनका त्याग करके अपनेको
नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भावका) पर्यायोंसे अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही
उसे अपना नाश नहीं करने देता । ४ ।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जाननेमें आनेवाले ऐसे परद्रव्योंके परिणमनके कारण ज्ञातृद्रव्यको
परद्रव्यरूपसे मानकर—अंगीकार करके नाशको प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) स्वद्रव्यसे
सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता । ५ ।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व द्रव्य मैं ही हूँ (अर्थात् सर्व द्रव्य आत्मा ही हूँ)' इसप्रकार
परद्रव्यका ज्ञातृद्रव्यरूपसे मानकर—अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका)
परद्रव्यसे असत्त्व प्रकाशित करता हुआ (अर्थात् आत्मा परद्रव्यरूपसे नहीं है, इसप्रकार प्रगट करता
हुआ) अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता । ६ ।

जब यह ज्ञानमात्र भाव परक्षेत्रगत (-परक्षेत्रमें रहे हुए) ज्ञेय पदार्थोंके परिणमनके कारण
परक्षेत्रसे ज्ञानको सत् मानकर—अंगीकार करके नाशको प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका)
स्वक्षेत्रसे अस्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता । ७ ।

त्वात्परक्षेत्रेण नास्तित्त्वं-द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति ८ । यदा पूर्वालंबितार्थविनाश-
काले ज्ञानस्यासत्त्वं प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वकालेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति ९ ।
यदा त्वर्थालम्बनकाल एव ज्ञानस्य सत्त्वं प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परकालेनासत्त्वं
द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति १० । यदा ज्ञायमानपरभावपरिणमनात् ज्ञायकभावं
परभावत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वभावेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति ११ ।
यदा तु सर्वे भावा अहमेवेति परभावं ज्ञायकभावत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परभावेना-
सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति १२ । यदाऽनित्यज्ञानविशेषैः खंडितनित्यज्ञान-

और जब वह ज्ञानमात्र भाव स्वक्षेत्रमें होनेके लिए (-रहनेके लिए, परिणामनेके लिए), परक्षेत्र-
गत ज्ञेयोंके आकारोंके त्याग द्वारा (अर्थात् ज्ञानमें जो परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेयोंका आकार आता है उनका
त्याग करके) ज्ञानको तुच्छ करता हुआ अपना नाश करता है, तब स्वक्षेत्रमें रहकर ही परक्षेत्रगत ज्ञेयोंके
आकाररूपसे परिणामन करनेका ज्ञानका स्वभाव स्वभाव होनेसे (उस ज्ञानमात्र भावका) परक्षेत्रसे
नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता । ८ ।

जब यह ज्ञानमात्र भाव पूर्वालंबित पदार्थोंके विनाशकालमें (-पूर्वमें जिनका आलम्बन किया था
ऐसे ज्ञेय पदार्थोंके विनाशके समय) ज्ञानका असत्पना मानकर—अंगीकार करके नाशको प्राप्त होता है,
तब (उस ज्ञानमात्र भावका) स्वकालसे (-ज्ञानके कालसे) सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही
उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता । ९ ।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव पदार्थोंके आलम्बन कालमें ही (-मात्र ज्ञेय पदार्थोंको जानते समय
ही) ज्ञानका सत्पना मानकर—अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका)
परकालसे (-ज्ञेयके कालसे) असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने
देता । १० ।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जाननेमें आते हुए परभावोंके परिणामनके कारण ज्ञायकस्वभावको
परभावरूपसे मानकर अंगीकार करके नाशको प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) स्व-भावसे
सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता । ११ ।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व भाव मैं ही हूँ' इसप्रकार परभावको ज्ञायकभावरूपसे मान-
कर—अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) परभावसे असत्पना
प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता । १२ ।

सामान्यो नाशयुषैति, तदा ज्ञानसामान्यरूपेण नित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव तद्युजीवयति १३ ।
यदा तु नित्यज्ञानसामान्योपादानायानित्यज्ञानविशेषत्यागेनात्मानं नाशयति, तदा ज्ञानविशेष-
रूपेणानित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति १४ ।

भवति चात्र श्लोकाः—

* शार्दूलविकीर्णित *

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्

विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति ।

यच्चत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-

दूरोन्मग्नयनस्वभावभरतः पूर्णसमुन्मज्जति ॥२४८॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनित्य ज्ञानविशेषोंके द्वारा अपना नित्य ज्ञानसामान्य खण्डित हुआ मान कर नाशको प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) ज्ञानसामान्यरूपसे नित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता । १३ ।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव नित्य ज्ञानसामान्यका ग्रहण करनेके लिये अनित्य ज्ञानविशेषोंके त्यागके द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञानके विशेषोंका त्याग करके अपनेको नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भावका) ज्ञानविशेषरूपसे अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता । १४ ।

(यहाँ तत्-अतत्के २ भंग, एक-अनेकके २ भंग, सत्-असत्के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे ३ भंग, और नित्य-अनित्यके २ भंग—इसप्रकार सब मिलाकर १४ भंग हुए । इन चौदह भंगोंमें यह बताया है कि—एकान्तसे ज्ञानमात्र आत्माका अभाव होता है और अनेकान्तसे आत्मा जीवित रहता है; अर्थात् एकान्तसे आत्मा जिस स्वरूप है उस स्वरूप नहीं समझा जाता, स्वरूपमें परिणमित नहीं होता, और अनेकान्तसे वह वास्तविक स्वरूपसे समझा जाता है, स्वरूपमें परिणमित होता है ।)

यहाँ निम्न प्रकारसे (चौदह भंगोंके कलशरूप) चौदह काव्य भी कहे जा रहे हैं—(उनमेंसे पहले, प्रथम भंगका कलशरूप काव्य इसप्रकार है—

श्लोकार्थः—[बाह्य-प्रथैः परिपीतम्] बाह्य पदार्थोंके द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया, [उज्झित-निज-प्रव्यक्ति-रिक्तीभवत्] अपनी व्यक्ति (प्रगटता) को छोड़ देनेसे रिक्त (-शून्य) हुआ, [परितः पररूपे एव विश्रान्तं] सम्पूर्णतया पररूपमें ही विश्रान्त (अर्थात् पररूपके ऊपर ही आधातर रखता हुआ) ऐसे [पशोः ज्ञानं] पशुका 'ज्ञान' (-पशुवत्-एकान्तवादीका ज्ञान) [सीदति] नाशको प्राप्त

• शार्दूलविक्रीडित •

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
धृत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते ।
यत्तत्त्परूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥२४९॥

होता है; [स्याद्वादिनः तत् पुनः] और स्याद्वादीका ज्ञान तो, ['यत् तत् तत् इह स्वरूपतः तत्' इति] जो तत् है वह स्वरूपसे तत् है (अर्थात् प्रत्येक तत्त्वको—वस्तुको स्वरूपसे तत्पना है)' ऐसी मान्यताके कारण [दूर-उत्सर्ग-घन-स्वभाव-भरतः] अत्यन्त प्रगट हुए ज्ञानघनरूप स्वभावके भारसे, [पूर्णं स्रमुन्मल्लति] सम्पूर्ण उदित (प्रगट) होता है ।

भावार्थः—कोई सर्वथा एकान्तवादी तो यह मानता है कि—घटज्ञान घटके आधारसे ही होता है इसलिये ज्ञान सब प्रकारसे ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। ऐसा माननेवाले एकान्तवादीके ज्ञानको तो ज्ञेय पी गये हैं, ज्ञान स्वयं कुछ नहीं रहा। स्याद्वादी तो ऐसा मानते हैं कि—ज्ञान अपने स्वरूपसे तत्स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) ही है, ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानत्वको नहीं छोड़ता। ऐसी यथार्थ अनेकान्त समझके कारण स्याद्वादीको ज्ञान (अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा) प्रगट प्रकाशित होता है ।

इसप्रकार स्वरूपसे तत्पनेका भंग कहा है । २४८ ।

(अब दूसरे भंगका कलशरूप काव्य कहते हैंः—)

श्लोकार्थः—[पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, ['विश्वं ज्ञानम्' इति प्रतर्क्य] 'विश्व ज्ञान है (अर्थात् सर्व ज्ञेयपदार्थ आत्मा हैं)' ऐसा विचार करके [सकलं स्वतत्त्वं-प्राशया दृष्ट्वा] सबको (—समस्त विश्वको) निजतत्त्वकी प्राप्तिसे देखकर [विश्वमयः भूत्वा] विश्वमय (—समस्त ज्ञेयपदार्थमय) होकर, [पशुः इव स्वच्छन्दम् आचेष्टते] पशुकी भांति स्वच्छन्दतया चेष्टा करता है—प्रवृत्त होता है; [पुनः] और [स्याद्वाददर्शी] स्याद्वादका देखनेवाला तो यह मानता है कि—['यत् तत् तत् पररूपतः न तत्' इति] 'जो तत् है वह पररूपसे तत् नहीं है (अर्थात् प्रत्येक तत्त्वको स्वरूपसे तत्पना होनेपर भी पररूपसे अतत्पना है),' इसलिये [विश्वात् भिन्नम् अविश्व-विश्वघटितं] विश्वसे भिन्न ऐसे तथा विश्वसे (—विश्वके निमित्तसे) रचित होनेपर भी विश्वरूप न होने वाले ऐसे (अर्थात् समस्त ज्ञेय वस्तुओंके आकाररूप होनेपर भी समस्त ज्ञेय वस्तुसे भिन्न-ऐसा) [तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्] अपने तत्त्वका स्पर्श—अनुभव करता है ।

शार्दूलविक्रीडित

वाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोऽल्लस-
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्तुट्यन्पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय-
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित् ॥२५०॥

भावार्थः—एकान्तवादी यह मानता है कि—विश्व (—समस्त वस्तुएँ) ज्ञानरूप अर्थात् निजरूप है । इसप्रकार निजको और विश्वको अभिन्न मानकर, अपनेको विश्वमय मानकर, एकान्तवादी, पशुकी भाँति हेय-उपादेयके विवेकके बिना सर्वत्र स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है । स्याद्वादी तो यह मानता है कि—जो वस्तु अपने स्वरूपसे तत्स्वरूप है, वही वस्तु परके स्वरूपसे अतत्स्वरूप है; इसलिये ज्ञान अपने स्वरूपसे तत्स्वरूप है, परन्तु पर ज्ञेयोंके स्वरूपसे अतत्स्वरूप है अर्थात् पर ज्ञेयोंके आकाररूप होने पर भी उनसे भिन्न है ।

इसप्रकार पररूपसे अतत्पनेका भंग कहा है । २४६ ।

(अब तीसरे भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

श्लोकार्थः—[पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [वाह्य-अर्थ ग्रहण-स्वभाव-भरतः] वाह्य पदार्थोंको ग्रहण करनेके (ज्ञानके) स्वभावकी अतिशयताके कारण, [विष्वग्-विचित्र-अल्लस-ज्ञेयाकार-विशीर्ण-शक्तिः] चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होनेवाले अनेकप्रकारके ज्ञेयाकारोंसे जिसकी शक्ति विशीर्ण (—छिन्न-भिन्न) हो गई है ऐसा होकर (अर्थात् अनेक ज्ञेयोंके आकारों ज्ञानमें ज्ञात होनेपर ज्ञानकी शक्तिको छिन्नभिन्न-खंडखंडरूप-होगई मानकर) [अभितः त्रुट्यन्] सम्पूर्णतया खण्ड-खण्डरूप होता हुआ (अर्थात् खंडखंडरूप-अनेकरूप—होता हुआ) [नश्यति] नष्ट हो जाता है; [अनेकान्तवित्] और अनेकान्तका जानकार तो, [सदा अपि उदितया एक-द्रव्यतया] सदा उदित (—प्रकाशमान) एक द्रव्यत्वके कारण [भेदभ्रमं ध्वंसयन्] भेदके भ्रमको नष्ट करता हुआ (अर्थात् ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें सर्वथा भेद पड़ जाता है ऐसे भ्रमको नाश करता हुआ), [एकम् अबाधित-अनुभवनं ज्ञानम्] जो एक है (—सर्वथा अनेक नहीं है) और जिसका अनुभवन निर्वाच है ऐसे ज्ञानको [पश्यति] देखता है—अनुभव करता है ।

भावार्थः—ज्ञान है वह ज्ञेयोंके आकाररूप परिणमित होनेसे अनेक दिखाई देता है; इसलिये सर्वथा एकान्तवादी उस ज्ञानको सर्वथा अनेक—खण्डखण्डरूप—देखता हुआ ज्ञानमय ऐशा निजका नाश करता है; और स्याद्वादी तो ज्ञानको, ज्ञेयाकार होने पर भी; सदा उदयमान द्रव्यत्वके द्वारा एक देखता है ।

इसप्रकार एकत्वका भंग कहा है । २५० ।

शार्दूलविक्रीडित

ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतःक्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित् ॥२५१॥

शार्दूलविक्रीडित

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितार्वाचितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥२५२॥

(अब चौथे भंगका कलशरूप काव्य कहा जाता है:—)

श्लोकार्थः—[पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [ज्ञेयाकार-कलङ्क-मेचक-चिति प्रक्षालनं कल्पयन्] ज्ञेयाकार-रूपी कलङ्कसे (अनेकाकाररूप) मलिन ऐसा चेतनमें प्रक्षालनकी कल्पना करता हुआ (अर्थात् चेतनकी अनेकाकाररूप मलिनताको-धो डालनेकी कल्पना करता हुआ), [एकाकार-चिकीर्षया स्फुटम् अपि ज्ञानं न इच्छति] एकाकार करनेकी इच्छासे ज्ञानको—यद्यपि वह ज्ञान अनेकाकाररूपसे प्रगट है तथापि—नहीं चाहता (अर्थात् ज्ञानको सर्वथा एकाकार मानकर ज्ञानका अभाव करता है); [अनेकान्तवित्] और अनेकान्तका जाननेवाला तो, [पर्यायैः तद्-अनेकतां परिमृशन्] पर्यायोंसे ज्ञानकी अनेकताको जानता (अनुभवता) हुआ, [वैचित्र्ये अपि अविचित्रताम् उपगतं ज्ञानम्] विचित्र होनेपर भी अविचित्रताको प्राप्त (अर्थात् अनेकरूप होनेपर भी एकरूप) ऐसे ज्ञानके [स्वतःक्षालितं] स्वतः क्षालित (स्वयमेव धोया हुआ-शुद्ध) [पश्यति] अनुभव करता है ।

भावार्थः—एकान्तवादी ज्ञेयाकाररूप (अनेकाकाररूप) ज्ञानको मलिन जानकर, उसे धोकर—उसमेंसे ज्ञेयाकारोंको दूर करके, ज्ञानको ज्ञेयाकारोंसे रहित एक-आकाररूप करनेको चाहता हुआ, ज्ञानका नाश करता है; और अनेकान्ती तो सत्यार्थ वस्तुस्वभावको जानता है, इसलिये ज्ञानका स्वरूपसे ही अनेकाकारपना मानता है ।

इसप्रकार अनेकत्वका भंग कहा है । २५१ ।

(अब पाँचवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

श्लोकार्थः—[पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [प्रत्यक्ष-आलिखित-स्फुट-स्थिर-परद्रव्य-अस्तित्वा-वञ्चितः] प्रत्यक्ष *आलिखित ऐसे प्रगट (स्थूल) और स्थिर (-निश्चल)

* आलिखित = आलेखन किया हुआ; चित्रित; स्पष्टित; ज्ञात ।

• शार्दूलविक्रीडित *

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितान्
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५३॥

परद्रव्योंके अस्तित्वसे ठगाया हुआ, [स्वद्रव्य अन्वलोकेन परितः शून्यः] स्वद्रव्यको (—स्वद्रव्यके अस्तित्वको) नहीं देखता होनेसे सम्पूर्णतया शून्य होता हुआ [नश्यति] नाशको प्राप्त होता है; [स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो, [स्वद्रव्य-अस्तित्वया निपुणं निरूप्य] आत्माको स्वद्रव्यरूपसे अस्तित्वनेसे निपुणतया देखता है इसलिये [सद्यः समुम्भङ्गता विशुद्ध-बोध-महसा पूर्णः भवन्] तत्काल प्रगट विशुद्ध ज्ञानप्रकाशके द्वारा पूर्ण होता हुआ [जीवति] जीता है—नाशको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—एकान्ती बाह्य परद्रव्यको प्रत्यक्ष देखकर उसके अस्तित्वको मानता है, परन्तु अपने आत्मद्रव्यको इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं देखता इसलिये उसे शून्य मानकर आत्माका नाश करता है । स्याद्वादी तो ज्ञानरूपी तेजसे अपने आत्माका स्वद्रव्यसे अस्तित्व अवलोकन करता है इसलिये जीता है—अपना नाश नहीं करता ।

इसप्रकार स्वद्रव्य-अपेक्षासे अस्तित्वका (—सत्पनेका) भंग कहा है । २५२ ।

(अब छठे भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं—)

श्लोकार्थः—[पशु] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [दुर्वासनावासितः] दुर्वासनासे (—कुनयकी वासनासे) वासित होता हुआ, [पुरुषं सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य] आत्माको सर्वद्रव्यमय मानकर, [स्वद्रव्य-भ्रमतः परद्रव्येषु किल विश्राम्यति] (परद्रव्योंमें) स्वद्रव्यके भ्रमसे परद्रव्योंमें विश्रान्त करता है; [स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो, [समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितान् जानन्] समस्त वस्तुओंमें परद्रव्यस्वरूपसे नास्तित्वको जानता हुआ, [निर्मल-शुद्ध-बोध-महिमा] जिसकी शुद्धज्ञान महिमा निर्मल है ऐसा वर्तता हुआ, [स्वद्रव्यम् एव आश्रयेत्] स्वद्रव्यका ही आश्रय करता है ।

भावार्थः—एकान्तवादी आत्माको सर्वद्रव्यमय मानकर, आत्मामें जो परद्रव्यकी अपेक्षासे नास्तित्व है उसका लोप करता है; और स्याद्वादी तो समस्त पदार्थोंमें परद्रव्यकी अपेक्षासे नास्तित्व मानकर निज द्रव्यमें रमता है ।

इसप्रकार परद्रव्यकी अपेक्षासे नास्तित्वका (—असत्पनेका) भंग कहा है । २५३ ।

(अब सातवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं—)

* शार्दूलविक्रीडित *

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोधनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः ।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वाद्देदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोधनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥२५४॥

* शार्दूलविक्रीडित *

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन् ।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितं
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥२५५॥

श्लोकार्थः—[पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [भिन्न-क्षेत्र-निषण्ण-बोध-
नियत-व्यापार-निष्ठः] भिन्न क्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेयपदार्थोंमें जो ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धरूप निश्चित व्यापार
है उसमें प्रवर्तता हुआ, [पुमांसम् अभितः बहिः पतन्तम् पश्यन्] आत्माको सम्पूर्णतया बाहर
(परक्षेत्रमें) पड़ता देखकर (—स्वक्षेत्रसे आत्माका अस्तित्व न मानकर) [सदा सीदति एव] सदा
नाशको प्राप्त होता है; [स्याद्वाद्देदी पुनः] और स्याद्वाद्देके जाननेवाले तो [स्वक्षेत्र-अस्तितया
निरुद्ध रभसः] स्वक्षेत्रसे अस्तित्वके कारण जिसका वेग रुका हुआ है ऐसा होता हुआ (अर्थात्
स्वक्षेत्रमें वर्तता हुआ), [आत्म-निखात-बोध-नियत-व्यापार-शक्तिः भवन्] आत्मामें ही आकार-
रूप हुए ज्ञेयोंमें निश्चित व्यापारकी शक्तिवाला होकर, [तिष्ठति] टिकता है—जीता है (—नाशको प्राप्त
नहीं होता) ।

भावार्थः—एकान्तवादी भिन्न क्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंको जाननेके कार्यमें प्रवृत्त होने पर
आत्माको बाहर पड़ता ही मानकर, (स्वक्षेत्रसे अस्तित्व न मानकर), अपनेको नष्ट करता है; और
स्याद्वादी तो, 'परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेयोंको जानता हुआ अपने क्षेत्रमें रहा हुआ आत्मा स्वक्षेत्रसे अस्तित्व
धारण करता है' ऐसा मानता हुआ टिकता है—नाशको प्राप्त नहीं होता ।

इसप्रकार स्वक्षेत्रसे अस्तित्वका भंग कहा है । २५४ ।

(अब आठवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैंः—)

श्लोकार्थः—[पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध-
परक्षेत्र-स्थित-अर्थ-उज्झनात्] स्वक्षेत्रमें रहनेके लिये भिन्न भिन्न परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंको
छोड़नेसे, [अर्थः सह चिद्-आकारान् वमन्] ज्ञेय पदार्थोंके साथ चैतन्यके आकारोंका भी वमन करता

* शार्दूलविक्रीडित *

पूर्वालंबितबोधयनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः ।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णास्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥२५६॥

हुआ (अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंके निमित्तसे चैतन्यमें जो आकार होता है उनको भी छोड़ता हुआ) [तुच्छीभूय] तुच्छ होकर [प्रणश्यति] नाशको प्राप्त होता है; [स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो [स्वधामनि वसन्] स्वक्षेत्रमें रहता हुआ, [परक्षेत्रे नास्तित्तां विदन्] परक्षेत्रमें अपना नास्तित्व जानता हुआ [त्यक्त-अर्थः अपि] (परक्षेत्रमें रहे हुए) ज्ञेय पदार्थोंको छोड़ता हुआ भी [परान् आकारकर्षो] वह पर पदार्थोंमेंसे चैतन्यके आकारोंको खींचता है (अर्थात् ज्ञेयपदार्थोंके निमित्तसे होनेवाले चैतन्यके आकारोंको नहीं छोड़ता) [तुच्छताम् अनुभवति न] इसलिये तुच्छताको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—‘परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंके आकाररूप चैतन्यके आकार होते हैं उन्हें यदि मैं अपना बनाऊँगा तो स्वक्षेत्रमें ही रहनेके स्थान पर परक्षेत्रमें भी व्याप्त हो जाऊँगा, ऐसा मानकर अज्ञानी एकान्तवादी परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंके साथ ही साथ चैतन्यके आकारोंको भी छोड़ देता है; इसप्रकार स्वयं चैतन्यके आकारोंसे रहित तुच्छ होता है, नाशको प्राप्त होता है । और स्याद्वादी तो स्वक्षेत्रमें रहता हुआ, परक्षेत्रमें अपने नास्तित्वको जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थोंको छोड़कर भी चैतन्यके आकारोंको नहीं छोड़ता; इसलिये वह तुच्छ नहीं होता, नष्ट नहीं होता ।

इसप्रकार परक्षेत्रकी अपेक्षासे नास्तित्वका भंग कहा है । २५५ ।

(अब नवमें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैंः—)

श्लोकार्थः—[पशुः] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [पूर्व-आलम्बित-बोध-नाश-समये ज्ञानस्य नाशं विदन्] पूर्वालम्बित ज्ञेय पदार्थोंके नाशके समय ज्ञानका भी नाश जानता हुआ, [न किञ्चन अपि कलयन्] और इसप्रकार ज्ञानको कुछ भी (वस्तु) न जानता हुआ (अर्थात् ज्ञानवस्तुका अस्तित्व ही नहीं मानता हुआ), [अस्यन्त-तुच्छः] अस्यन्त तुच्छ होता हुआ, [सीदति एव] नाशको प्राप्त होता है; [स्याद्वादवेदी पुनः] और स्याद्वादका ज्ञाता तो [अस्य निज-कालतः अस्तित्वं कलयन्] आत्माका निज कालसे अस्तित्व जानता हुआ, [बाह्यवस्तुषु मुहुः भूत्वा विनश्यत्सु अपि] बाह्य वस्तुएँ बारम्बार होकर नाशको प्राप्त होती हैं, फिर भी [पूर्णः तिष्ठति] स्वयं पूर्ण रहता है ।

* शार्दूलविक्रीडित *

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ॥२५७॥

* शार्दूलविक्रीडित *

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुपु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिरचेतनः ।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥२५८॥

भावार्थः—पहले जिन ज्ञेय पदार्थोंको जाने थे वे उत्तर कालमें नष्ट हो गये; उन्हें देखकर एकान्तवादी अपने ज्ञानका भी नाश मानकर अज्ञानी होता हुआ आत्माका नाश करता है। और स्याद्वादी तो, ज्ञेय पदार्थोंके नष्ट होने पर भी, अपना अस्तित्व अपने कालसे ही मानता हुआ नष्ट नहीं होता।

इसप्रकार स्वकालकी अपेक्षासे अस्तित्वका भंग कहा है। २५६।

(अब दसवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

श्लोकार्थः—[पशुः] पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, [अर्थ-प्राप्तम्बन-काले एव ज्ञानस्य सत्त्वं कलयन्] ज्ञेयपदार्थोंके आलम्बन कालमें ही ज्ञानका अस्तित्व जानता हुआ, [बहिः-ज्ञेय-प्राप्तम्बन-लालसेन-मनसा भ्राम्यन्] बाह्य ज्ञेयोंके आलम्बनकी लालसावाले चित्तसे (बाहर) भ्रमण करता हुआ [नश्यति] नाशको प्राप्त होता है; [स्याद्वादेदी पुनः] और स्याद्वादका ज्ञाता तो [पर-कालतः अस्य नास्तित्वं कलयन्] पर कालसे आत्माका नास्तित्व जानता हुआ, [आत्म-निखात-नित्य-सहज-ज्ञान-एक-पुञ्जीभवन्] आत्मामें दृढतया रहा हुआ नित्य सहज ज्ञानके पुंजरूप वर्तता हुआ [तिष्ठति] टिकता है—नष्ट नहीं होता।

भावार्थः—एकान्तवादी ज्ञेयोंके आलम्बनकालमें ही ज्ञानका सत्पना जानता है, इसलिये ज्ञेयोंके आलम्बनमें मनको लगाकर बाहर भ्रमण करता हुआ नष्ट हो जाता है। स्याद्वादी तो पर ज्ञेयोंके कालसे अपने नास्तित्वको जानता है, अपने ही कालसे अपने अस्तित्वको जानता है, इसलिये ज्ञेयोंसे भिन्न ऐसा ज्ञानके पुंजरूप वर्तता हुआ नाशको प्राप्त नहीं होता।

इसप्रकार परकालकी अपेक्षासे नास्तित्वका भंग कहा है। २५७।

(अब ग्यारहवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

श्लोकार्थः—[पशुः] अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, [परभाव-भाव-कलनात्] परभावोंके भवन (अस्तित्व-परिणमन)को ही जानता है (अर्थात् परभावसे ही अपना अस्तित्व मानता है;)

✽ शार्दूलविक्रीडित ✽

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ॥२५९॥

इसलिये [नित्यं बहिः-वस्तुषु विश्रान्तः] सदा बाह्य वस्तुओंमें विश्राम करता हुआ, [स्वभाव-महिमनि एकान्त-निश्चेतनः] (अपने) स्वभावकी महिमामें अत्यन्त निश्चेतन (जड़) वर्तता हुआ, [नशप्रति एव] नाशको प्राप्त होता है; [स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो [नियत-स्वभाव-भवन-ज्ञानात् सर्वस्मात् विभक्तः भवन्] (अपने) नियत स्वभावके भवनस्वरूप (-परिणामनस्वरूप) ज्ञानके कारण सब (परभावों)से भिन्न वर्तता हुआ, [सहज-स्पष्टीकृत-प्रत्ययः] जिसने सहज स्वभावका प्रतीतिरूप ज्ञातृत्व स्पष्ट-प्रत्यक्ष-अनुभवरूप किया है ऐसा होता हुआ, [नाशम् एति न] नाशको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—एकान्तवादी परभावोंसे ही अपना सत्पना मानता है, इसलिये बाह्य वस्तुओंमें विश्राम करता हुआ आत्माका नाश करता है; और स्याद्वादी तो, ज्ञानभाव ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानभावका स्वभावसे अस्तित्व जानता हुआ, आत्माका नाश नहीं करता ।

इसप्रकार स्व-भावकी (अपने भावकी) अपेक्षासे अस्तित्वका भंग कहा है । २५८ ।

(अब बारहवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

श्लोकार्थः—[पशुः] पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, [सर्व-भाव-भवनं आत्मनि अध्यास शुद्ध-स्वभाव-च्युतः] सर्व भावरूप भवनका आत्मामें अध्यास करके (अर्थात् आत्मा सर्व ज्ञेय पदार्थके भावरूप है, ऐसा मानकर) शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ, [अनिवारितः सर्वत्र अपि स्वैरं गतभयः क्रीडति] किसी परभावको शेष रखे बिना सर्व परभावोंमें स्वच्छन्दता पूर्वक निर्भयतासे (निःशंकतया) क्रीड़ा करता है; [स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो [स्वस्य स्वभावं भरात् आरूढः] अपने स्वभावमें अत्यन्त आरूढ़ होता हुआ, [परभाव-भाव-विरह-व्यालोक-निष्कम्पितः] परभावरूप भवनके अभावकी दृष्टिके कारण (अर्थात् आत्मा परद्रव्योंके भावोंरूपसे नहीं है—ऐसा जानता होनेसे) निष्कम्प वर्तता हुआ, [विशुद्धः एव लसति] शुद्ध ही विराजित रहता है ।

भावार्थः—एकान्तवादी सर्व परभावोंको निजरूप जानकर अपने शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ सर्वत्र (सर्व परभावोंमें) स्वेच्छाचारितासे निःशंकतया प्रवृत्त होता है; और स्याद्वादी तो, परभावोंको जानता हुआ भी, अपने शुद्ध ज्ञानस्वभावको सर्व परभावोंसे भिन्न अनुभव करता हुआ शोभित होता है ।

इसप्रकार परभावकी अपेक्षासे नास्तित्वका भंग कहा है । २५९ ।

• शार्दूलविक्रीडित •

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिमं ज्ञानं भवन् जीवति ॥२६०॥

• शार्दूलविक्रीडित •

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥२६१॥

(अब तेरहवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

श्लोकार्थः—[पशुः] पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, [प्रादुर्भाव-विराम-मुद्रित-वह-
ज्ञान-अंश-नाना-आत्मना-निर्ज्ञानात्] उत्पाद-व्ययसे लक्षित ऐसे वहते (-परिणमित होते) हुए
ज्ञानके अंशरूप अनेकात्मकके द्वारा ही (आत्माका) निर्णय अर्थात् ज्ञान करता हुआ, [क्षणभङ्ग-
सङ्ग-पतितः] क्षणभंगके संगमें पड़ा हुआ, [प्रायः नश्यति] बहुलतासे नाशको प्राप्त होता है,
[स्याद्वादी तु] और स्याद्वादी तो [चिद्-आत्मना चिद्-वस्तु नित्य-उदितं परिमृशन्] चैतन्यात्मकताके
द्वारा चैतन्य वस्तुको नित्य उदित—अनुभव करता हुआ, [टंकोत्कीर्ण-घन-स्वभाव-महिमं ज्ञानं-भवन्]
टंकोत्कीर्णघनस्वभाव (-टंकोत्कीर्ण पिंडरूप स्वभाव) जिसकी महिमा है, ऐसे ज्ञानरूप वर्तता हुआ,
[जीवति] जीता है ।

भावार्थः—एकान्तवादी ज्ञेयोंके आकारानुसार ज्ञानको उत्पन्न और नष्ट होता हुआ देखकर,
अनित्य पर्यायोंके द्वारा आत्माको सर्वथा अनित्य मानता हुआ, अपनेको नष्ट करता है; और स्याद्वादी तो,
यद्यपि ज्ञान ज्ञेयानुसार उत्पन्न-विनष्ट होता है फिर भी, चैतन्यभावका नित्य उदय अनुभव करता हुआ
जीता है—नाशको प्राप्त नहीं होता ।

इसप्रकार नित्यत्वका भंग कहा है । २६० ।

(अब चौदहवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

श्लोकार्थः—[पशुः] पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, [टंकोत्कीर्णं विशुद्ध-बोध-विसर-
आकार-आत्म-तत्त्व-ग्राशया] टंकोत्कीर्णं विशुद्ध ज्ञानके विस्ताररूप एक-आकार (सर्वथा नित्य)

• क्षणभंग—क्षण-क्षणमें, होता हुआ नाश; क्षणभंगुरता; अनित्यता ।

अनुष्टुभ्

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।

आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते ॥२६२॥

आत्मतत्त्वकी आशासे, [उच्छलत्-अच्छ-चिरपरिणतेः भिन्नं किञ्चन वाञ्छति] उच्छलती हुई निर्मल चैतन्य परिणतिसे भिन्न कुछ (आत्मतत्त्वको) चाहता है (किन्तु ऐसा कोई आत्मतत्त्व है नहीं), [स्याद्वादी] और स्याद्वादी तो, [चिद्-वस्तु-वृत्ति-क्रमात् तद्-प्रनित्यतां परिमृशन्] चैतन्य वस्तुकी वृत्तिके (—परिणतिके, पर्यायके) क्रम द्वारा उसकी अनित्यताका अनुभव करता हुआ, [नित्यम् ज्ञानं प्रनित्यता परिणमे अपि उज्ज्वलम् आसादयति] नित्य ऐसे ज्ञानको अनित्यतासे व्याप्त होनेपर भी उज्ज्वल (—निर्मल) मानता है—अनुभव करता है ।

भावार्थः—एकान्तवादी ज्ञानको सर्वथा एकाकार—नित्य प्राप्त करनेकी वांछासे, उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली चैतन्यपरिणतिसे पृथक् कुछ ज्ञानको चाहता है; परन्तु परिणामके अतिरिक्त कोई पृथक् परिणामी तो नहीं होता । स्याद्वादी तो यह मानता है कि—यद्यपि द्रव्यापेक्षासे ज्ञान नित्य है तथापि क्रमशः उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली चैतन्यपरिणतिके क्रमके कारण ज्ञान अनित्य भी है; ऐसा ही वस्तुस्वभाव है ।

इसप्रकार अनित्यत्वका भंग कहा गया । २६१ ।

‘पूर्वोक्त प्रकारसे अनेकांत, अज्ञानसे मूढ़ हुए जीवोंको ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध कर देता है—समझा देता है’ इस अर्थका काव्य कहा जाता है:—

श्लोकार्थः—[इति] इसप्रकार [अनेकान्तः] अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद [अज्ञान—विमूढानां ज्ञानमात्रं आत्मतत्त्वम् प्रसाधयन्] अज्ञानमूढ़ प्राणियोंको ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ [स्वयमेव अनुभूयते] स्वयमेव अनुभवमें आता है ।

भावार्थः—ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अनेकान्तमय है । परन्तु अनादि कालसे प्राणी अपने आप अथवा एकान्तवादका उपदेश सुनकर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व संबंधी अनेक प्रकारसे पक्षपात करके ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका नाश करते हैं । उनको (अज्ञानी जीवोंको) स्याद्वाद ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनेकान्तस्वरूपपना प्रगट करता है—समझाता है । यदि अपने आत्माकी ओर दृष्टिपात करके—अनुभव करके देखा जाये तो (स्याद्वादके उपदेशानुसार) ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अपने आप अनेक धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है । इसलिये हे प्रवीण पुरुषो ! तुम ज्ञानको तत्स्वरूप, अतत्स्वरूप, एकस्वरूप, अनेकस्वरूप, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्स्वरूप, परके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे असत्स्वरूप, नित्यस्वरूप, अनित्यस्वरूप इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके प्रतीतिमें लाओ । यही सस्यज्ञान है । सर्वथा एकान्त मानना वह मिथ्याज्ञान है । २६२ ।

* अनुष्टुभ् *

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम् ।

अलङ्घ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥२६३॥

नन्वेकान्तमयस्यापि किमर्थमत्रात्मनो ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः ? लक्षणप्रसिद्ध्या लक्ष्यप्रसिद्धयर्थम् । आत्मनो हि ज्ञानं लक्षणं, तदसाधारणगुणत्वात् । तेन ज्ञानप्रसिद्ध्या तल्लक्ष्यस्यात्मनः प्रसिद्धिः । ननु किमनया लक्षणप्रसिद्ध्या, लक्ष्यमेव प्रसाधनीयम् । नाप्रसिद्ध-लक्षणस्य लक्ष्यप्रसिद्धिः, प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः । ननु किं तल्लक्ष्यं यज्ज्ञानप्रसिद्ध्या ततो भिन्नं प्रसिध्यति ? न ज्ञानाद्भिन्नं लक्ष्यं, ज्ञानात्मनोर्द्रव्यत्वेनाभेदात् । तर्हि किं कृतो लक्ष्यलक्षणविभागः ? प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृतः । प्रसिद्धं हि ज्ञानं, ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदन-

‘पूर्वोक्त प्रकारसे वस्तुका स्वरूप अनेकान्तमय होनेसे अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद सिद्ध हुआ’ इस अर्थका काव्य अब कहा जाता है:—

श्लोकार्थः—[एवं] इसप्रकार [अनेकान्तः] अनेकान्त—[जैनम् अलङ्घ्यं शासनम्] कि जो जिनदेवका अलङ्घ्य (किसीसे तोड़ा न जाय ऐसा) शासन है वह—[तत्त्व-व्यवस्थित्या] वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी व्यवस्थिति (व्यवस्था) द्वारा [स्वयम् स्वं व्यवस्थापयन्] स्वयं अपने आपको स्थापित करता हुआ [व्यवस्थितः] स्थित हुआ—निश्चित हुआ—सिद्ध हुआ ।

भावार्थः—अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद, वस्तुस्वरूपको यथावत् स्थापित करता हुआ, स्वतः सिद्ध हो गया । वह अनेकान्त ही निर्वाध जिनमत है और यथार्थ वस्तुस्थितिको कहनेवाला है । कहीं किसीने असत् कल्पनासे वचनमात्र प्रलाप नहीं किया है । इसलिये हे निपुण पुरुषो ! भलीभाँति विचार करके प्रत्यक्ष अनुमान-प्रमाणसे अनुभव कर देखो । २६३ ।

(यहाँ आचार्यदेव अनेकान्तके सम्बन्धमें विशेष चर्चा करते हैं:—

(प्रश्नः—) आत्मा अनेकान्तमय है फिर भी यहाँ उसका ज्ञानमात्रतासे क्यों व्यपदेश (कथन, नाम) किया जाता है ? (यद्यपि आत्मा अनन्त धर्मयुक्त है तथापि उसे ज्ञानमात्ररूपसे क्यों कहा जाता है ? ज्ञानमात्र कहनेसे तो अन्यधर्मोंका निषेध समझा जाता है ।)

(उत्तरः—) लक्षणकी प्रसिद्धिके द्वारा लक्ष्यकी प्रसिद्धि करनेके लिये आत्माका ज्ञानमात्ररूपसे व्यपदेश किया जाता है । आत्माका ज्ञान लक्षण है, क्योंकि ज्ञान आत्माका असाधारण गुण है (—अन्य द्रव्योंमें ज्ञानगुण नहीं है) । इसलिये ज्ञानकी प्रसिद्धिके द्वारा उसके लक्ष्यकी—आत्माकी—प्रसिद्धि होती है ।

सिद्धत्वात्; तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्यमानस्तदविना भूतानंतधर्मसमुदायमूर्तिरात्मा । ततो ज्ञानमात्राचलित-
निखातया दृष्ट्या क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतं अनंतधर्मजातं यथावल्लक्ष्यते तत्चावत्समस्तमेवैकः
खन्वात्मा । एतदर्थमेवात्रास्य ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः । ननु क्रमाक्रमप्रवृत्तानंतधर्ममयस्यात्मनः कथं
ज्ञानमात्रत्वम् ? परस्परव्यतिरिक्तानंतधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात् ।
अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावांतःपातिन्योऽनंताः शक्तयः उत्प्लवन्ते । आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्य-

(प्रश्नः—) इस लक्षणकी प्रसिद्धिसे क्या प्रयोजन है ? मात्र लक्ष्य ही प्रसाध्य अर्थात् प्रसिद्धि
करनेयोग्य है । (इसलिये लक्षणको प्रसिद्ध किये बिना मात्र लक्ष्यको ही—आत्माको ही—प्रसिद्ध क्यों
नहीं करते ?)

(उत्तरः—) जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो उसे (अर्थात् जो लक्षणको नहीं जानता ऐसे अज्ञानी
जनको) लक्ष्यकी प्रसिद्धि नहीं होती । जिसे लक्षण प्रसिद्ध होता है उसीको लक्ष्यकी प्रसिद्धि होती है ।
(इसलिये अज्ञानीको पहले लक्षण बतलाते हैं उसके बाद वह लक्ष्यको ग्रहण कर सकता है ।)

(प्रश्नः—) ऐसा कौनसा लक्ष्य है कि जो ज्ञानकी प्रसिद्धिके द्वारा उससे (ज्ञानसे) भिन्न प्रसिद्ध
होता है ?

(उत्तरः—) ज्ञानसे भिन्न लक्ष्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आत्मामें द्रव्यपनेसे अभेद है ।

(प्रश्नः—) तब फिर लक्षण और लक्ष्यका विभाग किसलिये किया गया है ?

(उत्तरः—) प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्वके कारण लक्षण और लक्ष्यका विभाग किया गया है ।
ज्ञान प्रसिद्ध है, क्योंकि ज्ञानमात्रको स्वसंवेदनसे सिद्धपना है (अर्थात् ज्ञान सर्व प्राणियोंको स्वसंवेदनरूप
अनुभवमें आता है); वह प्रसिद्ध ऐसे ज्ञानके द्वारा प्रसाध्यमान, तद्-अविनाभूत (ज्ञानके साथ
अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्त धर्मोंका समुदायरूप मूर्ति आत्मा है । (ज्ञान प्रसिद्ध है; और ज्ञानके
साथ जिनका अविनाभावी सम्बन्ध है ऐसे अनन्त धर्मोंका समुदायरूप आत्मा उस ज्ञानके द्वारा
प्रसाध्यमान है ।) इसलिये ज्ञानमात्रमें अचलितपनेसे स्थापित दृष्टिके द्वारा, क्रमरूप और अक्रमरूप
प्रवर्तमान, तद्-अविनाभूत (ज्ञानके साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्तधर्मसमूह को कुछ जितना
लक्षित होता है, वह सब वास्तवमें एक आत्मा है ।

इसी कारणसे यहाँ आत्माका ज्ञानमात्रतासे व्यपदेश है ।

(प्रश्नः—) जिसमें क्रम और अक्रमसे प्रवर्तमान अनन्त धर्म हैं ऐसे आत्माके ज्ञानमात्रता
किसप्रकार है ?

* प्रसाध्यमान—जो प्रसिद्ध किया जाय हो । (ज्ञान प्रसिद्ध है और आत्मा प्रसाध्यमान है ।)

मात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः १ । अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः २ । अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः ३ । साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः ४ । अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः ५ । स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः ६ । अखण्डितप्रतापस्वातंत्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः ७ । सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः ८ । विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः ९ । विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः १० । नीरूपात्म-

(उत्तरः—) परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मोंके समुदायरूपसे परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूपसे स्वयं ही है, इसलिये (अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मोंके समुदायरूपसे परिणमित जो एक जाननक्रिया है उस जाननक्रियामात्र भावरूपसे स्वयं ही है इसलिये) आत्माके ज्ञानमात्रता है। इसीलिये उसके ज्ञानमात्र एकभावकी अन्त पातिनी (-ज्ञानमात्र एक भावके भीतर आ जानेवाली-) अनन्त शक्तियाँ उड़लती हैं। (आत्माके जितने धर्म हैं उन सबको, लक्षणभेदसे भेद होने पर भी, प्रदेशभेद नहीं है; आत्माके एक परिणाममें सभी धर्मोंका परिणामन रहता है। इसलिये आत्माके एक ज्ञानमात्र भावके भीतर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं। इसलिये ज्ञानमात्र भावमें—ज्ञानमात्र भावस्वरूप आत्मामें—अनन्त शक्तियाँ उड़लती हैं।) उनमेंसे कितनी ही शक्तियाँ निम्नप्रकार हैं:—

आत्मद्रव्यके कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भावका धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी जीवत्वशक्ति। (आत्मद्रव्यके कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभावरूपी भावप्राणका धारण करना जिसका लक्षण है ऐसी जीवत्व नामक शक्ति ज्ञानमात्र भावमें—आत्मामें—उड़लती है)। १। अजडत्वस्वरूप चितिशक्ति (अजडत्व अर्थात् चेतनत्व जिसका स्वरूप है ऐसी चितिशक्ति)। २। अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति। (जिसमें ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं है ऐसे दर्शनोपयोगमयी—सत्तामात्र पदार्थमें उपयुक्त होनेरूप—दृशिशक्ति अर्थात् दर्शनक्रियारूप शक्ति)। ३। साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति। (जो ज्ञेय पदार्थोंके विशेषरूप आकारोंमें उपयुक्त होती है ऐसी ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति)। ४। अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी सुख शक्ति। ५। स्वरूपकी (-आत्मस्वरूपकी) रचनाकी सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति। ६। जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसीसे खण्डित की नहीं जा सकती ऐसे स्वातंत्र्यसे (-स्वाधीनतासे) शोभायमानपना जिसका लक्षण है ऐसी प्रभुत्वशक्ति। ७। सर्व भावोंमें व्यापक ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे, ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावोंमें व्याप्त होता है)। ८। समस्त विश्वके सामान्य भावको देखनेरूपसे (अर्थात् सर्व पदार्थोंके समूहरूप लोकालोकको सत्तामात्र ग्रहण करनेरूपसे) परिणमित ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति। ९। समस्त विश्वके विशेष भावोंको जाननेरूपसे परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति। १०। अमूर्तिक आत्मप्रदेशोंमें प्रकाशमान लोकालोकके आकारोंसे मेचक (अर्थात् अनेक-आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी स्वच्छत्वशक्ति। (जैसे दर्पणकी स्वच्छत्वशक्तिसे उसकी पर्यायमें घटपटादि प्रकाशित होते हैं, उसीप्रकार

प्रदेशप्रकाशमानलोकालोकार्मेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः ११ । स्वयंप्रकाशमानविशद-
स्वसंविचिमयी प्रकाशशक्तिः १२ । क्षेत्रकालानवच्छिन्नविद्विलासात्मिका असंकुचितविकाशत्व-
शक्तिः १३ । अन्याक्रियमाणाऽन्याकारकैर्द्रव्यात्मिका अकार्यकारणत्वशक्तिः १४ । परात्मनिमि-
त्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्तिः १५ । अन्यूनातिरिक्त-
स्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः १६ । षट्स्थानपतितवृद्धिदानिपरिणतस्वरूप-
प्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः १७ । क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्वलक्षणा-
उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः १८ । द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिङ्गितसदृशविसदृशरूपैकास्ति-
त्वमात्रमयी परिणामशक्तिः १९ । कर्मबंधव्यपगमव्यंजितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका
अमूर्तत्वशक्तिः २० । सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्व-

आत्माकी स्वच्छत्वशक्तिसे उसके उपयोगमें लोकालोकके आकार प्रकाशित होते हैं । ११ । स्वयं
प्रकाशमान विशद (-स्पष्ट) ऐसी स्वसंवेदनमयी (-स्वानुभवमयी) प्रकाशशक्ति १२ । क्षेत्र और कालसे
अमयीदित ऐसी चिद्विलास स्वरूप (-चैतन्यके विलासस्वरूप) असंकुचितविकाशत्वशक्ति १३ । जो अन्यसे
नहीं किया जाता और अन्यको नहीं करता ऐसे एक द्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति । (जो अन्यका कार्य
नहीं है और अन्यका कारण नहीं है ऐसा जो एक द्रव्य उस-स्वरूप अकार्यकारणत्व शक्ति ।) । १४ । पर
और स्व जिनके निमित्त हैं ऐसे ज्ञेयाकारों तथा ज्ञानाकारोंको ग्रहण करनेके और ग्रहण करानेके स्वभावरूप
परिणम्यपरिणामकत्व शक्ति । (-पर जिनके कारण हैं ऐसे ज्ञेयाकारोंको ग्रहण करनेके और स्व जिनका
कारण है ऐसे ज्ञानाकारोंको ग्रहण करानेके स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्व शक्ति ।) । १५ । जो कमबद्ध
नहीं होता ऐसे स्वरूपमें नियतत्वरूप (-निश्चिततया यथावत् रहनेरूप-) त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति १६ ।
षट्स्थानपतित वृद्धिदानिरूपसे परिणमित, स्वरूप-प्रतिष्ठत्वका कारणरूप (-वस्तुके स्वरूपमें रहनेके
कारणरूप) ऐसा जो विशिष्ट (-खास) गुण है उस-स्वरूप अगुरुलघुत्व शक्ति । [इस षट्स्थानपतित
वृद्धिदानिका स्वरूप 'गोम्मतसार' ग्रन्थसे जानना चाहिये । अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्यारूप षट्स्थानोंमें
पतित-समाविष्ट-वस्तुत्वभावकी वृद्धिदानि जिससे (-जिस गुणसे) होती है और जो (गुण) वस्तुको
स्वरूपमें स्थिर होनेका कारण है ऐसा कोई गुण आत्मामें है; उसे अगुरुलघुत्वगुण कहा जाता है । ऐसी
अगुरुलघुत्वशक्ति भी आत्मामें है ।] । १७ । क्रमवृत्तिरूप और अक्रमवृत्तिरूप वर्तन जिसका लक्षण है
ऐसी उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति । (क्रमवृत्तिरूप पर्याय उत्पादव्ययरूप है और अक्रमवृत्तिरूप गुण ध्रुवत्वरूप
है ।) । १८ । द्रव्यके स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पादसे आलिङ्गित (-स्पर्शित), सदृश और विसदृश
जिसका रूप है ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति । १९ । कर्मबंधके अभावासे व्यक्त किये गये,
सहज, स्पर्शादिशून्य (-स्पर्श, रस, गंध और वर्णसे रहित) ऐसे आत्मप्रदेशस्वरूप अमूर्तत्वशक्ति । २० ।

शक्तिः २१ । सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः २२ ।
 सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंध्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः २३ । आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षित-
 किंचिद्दुर्चरमशरीरपरिमाणवस्थितलोकाकाशसम्प्रितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः २४ ।
 सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः २५ । स्वपरसमानासमानसमानासमानत्रिविध-
 भावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः २६ । विलक्षणानंतस्वभाव-
 भावितैकभावलक्षणा अनंतधर्मत्वशक्तिः २७ । तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः २८ ।
 तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः २९ । अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः ३० । अनेकपर्यायव्यापकैक-

समस्त, कर्मोंके द्वारा किये गये, ज्ञातृत्वमात्रमे भिन्न जो परिणाम उन परिणामोंके करणके #उपरमस्वरूप
 (उन परिणामोंको करनेकी निवृत्तिस्वरूप) अकर्तृत्वशक्ति । (जिस शक्तिसे आत्मा ज्ञातृत्वके अतिरिक्त,
 कर्मोंसे किये गये परिणामोंका कर्ता नहीं होता, ऐसी अकर्तृत्व नामक एक शक्ति आत्मामें है) । २१ । समस्त,
 कर्मोंसे किये गये, ज्ञातृत्वमात्रसे भिन्न परिणामोंके अनुभवकी (-भोक्तृत्वकी) उपरमस्वरूप अभोक्तृत्व-
 शक्ति । २२ । समस्त कर्मोंके उपरमसे प्रवृत्त आत्मप्रदेशोंकी निस्पन्दतास्वरूप (-अकम्पतास्वरूप)
 निष्क्रियत्वशक्ति । (जब समस्त कर्मोंका अभाव हो जाता है तब प्रदेशोंका कम्पन मिट जाता है इसलिये
 निष्क्रियत्व शक्ति भी आत्मामें है ।) । २३ । जो अनादि संसारसे लेकर संकोचविस्तारसे लक्षित है और
 जो चरम शरीरके परिमाणसे कुछ न्यून परिमाणसे अवस्थित होता है ऐसा लोकाकाशके माप जितना
 सापवाला आत्म-अवयवत्व जिसका लक्षण है ऐसी नियतप्रदेशत्वशक्ति । (आत्माके लोक परिमाण असंख्य
 प्रदेश नियत ही हैं । वे प्रदेश संसार अवस्थामें संकोचविस्तारको प्राप्त होते हैं और मोक्ष-अवस्थामें चरम
 शरीरसे कुछ कम परिमाणसे स्थित रहते हैं ।) । २४ । सर्व शरीरोंमें एकस्वरूपात्मक ऐसी स्वधर्मव्यापक-
 त्वशक्ति । (शरीरके धर्मरूप न होकर अपने अपने धर्मोंमें व्यापनेरूप शक्ति सो स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति
 है ।) । २५ । स्व-परके समान, असमान और समानासमान ऐसे तीन प्रकारके भावोंकी धारणस्वरूप
 साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति । २६ । विलक्षण (-परस्पर भिन्न लक्षणयुक्त)
 अनन्त स्वभावोंसे भावित ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी अनन्तधर्मत्वशक्ति । २७ । तद्रूपमयता
 और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है ऐसी विरुद्धधर्मत्वशक्ति । २८ । तद्रूप भवनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति ।
 (तत्त्वरूप होनेरूप अथवा तत्त्वरूप परिणामनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति आत्मामें है । इस शक्तिसे चेतन
 चेतनरूपसे रहता है-परिणमित होता है ।) । २९ । अतद्रूप भवनरूप ऐसी अतत्त्वशक्ति । (तत्त्वरूप
 नहीं होनेरूप अथवा तत्त्वरूप नहीं परिणामनरूप अतत्त्वशक्ति आत्मामें है । इस शक्तिसे चेतन जड़रूप
 नहीं होता ।) । ३० । अनेक पर्यायोंमें व्यापक ऐसी एकद्रव्यमयतारूप एकत्व शक्ति । ३१ । एक द्रव्यसे

द्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः ३१ । एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः ३२ । भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः ३३ । शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः ३४ । भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः ३५ । अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्तिः ३६ । भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः ३७ । अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्तिः ३८ । कारकानुगतक्रियानिष्क्रांतभवनमात्रमयी भावशक्तिः ३९ । कारकानुगतभवचारूपभावमयी क्रियाशक्तिः ४० । प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः ४१ । भवचारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृशक्तिः ४२ । भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः ४३ । स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी संप्रदानशक्तिः ४४ । उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः ४५ । भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः ४६ । स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्तिः ४७ ।

व्याप्य जो अनेक पर्यायें उसमयपनेरूप अनेकत्वशक्ति । ३२ । विद्यमान-अवस्थायुक्ततारूप भावशक्ति । (अमुक अवस्था जिसमें विद्यमान हो उसरूप भावशक्ति) । ३३ । शून्य (-अविद्यमान) अवस्थायुक्ततारूप अभावशक्ति । (अमुक अवस्था जिसमें अविद्यमान हो उसरूप अभावशक्ति) । ३४ । भवते हुए (प्रवर्तमान) पर्यायके व्ययरूप भावाभावशक्ति । ३५ । नहीं भवते हुए (अप्रवर्तमान) पर्यायके उदयरूप अभावभावशक्ति । ३६ । भवते हुए (प्रवर्तमान) पर्यायके भवनरूप भावभावशक्ति । ३७ । नहीं भवते हुए (अप्रवर्तमान) पर्यायके अभवनरूप अभावाभाव शक्ति । ३८ । (कर्ता, कर्म आदि) कारकोंके अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी (-होनेमात्रमयी) भाव शक्ति । ३९ । कारकोंके अनुसार परिणामित होनेरूप भावमयी क्रियाशक्ति) । ४० । प्राप्त किया जाता जो सिद्धरूप भाव उसमयी कर्मशक्ति । ४१ । होनेपनरूप और सिद्धरूप भावके भावकत्वमयी कर्तृत्वशक्ति । ४२ । भवते हुए (प्रवर्तमान) भावके भवनके (-होनेके) साधकतमपनेमयी (-उत्कृष्ट साधकत्वमयी, उग्र साधनत्वमयी) करणशक्ति । ४३ । अपने द्वारा दिया जाता जो भाव उसके उपेयत्वमय (-उसे प्राप्त करनेके योग्यपनामय, उसे लेनेके पात्रपनामय) संप्रदानशक्ति । ४४ । उत्पादव्ययसे आलिंगित भावका अपाय (-हानि, नाश) होनेसे हानिको प्राप्त न होनेवाले ध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति । ४५ । भाव्यमान (अर्थात् भावनेमें आते हुए) भावके-आधारत्वमयी अधिकरणशक्ति । ४६ । स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वमयी सम्बन्धशक्ति । (अपना भाव अपना स्व है और स्वयं उसका स्वामी है—ऐसे सम्बन्धमयी सम्बन्धशक्ति । ४७ ।

‘इत्यादि अनेक शक्तियोंसे युक्त आत्मा है तथापि वह ज्ञानमात्रताको नहीं छोड़ता’—इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

* वसंततिलका *

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
 यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः ।
 एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
 तद्द्रव्यपर्यायमयं चिदिहास्ति वस्तु ॥२६४॥

* वसन्ततिलका *

नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
 तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः ।
 स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो
 ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलंघयन्तः ॥२६५॥

अथास्योपायोपेयभावाश्चित्यते—

श्लोकार्थः—[इत्यादि—अनेक—निज—शक्ति—सुनिर्भरः अपि] इत्यादि (—पूर्व कथित ४७ शक्तियां इत्यादि) अनेक निज शक्तियोंसे भलीभांति परिपूर्ण होनेपर भी [यः भावः ज्ञानमात्रमयतां न जहाति] जो भाव ज्ञानमात्रमयताको नहीं छोड़ता, [तद्] ऐसा वह, [एवं क्रम—अक्रम—विवर्ति—विवर्त—चित्रम्] पूर्वोक्त प्रकारसे क्रमरूप और अक्रमरूपसे वर्तमान विवर्तसे (—रूपान्तरसे, परिणामनसे) अनेक प्रकारका, [द्रव्य—पर्यायमयं] द्रव्य पर्यायमय [चिद्] चैतन्य (अर्थात् ऐसा वह चैतन्य भाव—आत्मा) [इह] इस लोकमें [वस्तु अस्ति] वस्तु है ।

भावार्थः—कोई यह समझ सकता है कि आत्माको ज्ञानमात्र कहा है इसलिये वह एक स्वरूप ही होगा । किन्तु ऐसा नहीं है । वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायमय है । चैतन्य भी वस्तु है, द्रव्यपर्यायमय है । वह चैतन्य अर्थात् आत्मा अनन्त शक्तियोंसे परिपूर्ण है और क्रमरूप तथा अक्रमरूप अनेक प्रकारके परिणामोंके विकारोंके समूहरूप अनेकाकार होता है फिर भी ज्ञानको जो कि असाधारणभाव है उसे—नहीं छोड़ता; उसकी समस्त अवस्थाएं—परिणाम—पर्याय ज्ञानमय ही हैं । २६४ ।

‘इस अनेकस्वरूप—अनेकान्तमय—वस्तुको जो जानते हैं, भ्रष्टा करते हैं और अनुभव करते हैं; वे ज्ञानस्वरूप होते हैं’—इस आशयका, स्याद्वादका फल बतलानेवाला काव्य कहते हैं—

श्लोकार्थः—[इति वस्तु-तत्त्व-व्यवस्थितिम् नैकान्त-सङ्गत-दृशा स्वयमेव प्रविलोकयन्तः] ऐसी (अनेकान्तात्मक) वस्तुतत्त्वकी व्यवस्थितिको अनेकान्त—संगत (—अनेकान्तके साथ सुसंगत, अनेकान्तके साथ मेलवाली) दृष्टिके द्वारा स्वयमेव देखते हुए, [स्याद्वाद—शुद्धिम् अधिकाम् अधिगम्य] स्याद्वादकी अत्यन्त शुद्धिको जानकर, [जिन—नीतिम् अलंघयन्तः] जिन नीतिका (जिनेश्वरदेवके मार्गका) उल्लंघन न करते हुए [सन्तः ज्ञानीभवन्ति] सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप होते हैं ।

आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव; तस्यैकस्यापि स्वयं साधक-
सिद्धरूपोभयपरिणामिन्वात् । तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः, यत्सिद्धं रूपं स उपेयः ।
अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात्संसारतः सुनिश्चलपरिगृहीतव्यव-
हारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरंपरया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यांतर्मग्ननिश्चयसम्य-
ग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परमप्रकर्षमकरिकाधिरूढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्त-
सकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानज्ञानमात्र-
मेकमेवोपायोपेयभावं साधयति । एवमुभयत्रापि ज्ञानमात्रस्यानन्यतया नित्यमस्खलितैकवस्तुनो
निष्कंपपरिग्रहणात् तत्क्षण एव मुमुक्षूणामासंसारादलब्धभूमिकानामपि भवति भूमिकालाभः ।

भावार्थः—जो सत्पुरुष अनेकान्तके साथ सुसंगत दृष्टिके द्वारा अनेकान्तमय वस्तुस्थितिको देखते
हैं, वे इसप्रकार स्याद्वादकी शुद्धिको प्राप्त करके—ज्ञान करके जिनदेवके मार्गको—स्याद्वाद्व्यायको—उल्लंघन
न करते हुए, ज्ञानस्वरूप होते हैं । २६५ ।

(इसप्रकार स्याद्वादके सम्बन्धमें कहकर, अब आचार्यदेव उपाय-उपेयभावके सम्बन्धमें कुछ
कहते हैं:—

अब इसके (—ज्ञानमात्र आत्मवस्तुके) × उपाय-उपेयभाव विचारा जाता है (अर्थात् आत्मवस्तु
ज्ञानमात्र है फिर भी उसमें उपायत्व और उपेयत्व दोनों कैसे घटित होते हैं सो इसका विचार किया
जाता है:—)

आत्मवस्तुको ज्ञानमात्रता होने पर भी उसे उपाय-उपेयभाव (उपाय-उपेयपना) है ही; क्योंकि
वह एक होने पर भी ÷ स्वयं साधकरूपसे और सिद्धरूपसे—दोनों प्रकारसे परिणमित होता है । उसमें
जो साधक रूप है वह उपाय है और जो सिद्ध रूप है वह उपेय है । इसलिये, अनादि कालसे मिथ्यादर्शन-
ज्ञानचारित्र द्वारा (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र द्वारा) स्वरूपसे च्युत होनेके कारण
संसारमें भ्रमण करते हुए, सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रके पाकके
प्रकर्षकी परम्परासे क्रमशः स्वरूपमें आरोहण कराये जाते इस आत्माको, अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शन-
ज्ञानचारित्ररूप भेद हैं तद्गुणताके द्वारा स्वयं साधकरूपसे परिणमित होता हुआ, तथा परम प्रकर्षकी
पराकाष्ठाको प्राप्त रत्नत्रयकी अतिशयतासे प्रवर्तित जो सकल कर्मके क्षय उससे प्रज्वलित (—दैदीप्यमान)

× उपेय अर्थात् प्राप्तकरनेयोग्य, और उपाय अर्थात् प्राप्तकरनेयोग्य जिसके द्वारा प्राप्त किया जावे । आत्माका
शुद्ध (सर्व कर्म रहित) स्वरूप अथवा मोक्ष उपेय है, और मोक्षमार्ग उपाय है ।

÷ आत्मा परिणामी है और साधकत्व तथा सिद्धत्व ये दोनों परिणाम हैं ।

ततस्तत्र नित्यदुर्ललितस्ते स्वत एव क्रमाक्रमप्रवृत्तानेकांतमूर्तयः साधकभावसंभवंपरमप्रकर्षकोटि-
सिद्धिभावभाजनं भवति । ये तु नेमासंतनींतांनेकांतज्ञानमात्रैकभावरूपां भूमिमुपलभन्ते ते
नित्यमज्ञानिनो भवन्तो ज्ञानमात्रभावस्य स्वरूपेणाभवनं पररूपेण भवनं पश्यन्तो जानन्तोऽनुचरन्तश्च
मिथ्यादृष्टयो मिथ्याज्ञानिनो मिथ्याचारित्राश्च भवन्तोऽत्यंतमुपायोपेयभ्रष्टा विभ्रमन्त्येव ।

हुवे जो अस्खलित विमल स्वभावभावत्व द्वारा स्वयं सिद्धरूपसे परिणमता ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय-
उपेयभावको सिद्ध करता है ।

भावार्थः—यह आत्मा अनादि कालसे मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रके कारण संसारमें भ्रमण करता है ।
वह सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यक्दर्शनज्ञानचारित्रकी वृद्धिकी परम्परासे क्रमशः जत्रसे
स्वरूपानुभव करता है तबसे ज्ञान साधकरूपसे परिणमित होता है, क्योंकि ज्ञानमें निश्चयसम्यग्दर्शन-
ज्ञानचारित्ररूप भेद अन्तर्भूत हैं । निश्चयसम्यक्दर्शनज्ञानचारित्रके प्रारम्भसे लेकर स्वरूपानुभवकी वृद्धि
करते करते जबतक निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी पूर्णता न हो, तबतक ज्ञानका साधक रूपसे परिणमन
है । जब निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी पूर्णतासे समस्त कर्मोंका नाश होता है अर्थात् साक्षात् मोक्ष
होता है तब ज्ञान सिद्ध रूपसे परिणमित होता है, क्योंकि उसका अस्खलित निर्मल स्वभावभाव प्रगट
देदीप्यमान हुआ है । इसप्रकार साधक रूपसे और सिद्ध रूपसे—दोनों रूपसे परिणमित होता हुआ एक
ही ज्ञान आत्मवस्तुकी उपाय-उपेयताको साधित करता है ।)

इसप्रकार दोनोंमें (-उपाय तथा उपेयमें-) ज्ञानमात्रकी अनन्यता है अर्थात् अन्यपत्ना नहीं है;
इसलिये सदा अस्खलित एक वस्तुका (-ज्ञानमात्र आत्मवस्तुका-) निष्कम्प ग्रहण करनेसे, मुमुक्षुओंको,
कि जिन्हें अनादि संसारसे भूमिकाकी प्राप्ति न हुई हो उन्हें भी, तत्क्षण ही भूमिकाकी प्राप्ति होती है;
फिर इसीमें नित्य मस्ती करते हुए (-लीन रहते हुए) वे मुमुक्षु - जो कि स्वतः ही, क्रमरूप और अक्रमरूप
प्रवर्तमान अनेक अन्तकी (अनेक धर्मकी) मूर्तियाँ हैं वे—साधकभावसे उत्पन्न होनेवाली परम प्रकर्षकी
X कोटिरूप सिद्धभावके भाजन होते हैं । परन्तु जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म गर्भित हैं ऐसे एक-
ज्ञानमात्र भावरूप इस भूमिको जो प्राप्त नहीं करते, वे सदा अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भावका स्वरूपसे
अभवन और पररूपसे भवन देखते (-भ्रष्टा करते) हुए, जानते हुए तथा आचरण करते हुए, मिथ्यादृष्टि,
मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हुए, उपाय-उपेयभावसे अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए संसारमें परिभ्रमण ही
करते हैं ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

X कोटि = अन्तमता; उच्छ्रिता; ऊँचेमें ऊँचे बिन्दु; हृद ।

* वसंततिलका *

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥२६६॥

* वसंततिलका *

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥२६७॥

श्लोकार्थः—[ये] जो पुरुष, [कथम् अपि अपनीत-मोहाः] किसी भी प्रकारसे जिनका मोह दूर हो गया है ऐसा होता हुआ, [ज्ञानमात्र-निज-भावमयीम् अकम्पां भूमिं] ज्ञानमात्र निज भावमय अकम्प भूमिकाका (अर्थात् ज्ञानमात्र जो अपना भाव उस-मय निश्चल भूमिकाका) [श्रयन्ति] आश्रय लेते हैं [ते साधकत्वम् अधिगम्य सिद्धाः भवन्ति] वे साधकत्वको प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं; [तु] परन्तु [मूढाः] जो मूढ (-मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि) हैं वे [अमूम् अनुपलभ्य] इस भूमिकाको प्राप्त न करके [परिभ्रमन्ति] संसारमें परिभ्रमण करते हैं ।

भावार्थः—जो भव्य पुरुष, गुरुके उपदेशसे अथवा स्वयमेव काललब्धिको प्राप्त करके मिथ्यात्वसे रहित होकर, ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको प्राप्त करते हैं, उसका आश्रय लेते हैं, वे साधक होते हुए सिद्ध हो जाते हैं; परन्तु जो ज्ञानमात्र-निजको प्राप्त नहीं करते, वे संसारमें परिभ्रमण करते हैं । २६६ ।

इस भूमिकाका आश्रय करनेवाला जीव कैसा होता है सो अब कहते हैं—

श्लोकार्थः—[यः] जो पुरुष, [स्याद्वादकौशल-सुनिश्चल-संयमाभ्यां] स्याद्वादमें प्रवीणता तथा (रागादिक अशुद्ध परिणतिके त्यागरूप) सुनिश्चल संयम—इन दोनोंके द्वारा [इह उपयुक्तः] अपनेमें उपयुक्त रहता हुआ (अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें उपयोगको लगाता हुआ) [अहः अहः स्वम् भावयति] प्रतिदिन अपनेको भाता है (-निरन्तर अपने आत्माकी-भावना करता है), [सः एकः] वही एक (पुरुष), [ज्ञान-क्रिया-नय-परस्पर-तीव्र-मैत्री-पात्रीकृतः] ज्ञाननय और क्रियानयकी परस्पर तीव्र मैत्रीका पात्ररूप होता हुआ, [इमाम् भूमिम् श्रयति] इस (ज्ञानमात्र निजभावमय) भूमिकाका आश्रय करता है ।

• वसंततिलका •

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः

शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।

आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-

स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥२६८॥

भावार्थः—जो ज्ञाननयको ही ग्रहण करके क्रियानयको छोड़ता है, उस प्रमादी और स्वच्छन्दी पुरुषको इस भूमिकाकी प्राप्ति नहीं हुई है। जो क्रियानयको ही ग्रहण करके ज्ञाननयको नहीं जानता, उस (व्रत-समिति-गुप्तिरूप) शुभ कर्मसे संतुष्ट पुरुषको भी इस निष्कर्म भूमिकाकी प्राप्ति नहीं हुई है। जो पुरुष अनेकान्तमय आत्माको जानता है (अनुभव करता है) तथा सुनिश्चल संयममें प्रवृत्त है (रागादिक अशुद्ध परिणतिका त्याग करता है), और इसप्रकार जिसने ज्ञाननय तथा क्रियानयकी परस्पर तीव्र मैत्री सिद्ध की है, वही पुरुष इस ज्ञानमात्र निजभावमय भूमिकाका आश्रय करनेवाला है।

ज्ञाननय और क्रियानयके ग्रहण-त्यागका स्वरूप तथा फल 'पंचास्तिकाय संग्रह' ग्रन्थके अन्तमें कहा है, वहाँसे जानना चाहिये। २६७।

इसप्रकार जो पुरुष इस भूमिकाका आश्रय लेता है, वही अनन्त चतुष्टयमय आत्माको प्राप्त करता है—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[तस्य एव] (पूर्वोक्त प्रकारसे जो पुरुष इस भूमिकाका आश्रय लेता है) उसीके, [चित्-पिण्ड-चण्डिम-विलासि-विकास-हासः] चैतन्यपिण्डके निरगल विलसित विकासरूप जिसका खिलना है (अर्थात् चैतन्यपुंजका अत्यन्त विकास होना ही जिसका खिलना है), [शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभातः] शुद्ध प्रकाशको अतिशयताके कारण जो सुप्रभातके समान है, [आनन्द-सुस्थित-सदा-अस्खलित-एक-रूपः] आनन्दमें सुस्थित ऐसा जिसका सदा अस्खलित एक रूप है [च] और [अचल-अर्चिः] जिसकी ज्योति अचल है ऐसा [अयम् आत्मा उदयति] यह आत्मा उदयको प्राप्त होता है।

भावार्थः—यहाँ 'चित्पिण्ड' इत्यादि विशेषणोंसे अनन्त दर्शनका प्रगट होना, 'शुद्धप्रकाश' इत्यादि विशेषणसे अनन्त ज्ञानका प्रगट होना, 'आनन्दसुस्थित' इत्यादि विशेषणसे अनन्त सुखका प्रगट होना और 'अचलार्चि' विशेषणसे अनन्त वीर्यका प्रगट होना बताया है। पूर्वोक्त भूमिका आश्रय लेनेसे ही ऐसे आत्माका उदय होता है। २६८।

अब, यह कहते हैं कि ऐसा ही आत्मस्वभाव हमें प्रगट हो:—

* वसंततिलका *

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे

शुद्धस्वभावमहिमनुदिते मयीति ।

किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावे-

नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥२६९॥

* वसंततिलका *

चित्रात्मशक्तिसमुदाययोऽयमात्मा

सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंडचमानः ।

तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेक-

मेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥२७०॥

श्लोकार्थः—[स्याद्वाद-दीपित-लसत्-महसि] स्याद्वाद द्वारा प्रदीप्त किया गया जगमगाहट करता जिसका तेज है श्रीर [शुद्ध-स्वभाव-महिमनि] जिसमें शुद्धस्वभावरूप महिमा है ऐसा [प्रकाशे उदिते मयि इति] यह प्रकाश (ज्ञानप्रकाश) जहाँ मुझमें उदयको प्राप्त हुआ है, वहाँ [बन्ध-मोक्ष-पथ-पातिभिः अन्य-भावेः किम्] बंध-मोक्षके मार्गमें पड़नेवाले अन्य भावोंसे मुझे क्या प्रयोजन है ? [नित्य-उदयः परम् अयं स्वभावः स्फुरतु] मुझे तो मेरा नित्य उदित रहनेवाला केवल यह (अनन्त चतुष्टयरूप स्वभाव ही स्फुरायमान हो ।

भाषार्थः—स्याद्वादसे यथार्थ आत्मज्ञान होनेके बाद उसका फल पूर्ण आत्माका प्रगट होना है । इसलिये मोक्षका इच्छुक पुरुष यही प्रार्थना करता है कि—मेरा पूर्णस्वभाव आत्मा मुझे प्रगट हो; बन्धमोक्षमार्गमें पड़नेवाले अन्य भावोंसे मुझे क्या काम है ? । २६९ ।

‘यद्यपि नयोंके द्वारा आत्मा साधित होता है तथापि यदि नयों पर ही दृष्टि रहे तो नयोंमें तो परस्पर विरोध भी है, इसलिये मैं नयोंका विरोध मिटाकर आत्माका अनुभव करता हूँ’—इस अर्थका काव्य कहते हैं ।

श्लोकार्थः—[चित्र-आत्मशक्ति-समुदायमयः अयम् आत्मा] अनेक प्रकारकी निज शक्तियोंका समुदायमय यह आत्मा [नय-ईक्षण-खण्डचमानः] नयोंकी दृष्टिसे खण्ड खण्डरूप किये जाने पर [सद्यः] तत्काल [प्रणश्यति] नाशको प्राप्त होता है; [तस्मात्] इसलिये मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि—[अनिराकृत-खण्डम् अखण्डम्] जिसमेंसे खण्डोंको अनिराकृत नहीं किया गया है तथापि जो अखण्ड है, [एकम्] एक है, [एकान्त-शान्तम्] एकान्त शांत है (अर्थात् जिसमें कर्मोदयका लेशमात्र भी नहीं है ऐसा अत्यन्त शान्त भावमय है) और [अचलम्] अचल है (अर्थात् कर्मोदयसे चलायमान च्युत नहीं होता) ऐसा [चिद् महः अहम् अस्मि] चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ ।

* निराकृत = बहिष्कृत, दूर; रद-चातल; नाकवृत् ।

न द्रव्येण खंडयामि, न क्षेत्रेण खंडयामि, न कालेन खंडयामि, न भावेन खंडयामि;
सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि ।

• शालिनी •

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्ग्वान्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥२७१॥

भावार्थः—आत्मामें अनेक शक्तियाँ हैं और एक एक शक्तिका ग्राहक एक एक नय है; इसलिये यदि नयोंकी एकान्त दृष्टिसे देखा जाये तो आत्माका खण्ड खण्ड होकर उसका नाश हो जाये। ऐसा होनेसे स्याद्वादी, नयोंका विरोध दूर करके चैतन्यमात्र वस्तुको अनेकशक्तिसमूहरूप, सामान्यविशेषरूप, सर्वशक्तिमय एकज्ञानमात्र अनुभव करता है। ऐसा ही वस्तुका स्वरूप है, इसमें विरोध नहीं है। २७०।

अब, ज्ञानी अखण्ड आत्माका ऐसा अनुभव करता है इसप्रकार आचार्यदेव गद्यमें कहते हैं:—

(ज्ञानी शुद्धनयका आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि—) मैं अपनेको अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूपको न तो द्रव्यसे खण्डित करता हूँ, न क्षेत्रसे खण्डित करता हूँ, न कालसे खण्डित करता हूँ और न भावसे खण्डित करता हूँ; सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ।

भावार्थः—यदि शुद्धनयसे देखा जाये तो शुद्ध चैतन्यमात्र भावमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता। इसलिये ज्ञानी अभेदज्ञानस्वरूप अनुभवमें भेद नहीं करता।

ज्ञानमात्र भाव स्वयं ही ज्ञान है, स्वयं ही अपना ज्ञेय है और स्वयं ही अपना ज्ञाता है—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[यः अयं ज्ञानमात्रः भावः अहम् अस्मि सः ज्ञेय-ज्ञानमात्रः एव न ज्ञेयः] जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ वह ज्ञेयोंका ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिये; [ज्ञेय-ज्ञान-कल्लोल-वल्ग्वान्] (परन्तु) ज्ञेयोंके आकारसे होनेवाले ज्ञानकी कल्लोलोंके रूपमें परिणमित होता हुआ वह [ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ज्ञेयः] ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिये। (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय, स्वयं ही ज्ञाता—इसप्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भावयुक्त वस्तुमात्र जानना चाहिये)।

भावार्थः—ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होनेसे ज्ञानस्वरूप है। और वह स्वयं ही निम्न प्रकारसे ज्ञेयरूप है। बाह्य ज्ञेय ज्ञानसे भिन्न है, वे ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं होते, ज्ञेयोंके आकारकी मलक ज्ञानमें पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है परन्तु वे ज्ञानकी ही तरंगें हैं। वे ज्ञान तरंगें ही ज्ञानके द्वारा ज्ञात होती हैं। इसप्रकार स्वयं ही स्वतः जनाने योग्य होनेसे ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है। और स्वयं ही अपना

✽ पृथ्वी ✽

कचिल्लसति मेचकं कचिन्मेचकामेचकं
 क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम ।
 तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
 परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥२७२॥

✽ पृथ्वी ✽

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
 मितः क्षणविभंगुरं भ्रुवमितः सदैवोदयात् ।
 इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
 र्हो सहजमात्मनस्तदिदमद्भूतं वैभवम् ॥२७३॥

जाननेवाला होनेसे ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है । इसप्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता-इन तीनों भावोंसे युक्त सामान्यविशेषस्वरूप वस्तु है । 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' इसप्रकार अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव करता है । २७१ ।

आत्मा मेचक, अमेचक इत्यादि अनेक प्रकारसे दिखाई देता है तथापि यथार्थ ज्ञानी निर्मल ज्ञानको नहीं भूलता—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—(ज्ञानी कहता है:—) [मम तत्त्वं सहजम् एव] मेरे तत्त्वका ऐसा स्वभाव ही है कि [क्वचित् मेचकं लसति] कभी तो वह (आत्मतत्त्व) मेचक (अनेकाकार, अशुद्ध) दिखाई देता है, [क्वचित् मेचक-अमेचकं] कभी मेचक-अमेचक (दोनोंरूप) दिखाई देता है [पुनः क्वचित् अमेचकं] और कभी अमेचक (—एकाकार शुद्ध) दिखाई देता है; [तथापि] तथापि [परस्पर-सुसंहत-प्रगट शक्ति-चक्रं स्फुरत् तत्] परस्पर सुसंहत (—सुमिलित, सुग्रथित) प्रगट शक्तियोंके समूह-रूपसे स्फुरायमान वह आत्मतत्त्व [अमल मेधसां मनः] निर्मल बुद्धिवालोंके मनको [न विमोहयति] विमोहित (—भ्रमित) नहीं करता ।

भावार्थः—आत्मतत्त्व अनेक शक्तियोंवाला होनेसे किसी अवस्थामें कर्मोदयके निमित्तसे अनेकाकार अनुभवमें आता है, किसी अवस्थामें शुद्ध एकाकार अनुभवमें आता है और किसी अवस्थामें शुद्धाशुद्ध अनुभवमें आता है; तथापि यथार्थ ज्ञानी स्याद्वादके बलके कारण भ्रमित नहीं होता, जैसा है वैसा ही मानता है, ज्ञानमात्रसे च्युत नहीं होता । २७२ ।

आत्माका अनेकान्तस्वरूप (—अनेक धर्मस्वरूप) वैभव अद्भुत (आश्चर्यकारक) है—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[अहो आत्मनः तद् इदम् सहजम् अद्भुतं वैभवम्] अहो ! आत्माका तो यह सहज अद्भुत वैभव है कि—[इतः अनेकतां गतम्] एक ओरसे देखनेपर वह अनेकताको प्राप्त है और [इतः

* पृथ्वी *

कषायकलिरैकतः स्वलति शान्तिरस्त्येकतो

भवोपहतिरैकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।

जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः

स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुताद्भुतः ॥२७४॥

सदा अपि एकताम् दधत्] एक ओरसे देखनेपर सदा एकताको धारण करता है, [इतः क्षण-विभंगुरम्] एक ओरसे देखनेपर क्षणभंगुर है और [इतः सदा एव उदयात् ध्रुवम्] एक ओरसे देखनेपर सदा उसका उदय होनेसे ध्रुव है, [इतः परम-विस्तृतम्] एक ओरसे देखनेपर परम विस्तृत है और [इतः निजैः प्रदेशैः घृतम्] एक ओरसे देखनेपर अपने प्रदेशोंसे ही धारण कर रखा हुआ है ।

भावार्थः—पर्यायदृष्टिसे देखने पर आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टिसे देखने पर एकरूप; क्रमभावी पर्यायदृष्टिसे देखने पर क्षणभंगुर दिखाई देता है और सहभावी गुणदृष्टिसे देखने पर ध्रुव; ज्ञानकी अपेक्षावाली सर्वगतदृष्टिसे देखने पर परम विस्तारको प्राप्त दिखाई देता है और प्रदेशोंकी अपेक्षावाली दृष्टिसे देखने पर अपने प्रदेशोंमें ही व्याप्त दिखाई देता है । ऐसा द्रव्यपर्यायात्मक अनन्तधर्म-वाला वस्तुका स्वभाव है । वह (स्वभाव) अज्ञानियोंके ज्ञानमें आश्चर्य उत्पन्न करता है कि यह तो असम्भवसी बात है । यद्यपि ज्ञानियोंको वस्तुस्वभावमें आश्चर्य नहीं होता फिर भी उन्हें कभी नहीं हुआ ऐसा अभूतपूर्व-अद्भुत परमानन्द होता है, और इसलिये आश्चर्य भी होता है । २७३ ।

पुनः इसी अर्थका काव्य कहते हैंः—

श्लोकार्थः—[एकतः कषाय-कलिः स्वलति] एक ओरसे देखनेपर कषायोंका ब्रलेश दिखाई देता है और [एकतः शान्तिः अस्ति] एक ओरसे देखनेपर शान्ति (कषायोंके अभावरूप शान्तभाव) है; [एकतः भव-उपहतिः] एक ओरसे देखनेपर भवकी (—सांसारिक) पीड़ा दिखाई देती है और [एकतः मुक्तिः अपि स्पृशति] एक ओरसे देखनेपर (संसारके अभावरूप) मुक्ति भी स्पर्श करती है; [एकतः त्रितयम् जगत् स्फुरति] एक ओरसे देखनेपर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं (—प्रकाशित होता है, दिखाई देता है) और [एकतः चित् चकास्ति] एक ओरसे देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है । [आत्मनः अद्भुतात् अद्भुतः स्वभाव-महिमा विजयते] (ऐसी) आत्माकी अद्भुतसे भी अद्भुत स्वभाव महिमा जयवन्त वर्तती है (—अर्थात् किसीसे वाधित नहीं होती) ।

भावार्थः—यहाँ भी २७३ वें श्लोकके भावार्थानुसार ही जानना चाहिये । आत्माका अनेकान्तमय स्वभाव सुनकर अन्यवादियोंको भारी आश्चर्य होता है । उन्हें इस बातमें विरोध भासित होता है । वे ऐसे अनेकान्तमय स्वभावकी बातको अपने चित्तमें न तो समाविष्ट कर सकते हैं और न सहन ही कर सकते हैं । यदि कदाचित् उन्हें श्रद्धा हो तो प्रथम अवस्थामें उन्हें भारी अद्भुतता मालूम होती है कि—‘अहो !

कन 20/10

परिशिष्ट

६०१

* मालिनी *

जयति सहजतेजःपुंजमञ्जत्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः
प्रसभनियमितार्चिश्चिन्मत्कार एषः ॥२७५॥

* मालिनी *

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचंद्रज्योतिरेतत्समंता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥२७६॥

यह जिनवचन महा उपकारी हैं, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको बतानेवाले हैं; मैंने अनादिकाल ऐसे यथार्थ स्वरूपके ज्ञान बिना ही व्यतीत कर दिया है ।'—वे इसप्रकार आश्चर्यपूर्वक श्रद्धान करते हैं । २७४ ।

अब टीकाकार आचार्यदेव अन्तिम मङ्गलके अर्थ इस चित्चमत्कारको ही सर्वोत्कृष्ट कहते हैं ।

श्लोकार्थः—[सहज-तेजः पुञ्ज-मञ्जत्-त्रिलोकी-स्खलत्-अखिल-विकल्पः अपि एकः एव स्वरूपः] सहज (—अपने स्वभावरूप) तेजःपुंजमें त्रिलोकके पदार्थ मग्न हो जाते हैं इसलिये जिसमें अनेक भेद होते हुए दिखाई देते हैं तथापि जिसका एक ही स्वरूप है (अर्थात् केवलज्ञानमें सर्व पदार्थ भूलकते हैं इसलिये जो अनेक ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है तथापि जो चैतन्यरूप ज्ञानाकारकी दृष्टिमें एकस्वरूप ही है), [स्व-रस-विसर-पूर्णा-अच्छिन्न-तत्त्व-उपलम्भः] जिसमें निजरसके विस्तारसे पूर्ण अच्छिन्न तत्त्वोपलब्धि है (अर्थात् प्रतिपक्षी कर्मका अभाव हो जानेसे जिसमें स्वरूपानुभवका अभाव नहीं होता) [प्रसभ-नियमित-अर्चिः] और जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है (अर्थात् जो अनन्तवीर्यसे निष्कम्प रहता है) [एषः चित्-चमत्कारः जयति] ऐसा यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) चैतन्य चमत्कार जयवन्त वर्तता है । (—किसीसे बाधित नहीं किया जा सकता ऐसा सर्वोत्कृष्टरूपसे विद्यमान है) ।

(यहाँ 'चैतन्यचमत्कार जयवन्त वर्तता है' इस कथनमें जो चैतन्यचमत्कारका सर्वोत्कृष्टतया होना बताया है, वही मङ्गल है) । २७५ ।

अब इस श्लोकमें टीकाकार आचार्यदेव आत्माको आशीर्वाद देते हैं और साथ ही अपना नाम भी प्रगट करते हैंः—

श्लोकार्थः—[अविचलित-चिदात्मनि आत्मनि आत्मनस् आत्मना अनवरत-निमग्नं धारयत्] जो अचल चेतनास्वरूप आत्मामें आत्माको अपने आपही निरन्तर निमग्न रखती है (अर्थात् प्राप्त किये

• शार्दूलविक्रीडित •

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानधनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल ॥२७७॥

गये स्वभावको कभी नहीं छोड़ती), [ध्वस्त-मोहम्] जिसने मोहका (अज्ञानांधकारका) नाश किया है, [निःसपत्नस्वभावम्] जिसका स्वभाव निःसपत्न (—प्रतिपक्षी कर्मोंसे रहित) है, [विमल-पूर्ण] जो निर्मल है और पूर्ण है; ऐसी [एतत् उदितम् अमृतचन्द्र-ज्योतिः] यह उदयको प्राप्त अमृतचन्द्र-ज्योति (—अमृतमय चन्द्रमाके समान ज्योति, ज्ञान, आत्मा) [समन्तात् ज्वलतु] सर्वतः जाज्वल्यमान रही ।

भावार्थः—जिसका न तो सरण होता है और न जिससे दूसरेका नाश होता है वह अमृत है; और जो अत्यन्त स्वादिष्ट (—मीठा) होता है उसे लोग रूढ़िसे अमृत कहते हैं । यहाँ ज्ञानको—आत्माको—अमृतचन्द्रज्योति (—अमृतमय चन्द्रमाके समान ज्योति) कहा है, जो कि लुप्तोपमालंकार है; क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' का समास करने पर 'वत्' का लोप होकर 'अमृतचन्द्रज्योतिः' होता है ।

(यदि 'वत्' शब्द न रखकर 'अमृतचन्द्ररूप ज्योति' अर्थ किया जाय तो भेदरूपक अलङ्कार होता है । और 'अमृतचन्द्रज्योति' ही आत्माका नाम कहा जाय तो अभेदरूपक अलङ्कार होता है ।)

आत्माको अमृतमय चन्द्रमाके समान कहने पर भी, यहाँ कहे गये विशेषणोंके द्वारा आत्माका चन्द्रमाके साथ व्यतिरेक भी है; क्योंकि 'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानांधकारका दूर होना बतलाता है, 'विमलपूर्ण' विशेषण लाञ्छनरहितता तथा पूर्णता बतलाता है, 'निःसपत्नस्वभाव' विशेषण राहुविम्बसे तथा बादल आदिसे आच्छादित न होना बतलाता है, और 'समन्तात् ज्वलतु' सर्व क्षेत्र और सर्वकालमें प्रकाश करना बतलाता है; चन्द्रमा ऐसा नहीं है ।

इस श्लोकमें टीकाकार आचार्यदेवने अपना 'अमृतचन्द्र' नाम भी बताया है । समास बदलकर अर्थ करनेसे 'अमृतचन्द्र' के और 'अमृतचन्द्रज्योति' के अनेक अर्थ होते हैं जो कि यथासंभव जानने चाहिये । २७६ ।

अब श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव दो श्लोक कहकर इस समयसारग्रन्थकी आत्मख्याति नामक टीका समाप्त करते हैं ।

'अज्ञानदशामें आत्मा स्वरूपको भूलकर रागद्वेषमें प्रवृत्त होता था, परद्रव्यकी क्रियाका कर्ता बनता था, क्रियाके फलका भोक्ता होता था,—इत्यादि भाव करता था; किन्तु अब ज्ञानदशामें वे भाव कुछ भी नहीं हैं ऐसा अनुभव किया जाता है ।—इसी अर्थका प्रथम श्लोक कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[यस्मात्] जिससे (अर्थात् जिस पर संयोगरूप बन्धपर्याय जनित अज्ञानसे) [पुरा] प्रथम [स्व-परयोः द्वैतम् अभूत्] अपना और परका द्वैत हुआ (अर्थात् स्वपरके मिश्रितपना-

* उपजाति *

स्वशक्तिसंज्ञितवस्तुतत्त्वै-

व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।

स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति

कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥२७८॥

रूप भाव हुआ), [यतः अत्र अन्तरं भूतं] द्वैतभाव होनेसे जिससे स्वरूपमें अन्तर पड़ गया (अर्थात् बन्धपर्याय ही निजरूप ज्ञात हुई), [यतः राग-द्वेष-परिग्रहे सति] स्वरूपमें अन्तर पड़ने पर जिससे रागद्वेषका ग्रहण हुआ, [क्रिया-कारकः जातं] रागद्वेषका ग्रहण होनेपर जिससे क्रियाके कारक उत्पन्न हुए (अर्थात् क्रिया और कर्त्ता-कर्मादि कारकोंका भेद पड़ गया), [यतः च अनुभूतिः क्रियायाः अखिलं फलं भुञ्जाना खिन्ना] कारक उत्पन्न होनेपर जिससे अनुभूति क्रियाके समस्त फलको भोगती हुई खिन्न हो गई [तत् विज्ञान-घन-शोध-मग्नम्] वह अज्ञान अब विज्ञानघन समूहमें मग्न हुआ (अर्थात् ज्ञानरूपमें परिणामित हुआ) [अघुना किल किञ्चित् न किञ्चित्] इसलिये अब वह सब वास्तवमें कुछ भी नहीं है ।

भावार्थः—परसंयोगसे ज्ञान ही अज्ञानरूप परिणामित हुआ था, अज्ञान कहीं पृथक् वस्तु नहीं था; इसलिये अब वह जहाँ ज्ञानरूप परिणामित हुआ कि वहाँ वह (अज्ञान) कुछ भी नहीं रहा । अज्ञानके निमित्तसे राग, द्वेष, क्रियाके कर्त्तृत्व, क्रियाके फलका (—सुखदुःखका) भोक्तृत्व आदि भाव हुये थे वे भी विलीन हो गये हैं; एकमात्र ज्ञान ही रह गया है । इसलिये अब आत्मा स्व-परके त्रिकालवर्ती भावोंको ज्ञाता-द्रष्टा होकर जानते-देखते ही रहो । २७७ ।

‘पूर्वोक्त प्रकारसे ज्ञानदशामें परकी क्रिया अपनी भासित न होनेसे, इस समयसारकी व्याख्या करनेकी क्रिया भी मेरी नहीं है, शब्दों की है’—इस अर्थका, समयसारकी व्याख्या करनेकी अभिमानरूप कषायके त्यागका सूचक श्लोक अब कहते हैं:—

श्लोकार्थः—[स्व-शक्ति-संज्ञित-वस्तु-तत्त्वैः शब्दैः] जिनने अपनी शक्तिसे वस्तुतत्त्व (—यथार्थ स्वरूप)को भलीभाँति कहा है ऐसे शब्दोंने [इयं समयस्य व्याख्या] इस समयकी व्याख्या (आत्मवस्तुका व्याख्यान अथवा समयप्राभृत शास्त्रकी टीका) [कृता] की है; [स्वरूप-गुप्तस्य अमृतचन्द्रसूरेः] स्वरूप गुप्त (—अमूर्तिक ज्ञानमात्र स्वरूप गुप्त) अमृतचन्द्रसूरिका (इसमें) [किञ्चित् एव कर्तव्यम् न अस्ति] कुछ भी कर्तव्य (कार्य) नहीं है ।

भावार्थः—शब्द तो पुद्गल हैं । वे पुरुषके निमित्तसे वर्ण-पद-वाच्यरूपसे परिणामित होते हैं; इसलिये उनमें वस्तुस्वरूपको कहनेकी शक्ति स्वयमेव है, क्योंकि शब्दका और अर्थका वाच्यवाचक सम्बन्ध है । इसप्रकार द्रव्यश्रुतकी रचना शब्दोंने की है यही बात यथार्थ है । आत्मा तो अमूर्तिक है, ज्ञानस्वरूप

इति श्रीमदमृतचन्द्राचार्यकृता समयसारव्याख्या आत्मख्यातिः समाप्ता ॥

है, इसलिये वह मूर्तिक पुद्गलकी रचना कैसे कर सकता है ? इसीलिये आचार्यदेवने कहा है कि 'इस समयप्राश्रुतकी टीका शब्दोंने की है, मैं तो स्वरूपमें लीन हूँ, उसमें (-टीका करनेमें) मेरा कोई कर्तव्य (कार्य) नहीं है।' यह कथन आचार्यदेवकी निरभिमानताको भी सूचित करता है। अब यदि निमित्त-नैमित्तिक व्यवहारसे ऐसा ही कहा जाता है कि अमुक पुरुषने यह अमुक कार्य किया है। इस न्यायसे यह आत्मख्याति नामक टीका भी अमृतचन्द्राचार्यकृत है ही। इसलिये पढ़ने-सुननेवालोंको उनका उपकार मानना भी युक्त है; क्योंकि इसके पढ़ने-सुननेसे पारमार्थिक आत्माका स्वरूप ज्ञात होता है, उसका श्रद्धान तथा आचरण होता है, मिथ्या ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण दूर होता है और परम्परासे मोक्षकी प्राप्ति होती है। मुमुक्षुओंको इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। २७८।

इसप्रकार श्री समयसार शास्त्रकी (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागमकी) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्यातिनामक टीका समाप्त हुई।

* * * *

(अब पण्डित जयचन्द्रजी भी भाषा टीका पूर्ण करते हुये कहते हैं:—)

(सचैया)

कुन्दकुन्दमुनि कियो गाथाबंध प्राकृत है प्राश्रुतसमय शुद्ध आतम दिखावनू,
सुधाचन्द्रसूरि करी संस्कृत टीका वर आत्मख्याति नाम यथातथ्य भावनू;
देशकी वचनिकामें लिखि जयचन्द्र पढ़ै संक्षेप अर्थ अल्पबुद्धिकूँ पावनू,
पढ़ो सुनो मन लाय शुद्ध आतमा लखाय ज्ञानरूप गहौ चिदानन्द दरसावनू ॥१॥

—:: दोहा ::—

समयसार अविकारका, वर्णन कर्ण सुनन्त;

द्रव्य-भाव-नोकर्म तजि, आतसतत्त्व लखन्त ॥२॥

इसप्रकार इस समयप्राश्रुत (अथवा समयसार) नामक शास्त्रकी आत्मख्याति नामकी संस्कृत टीकाकी देशभाषामय वचनिका लिखी है। इसमें संस्कृत टीकाका अर्थ लिखा है और अति संक्षिप्त भावार्थ लिखा है, विस्तार नहीं किया है। संस्कृत-टीकामें न्यायसे सिद्ध हुए प्रयोग हैं। यदि उनका विस्तार किया जाय तो अनुमान प्रमाणके पाँच अंगपूर्वक-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन पूर्वक—स्पष्टतासे व्याख्या करनेपर ग्रन्थ बहुत बढ़ जाय; इसलिये आयु, बुद्धि, बल और स्थिरताकी अल्पताके कारण, जितना बन सका है उतना, संक्षेपसे प्रयोजनमात्र लिखा है। इसे पढ़कर भव्यजन पदार्थको समझना। किसी अर्थमें हीनाधिकता हो तो बुद्धिमान जन मूल ग्रन्थानुसार यथार्थ समझ लेना। इस ग्रन्थके गुरु-सम्प्रदायका (-गुरुपरम्परागत उपदेशका) व्युत्प्रेद होगया है, इसलिये जितना हो सके उतना

(-यथाशक्ति) अभ्यास हो सकता है। तथापि जो स्याद्वादमय जिनमतकी आज्ञा मानते हैं, उन्हें विपरीत श्रद्धान नहीं होता। यदि कहीं अर्थको अन्यथा समझना भी हो जाय तो विशेष बुद्धिमानका निमित्त मिलने पर वह यथार्थ हो जाता है। जिनमतके श्रद्धानु हठग्राही नहीं होते।

अब अन्तिम मङ्गल के लिये पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करके ग्रन्थको समाप्त करते हैं:—

मङ्गल श्री अरहन्त घातिया कर्म निवारे,
मङ्गल सिद्ध महन्त कर्म आठों परजारे,
आचारज उवङ्भाय मुनि मङ्गलमय सारे,
दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनिकूँ तारे,
अठवीस मूलगुण धार जे सर्वसाधु अनगार हैं,
मैं नमूँ पंचगुरुचरणकूँ मङ्गल हेतु करार हैं ॥१॥

जैपुर नगरमाँहि तेरापंथ शैली बड़ी

बड़े बड़े गुनी जहाँ पढ़ें ग्रन्थ सार है,
जयचन्द्र नाम मैं हूँ तिनमें अभ्यास किंछू
कियो बुद्धिसारू धर्मरागतें विचार है,
समयसार ग्रन्थ ताकी देशके वचनरूप
भाषा करी पढ़ो सुनौ करो निरधार है,
आपापर भेद जानि हेय त्यागि उपादेय
गहो शुद्ध आतमकूँ; यहै बात सार है ॥२॥

दोहा:—संवत्सर विक्रम तरुँ, अष्टादश शत और;

चौसठि कातिक वदि दशैं, पूरण ग्रन्थ सुठौर ॥३॥

इसप्रकार श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयप्राभृत नामक प्राकृतगाथाबद्ध परमागमकी श्रीमद्भृतचन्द्राचार्यविरचित आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका अनुसार पण्डित जयचन्द्रजी कृत संक्षेप-भावार्थमात्र देशभाषामय वचनिकाके आधारसे श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाहकृत गुजराती अनुवादका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।



एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

(पुरुषार्थसिद्धि-उपाय)

अर्थः—इसप्रकार यह आत्मा कर्मकृत (रागादि और शरीरादि)
भावोंसे असंयुक्त होनेपर भी अज्ञानियोंको संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है;
वह प्रतिभास वास्तवमें संसारका बीज है ।

—: ❁ श्रीसमयसारकी वर्णानुक्रम गाथासूची ❁:—

	गाथा	पृष्ठ		गाथा	पृष्ठ
अ			असुहं सुहं व रूवं	३७६	५०६
अञ्जवसाणनिमित्तं	२६७	३७६	असुहो सुहो व गंधो	३७७	५०६
अञ्जवसिदेण चंधो	२६२	३७४	असुहो सुहो व गुणो	३८०	५०७
अट्टवियप्पे कम्मो	१८२	२७३	असुहो सुहो व फासो	३७६	५०७
अट्टविहं पि य कम्मं	४५	८७	असुहो सुहो व रसो	३७८	५०७
अएणादविएण	३७२	५०२	असुहो सुहो व सद्दो	३७५	५०६
अएणाणमओ भावो	१२७	१६१	अह जाणओ उ भावो	३४४	४६१
अएणाणमया भावा	१२६	१६३	अह जीवो पयडी तह	३३०	४५५
अएणाणमया भावा	१३१	१६५	अह ए पयडी ए जीवो	३३१	४५५
अएणाणमोहिदमदी	२३	५५	अह दे अएणो कोहो	११५	१८२
अएणाणस्स स उदओ	१३२	१६७	अहमिक्को खलु सुद्धो	३८	७६
अएणाणी कम्मफलं	३१६	४४२	अहमिक्को खलु सुद्धो	७३	१२७
अएणाणी पुण रत्तो	२१६	३२६	अहमेदं एदमहं	२०	५२
अएणो करेइ अएणो	३४८	४७१	अहवा एसो जीवो	३२६	४५५
अत्ता जस्सामुत्तो	४०५	५५५	अहवा मएणसि मच्चं	३४१	४६१
अपट्टिककमाणं टुविहं	२८३	३६६	अह सयमप्पा परिणमदि	१२४	१८७
अपट्टिककमाणं टुविहं दब्बे	२८४	४००	अह संसारत्थाणं	६३	१०६
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१०	३१६	अह सयमेव हि परिणमदि	११६	१८४
अपरिग्गहो अणिच्छो	२११	३१७			
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१२	३१८	आ		
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१३	३१६	आउक्खयेण मरणं	२४८	३६३
अपरिणमंतस्सि सयं	१२२	१८७	आउक्खयेण मरणं	२४६	३६३
अप्पट्टिककमाणं पडिसरणं	३०७	४२६	आऊदयेण जीवदि	२५१	३६५
अप्पाणमप्पया रुं धिऊण	१८७	२८१	आऊदयेण जीवदि	२५२	३६५
अप्पाणमयाणंता	३६	८१	आइस्सि दब्बभावे	२०३	३०४
अप्पाणमयाणंतो	२०२	३०२	आदा खु मच्च खाणं	२७७	३६१
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो	३४२	४६१	आधाकम्मं उहसियं	२८७	४०२
अप्पाणं भायंतो	१८६	२८१	आधाकम्माइया	२८६	४०२
अरसमरूवमगंधं	४६	६०	आभिणि वोहियसुदोधि	२०४	३०६
अवरे अञ्जवसाणोसु	४०	८१	आयारादी खाणं	२७६	३६१
असुहं सुहं व दब्बं	३८१	५०७	आयासं पि खाणं	४०१	५४७
			आसि मम पुच्चमेदं	२१	५२

	गाथा	पृष्ठ		गाथा	पृष्ठ
			अ	एमेव सम्मदिट्ठी	२२७ ३३२
				एयं तु अविवरीदं	१८३ २७३
इणमणं जीवादो	२८	६०		एयं तु जाणिकुण	३८२ ५०७
इय कम्मबंधणणं	२६०	४०७		एयत्तण्णिच्छयगओ	३ १०
			उ	एयत्तु असंभूदं	२२ ५२
उदओ असंजमस्स दु	१३३	१६७		एवमलिये अदत्ते	२६३ ३७५
उदयविवागो विविहो	१६८	२६७		एवमिह जो दु जीवो	११४ १८२
उप्पयणोदयभोगो	२१५	३२१		एवहि सावराहो	३०३ ४२४
उप्पादेदि करेदि य	१०७	१७७		एवं जाणदि णाणी	१८५ २७७
उम्मगं गच्छंतं	२३४	३४६		एवं ण कोवि मोक्खो	३२३ ४५०
उवओगस्स अणाई	८६	१५२		एवं णाणी सुद्धो	२७६ ३६४
उवओगो उवओगो	१८१	२७३		एवं तु णिच्छयणयस्स	३६० ४८३
उवघाय कुब्बंतरस्स	२३६	३५३		एवं पराणि दन्वाणि	६६ १६१
उवघायं कुब्बंतरस्स	२४४	३५८		एवं पुग्गलद्वं	६४ १०६
उवभोगमिदिथेहिं	१६३	२६०		एवं बंधो उ दुएहं वि	३१३ ४३६
			ए	एवं मिच्छादिट्ठी	२४१ ३५३
एएण कारणेण दु	८२	१४०		एवं ववहारणओ	२७२ ३८७
एए सव्वे भावा	४४	८४		एवं ववहारस्स उ	३५३ ४७७
एएसु य उवओगो	६०	१५३		एवं ववहारस्स दु	३६५ ४८४
एएहि य संबंधो	५७	१०३		एवं विहा बहुविहा	४३ ८१
एक्कं च दोस्सिण तिस्सिण	६५	११०		एवं संसुवएसं	३४० ४६०
एकरस्स दु परिणामो	१४०	२०१		एवं सम्मदिट्ठी	२०० २६८
एकरस्स दु परिणामो	१३८	२००		एवं सम्मादिट्ठी	२४६ ३५८
एदहि रदो णिच्चं	२०६	३११		एवं हि जीवराया	१८ ४६
एदाणि णत्थि जेसिं	२७०	३८३		एसा दु जा मई दे	२५६ ३७२
एदाहि य णिव्वत्ता	६६	११०	क	कणयमयाभावादो	१३० १६५
एदे अचेदणाखलु	१११	१७६		कम्मइयवभाणासु य	११७ १८४
एदेण कारणेण दु	१७६	२६१		कम्मं जं पुव्वकयं	३८३ ५१३
एदेण दु सो कत्ता	६७	१६३		कम्मं जं सुहमसुहं	३८४ ५१३
एदेसु हेदुभूदेसु	१३५	१६७		कम्मं णाणं ण हवइ	३६७ ४४६
एमादिए दु विविहे	२१४	३१६		कम्मं पडुच्च कत्ता	३११ ४३७
एमेव कम्मपयडी	१४६	२२७		कम्मं बद्धमबद्धं	१४२ २०३
एमेव जीवपुरिसो	२२५	३३२		कम्ममसुहं कुसीलं	१४५ २२३
एमेव मिच्छदिट्ठी	३२६	४५२		कम्मस्स अभावेण य	१६२ २८४
एमेव य ववहारो	४८	८६		कम्मस्स य परिणामं	७५ १३१

	गाथा	पृष्ठ		गाथा	पृष्ठ
कम्मसुदयं जीवं	४१	८१	जं भावं सुहमसुहं	१०२	१७२
कम्मो यो कम्महि य	१६	४६	जं सुहमसुहसुदियणं	३८५	५१३
कम्मोहि दु अरणणी	२३२	४५६	जदि जीवो ण सरोरं	२६	५८
कम्मोहि भमाडिज्जइ	३३४	४५६	जदि पुग्गलकम्ममियां	८५	१४५
कम्मोहि सुहाविज्जइ	३३३	४५६	जदि सो परदव्वाणि य	६६	१६८
कम्मोदएण जीवा	२५४	३६७	जदि सो पुग्गलदव्वी	२५	५५
कम्मोदएण जीवा	२५५	३६७	जया विमुक्खए चेया	३१५	४४१
कम्मोदएण जीवा	२५६	३६८	जह कणयमिगतविथं	१८४	२७७
कहसो विप्पइ अप्पा	२६६	४१६	जह कोवि शरो जंपइ	३२५	४५२
कालो णाणं ण हवइ	४००	५५०	जह चिट्ठं कुब्बतो	३५५	४७७
केहिचि दु पज्जएहिं	३४५	४७१	जह जीवस्स अणएणुवओगो	११३	१८२
केहिचि दु पज्जएहिं	३४६	४७१	जह एवि कुण्डिच्छेदं	२८६	४०७
को णाम भणिज्ज	२७७	३१२	जह एवि सक्कमएब्बो	८	१६
को णाम भणिज्ज	३००	४२२	जह णाम को वि पुरिसो	१७	४६
कोहाइसु वट्टं तस्स	७०	१२१	जह णाम कोवि पुरिसो	३५	७१
कोहुवज्जुतो कोहो	१२५	१८७	जह णाम कोवि पुरिसो	१४८	२२७
			जह णाम कोवि पुरिसो	२३७	३५३
			जह णाम कोवि पुरिसो	२८८	४०७
ग			जह परदव्वं सेददि	३६१	४८४
गंधरसफासरूवा	६०	१०४	जह परदव्वं सेददि	३६२	४८४
गंधो णाणं ण हवइ	३६४	५४६	जह परदव्वं सेददि	३६३	४८४
गुणसण्णिदा दु पदे	११२	१८०	जह परदव्वं सेददि	३६४	४८४
			जह पुण सो चिय	२२६	३३२
च			जह पुण सो चैव शरो	२४२	३५७
चउविह अणोयमेयं	१७०	२५६	जह पुरिसेणाहारो	१७६	२६७
चारित्तपडिण्णिवद्धं	१६३	२४२	जह फल्लहमणी सुद्धो	२७८	३६४
चेया उ पयदीअट्टं	३१२	४३६	जह वंधे चित्ततो	२६१	४०६
			जह वंधे छिच्चूणा य	२६२	४१०
छ			जह मज्जं पिवमाणो	१६६	२६४
छिंददि भिंददि य तथा	२३८	३५३	जह राया ववहारा	१८८	१७८
छिंददि भिंददि य तथा	२४३	३५७	जह विसमुवभुजंतो	१६५	२६३
छिज्जट्टु वा भिज्जट्टु वा	२०६	३१४	जह सिप्पि उ कम्मफलं	३५२	४७७
			जह सिप्पिओ उ कम्मं	३४६	४७६
ज			जह सिप्पिओ उ करणाणि	३५१	४७६
जइ जीवेण सह चिय	१३७	२००	जह सिप्पिओ उ करणेहिं	३५०	४७६
जइया इमेण जीवेण	७१	१२३	जह सिप्पिओ उ चिट्ठं	३५४	४७७
जइया स पव संखो	२२२	३२८			
जं कुणइ भावमादा	६१	१५४			
जं कुणदि भावमादा	१२६	१६०			

	कलश	पृष्ठ
ईंद्रजालमिदमेवमुच्छलत्	६१	२१३
उ		
उदयति न नयश्री-	६	३४
उन्मुक्तमुन्मोच्यरोपतस्तत्	२३६	५५४
उभयनयविरोध-	४	२६
ए		
एकज्ञायकभावनिर्भर-	१४०	३०६
एकत्वं व्यवहारतो न तु	२७	६८
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो	६	२८
एकमेव हि तत्त्वाद्यं	१३६	३०५
एकश्रितश्चिन्मय एव भावो	१८४	४२२
एकस्य कर्ता	७४	२०७
एकस्य कार्यं	७६	२०६
एकस्य चेत्यो	८६	२११
एकस्य चैको	८१	२०६
एकस्य जीवो	७६	२०८
एकस्य दुष्टो	७३	२०७
एकस्य दृश्यो	८७	२११
एकस्य नाना	८५	२११
एकस्य नित्यो	८३	२१०
एकस्य बद्धो न तथा परस्य	७०	२०५
एकस्य भातो	८६	२१२
एकस्य भावो	८०	२०६
एकस्य भोक्ता	७५	२०७
एकस्य मूढो	७१	२०६
एकस्य रक्तो	७२	२०६
एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण	२०१	४५४
एकस्य वाच्यो	८४	२१०
एकस्य वेद्यो	८८	२१२
एकस्य सांतो	८२	२१०
एकस्य सूक्ष्मो	७७	२०८
एकस्य हेतु	७८	२०८

एकः ज्ञानमनाद्यनंतमचलं
 एकः परिणमति सदा
 एकः कर्ता चिदहमिह
 एको दूरात्त्यजति मदिरां
 एको मोक्षपथो य एष
 एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य
 एवं तत्त्वव्यवस्थित्या
 एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा
 एषैकैव हि वेदना

कलश	पृष्ठ
१६०	३४०
५२	१४८
४६	१२०
१०१	२२३
२४०	५६२
२३८	५५७
२६३	५८६
१५	४३
१५६	३३७

क

कथमपि समुपात्त
 कथमपि हि लभते
 कर्ता कर्ता भवति न यथा
 कर्ता कर्मणि नास्ति
 कर्तारं स्वफलेन यत्किल
 कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशातो
 कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य
 कर्म सर्वमपि सर्वविदो
 कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः
 कषायकलिकेतः
 कांस्त्यैव रनपर्यति य
 कार्यत्वादकृतं न कर्म
 कृतकारितानुभवनै
 क्लिश्यतां स्वयमेव
 कच्चिदसति भेचकं

कलश	पृष्ठ
२०	४८
२१	५१
६६	२२१
६८	२२०
१५२	३३१
२०६	४७५
१६४	४३६
१०३	२२६
२०४	४५८
२७४	६००
२४	५६
२०३	४५८
२२५	५१८
१४२	३०६
२७२	५६६

क्ष

क्षणिकमिदमिहैकः

कलश	पृष्ठ
२०६	४६६

घ

घृतकुम्भाभिधानेऽपि

कलश	पृष्ठ
४०	११४

च

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्व

कलश	पृष्ठ
३६	६५

	कलश	पृष्ठ
चित्रिण्डचंढिमविलासिविकास	२६८	५६६
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयो	२७०	५६७
चिरमिति नवतत्त्व	८	३२
चित्त्वभावभरभावितभावा	६२	२१५
चैतूष्यं जडरूपतां च	१२६	२७६
ज		
जयति सहजतेजः	२७५	६०१
जानाति यः स न करोति	१६७	३६१
जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म	६३	१७६
जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा	३३	८०
जीवादजीवमिति	४३	११७
झ		
ज्ञप्तिः करोतौ न हि	६७	२१६
ज्ञानमय एव भावः	६६	१६३
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि	१४६	३२६
ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं	२२४	५१६
ज्ञानादेव ज्वलनपयसो	६०	१६६
ज्ञानाद्विवेकतया तु	५६	१६६
ज्ञानिन् कर्म न जातु	१५१	३३०
ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं	१४८	३२५
ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः	६७	१६४
ज्ञानी करोति न	१६८	४४६
ज्ञानी जानन्नपीमां	५०	१३६
ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति	२५१	५७८
ट		
टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसरा	२६१	५८४
टंकोत्कीर्णस्वरसनिचित	१६१	३४१
ठ		
तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं	१३४	२६२
तथापि न निरर्गलं	१६६	३६०
तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो	१००	२२२

	कलश	पृष्ठ
त्यक्तं येन फलं स कर्म	१५३	३३४
त्यक्त्वाऽऽशुद्धिविधायि	१६१	४३३
त्यजतु जगदिदानीं	२२	५४
द		
दर्शनज्ञानचरित्रत्रयात्मा	१३६	५६०
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वा	१६	४५
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः	१७	४५
दूरं भूरिविकल्पजालगहने	६४	२१७
द्रव्यलिङ्गमकारमौलितै-	२४३	५६४
द्विधाकृत्य प्रज्ञाककच	१८०	४०६
ध		
धीरोदारमहिम्न्यादिनिधने	१२३	२६६
न		
न कर्मबहुलं जगन्न	१६४	३५७
न जातु रागादि	१७५	३६६
ननु परिणाम एव किल	२११	४८०
नमः समयसाराय	१	१
न हि विदधति बद्ध	११	३६
नाश्नुते विषयसेवनेऽपि	१३५	२६५
नास्ति सर्वोऽपि संबंधः	२००	४५१
निजमहिमरतानां	१२८	२८३
नित्यमविकारसुस्थित	२६	६३
निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्	३८	११२
निःशेषकर्मफल	२३१	५४३
निषिद्धे सर्वस्मिन्	१०४	२३०
नीत्वा सम्यक् प्रलय	१६३	४३५
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ	५४	१४८
नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु	२६५	५६२
नोभौ परिणामतः खलु	५३	१४८
प		
पदमिदं ननु कर्मदुरासदं	१४३	३१०

		कलश	पृष्ठ			कलश	पृष्ठ
परद्रव्यग्रहं कुर्वन्	१८६	४२४	मञ्जुतु निर्भरममी	३२	७८		
परपरिणतिहेतो	३	३	मा कर्तारममी स्पृशन्तु	२०५	४६८		
परपरिणतिमुज्जम्	४७	१२७	मिथ्यादृष्टेः स एवात्य	१७०	३७१		
परमार्थेन तु व्यक्त	१८	४५	मोक्षहेतुतिरोधानाद्	१०८	२३८		
पूर्णेकाच्युतशुद्धबोधसहिमा	२२२	५११	मोहविलासविवृम्भित	२२७	५२७		
पूर्ववद्वनिजकर्म	१४६	३२०	मोहाद्यदहमकार्षे	२२६	५२३		
पूर्वालोचितबोध्यनाशसमये	२५६	५८१					
प्रच्युत्य शुद्धनयतः	१२१	२६६	य				
प्रज्ञालेखी शितेयं	१८१	४१४	य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं	६६	२०५		
प्रत्यक्षाखिलस्फुटस्थिर	२५२	५७८	यत्तु वस्तु कुरुते	२१४	४८२		
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म	२२८	५३०	यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं	१५७	३३८		
प्रमादकलितः कथं भवति	१६०	४३२	यदि कथमपि धारावाहिना	१२७	२८०		
प्राकारकवलितानवर	२५	६३	यदिह भवति रागद्वेष	२२०	५०४		
प्राणोच्छेदमुदाहरति मरणं	१५६	३३६	यदेतद् ज्ञानात्मा	१०५	२३३		
प्रादुर्भावविराममुद्रित	२६०	५८४	यत्र प्रतिक्रमणमेव	१८६	४३२		
			यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा	२७७	६०२		
व			यः करोति स करोति केवलं	६६	२१६		
बंधच्छेदात्कलयदतुलं	१६२	४३४	यः परिणमति स कर्ता	५१	१४७		
बहिलुठति यद्यपि	२१२	४८१	यः पूर्वभावकृतकर्म	२३२	५४३		
वाह्याथग्रहणस्वभावभरतो	२५०	५७७	यादृक् तादृगिहास्ति	१५०	३२७		
वाह्यार्थः परिपीतमुज्जित	२४८	५७५	यान्त्पाकमुपैति कर्मविरति	११०	२४४		
			ये तु कर्तारमात्मानं	१६६	४४६		
भ			ये तु स्वभावनियमं	२०२	४५४		
भावयेद्भेदविज्ञान	१३०	२८६	ये त्वेनं परिहृत्य	२४१	५६२		
भावान्नवाभावस्यं प्रपन्नो	११५	२५५	ये ज्ञानमात्रनिजभावसयी	२६६	५६५		
भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो	११४	२५४	योऽयं भावो ज्ञानमात्रो	२७१	५६८		
भिरना सर्वमपि स्वलक्षण	१८२	४१८					
भिन्नक्षेत्रनिपण्णबोध्य	२५४	५८०	र				
भूतं भांतमभूतमेव	१२	४०	रागजन्मानि निमित्ततां	२२१	५०५		
भेदज्ञानोच्छलन	१३२	२८८	रागद्वेषद्वयमुदयते	२१७	४६६		
भेदविज्ञानतः सिद्धाः	१३१	२८७	रागद्वेषविभावमुक्तमहसो	२२३	५१२		
भेदोन्मादं भ्रमरसभरा	११२	२४६	रागद्वेषविमोहानां	११६	२६४		
भोवत्त्वं न स्वभावोऽत्य	१६६	४४२	रागद्वेषाविह हि भवति	२१८	५०१		
			रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या	२१६	५०२		
भ			रागादयो बंधनिदानमुक्ता	१७४	३६३		
मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा	१११	२४५					

	कलश	पृष्ठ		कलश	पृष्ठ
रागादीनामुदयमदयं	१७६	४०५	श		
रागादीनां ऋगिति विगमात्	१२४	२७०	शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पित	२१५	४६५
रागाद्यास्त्रवरोधतो	१३३	२८६	शुद्धद्रव्यस्वरसंभवनात्कि	२१६	४६६
रागोद्गारमहारसेन सकल	१६३	३५२			
रुधन् वधं नवमिति	१६२	३४६			
	ल				
लोकः कर्म ततोऽस्तु	१६५	३६०	सकलमपि विहायाहाय	३५	६५
लोकः शाश्वत एक एष	१५५	३३६	समस्तमित्येवमपास्य कर्म	२२६	५३१
	व		सन्यस्यत्रिजवुद्धिपूर्वमनिशं	११६	२५६
वर्णादिसामप्रथमिदं विदंतु	३६	११२	सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि	१०६	२४३
वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा	३७	१०१	संपद्यते संवर एष	१२६	२८६
वर्णाद्यैः सहितस्तथा	४२	११६	सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं	१५४	३३५
वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो	२१३	४८१	सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं	१३७	२६६
विकल्पकः प्ररं कर्ता	६५	२१८	सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं	१३६	२६६
विगलंतु कर्मविषतरु	२३०	५३१	सर्वत स्वरेसिनर्भरभाक्	३०	७४
विजहति न हि सत्तां	११८	२६३	सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं	१७३	३८६
विरम किमपरेणाकार्यं	३४	८६	सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य	२५३	५७६
विश्रांतः परभावभावकलना	२५८	५८२	सर्वस्यामेव जीवत्यां	११७	२६०
विश्वाद्धिभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा	२७२	३८२	सर्व सदैव नियतं	१६८	३६६
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य	२४६	५७६	सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्त	१८५	४२३
वृत्तं कर्मस्वभावेन	१०७	२३७	स्थितेति जीवस्य निरंतराया	६५	१६०
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन	१०६	२३७	स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य	६४	१८६
वृत्त्यंशमेदतोऽत्यंतं	२०७	४७०	स्याद्वादकौशलसुनिश्चल	२६७	५६५
वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्	१४७	३२४	स्याद्वाददीप्तिस्तलसन्महसि	२६६	५६७
व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं	२३७	५५४	स्वशक्तिसंस्फुरितवस्तुतत्त्वै	२७८	६०३
व्यवहरणानयः स्याद्यद्यपि	५	२७	स्वच्छेत्रस्थितये पृथग्विध	२५५	५८०
व्यवहारविमूढदृष्टयः	२४२	५६४	स्वेच्छासमुच्छलदनल्प	६०	३१३
व्याप्यव्यापकता तदात्मनि	४६	१३३	स्वं रूपं किल वस्तुनो-	१५८	३३८
व्यावहारिकदृशैव केवलं	२१०	४७६			
			हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां	१०२	२२६



श्री समयसारजी शास्त्रमें ज्ञानदान-प्रचारार्थ दाताओं द्वारा भेंट

- २०००) श्री सुरेन्द्रकुमारजी जैन, देहली
- २००) धर्मपत्नी श्री माणिकचन्दजी जैन, "मौ"
- २००) श्री कन्हैयालालजी ढालचन्दजी जैन, भोपाल
- २०१) श्री दिगम्बर जैन मुसुलु मण्डल, भिरुह
- १२१) श्री आनन्दीलाल केशवलाल जैन, जलगाँव
- १०१) श्री दिगम्बर जैन मुसुलु मण्डल, 'मौ'
- १०१) श्री टुलीचन्दजी चुनीलालजी जैन, कुचडोद
- १०१) पण्डित श्री कैलाशचन्दजी द्वारा देहरादूनके भाईयोसे
- १०१) श्री शान्तिलाल सोगानी द्वारा महीदपुर मुसुलु मण्डल
- १०१) ब्र० हेमराजजी द्वारा, दिगम्बर जैन मुसुलु मण्डल, 'मौ'
- १०१) श्री दि० जैन मुसुलु मण्डल, इन्दौर
- १०१) श्री दि० जैन मुसुलु मण्डल, गुना
- १०१) ब्र० धन्यकुमारजी, बेलोकर (सिरपुर-दक्षिण)
- १०१) श्री धन्नालालजी जैन, सागर
- १०१) श्री सम्पतरायजी मण्डलोई (महेश्वर)
- १०१) एक मुसुलु भाई सोनगढ़
- १०१) श्री देवराज आशारिया
- १०१) श्री खेमराजजी टुलीचन्दजी, खैरागढ़
- १०१) श्री मंकारीबाई खेमराजजी, खैरागढ़
- ६०) श्री दि० जैन मुसुलु मण्डल, कुरावड़
- ५१) श्री पोपटलाल मोहनलाल वोरा, सोनगढ़
- ५१) श्री दि० जैन मुसुलु मण्डल, सेमारी (राज०)
- ५१) श्री खेमचन्दजी जैन, लज्जैन
- ५१) श्री दि० जैन मुसुलु मण्डल, आरौन
- ५१) श्री राजकिशोरजी जैन, बडौत
- ५१) श्री सोमचरण चुनीलालजी जैन, सनावद
- ५१) श्री सुशीलाबाई जैन, मण्डला
- ११७) दाताओंके द्वारा कुटकर रकममें

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
६	१६	(इस	इस
११	३	केऽप्य	केचनाऽप्य
१६	१८	द्रव्य अन्य	द्रव्य तो अन्य
३२	१६	एकवार	एकाकार
३७	२२	विषय	विषय
८४	३	ति	ति
८६	१	मत्कर्म	मन् कर्म
१०३	१	संतीति-	संतीति चेत्—
११०	७	वादर	वादर
१२५	६	अनुभवमें आता है	से ज्ञायक है
१२५	६	शुचि है-पवित्र है-उज्ज्वल है ।	शुचि ही है-पवित्र ही है-उज्ज्वल ही है ।
१२५	१३	स्वभाववाला है	स्वभाववाला ही है
१२५	१५	अकारण	अकारण ही
१२८	२४	निवृत्तिसे	निवृत्ति द्वारा
१२६	१	चेति-	चेत्—
१२६	८	शीतल	शीत
१३२	२०	पुद्गलके	पुद्गलके ही
१३६	५	अकाति	अकास्ति
१५०	५	सुकुरंद	सुकुरंद
१५२	२२	संयोग	संयुक्तपना
१५६	८	नित्यमेवा	नित्यमेवा
१५६	८	त्रिमित्तं	त्रिमित्त
१५६	२१	स्वपरके समस्त	समस्त
१६०	२३	स्वपरके समस्त	समस्त
१६४	८	संकुचित	मुद्रित
१८१	३	विकल्पपाद्	विकल्पत्वाद्
१८६	२०	जा सकता,	जा सकता;
१६५	१०	भवेयुर्न	भवेयुः, न
१६५	१२	भवेयुर्न	भवेयुः, न
१६६	२	भवेयुर्न	भवेयुः, न
१६६	३	भवेयुर्न	भवेयुः, न
१६६	२०	तव स्वयमेव	तव जीव स्वयमेव
२००	१३	है-ऐसा	है (अर्थात् दोनों मिलकर कर्मरूपसे परिणामित होते हैं)-ऐसा
२०१	१४	रागादिअज्ञान	रागादि-अज्ञान
२१६	३	मेव	मेव
२१६	२३	है,	है ऐसा,

पृष्ठ	लाइन	अशुद्धि
२२५	२	शुभाशुभौ
२२५	१२	परिणामोंमें
२३०	१४	अवस्था
२३१	६	स्वभावः,
२३४	२०	उसकी
२३५	५	हेतुस्तेषां
२३५	१४	प्रसन्न होते हैं ।
२४०	८	परभावस्वरूप
२४४	१६	जैसे
२४६	७	आलंबन
२४६	२१	है ।)
२४८	१५	[समरसरङ्ग
२६६	१८	हुआ,
३०१	१६-२०	(अर्थात् अशुभभावोंमें प्रवर्तता है) अथवा
३०५	१	मे किल
३४६	६	किं तु
३४६	७	तियेह
३४७	४	किं तु
३६६	२३	होता है;
३६६	२४	[परः पुमान्... "एतत् अज्ञानम्]
३७५	४	वभे
४०१	६	प्रत्याचष्टे
४०५	५	नास्यात्रणोति
४०५	१४	प्रणद्य
४०५	१५	किया है-
४०६	१८	पुरुषमात्र
४०७	१३	कसे
४३०	अंतिम	कहेंगे कि-#
४४८	८	अममर्थ
४६८	२२	परिणाममें
४६७	७	ग्राणस्य
५२७	१३	चतन्य
५४४	२०	परिगत
५५१	६	ज्ञानचेतन
५६७	७	समुदाययो

शुद्धि
शुभाशुभो
परिणामोंमें (प्रकृति आदिमें)
अवस्था (निवृत्ति अवस्था)
स्वभावः
उसकी—
हेतुं तेषां
राचते हैं
परभावस्वरूप
(जैसे
आलंबन (अंतः साधन)
है ।) ऐसी वह ज्ञानज्योति है
[समरसरङ्ग
हुआ, (-प्रसिद्ध करता हुआ),
अथवा
ये किल
किन्तु
तियेहं
किन्तु
होता है; [एतत् अज्ञानम् यत् तु] यह
मानना तो अज्ञान है कि—
[परः पुमान् परस्य मरण-जीवित-दुःख
सौख्यम् कुर्यात्]
वभे
प्रत्याचष्टे च
नास्याद्युणोति
प्रणद्य
किया है वह—
पुरुष मात्र
कैसे
कहेंगे कि—# कर्म जं पुण्व कथं
सुहासुहमरोय वित्थर विसेसं । तत्तो
णियत्तए अप्पय तु जो सो पढिक्कमणं ॥
असमर्थ
ज्ञान परिणाममें ही
ग्राणस्य
चैतन्य
परिगतं
ज्ञानमचेतन
समुदायमयो